ॐ

अर्हम्

श्रीसूत्रकृताङ्गम्

(दूसरा श्रुतस्कन्ध)

(चौथा खण्ड)

श्रीमद् जैनाचार्य्य
पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज के
तत्त्वावधान में
पण्डित अम्बिकादत्तजी ओझा व्याकरणाचार्य्य
द्वारा सम्पादित
(मूल, संस्कृतच्छाया, अन्वयार्थ भावार्थ सहित)

प्रकाशक—
फ़र्म शम्भूमल गङ्गाराम मूथा, बैंगलोर

प्रथमावृत्ति १००० सं० १९९७ मूल्य ३)

बाबू पन्नालाल गुप्त 'अनन्त'
द्वारा
आदर्श प्रेस, अजमेर में मुद्रित।

दो शब्द

आर्हत आगमों में श्री सूत्रकृताङ्ग का बहुत उच्च स्थान है। यह आगम बहुत उत्तमता के साथ पदार्थों का स्वरूप बतलाता है। एक मात्र इस ग्रन्थ के मनन से भी मनुष्य अपने जीवन को सफल बना सकता है। मुमुक्षु जीवों के लिये यह आगम परम उपयोगी है अत. सर्वसाधारण के लाभार्थ हिन्दी भाषा मे इसका प्रकाशन अति आवश्यक है। यद्यपि मुनि महात्माओं द्वारा किये हुए इसके व्याख्यान से कभी-कभी साधारण जीव भी इसका लाभ उठाते हैं परन्तु जितना उपकार हिन्दी में इसके अनुवाद से हो सकता है उतना उक्त रीति से सभव नहीं है यह विचार कर राजकोट में पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज के चातुर्मास्य के समय सानुवाद सूत्रकृताङ्ग के प्रकाशन का कार्य्य निश्चित हुआ और प्रथम श्रुतस्कन्ध तीन भागों में प्रकाशित किया गया। उनमें महावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी राजकोट की तरफ से ५०० प्रतियां छपीं और ५०० श्रीमान् सेठ बाबू छगनलालजी मूथा की ओर से छपी। अब यह दूसरा श्रुत स्कन्ध श्रीमान् दानवीर सेठ छगनलालजी साहेब की ओर से ही छपाकर प्रकाशित किया गया है। सेठ साहेब बड़े उत्साही धर्मप्रिय और उदार हैं। आज यह ग्रन्थ जो जनता के हाथ में सुशोभित हो रहा है यह आपकी दानवीरता का ही फल है। यह ग्रन्थ बिना मूल्य जनता की सेवा में भेंट किया जा सकता था लेकिन बिना मूल्य पुस्तक की जनता क़दर नहीं करती है इसलिए सिर्फ लागत दाम रख कर यह पुस्तक जनता की सेवा मे अर्पण की जाती है। इस ग्रन्थ की बिक्री से जो द्रव्य उत्पन्न होगा वह दूसरे आगमों के प्रकाशन में ही लगाने का निश्चय किया गया है।

निवेदक—

पं० छोटेलाल यति

रांगड़ी चौक, बीकानेर

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्ययन

दूसरा अध्ययन

तृतीय अध्ययन

छठा अध्ययन

सप्तम अध्ययन



॥ ओ३म् ॥

श्री सूत्र कृताङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का

प्रथम अध्ययन



प्रथम श्रुत स्कन्ध के पश्चात् द्वितीय श्रुत स्कन्ध आरम्भ किया जाता है। प्रथम श्रुत स्कन्ध मे जो बात संक्षेप से कही गई है वही इस दूसरे श्रुत स्कन्ध मे विस्तार एवं युक्ति के साथ बताई गई है। जो बात विस्तार तथा संक्षेप दोनों प्रकार से बताई जाती है वही अच्छी तरह समझने में आती है अत. प्रथम श्रुत स्कन्ध के पदार्थों को विस्तार के साथ इस श्रुत स्कन्ध द्वारा वर्णन करना ठीक ही है। अथवा प्रथम श्रुत स्कन्ध में जो बातें कही गई हैं उनको दृष्टान्त देकर सरलता के साथ समझाने के लिये इस दूसरे श्रुत स्कन्ध की रचना हुई है अत. ये दोनों ही श्रुत स्कन्ध संक्षेप और विस्तार के साथ एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं यह जानना चाहिये।

इस दूसरे श्रुत स्कन्ध के सात अध्ययन हैं। ये अध्ययन प्रथम श्रुत स्कन्ध के अध्ययनों से बहुत बड़े बड़े हैं इसलिये ये महाध्ययन कहे जाते हैं। इनमें प्रथम अध्ययन को पुण्डरीक अध्ययन कहते हैं। पुण्डरीक, श्वेतकमल को कहते हैं उसकी उपमा देकर यहाँ धर्म मे रुचि रखने वाले राजा महाराजा आदि बताये गये हैं और उनको विषयभोग से निवृत्त करके मोक्षमार्ग का पथिक बनाने वाले सत्साधुओं का कथन किया गया है। जो लोग प्रव्रज्याधारी होकर भी विषयरूपी पङ्क में निमग्न हैं वे साधु नहीं हैं वे स्वयं संसार सागर से पार नहीं होते फिर वे दूसरे को क्या पार कर सकते हैं ? यह भी इस अध्ययन में कहा गया है।



सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु पोंडरीए णामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते—से जहाणामए पुक्खरिणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लद्धट्ठा पुंडरिकिणी पासादिया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा, तीसे णं पुक्खरिणीये तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया, अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला वण्णमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादीया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा, तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए, अणुपुव्वुट्ठिए

छाया—श्रुतं मया आयुष्मता तेन भगवता एवमाख्यातम्। इह खलु पुण्डरीक नामाध्ययनं, तस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः। तद्यथा नाम पुष्करिणी स्यात् बहूदका, बहुसेया, बहुपुष्कला, लब्धार्था, पुण्डरीकिणी, प्रसादिका, दर्शनीया, अभिरूपा प्रतिरूपा। तस्याः पुष्करिण्यास्तत्र तत्र देशे देशे तस्मिन् तस्मिन् बहूनि पद्मवरपुण्डरीकाणि उक्तानि, आनुपूर्व्या उत्थितानि उच्छ्रितानि रुचिलानि वर्णवन्ति गन्धवन्ति रसवन्ति स्पर्शवन्ति प्रसादिकानि दर्शनीयानि अभिरूपाणि प्रतिरूपाणि तस्याः पुष्करिण्याः बहुमध्यदेशभागे एकं महत् पद्मवरपुण्डरीकमुक्तम्। आनुपूर्व्या

अन्वयार्थ—(सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं) श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने सुना है उन भगवान् ने ऐसा कहा था। (इह खलु पोंडरीए णामज्झयणे तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते) इस आर्हत आगम में पुण्डरीक नाम का अध्ययन है उसका यह अर्थ है। (से जहाणामए पुक्खरिणी सिया) कल्पना करो कि जैसे कोई एक पुष्करिणी है। (बहुउदगा बहुसेया) उसमें बहुत जल और पङ्क है (बहुपुक्खला लद्धट्ठा) वह अगाध जल से भरी हुई तथा पुष्कर नामी कमलों से युक्त होने के कारण यथार्थ नामवाली अथवा वह जगत् में बहुत प्रतिष्ठा पाई हुई है। (पुंडरिकिणी) उसमें पुण्डरीक नामी श्वेत कमल हैं। (पासादिया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा) वह पुष्करिणी देखने से चित्त को प्रसन्न करनेवाली बड़ी मनोहर है। (तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं) उस पुष्करिणी के उन उन देशों और उन उन प्रदेशों में (बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया) बहुत से उत्तमोत्तम श्वेत कमल विद्यमान हैं। (अणुपुव्वुट्ठिया) वे श्वेत कमल उत्तम रचना

उस्सिते रुइले वन्नमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीए जाव पडिरूवे । सव्वावंति च णं तीसे पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला जाव पडिरूवा, सव्वावंति च णं तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगं महं पउमवरपोंडरीए बुइए अणुपुव्वुट्ठिए जाव पडिरूवे ॥ १ ॥

छाया—उत्थितं उच्छ्रितं रूचिलं वर्णवत् गन्धवत् रसवत् स्पर्शवत् प्रसादिकं यावत्प्रतिरूपम् । सर्वस्या अपि तस्याः पुष्करिण्याः तत्र तत्र देशे देशे तस्मिन् तस्मिन् बहूनि पद्मवरपुण्डरीकानि उक्तानि आनुपूर्व्या उत्थितानि उच्छ्रितानि रूचिलानि यावत् प्रतिरूपाणि सर्वस्या अपि तस्याः पुष्करिण्याः बहुमध्यदेशभागे एकं महत् पद्मवरपुण्डरीकमुक्तम् आनुपूर्व्या उत्थितं यावत् प्रतिरूपम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—के साथ क्रमशः स्थित हैं (ऊसिया) वे कीचड़ और जल को उल्लंघन करके ऊपर स्थित हैं । (रुइला) वे बहुत दीप्तिवाले (वण्णमंता गंधमता रसमता फासमता) तथा उत्तम वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त हैं (पासादिया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा) वे देखने में चित्त को प्रसन्न करनेवाले बड़े सुन्दर हैं । (तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए) उस पुष्करिणी के ठीक मध्य देश में एक बहुत बड़ा उत्तम श्वेतकमल सुशोभित है । (अणुपुव्वुट्ठिए) उसकी रचना बड़ी अच्छी है (उस्सिते) वह कमल कीचड़ और पानी को पार कर ऊपर उठा हुआ है (रुइले वन्नमते गधमते रसमते फासमंते पासादीए जाव पडिरूवे) वह उत्तम दीप्ति, एवं उत्तम वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त बड़ा ही मनोहर है (सव्वावति च णं तीसे पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहि तहिं) उस समस्त पुष्करिणी में सभी देशों और प्रदेशों में (बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला जाव पडिरूवा) बहुत से उत्तमोत्तम श्वेतकमल भरे हैं जिनकी रचना बड़ी मनोहर है तथा जो पानी और कीचड़ से ऊपर स्थित तथा बड़े दीप्ति वाले एवं पूर्वोक्त गुणों से युक्त बड़े दर्शनीय हैं । (सव्वावति च णं तीसे पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए) उस पुष्करिणी के ठीक मध्य भाग में (एगं मह पउमवर पोंडरीए बुइए अणुपुव्वुट्ठिए जाव पडिरूवे) एक महान् उत्तम श्वेतकमल है जो सुन्दर रचना से युक्त तथा पूर्व वर्णित गुणों से सुशोभित बड़ा ही मनोहर है । (१)

अह पुरिसे पुरित्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणीं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं ऊसियं जाव पडिरूवं। तए णं से पुरिसे एवं वयासी—अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं

छाया—अथ पुरुषः पुरस्तात् दिशः आगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याः पुष्करिण्याः तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेकं पद्मवरपुण्डरीकम् आनुपूर्व्या उत्थितम् उच्छ्रितं यावत् प्रतिरूपम्। ततः स पुरुषः एवमवादीत् अहमस्मि पुरुषः खेदज्ञः कुशलः पण्डितः व्यक्तः मेधावी अबालः मार्गस्थः मार्गवित् मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः, अहमेतत् पद्मवरपुण्डरीक

अन्वयार्थ—(अह) अब (पुरिसे) कोई पुरुष (पुरित्थिमाओ दिसाओ तं पुक्खरिणीं आगम्म) पूर्व दिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर (तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा) उस पुष्करिणी के तीर पर खड़ा होकर (तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं पासति) उस महान् उत्तम श्वेत कमल को देखता है (अणुपुव्वुट्ठियं ऊसियं जाव पडिरूवं) जो सुन्दर रचना से युक्त तथा पानी और कीचड़ के ऊपर स्थित और पूर्वोक्त विशेषणों वाला बड़ा ही मनोहर है। (तए णं से पुरिसे एवं वयासी) उस कमल को देखकर उस पुरुष ने इस प्रकार कहा कि—(अहं पुरिसे अंसि) मैं पुरुष हूँ (खेयन्ने) मैं खेद यानी परिश्रम को जानने वाला हूँ (कुसले) मैं हित की प्राप्ति और अहित के त्याग करने में निपुण हूँ (पंडिए) मैं पाप से निवृत्त हूँ (वियत्ते) मैं बालभाव से निवृत्त हूँ (मेहावी अबाले) मैं बुद्धिमान् तथा अबाल यानी युवा हूँ (मग्गत्थे) मैं सज्जनों से आचरण किये हुए मार्ग में स्थित हूँ। (मग्गविऊ) मैं मार्ग को जानने वाला (मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू) तथा जिस मार्ग से चलकर जीव अपने अभीष्ट देश को प्राप्त करता है उसे जानता हूँ (अहमेयं पउमवरपोंडरीयं) मैं इस उत्तम

भावार्थ—जिस पुष्करिणी का वर्णन प्रथम सूत्र में किया गया है उसके तट पर एक पुरुष पूर्व दिशा से आता है और वह पुष्करिणी के तट पर खड़ा होकर उस उत्तम श्वेतकमल को देखकर कहता है कि—"मैं बड़ा ही बुद्धिमान्, सदाचारी भले और बुरे कर्त्तव्य का ज्ञाता, युवा, और अभीष्ट सिद्धि के मार्ग को जानने वाला हूँ मैं इस पुष्करिणी के मध्य में सुशोभित इस उत्तम

उन्निक्खिस्सामित्तिकट्टु इति बुया से पुरिसे अभिक्कमेति तं पुक्खरिणीं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि निसण्णे पढमे पुरिसजाए ! ॥ २ ॥

छाया—मुन्निक्षेप्स्यामीति कृत्वा (आगतः) इत्युक्त्वा स पुरुषः अभिक्रामति तां पुष्करिणीं, यावद् यावदभिक्रामति तावत् तावत् महत् उदकं महान् सेयः प्रहीणस्तीराद् अप्राप्तः पद्मवरपुण्डरीकम् नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा पुष्करिण्याः सेये निषण्णः प्रथमः पुरुषजातः ॥२॥

अन्वयार्थ—श्वेत कमल को (उन्निक्खि स्सामित्ति कट्टु) बाहर निकालूंगा (इस इच्छा से यहां आया हूँ) (इतिवुया) यह कहकर (से पुरिसे तं पुक्खरिणीं अभिक्कमेति) वह पुरुष उस पुष्करिणी में प्रवेश करता है (जाव जावं च ण अभिक्कमेइ) वह ज्यों ज्यों उस पुष्करिणी में प्रवेश करता जाता है (तावं ताव च ण महंते उदए महते सेये) त्यों त्यों उस पुष्करिणी में अधिक जल और अधिक कीचड़ मिलते हैं। (तीरं पहीणे पउमवरपोंडरीए अपत्ते) वह पुरुष तीर से हट चुका है और उस श्वेत कमल के पास नहीं पहुँच पाया है (णो हव्वाए णो पाराए) वह न इसी पार का है और न उसी पार का है (अंतरा पोक्खरिणीए सेयसि णिसण्णे पढमे पुरिसजाए) किन्तु बीच पुष्करिणी के कीचड़ में फंसकर वह क्लेश पारहा है यह पहला पुरुष है।

भावार्थ—श्वेत कमल को बाहर निकालने के लिये यहाँ आया हूँ" यह कह कर वह पुरुष उस श्वेत कमल को निकालने के लिये उस पुष्करिणी में प्रवेश करता है परन्तु वह ज्यों ज्यों आगे जाता है त्यों त्यों उसको अधिक जल और अधिक कीचड़ मिलते हैं। वह बिचारा पुष्करिणी के तीर से भी भ्रष्ट हो जाता है और उस श्वेत कमल को भी नहीं प्राप्त कर सकता है, वह न इसी पार का होता है और न उसी पार का होता है किन्तु पुष्क-रिणी के वीच मे कीचड़ तथा जल में फस कर महान कष्ट पाता है। यह पहले पुरुष का वृतान्त है ॥ २ ॥

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए, अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं पासादीयं जाव पडिरूवं तं च एत्थ एगं पुरिसजातं पासति पहीणतीरं अपत्तपउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्नं, तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी—अहो णं इमे पुरिसे अखेयन्ने अकुसले अपंडिए अवियत्ते अमेहावी बाले णो मग्गत्थे

छाया—अथापरः द्वितीयः पुरुषजातीयः, अथ पुरुषः दक्षिणस्याः दिशः आगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याः पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेकं पद्मवरपुण्डरीकम् आनुपूर्व्योत्थितं प्रासादिकं यावत् प्रतिरूपम्। तत्रैकं पुरुषजातं पश्यति प्रहीणतीरम् अप्राप्तपद्मवरपुण्डरीकं नोऽर्वाचे नो पाराय, अन्तरा पुष्करिण्याः सेये निषण्णं। ततः स पुरुषः तं पुरुषमेवमवादीत्—अहो अयं पुरुषः अखेदज्ञः अकुशलः अपण्डितः अव्यक्तः अमेधावी बालः नो मार्गस्थः

अन्वयार्थ—(अहावरे दोच्चे पुरिसजाए) अब दूसरे पुरुष का वृत्तान्त बताया जाता है। (अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ तं पुक्खरिणिं आगम्म) इसके पश्चात् एक दूसरा पुरुष दक्षिण दिशा से उस पुष्करणी के पास आकर (तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा) उस पुष्करणी के तीर पर खड़ा होकर (तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं पासति) उस महान् एक उत्तम श्वेत कमल को देखता है (अणुपुव्वुट्ठियं पासादीयं जाव पडिरूवं) जो विशिष्ट रचना से युक्त, चित्त को प्रसन्न करने वाला और पूर्वोक्त गुणों से युक्त बड़ा ही सुन्दर है (तं च एत्थ एगं पुरिसजातं पासति) तथा वहाँ वह उस पुरुष को भी देखता है (पहीणतीरं) जो तीर से भ्रष्ट हो चुका है (अपत्तपउमवरपोंडरीयं) और श्वेत कमल को भी नहीं प्राप्त कर सका है (णो हव्वाए णो पाराए) जो न इसी पार का है और न उसी पार का है किन्तु (अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने) पुष्करिणी के मध्य में कीचड़ में फँसा है (तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी) इसके पश्चात् इस दूसरे पुरुष ने उस प्रथम पुरुष के विषय में यह कहा कि—(अहो इमे पुरिसे अखेयन्ने) अहो! यह पुरुष खेद यानी परिश्रम को नहीं जानता है (अकुसले अपंडिए अवियत्ते अमेहावी) यह अकुशल, पण्डित नहीं, परिपक्व बुद्धिवाला तथा चतुर नहीं है (बाले) यह अभी बाल यानी अज्ञानी है (णो मग्गत्थे) यह सत्पुरुषों के मार्ग में स्थित नहीं है

णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमएणू जन्नं एस पुरिसे, अहं खेयन्ने कुसले जाव पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एस पुरिसे मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमएणू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामितिकट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं

छाया—नो मार्गवित् नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः यस्मादेष पुरुषः [एतत्कृतवान्] अहं खेदज्ञः कुशलः यावत् पद्मवरपुण्डरीकम् उन्निक्षेप्स्यामि न च खलु एतत् पद्मवरपुण्डरीकम् एवम् उन्निक्षेप्तव्यं यथैष पुरुषः मन्यते। अहमस्मि पुरुषः खेदज्ञः कुशलः पण्डितः व्यक्तः मेधावी अबालः मार्गस्थः मार्गवित् मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः अहमेतत् पद्मवरपुंडरीकम् उन्निक्षेप्स्यामीति कृत्वा [अत्रागत] इत्युक्त्वा स पुरुषः अभिक्रामति तां पुष्करीणीम्। यावद् यावद्

अन्वयार्थ—(णो मग्गविऊ) यह मार्ग का ज्ञाता नहीं है (णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू) यह, जिस मार्ग से चल कर मनुष्य अपने इष्ट देश को प्राप्त करता है उसे नहीं जानता है (जन्नं एस पुरिसे अहं खेयन्ने कुसले जाव पउमवरपोण्डरीय उन्निक्खिस्सामि) अतएव इस पुरुष ने समझा था कि "मैं बड़ा ही परिश्रमी हूँ, मैं इस उत्तम श्वेत कमल को निकाल लूंगा" (णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीय एवं उन्निक्खेयव्वं जहा ण एस पुरिसे मन्ने) परन्तु यह उत्तम श्वेत कमल इस तरह नहीं निकाला जा सकता है जैसा यह पुरुष मान रहा है (अहं खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी पुरिसे असि) अलबत्ता मैं खेद को जानने वाला कुशल, पण्डित, परिपक्व बुद्धिवाला बुद्धिमान पुरुष हूँ। (अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू) तथा मैं युवा, और सज्जनों से आचरित मार्ग में स्थित, मार्ग का ज्ञाता एवं जिस मार्ग से चल कर जीव इष्ट देश को प्राप्त करता है उसे जानने वाला हूँ (अह मेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामी त्ति कट्टु) मैं इस उत्तम श्वेत कमल को जल से बाहर निकाल लाऊँगा (ऐसी प्रतिज्ञा करके यहां आया हूँ) (इति वुच्चा से पुरिसे त पुक्खरिणीं अभिक्कमे) यह कह कर वह दूसरा पुरुष उस पुष्करिणी में उतर गया। (जावं जावं च णं अभिक्कमेइ ताव ताव च णं महते उदए महते सेये) वह ज्यों ज्यों आगे आगे जाता है त्यों त्यों उसको अधिक अधिक जल और

महते उदए महते सेए पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसण्णे दोच्चे पुरिसजाते ॥ २ ॥

छाया—अभिक्रामति यावत् तावद् महदुदकं महान् सेयः प्रहीणः तीरात् अप्राप्तः पद्मवरपुंडरीकं नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा पुष्करिण्याः सेये निषण्णः द्वितीयः पुरुषजातः ॥२॥

अन्वयार्थ—अधिक अधिक कीचड़ मिलता है (तीरं पहीणे पउमवरपोंडरीयं अपत्ते) वह बिचारा तीर से भ्रष्ट हो गया और उस उत्तम श्वेत कमल को भी नहीं प्राप्त कर सका (णो हव्वाए णो पाराए) वह इस पार का भी न हुआ और न उसी पार का हुआ। (अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसण्णे दोच्चे पुरिसजाए) वह पुष्करिणी के मध्य में फँस कर दुःख भोगने लगा। यह दूसरे पुरुष का वृत्तान्त है। इसका भाव अन्वयार्थ से ही स्पष्ट है अतः उसे अलग लिखने की आवश्यकता नहीं है।



अहावरे तच्चे पुरिसजाते, अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं एगं महं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं, ते तत्थ दोन्नि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो

छाया—अथापरस्तृतीयः पुरुषजातः अथ पुरुषः पश्चिमायाः दिशः आगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याः पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा पश्यति तम् महदेकं पद्मवरपुण्डरीकम् आनुपूर्व्या उत्थितं यावत् प्रतिरूपम्। तौ तत्र द्वौ पुरुषजातौ पश्यति प्रहीणौ तीरादप्राप्तौ पद्मवरपुण्डरीकं

अन्वयार्थ—(अह तच्चे पुरिसजाते) इसके पश्चात् तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है (अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ तं पुक्खरिणिं आगम्म) दूसरे पुरुष के पश्चात् एक तीसरा पुरुष पश्चिम दिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर (तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा) उस पुष्करिणी के तट पर खड़ा होकर (तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं पासति) उस एक महान् उत्तम श्वेतकमल को देखता है (अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं) जो विशेष रचना से युक्त एवं बड़ा ही मनोहर है (ते तत्थ दोन्नि पुरिसजाते पासति) तथा वह वहाँ उन दोनों पुरुषों को भी देखता है (तीरं पहीणे पउमवरपोंडरीयं अपत्ते) जो तीर से भ्रष्ट हो चुके हैं और उस उत्तम श्वेतकमल को भी नहीं पा सके हैं।

हव्वाए णो पाराए जाव सेयंसि णिसन्ने, तए णं से पुरिसे एवं वयासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना अकुसला अपंडिया अवियत्ता अमेहावी बाला णो मग्गत्था णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं णं एते पुरिसा एवं मन्ने—अम्हे एतं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो, नो य खलु एयं पउमरवपोंडरीयं एवं उन्निक्खेतव्वं जहा णं एए पुरिसा मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ

छाया—नोऽर्वाचे नो पाराय यावत् सेये निषण्णौ। ततः स पुरुषः एवमवादीत् अहो इमौ पुरुषौ अखेदज्ञौ अकुशलौ अपण्डितौ अव्यक्तौ अमेधाविनौ बालौ नो मार्गस्थौ नो मार्गविदौ नो मार्गस्य गति पराक्रमज्ञौ, यतः इमौ पुरुषौ मन्येते आवाम् एतत् पद्मवरपुण्डरीकम् उन्निक्षेप्स्यावः न च खलु एतत् पद्मवरपुण्डरीकम् एवम् उन्निक्षेप्तव्यं यथा एतौ पुरुषौ मन्येते। अहमस्मि पुरुषः खेदज्ञः कुशलः पण्डितः व्यक्तः मेधावी अबालः मार्गस्थः मार्गविद् मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः,

अन्वयार्थ—(णो हव्वाए णो पाराए जाव सेयंसि णिसन्ने) तथा जो न इस पार के हैं और न उसी पार के हैं किन्तु पुष्करिणी के मध्य में अगाध कीचड़ में फस कर दुःख भोग रहे हैं। (तए ण से पुरिसे एव वयासी) इसके पश्चात् उस तृतीय पुरुष ने इस प्रकार कहा कि—(अहो ण इमे पुरिसे अखेयन्ना अकुसला) अहो! ये दोनों पुरुष खेदज्ञ तथा कुशल नहीं है (अपडिया अवियत्ता अमेहावी) ये पण्डित, युवा एवं बुद्धिमान नहीं हैं। (बाला णो मग्गत्था णो मगविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू) ये बालक हैं, तथा ये उत्तम पुरुषों से सेवित मार्ग में स्थित नहीं हैं, एवं ये, जिस मार्ग से चल कर जीव अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त करता है उसे नहीं जानते हैं (जण्णं एते पुरिसा एव मन्ने—अम्हे एतं पउमवरपोंडरीय उण्णिक्खिस्सामो) अतएव ये समझते हैं कि—हम इस उत्तम श्वेत कमल को बाहर निकाल लेंगे" (नो य खलु एय पउमवरपोंडरीय एवं उन्निक्खेतव्व जहा ण एए पुरिसा मन्ने) परन्तु यह उत्तम श्वेत कमल इस प्रकार नहीं निकाला जा सकता है जैसा ये पुरुष मानते हैं (अह खेयन्ने कुसले पडिए वियत्ते मेहावी अवाले मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णु पुरिसे अंसि) अलबत्ता मैं खेदज्ञ, कुशल, पण्डित परिपक्व बुद्धिवाला बुद्धिमान, युवा, सज्जनों से सेवित मार्ग में स्थित, मार्ग का ज्ञाता एव जिस मार्गसे चलकर जीव इष्ट

मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसण्णे, तच्चे पुरिसजाए ॥ (सूत्रं ४) ॥

छाया—अहमेतत् पद्मवरपुंडरीकम् उन्नेष्यामीति कृत्वाऽऽगतः, इत्युक्त्वा स पुरुषः अभिक्रामति तां पुष्करिणीं, यावद् यावद् अभिक्रामति तावत् तावत् महद् उदकं महान् सेयः यावदन्तरा पुष्करिण्याः सेये निषण्णः तृतीयः पुरुषजातः ॥४॥

अन्वयार्थ—पौध को प्राप्त करना है उसे जानने वाला हूँ। (अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामीति कट्टु) मैं इस उत्तम श्वेतकमल को निकाल लाऊंगा इस इच्छा से यहाँ आया हूँ (इति वुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणीं अभिक्कमे) यह कह कर वह पुरुष उस पुष्करणी में प्रवेश करता है। (जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसण्णे तच्चे पुरिसजाए) वह ज्यों ज्यों आगे जाता है त्यों त्यों अधिक अधिक जल और अधिक अधिक कीचड़ उसे मिलते हैं इस प्रकार वह पुरुष भी पूर्वोक्त दो पुरुषों के समान ही पुष्करिणी के मध्य में कीचड़ में फँस गया (वह तीर से भी भ्रष्ट हो गया और कमल को भी नहीं पा सका) यह तीसरे पुरुष का वृत्तान्त है ॥४॥

भावार्थ स्पष्ट है अतः पृथक् लिखने की आवश्यकता नहीं है।



अहावरे चउत्थे पुरिसजाए, अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति

छाया—अथापरश्चतुर्थः पुरुषजातीयः अथ पुरुषः उत्तरस्याः दिशः आगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याः पुष्करिण्याः तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेकं

अन्वयार्थ—(अह अवरे चउत्थे पुरिसजाए) इसके पश्चात् चौथे प्रकार के पुरुष का वृत्तान्त कहा जाता है। (अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ तं पुक्खरिणीं आगम्म) इसके पश्चात् एक पुरुष उत्तर दिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर (तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं पासति) उस पुष्करिणी के ऊपर खड़ा होकर

तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं, ते तत्थ तिन्नि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते जाव सेयंसि णिसन्ने, तए णं से पुरिसे एवं वयासी–अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमएणू जएणं एते पुरिसा एवं मन्ने–अम्हे एतं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मन्ने, महमंसि पुरिसे खेयन्ने जाव मग्गस्स गतिपरक्कमएणू, अहमेयं

छाया—पद्मवरपुंडरीकम् आनुपूर्व्या उत्थितं यावत् प्रतिरूपम्। तान् त्रीन् पुरुपजातान् पश्यति महीणान् तीराद् अप्राप्तान् यावत् सेये निपण्णान्। ततः स पुरुषः एवमवादीद् अहो इमे पुरुषाः अखेदज्ञाः यावत् नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञाः। यस्मादेते पुरुषाः एवं मन्यन्ते वयमेतत् पद्मवरपुण्डरीकमुन्निक्षेप्स्यामः। नच खलु पद्मवर पुण्डरीक मेवमुन्निक्षेप्तव्यं यथा एते पुरुपाः मन्यन्ते। अहमस्मि पुरुपः खेदज्ञः यावन्मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः अहमेतत् पद्मवर

अन्वयार्थ—उस एक महान् उत्तम श्वेतकमल को देखता है (अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं) जो विशिष्ट रचना से युक्त तथा मनोहर है। (ते तत्थ तिन्नि पुरिसजाए पासति) तथा वह उन तीन पुरुषों को भी देखता है (पहीणे तीर अपत्ते जाव सेयंसि णिसन्ने) जो तीर से भ्रष्ट हो गये हैं और उस उत्तम श्वेतकमल को नहीं पा सके हैं किन्तु पुष्करिणी के मध्य कीचड़ में फँसे हुए हैं (तए णं से पुरिसे एवं वयासी) इसके पश्चात् उस चौथे पुरुष ने इस प्रकार कहा। (अहो ण इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू) अहो! ये तीनों पुरुष खेदज्ञ नहीं हैं तथा जिस मार्ग से जाकर जीव अपने अभीष्ट देश को प्राप्त करता है उसे ये नहीं जानते हैं। (जंण्णं एते पुरिसा एवं मन्ने अम्हे एय पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो) अतएव ये समझते हैं कि "हम इस रीति से इस श्वेतकमल को निकाल सकेंगे" (णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीय एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मन्ने) परन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस प्रकार नहीं निकाला जा सकता है जैसा कि ये लोग मान रहे हैं (अहमसि खेयन्ने जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू) अलबत्ता मैं खेदज्ञ तथा जिस मार्ग से चल कर जीव अपने इष्ट देश को प्राप्त करता है उसे जानता हूँ। (अहमेय

पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामितिकट्टु, इति वुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणिं जाव जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव णिसन्ने, चउत्थे पुरिसजाए॥ (सूत्र ५) ॥

छाया—पुण्डरीकमुन्निक्षेप्स्यामीति कृत्वा (अत्रागत) इत्युक्त्वा स पुरुषः पुष्करिणीं यावद् यावच्चाभिक्रामति तावत्तावच्च महदुदकं महान् सेयं यावन्निषण्णश्चतुर्थः पुरुषजातीयः ॥५॥

अन्वयार्थ—(पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामिति कट्टु) मैं इस उत्तम श्वेत कमल को निकाल लूंगा इस अभिप्राय से यहाँ आया हूँ (इति वुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणिं जाव च णं अभिक्कमे) यह कह कर वह पुरुष उस पुष्करिणी में उतरा और वह ज्यों ज्यों उसके भीतर प्रवेश करता है (तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव णिसन्ने) त्यों त्यों उसे बहुत अधिक जल और बहुत ज्यादा कीचड़ मिलते हैं इस प्रकार वह उस पुष्करिणी के मध्य में भारी कीचड़ में फँस गया वह न इसी पार का हुआ और न उसी पार का हुआ यह चौथे पुरुष का वृत्तान्त है ॥५॥

इसका भी भावार्थ स्पष्ट है



अह भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव गतिपरक्कमण्णू अन्नतराओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरिणिं

छाया—अथ भिक्षूरूक्षः तीरार्थी खेदज्ञः यावत् गतिपराक्रमज्ञः अन्यतरस्याः दिशः अनुदिशो वा आगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याः पुष्करिण्याः स्तीरे

अन्वयार्थ—(अह) इसके पश्चात् (लूहे) राग द्वेष रहित (तीरट्ठी) संसार सागर के तट पर जाने की इच्छा करने वाला (खेयन्ने) खेद को जानने वाला (भिक्खू) कोई भिक्षा मात्र से निर्वाह करने वाला साधु (अन्नतराओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा) किसी दिशा या विदिशा से (तं पुक्खरिणिं आगम्म) उस पुष्करिणी के पास

भावार्थ—पहले उन चार पुरुषों का वर्णन किया गया है जो श्वेत कमल को पुष्करिणी से बाहर निकालने के लिये आये तो थे परन्तु वे आप ही अज्ञानवश उस पुष्करिणी के कीचड़ में फंस गये फिर वे कमल को बाहर निकाल सकें इसकी तो आशा ही क्या है ? अब पाँचवें पुरुष का वर्णन किया जाता है—यह पुरुष भिक्षा मात्र जीवी साधु है तथा यह राग द्वेष से रहित रूक्ष घड़े के समान कर्म मल के लेप से रहित है, यह संसार सागर से

तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तंमहं एगं पउमवरपोंडरीयं जाव पडिरूवं, ते तत्थ चत्तारि पुरिसजाए पासति पहीणे तीरं अपत्ते जाव पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने, तए णं से भिक्खू एवं वयासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस गतिपरक्कमरगू, जं एते

छाया—स्थित्वा पश्यति तन्महदेकं पद्मवरपुण्डरीकं यावत् प्रतिरूपम्। तान् तत्र चतुरः पुरुषजातान् पश्यति प्रहीणान् तीराद् अप्राप्तान् यावत् पद्मवरपुण्डरीकम्। नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा पुष्करिण्यां सेये निषण्णान्। ततः स भिक्षुरेवमवादीत् अहो! इमे पुरुषाः अखेदज्ञाः यावत् नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञाः यतः एते पुरुषाः

अन्वयार्थ—आकर (तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा) उस पुष्करिणी के तट पर स्थित होकर (तं महं एगं पउमवरपोंडरीय जाव पडिरूवं पासति) उस उत्तम एक श्वेत कमल को, जो बड़ा ही मनोहर है देखता है (तत्थ ते चत्तारि पुरिसजाए पासति) और वह वहां उन चार पुरुषों को भी देखता है (पहीणे तीरं) जो तीर से भ्रष्ट हो चुके हैं (पउमवरपोंडरीयं अपत्ते) तथा उस उत्तम श्वेत कमल को भी नहीं पा सके हैं (णो हव्वाए णो पाराए) जो न इसी पार के हैं और न उसी पार के हैं (अन्तरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने) जो पुष्करिणी के मध्य में कीचड़ में फँसे हुए हैं। (तए ण से भिक्खू एवं वयासी) इसके पश्चात् उस साधु ने उन पुरुषों के विषय में इस प्रकार कहा (अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू) अहो! ये पुरुष खेदज्ञ नहीं हैं तथा जिस मार्ग से चल कर जीव अपने इष्ट देश को प्राप्त करता है उसे ये नहीं जानते हैं। (जं एते

भावार्थ—पार जाने की इच्छा करने वाला खेदज्ञ है। यह पुरुष भी पूर्व पुरुषों के समान ही किसी दिशा से उस पुष्करिणी के तट पर आया और उसके तट पर खड़ा होकर उस उत्तम श्वेत कमल को तथा उस पुष्करिणी के अगाध कीचड़ में फस कर कष्ट पाते हुए उन चार पुरुषों को भी उसने देखा। उसने उन पुरुषों का अज्ञान प्रकट करते हुए कहा कि ये लोग कार्य शैली को नहीं जानते हैं पुष्करिणी के अगाध जल और अगाध कीचड़ में स्वयं फस कर भला इस श्वेत कमल को कोई किस तरह निकाल

पुरिसा एव मन्ने अम्हे एय पउमवरपोंडरीय उन्निक्खिस्सामो, णो य खलु एय पउमवरपोंडरीय एव उन्निक्खेतव्व जहा ण एते पुरिसा मन्ने, अहमसि भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेय पउमवरपोंडरीय उण्णिक्खिस्सामित्ति कट्टु, इति वुच्चा से भिक्खू णो अभिक्कमे त पुक्खरिणिं तीसे

छाया—एवं मन्यन्ते "वय मेतत् पद्मवरपुण्डरीक मुन्निक्षेप्स्याम" न च खल्वे तत् पद्मवरपुण्डरीक मेव मुन्निक्षेप्तव्यं यथैते पुरुषा मन्यन्ते। अहमस्मि भिक्षूरूक्ष तीरार्थी खेदज्ञः यावत् मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः अहमेतत् पद्मवरपुण्डरीक मुन्निक्षेप्स्यामीति कृत्वा (अत्रागतः) इत्युक्त्वा स भिक्षुर्नो अभिक्रामति तां पुष्करिणीं तस्याः पुष्करिण्या स्तीरे

अन्वयार्थ—(पुरिसा एवं मन्ने अम्हे एय पउमवरपोंडरीय उन्निक्खिस्सामो) अतएव वे समझते हैं कि—"हम लोग इस रीति से इस उत्तम श्वेतकमल को निकाल लेंगे।" (णो य खलु एय पउमवरपोंडरीयं एव उन्निक्खेतव्व जहा ण एते पुरिसा मन्ने) परन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस प्रकार नहीं निकाला जा सकता है जैसा ये लोग मान रहे हैं। (अह लूहे तीरट्ठी खेयन्ने मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू भिक्खू अंसि) अकिंचन में रहता हुआ रहित संसार सागर से पार जाने की इच्छा करने वाला, खेदज्ञ तथा जिस मार्ग से चल कर जीव अपने इष्ट देश को प्राप्त करता है उसे जानने वाला, भिक्षामात्रजीवी साधु हूँ (अहमेयं पउमवरपोंडरीय उन्निक्खिस्सामित्ति कट्टु) मैं इस उत्तम श्वेत कमल को निकालूंगा इस अभिप्राय से यहाँ आया हूँ। (इति वुच्चा से भिक्खू त पुक्खरिणिं णो अभिक्कमे) यह कह कर वह साधु उस पुष्करिणी के भीतर प्रवेश नहीं करता है (तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा

भावार्थ—सकता है ? मैं कार्य पद्धति को जानने वाला हूँ और इस श्वेत कमल को इस पुष्करिणी से बाहर निकालने के लिये आया हूँ इस प्रकार कह कर वह साधु उस पुष्करिणी में प्रवेश न करके तट पर ही खड़ा होकर कमल से कहता है कि—"हे उत्तम श्वेत कमल ! बाहर निकलो, बाहर निकलो। साधु की इस आवाज को सुन कर वह श्वेत कमल उस पुष्करिणी से बाहर आता है। यह इस सूत्र का तात्पर्य्य है। इस सूत्र में सत्य अर्थ को समझाने के लिये पुष्करिणी, कमल, एवं कीचड़ में फंसे हुए चार पुरुष

पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा—उप्पयाहि खलु भो पउमवरपोंडरीया ! उप्पयाहि, अह से उप्पतिते पउमवरपोंडरीए ॥ (सूत्रं ६) ॥

छाया—स्थित्वा शब्दं कुर्य्यात्—उत्पत खलु भोः पद्मवरपुण्डरीक ! उत्पत अथ उत्पतितं तत् पद्मवरपुण्डरीकम् ॥६॥

अन्वयार्थ—सद्द कुज्जा) किन्तु उस पुष्करिणी के तट पर खड़ा होकर पुकारता है (भोपउमवर पुण्डरीय ! उप्पयाहि उप्पयाहि) वह कहता है कि—हे उत्तम श्वेतकमल ! (इस पुष्करिणी के बाहर) निकलो निकलो । (अह से पउमवरपोंडरीए उप्पतिते) इसके पश्चात् वह उत्तम श्वेतकमल उस पुष्करिणी से बाहर निकल कर आता है ॥६॥

भावार्थ—तथा किनारे पर खड़ा होकर आवाज मात्र से कमल को बाहर निकालने वाले साधु पुरुष दृष्टान्त रूप से कहे गये हैं परन्तु इस सूत्र में दार्ष्टान्त का वर्णन नहीं है वह आगे के सूत्र मे कहा है ॥६॥



किट्टिए नाए समणाउसो !, अट्ठे पुण से जाणितव्वे भवति, भंतेत्ति समणं भगवं महावीरं निग्गंथा य निग्गंथीओ य वंदंति नमंसंति वंदेत्ता नमंसित्ता एवं वयासि—किट्टिए नाए समणाउसो !,

छाया—कीर्तिते ज्ञाते श्रमणाः आयुष्मन्तः अर्थः पुनरस्य ज्ञातव्यो भवति । भदन्त इति श्रमणं भगवन्तं महावीरं निग्रन्थाश्च निग्रन्थ्यश्च वन्दन्ते नमस्यन्ति वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादिषुः कीर्तिते ज्ञाते श्रमण !

अन्वयार्थ—(समणाउसो ! नाए किट्टिये) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि—हे आयुष्मन् श्रमणो हमने आपको उदाहरण बताया है (पुण से अट्ठे जाणितव्वे भवइ) अब आपको इसका अर्थ समझ लेना चाहिये । (भंतेति) हाँ भदन्त यह कहकर (निग्गंथा य निग्गंथीओ समण भगवं महावीर वंदंति नमंसंति) साधु और साध्वी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वंदना और नमस्कार करते है । (वंदिता नमंसिता एव वयासि) वे वन्दना नमस्कार करके भगवान् से इस प्रकार कहते है कि

अट्ठं पुण से ण जाणामो समणाउसोत्ति, समणे भगवं महावीरे ते य बहवे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—हंत समणाउसो ! आइक्खामि विभावेमि किट्टेमि पवेदेमि सअट्ठं सहेउं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि से बेमि ॥ (सूत्र ७) ॥

छाया—आयुष्मन् ! अर्थं पुनरस्य न जानीमः श्रमण आयुष्मन्निति । श्रमणो भगवान् महावीर स्तान् बहून् निर्ग्रन्थान् निर्ग्रन्थींश्चामन्त्र्य एवम वादीत्—हन्त श्रमणा आयुष्मन्तः ! आख्यामि विभावयामि कीर्त यामि प्रवेदयामि सार्थं सहेतुं सनिमित्तं भूयो भूय उपदर्शयामि तद् ब्रवीमि ॥७॥

अन्वयार्थ—(समणाउसो ! अट्ठं पुण से ण जाणामो) आयुष्मन् श्रमण भगवान् महावीर स्वामिन् ! आपने जो उदाहरण बताए हैं उसका अर्थ हम नहीं जानते हैं । (समणे भगवं महावीरे) (आह सुधर्मा) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने (ते य बहवे निग्गंथे निग्गंथीओ आमंतित्ता एवं वयासी) उन बहुत श्रमण और श्रमणियों को सम्बोधित करके इस प्रकार कहा कि—(हंत समणाउसो !) हे आयुष्मन् श्रमण और श्रमणियो ! (आइक्खामि) मैं उस अर्थ को कहता हूँ (विभावेमि) तथा पर्याय शब्दों के द्वारा उसे प्रकट करता हूँ (किट्टेमि पवेदेमि) हेतु और दृष्टान्तों से उस अर्थ को तुम्हारे चित्त में उतारता हूँ । (सअट्ठं सहेउं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि) अर्थ, हेतु और निमित्त के साथ उस अर्थ को बार बार बताता हूँ (से बेमि) उसे अभी कहता हूँ ॥७॥

भावार्थ स्पष्ट है इसलिये उसे लिखने की आवश्यकता नहीं है ।



लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! पुक्खरिणी बुइया, कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उदए

छाया—लोकश्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणा आयुष्मन्तः पुष्करिणी उक्ता । कर्म च खलु मया अपाहृत्य श्रमणा आयुष्मन्तः तस्याः उदकमुक्तम् ।

अन्वयार्थ—(समणाउसो) हे आयुष्मन् श्रमणो ! (मए खलु लोयं च अप्पाहट्टु पुक्खरिणी बुइया) मैंने अपनी इच्छा से मानकर इस लोक को पुष्करिणी कहा है (समणाउसो मए खलु अप्पाहट्टु कम्मभोगे च से उदए बुइए) हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से मानकर कर्म को उस पुष्करिणी का जल कहा है । (समणा-

भावार्थ—श्री महावीर स्वामी श्रमण और श्रमणियों से कहते हैं कि—यह जो विविध प्रकार के मनुष्यों से परिपूर्ण लोक है इसको तुम एक प्रकार की

बुइए, कामभोगे य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए बुइए, जणजाणवयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते बहवे पउमवरपोंडरीए बुइए, रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु

छाया—कामभोगश्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः तस्याः सेय उक्तः। जनान् जनपदांश्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः तानि बहूनि पद्मवरपुण्डरीकानि उक्तानि। राजानश्च खलु मया

अन्वयार्थ—(समणाउसो मए खलु कामभोगे अपाहट्टु च से ठदए बुइए) हे आयुष्मन् श्रमणों! मैंने अपनी इच्छा से मानकर काम भोग को उस पुष्करिणी का कीचड़ कहा है। (समणाउसो मए खलु अपाहट्टु जणजाणवयंच ते बहवे पऊमवरपोंडरीए बुइए।) हे आयुष्मन् श्रमणों मैंने अपनी इच्छा से मानकर आर्य देश के मनुष्यों को तथा देशों को पुष्करिणी के बहुत से कमल कहे हैं। (समणाउसो मए खलु अपाहट्टु रायाणं च से एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए) हे आयुष्मन् श्रमणों! मैंने अपनी इच्छा से मानकर राजा को उस पुष्करिणी का एक महान् उत्तम श्वेत कमल

भावार्थ—पुष्करिणी समझो। जैसे पुष्करिणी अनेक प्रकार के कमलों का आधार होती है इसी तरह यह मनुष्य लोक भी नाना प्रकार के मनुष्यों का आधार है अत इस तुल्यता को लेकर मनुष्य लोक को मैंने पुष्करिणी का रूपक दिया है। जैसे पुष्करिणी मे जल के कारण कमलों की उत्पत्ति होती है इसी तरह आठ प्रकार के कर्मों के कारण मनुष्य लोक में मनुष्यों की उत्पत्ति होती है अत जल से कमल की उत्पत्ति के समान कर्मों से मनुष्य की उत्पत्ति होने के कारण मैंने आठ प्रकार के कर्मों को लोकरूपी पुष्करिणी का जल कहा है। तथा पुष्करिणी के महान् कीचड़ मे फंसा हुआ पुरुष जैसे अपना उद्धार करने में समर्थ नहीं होता है इसी तरह विषय भोग में निमग्न प्राणी अपना उद्धार करने मे समर्थ नहीं होते हैं अत विषय भोग को कीचड के समान फसाने वाला समझ कर मैंने विषयभोग को मनुष्य लोक रूपी पुष्करिणी का कीचड़ कहा है। जैसे पुष्करिणी मे नाना प्रकार के कमल होते हैं इसी तरह इस मनुष्य लोक में नाना प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं अत मैंने मनुष्य लोक में निवास करने वाले मनुष्यों को मनुष्यलोकरूपी पुष्करिणी के बहुत से कमल कहे हैं। जैसे पुष्करिणी के समस्त कमलों मे प्रधान एक उत्तम

समणाउसो ! से एगे महं पउमवरपोंडरीए वुइए, अण्णउत्थिया य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाया वुइया, धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से भिक्खू वुइए, धम्मतित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से तीरे वुइए,

छाया—अपाहृत्य श्रमणा आयुष्मन्तः तस्याः एकं महत् पद्मवरपुण्डरीकमुक्तम् । अन्ययूथिकाश्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणा आयुष्मन्तः ते चत्वारः पुरुषा उक्ताः । धर्मश्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः स भिक्षुरुक्तः । धर्मतीर्थञ्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणा

अन्वयार्थ—कहा है। (समणाउसो ! मए खलु अप्पाहट्टु अण्णउत्थिया य ते चत्तारि पुरिसजाया वुइया) हे आयुष्मान् श्रमणों ! मैंने अपनी इच्छा से मानकर अन्ययूथिकों को उस पुष्करिणी के कीचड़ में फँसे हुए वे चार पुरुष कहे हैं। (समणाउसो मए खलु अप्पाहट्टु धम्मं च से भिक्खू वुइए) हे आयुष्मान् श्रमणों मैंने अपनी इच्छा से मानकर धर्म को वह भिक्षु कहा है। (समणाउसो मए खलु अप्पाहट्टु धम्मतित्थं च से तीरे वुइए) हे आयुष्मान् श्रमणों ! मैंने अपनी इच्छा से मानकर धर्म तीर्थ को

भावार्थ—और सबसे बड़ा श्वेत कमल है। इसी तरह मनुष्य लोक के सब मनुष्यों से श्रेष्ठ और सबका शासक एक राजा होता है, उस राजा को मैंने मनुष्य लोक रूपी पुष्करिणी का सबसे बड़ा कमल कहा है। जैसे कोई निर्विवेकी मनुष्य उस पुष्करिणी के उस प्रधान श्वेत कमल को निकालने के लिये पुष्करिणी में प्रवेश करके उसके महान् कीचड़ में फंस कर अपने को तथा उस कमल को बाहर निकालने के लिये समर्थ नहीं होता है इसी तरह जो मनुष्य, मनुष्य लोक रूपी पुष्करिणी के विषय भोग रूपी कीचड़ में फंसा हुआ है वह अपने को तथा मनुष्यों में प्रधान राजा आदि को संसार से उद्धार करने में समर्थ नहीं होता है, इस तुल्यता को ले कर मैंने विषयभोग में प्रवृत्त अन्यतीर्थियों को वे, चार पुरुष कहे हैं, जो उत्तम श्वेत कमल को पुष्करिणी से बाहर निकालने के लिये चार दिशाओं से आये थे परन्तु वे चारों ही पुष्करिणी के महान् कीचड़ में स्वयं फंस कर अपने को भी उद्धार करने में समर्थ नहीं हुए। जैसे कोई विद्वान् पुरुष पुष्करिणी के अन्दर न जाकर उसके तट पर ही खड़ा रह कर केवल शब्द के द्वारा उस श्वेत कमल को बाहर निकाल ले इसी

धम्मकहं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सद्दे बुइए, निव्वाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाए बुइए, एवमेयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेयं बुइयं॥ (सूत्रं ८) ॥

छाया —आयुष्मन्तः तत्तीर मुक्तम् । धर्मकथाश्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः स शब्दः उक्तः । निर्वाणञ्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः स उत्पातः उक्तः । एवमेतत् खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः तदेतदुक्तम् ॥८॥

अन्वयार्थ—उस पुष्करिणी का तट कहा है । (समणाउसो मए खलु अपाहट्टु धम्मकहं से सद्दे बुइए) हे आयुष्मन् श्रमणों ! मैंने अपनी इच्छा से मानकर धर्म कथा को वह शब्द कहा है । (समणाउसो मए खलु अपाहट्टु निव्वाणं च से उप्पाए बुइए) हे आयुष्मन् श्रमणों ! मैंने अपनी इच्छा से मानकर मोक्ष को उस कमल का बाहर आना कहा है । (समणाउसो मए खलु अपाहट्टु एव मेय च से एवमेय बुइय) हे आयुष्मन्त श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से मानकर पूर्वोक्त इन सब पदार्थों को पूर्वोक्त पदार्थों के रूप में कहा है ॥८॥

भावार्थ—तरह राग द्वेष रहित धार्मिक पुरुष विषय भोग को त्याग कर धर्मोपदेश के द्वारा राजा महाराजा आदि को संसार सागर से पार कर देता है इसलिये मैंने राग द्वेष रहित उत्तम साधु को अथवा उत्तम धर्म को भिक्षु कहा है । जैसे वह विद्वान् पुरुष उस पुष्करिणी के तट पर स्थित रहता है इसी तरह उत्तम धर्म या उत्तम साधु धर्म तीर्थमे स्थित रहते हैं । इसलिए मैंने धर्म तीर्थ को मनुष्य लोक रूपी पुष्करिणी का तट कहा है । जैसे विद्वान् पुरुष श्वेत कमल को केवल शब्द के द्वारा बाहर निकाल ले इसी तरह उत्तम साधु धर्मोपदेश के द्वारा राजा महाराजा आदि को संसार से उद्धार कर देते हैं इसलिये धर्मोपदेश को मैंने उस भिक्षु का शब्द कहा है। जैसे जल और कीचड़ को त्याग कर कमल बाहर आता है इसी तरह उत्तम पुरुष अपने आठ प्रकार के कर्म तथा विषय भोगों को त्याग कर निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं अत निर्वाण पद की प्राप्ति को मैंने कमल का पुष्करिणी से बाहर आना कहा है ॥८॥

इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संते गतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोगं उववन्ना, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोत्ता वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे ह्रस्समता वेगे सुवन्ना वेगे दुव्वन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे तेसिं

छाया—इह खलु प्राच्यां वा प्रतीच्यां वा उदीच्यां वा दक्षिणस्यां वा एकतये मनुष्याः भवन्ति आनुपूर्व्या लोकमुपपन्ना, तद्यथा आर्य्या एके अनार्य्या एके, उच्चगोत्राः एके नीचगोत्राः एके, कायवन्तः एके, ह्रस्वमन्तः एके, सुवर्णाः एके दुर्वर्णाः एके, सुरूपाः एके दुरूपाः

अन्वयार्थ—(इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा अणुपुव्वेण लोगं उववन्ना एगतिया मणुस्सा भवंति) इस मनुष्य लोक में पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशाओं में उत्पन्न कोई मनुष्य होते हैं (तंजहा—वेगे आरिया) उन में से कोई आर्य्य (वेगे अणारिया) कोई अनार्य्य (वेगे उच्चागोत्ता) कोई उच्च गोत्र में उत्पन्न (वेगे णीयागोया) कोई नीच गोत्र में उत्पन्न (वेगे कायमंता वेगे रहस्स-मता) कोई लम्बे और कोई छोटे (वेगे सुवन्ना वेगे दुव्वन्ना) कोई सुन्दर वर्णवाले, कोई बुरे वर्णवाले (वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा) कोई सुन्दर रूपवाले

भावार्थ—श्री भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि—इस मनुष्य लोक के पूर्व आदि दिशाओं में नाना प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं वे एक प्रकार के नहीं होते। कोई पुरुष आर्य्यधर्म के अनुयायी होते हैं और कोई अनार्य्य होते हैं। जो धर्म सब प्रकार के बुरे धर्मों से रहित है उसे आर्य्य धर्म कहते हैं और जो इससे विपरीत है उसे अनार्य्य धर्म कहते हैं। इस भारत वर्ष के साढ़े पचीस जनपद में उत्पन्न पुरुष आर्य्य धर्म के अनुयायी होते हैं और इससे बाहर निवास करने वाले मनुष्य अनार्य्य होते हैं। इन आर्य पुरुषों में कोई इक्ष्वाकु आदि उच्च गोत्र में उत्पन्न और कोई नीच गोत्र में उत्पन्न होते हैं। कोई लम्बे होते हैं और कोई वामन, कुबड़े, आदि होते हैं। किसी का शरीर सोने की तरह सुन्दर होता है और किसी का काला तथा रूक्ष होता है। कोई सुन्दर अंगोपाङ्ग से युक्त मनोहर होता है और कोई कुरूप होता है। इन पुरुषों में जो उच्च गोत्र वाले तथा उत्तम शरीर आदि गुणों से युक्त होते हैं उनमें कोई पुरुष अपने विलक्षण कर्म के उदय से मनुष्यों

च णं मणुयाणं एगे राया भवइ, महयाहिमवंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूते निरंतररायलक्खणविराइयंगमंगे बहुजणबहुमाणपूइए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुदिए मुद्धाभिसित्ते माउपिउसुजाए दयप्पिए सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणु-

छाया—एके। तेषाञ्च मनुजानाम् एको राजा भवति महाहिमवन्मलय मन्दरमहेन्द्रसारः, अत्यन्तविशुद्धराजकुलवंशप्रसूतः, निरन्तर राजलक्षणविराजिताङ्गाङ्गः, बहुजनबहुमानपूजितः, सर्वगुणसमृद्धः क्षत्रियः, मुदितः, मूर्धाभिषिक्तः, मातृपितृसुजातः, दयाप्रियः,

अन्वयार्थ—कोई बुरे रूपवाले होते हैं (तेसिं च ण मणुयाण एगे राया भवइ) उन मनुष्यों में कोई एक राजा होता है। (महयाहिमवंतमलयमंदर महिंदसारे) वह हिमवान् मलय, मन्दर और महेन्द्र पर्वत के समान् शक्तिमान् अथवा धनवान् होता है। (अच्चंतविसुद्धरायकुलवसप्पसूते) वह अत्यन्त शुद्ध राजकुल के वश में उत्पन्न होता है। (निरंतररायलक्खणविराइयंगमगे) उसके अङ्ग और प्रत्यङ्ग राजलक्षणों से सुशोभित होते हैं। (बहुजणबहुमाणपूइए) उसकी बहुत जनों के द्वारा बहुमान के साथ पूजा की जाती है। (सव्वगुणसमिद्धे) वह समस्त गुणों से परिपूर्ण होता है (खत्तिए) वह क्षत्रिय यानी नाश को प्राप्त होते हुए प्राणियोंका का रक्षक होता है (मुदिए) वह सदा प्रसन्न रहता है (मूद्धाभिसित्ते) वह राज्याभिषेक किया हुआ होता है (माउपिउसुजाए) वह माता और पिता का सुपुत्र होता है (दयप्पिए) वह दयालु होता है (सीमंकरे सीमधरे) वह प्रजाओं की सुव्यवस्था के लिए मर्य्यादा स्थापित करने वाला और स्वयं उस मर्य्यादा को पालन करने वाला होता है। (खेमकरे खेमधरे) वह प्रजाओं का कल्याण करने वाला और

भावार्थ—का राजा होता है। उसके गुण इस प्रकार जानने चाहिये— वह राजा, हिमवान्, मलय, मन्दराचल तथा महेन्द्र पर्वत के समान बलवान् अथवा धनवान् होता है। वह स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र के भय से रहित होता है। एव वह उववाई सूत्र मे कहे हुए राजा के समस्त गुणों से सुशोभित होता है। उस राजा की एक परिषद् होती है उसमे आगे कहे जाने वाले लोग सभासद् होते हैं। उग्र जाति वाले तथा उनके पुत्र एवं भोग जाति वाले और उनके पुत्र, तथा सेनापति और उनके पुत्र, सेठ, साहुकार, राजमन्त्री तथा उनके पुत्र आदि उसके परिषद् के सभासद् होते हैं।

सिंदे जणवयपिया जणवयपुरोहिए सेउकरे केउकरे नरपवरे पुरिसपवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजातरूवरतए आओगपओगसंपउत्ते

छाया—सीमाकरः, सीमाधरः, क्षेमङ्करः, क्षेमधरः, मनुष्येन्द्रः, जनपदपिता, जनपदपुरोहितः, सेतुकरः, केतुकरः, नरप्रवरः पुरुषप्रवरः, पुरुषसिंहः, पुरुषाशीविषः, पुरुषवरपुण्डरीकः, पुरुषवरगन्धहस्ती, आढ्यः दीप्तः वित्तः, विस्तीर्णविपुलभवनशयनासनयानवाहनाकीर्णः, बहुधनबहुजातरूपरजतः, आयोगप्रयोगसम्प्रयुक्तः, विच्छर्दितप्रचुर

अन्वयार्थ—सर्व कल्याण को धारण करने वाला होता है। (मणुस्सिंदे) वह मनुष्यों का इन्द्र यानी प्रभु होता है (जणवयपिया जणवयपुरोहिए) वह देश भर का पिता और देश भर में शान्ति फैलाने वाला होता है। (सेउकरे केउकरे) वह देश की सुव्यवस्था के लिए उत्तम मार्गों यानी सुनीति का प्रचार करने वाला तथा अद्भुत कार्य करने वाला होता है। (नरपवरे पुरिसपवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी) वह समस्त मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है इसलिये उसे नरप्रवर, तथा पुरुष प्रवर कहते हैं। वह पुरुषों में सिंह तथा सर्प एवं उत्तम श्वेत कमल अथवा मत्त हाथी के समान होता है। (अड्ढे दित्ते वित्ते) वह बड़ा धनवान्, तेजस्वी और प्रसिद्ध पुरुष होता है। (विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे) वह बड़े-बड़े बहुत से मकान, शय्या, और पालकी आदि यान एवं हाथी घोड़े आदि वाहनों से परिपूर्ण रहता है। (बहुधणबहुजातरूवरतए) उसके खजाने बहुत से धन सुवर्ण और चांदी से भरे होते हैं। (आओगपओगसंपउत्ते) उसके यहां

भावार्थ—इसमें कोई पुरुष धर्म में रुचि रखने वाला होता है। ऐसे पुरुष को जान कर अपने धर्म की शिक्षा देने के लिये अन्यदर्शनी लोग उसके पास जाते हैं। वे उस धर्मश्रद्धालु पुरुष के निकट जा कर कहते हैं कि—हे राजन्! मेरा ही धर्म सब कल्याणों का कारणरूप सत्यधर्म है दूसरे सब अनर्थ हैं। इस प्रकार वे अपना सिद्धान्त सुना कर उस धर्मश्रद्धालु राजा आदि को अपने धर्म में दृढ़ करते हैं। इन अन्य तीर्थियों में पहला तज्जीवतच्छरीरवादी है। यह शरीर से भिन्न आत्मा को नहीं मानता है। इसका सिद्धान्त है कि— शरीर ही आत्मा है। पादतल से ऊपर और केशाग्र मस्तक से नीचे तथा तिरछा चमड़े तक जो शरीर

विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूते पडिपुण्णकोसकोट्ठागाराउहागारे बलवं दुब्बलपच्चामित्त ओहयकंटयं निहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं ओहयसत्तू निहयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जियसत्तू पराइयसत्तू ववगयदुभिक्ख-

छाया—भक्तपानः, बहुदासीदासगोमहिषगवेलकप्रभूतः, प्रतिपूर्णकोशकोष्ठागारायुधागारः, बलवान्, दुर्बलामित्रः, अवहतकण्टकं, निहतकण्टकं, मर्दितकण्टकं, उद्धृतकण्टकं, अकण्टकं, अवहतशत्रु, निहतशत्रु, मर्दितशत्रु, उद्धृतशत्रु, निर्जितशत्रु, पराजितशत्रु, व्यपगतदुर्भिक्ष

अन्वयार्थ—खूब द्रव्य की आय होती है और खर्च भी खूब होता है। (विच्छड्डियपउरभत्तपाणे) उसके यहा बहुत भात पानी लोगों को दिया जाता है (बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूते) उसके यहां बहुतसी दासियाँ, बहुत से दास तथा बहुतसी गाय, भैंस और बकरियाँ होती हैं। (पडिपुण्णकोसकोट्ठागाराउहागारे) उसका खजाना द्रव्य से और अन्न रखने का स्थान अन्न से तथा शस्त्र का स्थान शस्त्रों से भरा हुआ होता है। (बलवं दुब्बलपच्चामित्ते) वह बलवान् तथा शत्रुओं को दुर्बल किया हुआ होता है। (ओहयकंटयं निहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं) उसके राज्य में उपद्रव के द्वारा प्रजाओं को कष्ट देने वाले चोर जार आदि दुष्ट प्राणियों का नाश कर दिया गया है तथा उनका मान मर्दन कर दिया गया है इसलिये उसका राज्य, कण्टक के समान प्रजाओं को पीड़ा देने वाले प्राणियों से वर्जित है (ओहयसत्तू निहयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जियसत्तू पराइयसत्तू) एव उसके राज्य पर आक्रमण करने वाले शत्रु नष्ट कर दिये गये हैं, उनका मान-मर्दन कर दिया गया है तथा वे उखाड़ कर फेंक दिये गये हैं वे पराजित कर दिये गये हैं अत उसका राज्य शत्रु

भावार्थ—है वही जीव है अत जिसने शरीर को प्राप्त किया है उसने जीव को भी प्राप्त किया है अत शरीर से जुदा आत्मा को मान कर उसकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के दुःखों को सहन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सब लोग यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि— जब तक यह पांच भूतों का बना हुआ शरीर जीता रहता है तभी तक यह जीव भी जीता रहता है परन्तु शरीर के नष्ट होने पर उसके साथ ही जीव भी नष्ट हो जाता है। मरने के पश्चात् उस मृत व्यक्ति को जलाने के लिए जो लोग श्मशान में ले जाते हैं वे भी उसे जला कर अकेले ही घर पर चले आते हैं उनके साथ कोई जीव नामक पदार्थ नहीं आता है तथा उस जीव

मारिभयविप्पमुक्कं रायवण्णओ जहा उववाइए जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसाहेमाणे विहरति । तस्स णं रण्णो परिसा भवइ—उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता इक्खागाइ इक्खागाइपुत्ता नाया नायपुत्ता कोरव्वा कोरव्वपुत्ता भट्टा भट्टपुत्ता माहणा माहणपुत्ता लेच्छइ

छाया—मारीभयप्रमुक्त, राजवर्णक यथा औपपातिके यावत् प्रशान्त डिम्बडमरं राज्यं प्रसाधयन् विहरति । तस्य राज्ञः परिषद् भवति उग्राः, उग्रपुत्राः, भोगाः, भोगपुत्राः, इक्ष्वाकवः, इक्ष्वाकुपुत्राः, ज्ञाताः, ज्ञातपुत्राः, कौरव्याः, कौरव्यपुत्राः, भट्टाः, भट्टपुत्राः, ब्राह्मणाः,

अन्वयार्थ—भय रहित है । (खेमसिवसुभिक्खमारिभयविप्पमुक्कं) उसका राज्य दुर्भिक्ष और महामारी के भय से रहित है । (रायवण्णओ जहा उववाइए) इस प्रकार उसके राज्य का वर्णन जानना चाहिये जैसा औपपातिक सूत्र में किया है (पसंतडिंबडमरं रज्जं) जिसमें स्वचक्र और परचक्र का भय नहीं है ऐसे राज्य का (पसाहेमाणे विहरति) पालन करता हुआ वह राजा विचरता है। (तस्स रण्णो परिसा भवइ) उस राजा की परिषद् यानी सभा होती है (उग्गा उग्गपुत्ता) उस सभा के सभासद् उग्र कुल में उत्पन्न उग्र तथा उनके पुत्र (भोगा भोगपुत्ता) भोगकुल में उत्पन्न तथा भोगपुत्र, (इक्खागाइ इक्खागाइपुत्ता) ईक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न तथा इक्ष्वाकुपुत्र (नाया नायपुत्ता) ज्ञातकुल में उत्पन्न तथा ज्ञातपुत्र (कोरव्वा कोरव्वपुत्ता) कुरुकुल में उत्पन्न तथा कुरुपुत्र (भट्टा भट्टपुत्ता) सुभटकुल में उत्पन्न तथा सुभटपुत्र (माहणा माहणपुत्ता) ब्राह्मण कुल में उत्पन्न तथा ब्राह्मण पुत्र (लेच्छइ लेच्छइपुत्ता) लेच्छ नामक क्षत्रिय कुल में उत्पन्न तथा उसके पुत्र (पसत्थारो

भावार्थ—नामक पदार्थ को शरीर छोड़ कर जाता हुआ कोई नहीं देखता है श्मशान में तो केवल जली हुई उस शरीर की हड्डियाँ रह जाती हैं उनके सिवाय कोई दूसरा विकार भी वहाँ नहीं देखा जाता जिसको जीव का विकार कहा जाय । अतः आत्मा शरीर स्वरूप ही है शरीर से अतिरिक्त नहीं है यही ज्ञान यथार्थ और सब प्रमाणों में श्रेष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है जो लोग शरीर को दूसरा और आत्मा को दूसरा बताते हैं वे वस्तु तत्त्व को नहीं जानते हैं । जो वस्तु जगत् में होती है वह किसी वस्तु से बड़ी और किसी से छोटी अवश्य होती है तथा उसकी अवयव रचना भी किसी प्रकार की होती ही है एवं वह काली नीली पीली

लेच्छइपुत्ता पसत्थारो पसत्थपुत्ता सेणावई सेणावइपुत्ता। तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए, तत्थ अन्नतरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो से एवमायाणह भयंतारो जहा मए एस

छाया—ब्राह्मणपुत्राः, लेच्छिनः, लेच्छिपुत्राः, प्रशास्तारः, प्रशास्तृपुत्राः, सेनापतयः सेनापतिपुत्राः,। तेषाञ्च एकतमः, श्रद्धावान् भवति कामं तं श्रमणाः वा ब्राह्मणाः वा सम्प्रधार्पुः गमनाय, तत्र अन्यतरेण धर्मेण प्रज्ञापयितारः, वयम् अनेन धर्मेण प्रज्ञापयिष्यामः, तत् एवं जानीहि भयत्रातः, यथा मया एष धर्मः स्वाख्यातः प्रज्ञप्तो भवति,

अन्वयार्थ—पसत्थपुत्ता) मन्त्री तथा मन्त्री के पुत्र (सेणावइ सेणावइपुत्ता) सेनापति और सेनापति के पुत्र होते हैं। (तेसिं च ण एगतीए सड्ढी भवइ) इनमें कोई धर्म में श्रद्धा रखने वाला होता है। (तं समणा वा माहणा वा गमणाए सपहारिंसु) उस धर्मश्रद्धालु पुरुष के पास श्रमण या ब्राह्मण जाने का निश्चय करते हैं। (अन्नतरेणं धम्मेण पन्नत्तारो) किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले वे श्रमण और ब्राह्मण यह निश्चय करते हैं कि (वय इमेण धम्मेण पन्नवइस्सामो) हम इस धर्म

भावार्थ—या सफेद आदि ही होती है तथा उसमें सुगन्ध दुर्गन्ध, और मृदु या कठिन स्पर्श तथा मधुरादि रसों में कोई एक रस अवश्य रहता है परन्तु इनसे रहित कोई भी वस्तु नहीं होती। अत' आत्मा शरीर से भिन्न यदि होता तो वह अवश्य शरीर से बड़ा या छोटा होता तथा उसकी अवयव रचना भी किसी प्रकार की अवश्य होती एवं उसमें कृष्णादि वर्णों में से कोई वर्ण तथा मधुरादि रसों मे से कोई रस और गन्ध तथा स्पर्श भी अवश्य होते परन्तु ये सब आत्मा में पाये नहीं जाते हैं अत' शरीर से भिन्न आत्मा के सद्भाव मे कोई प्रमाण नहीं है। जो वस्तु जिससे भिन्न होती है वह उससे अलग कर के दिखायी भी जा सकती है जैसे तलवार म्यान से भिन्न है इसलिए वह म्यान से बाहर निकाल कर दिखायी जाती है तथा मुञ्ज से सलाई, हथेली से आँवला, मांस से हड्डी, तिल से तेल, ईख से रस, अरणि से अग्नि बाहर निकाल कर दिखाये जाते हैं क्योंकि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को अलग अलग करके दिखलाना शक्य है परन्तु जो वस्तु जिससे भिन्न

धम्मे सुयक्खाए सुपण्णत्ते भवइ, तंजहा-उड्ढं पादतला अहे केसग्गमत्थया तिरियं तयपरियंते जीवे एस आयापज्जवे कसिणे एस जीवे जीवति एस मए णो जीवइ, सरीरे धरमाणे धरइ विणट्ठंमि य णो धरइ, एयंतं जीवियं भवति, आदहणाए परेहिं

छाया—तद्यथा—ऊर्ध्वं पादतलाद् अधः केशाग्रमस्तकात् तिर्य्यक् त्वक् पर्य्यन्तो जीवः एष आत्मपर्य्यायः कृत्स्नः। अस्मिन् जीवति जीवति, एष मृतः नो जीवति, शरीरे धरति धरति विनष्टे च नो धरति। एतदन्तं जीवितं भवति। आदहनाय परैर्नीयते, अभिध्मापिते शरीरे

अन्वयार्थ—जगद्गुरु पुरुष को अपने इस धर्म की शिक्षा देवें। (भयंतारो मए जहा एस धम्मे सुयक्खाए धम्मे सुपण्णत्ते भवइ से एवं आयाणह) वे उस धर्मश्रद्धालु के निकट जाकर कहते हैं कि—हे भय से प्राणियों की रक्षा करने वाले महाराज ! मैं जो इस उत्तम धर्म की शिक्षा आपको देता हूँ इसे आप इसी तरह समझें (तं जहा-) वह धर्म यह है— (उड्ढं पादतला अहे केसग्गमत्थया तिरियं तयपरियंते जीवे) पादतल से ऊपर और मस्तक के केशाग्र से नीचे एवं तिरछा चमड़े तक जो शरीर है वही जीव है (एस कसिणे आया पज्जवे) यह पूर्वोक्त शरीर ही जीव का समस्त पर्याय यानी अवस्था विशेष है। (एस जीवे जीवति एस मए णो जीवइ) क्योंकि इस शरीर के जीवित रहने पर यह जीव जीता रहता है और शरीर के मर जाने पर यह नहीं जीता है। (सरीरे धरमाणे धरति विणट्ठंमि य णो धरइ एयंतं जीवियं भवति) शरीर के स्थित रहने पर यह जीव स्थित रहता है और शरीर के नष्ट होने पर यह नष्ट होजाता है इसलिए जबतक शरीर है तभी तक जीवन भी है। (आदहणाए परेहिं णिज्जइ) शरीर जब मर जाता है तब उसे जलाने के लिए दूसरे लोग ले

भावार्थ—नहीं किन्तु तत्स्वरूप ही है उससे अलग करके उसको दिखलाना शक्य नहीं है यही कारण है कि शरीर से जुदा कर के आत्मा को कोई नहीं दिखा सकता क्योंकि यह शरीर स्वरूप ही है उससे भिन्न नहीं है। यदि यह शरीर से भिन्न होता तो म्यान से तलवार, मुंज से सलाई, हथेली से आँवला, दही से घृत, ईख से रस, तिल से तेल और अरणि से आग की तरह शरीर से बाहर निकाल कर अवश्य दिखाया जा सकता था परन्तु यह शरीर से जुदा दिखाने योग्य नहीं है अतः यह शरीर से भिन्न नहीं है यह सिद्धान्त ही युक्ति युक्त समझना चाहिये।

निज्जइ, अगणिझामिए सरीरे कवोतवन्नाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति, एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं असंते असंविज्जमाणे तेसिं तं सुयक्खायं भवति—अन्नो भवति जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा, ते एवं नो विपडिवेदेंति-अय-

छाया—कपोतवर्णान्यस्थीनि भवन्ति, आसन्दीपञ्चमाः पुरुषाः ग्रामं प्रत्यागच्छन्ति। एवम् असन् असंवेद्यमानः येषां स असन् असंवेद्यमानः तेषां तत् स्वाख्यातं भवति। अन्यो भवति जीवः अन्यत् शरीरम्, तस्मात् ते एवं नो विप्रतिवेदयन्ति अयमायुष्मन्! आत्मा

अन्वयार्थ—जाते है। (सरीरे अगणिझामिए अट्ठीणि कवोतवण्णाणि भवंति) अग्नि के द्वारा शरीर को जला देने पर हड्डियाँ कपोतवर्ण वाली होजाती है (आसदीपचमा पुरिसा गाम पच्चागच्छति) इसके पश्चात् मृत व्यक्ति को श्मशान भूमि में पहुँचाने वाले जघन्य चार पुरुष मृत शरीर को ढोनेवाली मञ्चिका को लेकर अपने ग्राम में लौट आते हैं। (एव असते असविज्जमाणे) इस प्रकार की हालत देखने से स्पष्ट जाना जाता है कि शरीर से भिन्न कोई जीवनामक पदार्थ नहीं है क्योंकि वह शरीर से भिन्न प्रतीत नहीं होता है (जेसि त असते असविज्जमाणे तेसि त सुयक्खायं भवइ) अत जो लोग शरीर से भिन्न जीव को नहीं मानते हैं उनका यह पूर्वोक्त सिद्धान्त ही युक्तियुक्त समझना चाहिए। (अन्नो जीवो भवति अन्न सरीरं) परन्तु जो लोग कहते है कि—जीव दूसरा है और शरीर दूसरा है (ते एव नो विपडिवेदेंति)

भावार्थ—इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा को न मान कर शरीर के साथ ही आत्मा का नाश स्वीकार करने वाले नास्तिकगण शुभ क्रिया अशुभ क्रिया, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक, मोक्ष एव पुण्य-पाप के फल, सुख दु ख को नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि जब तक यह शरीर है तभी तक यह जीव भी है इसलिये खूब मौज मजा करना चाहिये तथा नरक आदि से डरना मूर्खता है। जिस किसी प्रकार भी विषय भोग को प्राप्त करना ही बुद्धिमान का कर्त्तव्य है यही नास्तिकों का सिद्धान्त है। वस्तुत यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने अपने ज्ञान का अनुभव करते हैं। पशु पक्षी आदि भी पहले समझ लेते हैं कि यह वस्तु ऐसी है, उसके पश्चात् वे प्रवृत्ति करते हैं अत सभी चेतन प्राणी अपने अपने ज्ञान का अनुभव करते हैं इसमें किसी का भी मतभेद नहीं

माउसो ! आया दीहेति वा हस्सेति वा परिमंडलेति वा वट्टे सि वा तंसेति वा चउरंसेति वा आयतेति वा छलंसिएति वा अट्ठंसेति वा किण्हेति वा णीलेति वा लोहियहालिद्दे सुक्किलेति वा सुब्भिगंधेति वा दुब्भिगंधेति वा तित्तेति वा कडुएति वा कसाएति वा अंबिलेति वा महुरेति वा कक्खडेति वा मउएति वा

छाया—दीर्घ इति वा, ह्रस्व इति वा, परिमण्डल इति वा, वर्तुल इति वा, त्र्यस्र इति वा, चतुरस्र इति वा, आयत इति वा, षडंश इति वा, अष्टांश इति वा, कृष्ण इति वा, नील इति वा, लोहित इति वा, शुक्ल इतिवा, सुरभिगन्ध इतिवा, दुर्गन्ध इतिवा, तिक्त इतिवा, कटुक इतिवा, कषाय इति वा, आम्ल इति वा, मधुर इतिवा, कर्कश इतिवा, मृदु

अन्वयार्थ—वे इस प्रकार नहीं बता सकते हैं कि—(आउसो यह आया दीहेतिवा हस्सेतिवा) "यह आत्मा लम्बा है अथवा छोटा है (परिमंडलेतिवा वट्टेतिवा) यह चन्द्रमा के समान मण्डलाकार है अथवा गेंद की तरह गोल है (तंसेतिवा चउरंसेतिवा) यह त्रिकोण है अथवा चतुष्कोण है। (आयतेतिवा छलंसिएतिवा अट्ठंसेतिवा) यह लंबा है या छः कोण वाला अथवा आठ कोण वाला है (किण्हेतिवा णीलेतिवा) यह काला है या नीला है (लोहियहालिद्दे सुक्किलेतिवा) यह लाल है या हल्दी के रंग का है अथवा यह सफेद है। (सुब्भिगंधेतिवा दुब्भिगंधेतिवा) यह सुगन्ध है अथवा दुर्गन्ध है (तित्तेतिवा कडुएतिवा) यह तिक्त है या कडुआ है (कसाएतिवा अंबिलेतिवा महुरेतिवा) यह कसैला है खट्टा है अथवा मीठा है। (कक्खडेतिवा मउएतिवा) यह कठोर है अथवा मृदु है (गुरुएतिवा लहुएतिवा) यह

भावार्थ—है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणियों के द्वारा अनुभव किया जाने वाला यह ज्ञान गुण है और अमूर्त है उस अमूर्त ज्ञान गुण का आश्रय कोई गुणी अवश्य होना चाहिये क्योंकि गुणी के बिना गुण का रहना संभव नहीं है। यद्यपि ज्ञान रूप गुण का आश्रय शरीर है यह नास्तिक गण बतलाते हैं तथापि उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि शरीर मूर्त है और ज्ञान अमूर्त है मूर्त का गुण मूर्त ही होता है अमूर्त नहीं होता है इस लिये अमूर्त ज्ञान मूर्त शरीर का गुण नहीं हो सकता है। अतः अमूर्त ज्ञान रूप गुण का आश्रय अमूर्त आत्मा को माने बिना काम नहीं चल

गुरुएति वा लहुएति वा सिएति वा उसिणेति वा निद्धेति वा लुक्खेति वा, एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवति–अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा ते णो एवं उवलब्भंति से जहाणामए केइ पुरिसे कोसीओ असि अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! असी अयं कोसी, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया इयं सरीरं।

छाया—रितिवा, गुरुक इतिवा लघुक इतिवा, शीत इतिवा, उष्ण इतिवा, स्निग्ध इतिवा रुक्ष इतिवा, एवम् असन् असंवेद्यमानः येषां तत् स्वाख्यातं भवति। अन्यो जीवः अन्यत् शरीरं तस्मात् ते नो एवम् उपलभन्ते, तद्यथानामकः कश्चित् पुरुषः कोशाद् असिम् अभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयेद्, अयम् आयुष्मन् असिः अयं कोशः एव मेव नास्ति कोऽपि पुरुषः अभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयिता अयमायुष्मन् आत्मा इदं

अन्वयार्थ—भारी है या हल्का है (सिएतिवा उसिणेतिवा) वह ठंढा है या गर्म है (निद्धेतिवा लुक्खेतिवा) वह चिकना है अथवा रूक्ष है।" (एव असंते असविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खाय भवति) अत जो लोग आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानते हैं उनका यह उक्त मत ही युक्ति युक्त है। (अन्नो जीवो अन्नं सरीर) परन्तु जो लोग कहते हैं कि—जीव दूसरा है और शरीर दूसरा है (ते णो एव उवलब्भंति) वे जीव को इस प्रकार नहीं प्राप्त करते हैं (जहाणामए केइ पुरिसे कोसाओ असि अभिनिव्वट्टित्ताण उवदसेज्जा अयमाउसो ! असी अयकोसी) जैसे कि—कोई पुरुष म्यान से तलवार को बाहर निकालकर दिखलाता हुआ कहता है कि—हे आयुष्मन् ! यह तो तलवार है और यह म्यान है (एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो अयमाउसो आया इयं सरीर) इस तरह ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो शरीर से जीव को पृथक् करके दिखलावे कि—हे आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह

भावार्थ—सकता है। इस प्रकार ज्ञान गुण के आश्रय आत्मा की सिद्धि होने पर भी नास्तिक जो आत्मा को शरीर से पृथक् नहीं मानते हैं यह उनका दुराग्रह है। यदि आत्मा शरीर से भिन्न न हो तो किसी भी प्राणी का मरण नहीं हो सकता है क्योंकि शरीर तो मरने पर भी बना ही रहता है फिर तो किसी का मरण होना ही नहीं चाहिये। यद्यपि नास्तिक

से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! मुंजे इयं इसियं, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! मंसे अयं अट्ठी, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे

छाया—शरीरम्, तद्यथानामकः कोऽपि पुरुषः मुञ्जात् ईषीकाम् अभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयेत् अयमायुष्मन् ! मुञ्जः इयमीषीका एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः उपदर्शयिता अयमायुष्मन् आत्मा इदं शरीरम् तद्यथानामकः कोऽपि पुरुषः मांसात् अस्थि अभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयेद् अयम् आयुष्मन् मांसं इदम् अस्थि एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः उपदर्शयिता अयमायुष्मन् आत्मा इदं शरीरम् ! तद्यथानामकः कोऽपि

अन्वयार्थ—शरीर है। (से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्टित्ता उवदंसेज्जा अयमाउसो ! मुंजे इयं इसियं) तथा जैसे कोई पुरुष मुञ्ज से सलाई को बाहर निकाल कर दिखलावे कि—हे आयुष्मन् ! यह तो मुञ्ज है और यह सलाई है (एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो आया इयं सरीरं) इसी तरह कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है जो शरीर से आत्मा को अलग करके बतला सके कि—हे आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है। (से जहाणामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठि अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! मंसे अयं अट्ठी) जैसे कोई पुरुष मांस से हड्डी को अलग करके बतावे कि—हे आयुष्मन् ! यह तो मांस है और यह हड्डी है (एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो आया इयं सरीरं) इसी तरह ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो शरीर से आत्मा को जुदा करके बतलावे कि—हे आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है। (से जहाणामए केइ पुरिसे करयलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो करयले अयं आमलए)

भावार्थ—शरीर से भिन्न आत्मा का खण्डन करने के लिये उसमें वर्ण, गन्ध, रस, अवयव रचना आदि का अभाव दिखलाते हैं और इस अभाव को दिखा कर आत्मा के सद्भाव का खण्डन करते हैं परन्तु वे यह नहीं समझते हैं कि, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, और अवयव रचना आदि गुण मूर्त्तपदार्थ

करयलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! करतले अयं आमलए, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे दहिओ नवनीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! नवनीयं अयं तु दही, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे जाव सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तिल्लं अभिनिव्वट्टित्ता णं

छाया—पुरुषः करतलादामलकम् अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेद् इदम् आयुष्मन् ! करतलम् इदम् आमलकम् एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः उपदर्शयिता अयमायुष्मन् आत्मा इदं शरीरम् । तद्यथा नामकः कश्चित् पुरुषः दध्नः नवनीतम् अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेद् इदमायुष्मन् ! नवनीतम् इदं दधि, एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः उपदर्शयिता अयमायुष्मन् आत्मा इदं शरीरम् । तद्यथा नामकः कोऽपि पुरुषः

अन्वयार्थ—जैसे कोई पुरुष हथेली से आँवले को बाहर निकाल कर दिखलावे कि—हे आयुष्मन् यह तो हथेली है और यह आँवला है (एवमेव णत्थि केइ पुरिसे उवदसेत्तारो अयमाउसो आया इय सरीरं) इसी तरह ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो शरीर से आत्मा को बाहर निकाल कर दिखा सके कि—हे आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है । (से जहाणामए केइ पुरिसे दहिओ नवनीय अभिनिव्वट्टित्ताण उवदसेज्जा अयमाउसो ! नवनीयं अय तु दही) जैसे कोई पुरुष दही से मक्खन निकाल कर दिखलाता है कि— हे आयुष्मन् ! यह तो मक्खन है और यह दही है (एवमेव णत्थि केइ पुरिसे जाव सरीरं) इसी तरह कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है जो शरीर से आत्मा को पृथक् करके दिखावे कि—हे आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है । (से जहाणामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तिल्ल अभिनिव्वट्टि-

भावार्थ—के होते हैं अमूर्त्त के नहीं होवे । आत्मा तो अमूर्त्त है फिर उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, और अवयवरचना आदि गुण हो ही कैसे सकते हैं ? तथा इनके न होने से अमूर्त्त आत्मा के अस्तित्व का खण्डन कैसे किया जा सकता है ? हम नास्तिक से पूछते हैं कि—वह अपने ज्ञान के अस्तित्व का अनुभव करता है या नहीं ? यदि नहीं करता है तो उसकी नास्तिकवाद के समर्थन आदि मे प्रवृत्ति कैसे होती है ? और यदि वह

उवदंसेज्जा अयमाउसो ! तेल्लं अयं पिण्णाए, एवमेव जाव सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे इक्खूतो खोतरसं अभिणिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! खोतरसे अयं छोए, एवमेव जाव सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे अरणीतो अग्गिं अभिणिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! अरणी अयं अग्गी, एवमेव

छाया—तिलेभ्य तैलम् अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेद् इदमायुष्मन् तैलम् अयं पिण्याकः एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुष उपदर्शयिता अयमायुष्मन् आत्मा इदं शरीरम्। तद्यथा नामकः कोऽपि पुरुष इक्षुतः क्षोदरसम् अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेद् अयम् आयुष्मन् क्षोदरस अयं क्षोद एवमेव यावत् शरीरम्। तद्यथानामक कोऽपि पुरुष

अन्वयार्थ—(तेल्लं उवदंसेज्जा अयमाउसो तेल्लं अयं पिण्णाए) जैसे कोई पुरुष तिल में से तेल निकाल कर दिखलावे कि—हे आयुष्मन् ! यह तो तेल है और यह खली है (एवमेव जाव सरीरं) इसी तरह ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो शरीर से आत्मा को अलग करके दिखावे कि—हे आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है। (से जहाणामए केइ पुरिसे इक्खूतो खोतरसं अभिणिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो खोतरसे अयं छोए) जैसे कोई पुरुष ईख का रस निकाल कर दिखावे कि—हे आयुष्मन् ! यह ईख का रस है और यह उसका छिलका है (एवमेव जावसरीरं) इसी तरह ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से बाहर निकाल कर दिखाता है कि— हे आयुष्मन् ! यह तो शरीर है और यह आत्मा है। (से जहाणामए केई पुरिसे अरणीतो अग्गिं अभिणिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा, अयमाउसो अरणी अयमग्गी एवमेव जाव सरीरं) जैसे कोई पुरुष अरणि से आग निकाल कर दिखलावे कि—हे आयुष्मन् ! यह तो अरणि है और यह अग्नि है इसी तरह कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है जो आत्मा को शरीर से अलग करके दिखलावे कि— हे

भावार्थ—अनुभव करता है तो उसमें वह कौनसा वर्ण, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श तथा अवयव रचना को प्राप्त करता है ? यदि उस ज्ञान में वर्ण आदि की उपलब्धि न होने पर भी नास्तिक उसका सद्भाव मानता है तो फिर आत्मा को न मानने का क्या कारण है ? नास्तिक कहते हैं कि—"जो वस्तु जिससे भिन्न होती है वह उससे अलग करके दिखायी जा सकती है जैसे म्यान से बाहर निकाल कर तलवार दिखायी जाती है"

जाव सरीरं। एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवति, तं० अन्नो जीवो अन्नं सरीरं। तम्हा ते मिच्छा ॥ से हंता तं हणह खणह छणह डहह पयह आलुंपह विलुंपह सहसाक्कारेह विपरामुसह, एतावता जीवे णत्थि परलोए, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं०–किरियाइ वा अकिरियाइ वा सुक्कडेइ

छाया—अरणितः अग्निम् अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेद् इयम् आयुष्मन् अरणिः अयम् अग्निः एवमेव यावत् शरीरम्। एवम् असन् असंवेद्यमानः येषां तत् स्वाख्यातं भवति तद्यथा—अन्यो जीवः अन्यत् शरीरं तस्मात् ते मिथ्या। स हन्ता तं घातयत, क्षिणुत, दहत, पचत, आलुम्पत, विलुम्पत, सहसा कारयत, विपरामृशत, एतावान् जीवः नास्ति परलोकः। ते नो एवम् प्रतिसंवेदयन्ति तद्यथा-क्रियां

अन्वयार्थ—आयुष्मन्! यह तो आत्मा है और यह शरीर है। (एव असंते असंविज्जमाणे) इसलिये आत्मा शरीर से पृथक् नहीं है यही बात युक्ति युक्त है। (जेसिं तं सुयक्खाय भवति त जहा अन्नो आया अन्नं सरीरं तम्हा ते मिच्छा) जो लोग कहते हैं कि आत्मा दूसरा है और शरीर दूसरा है वे पूर्वोक्त कारणों से मिथ्यावादी हैं। (से हता) इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा को न मानने वाले लोकायतिक आदि स्वय जीवों का हनन करते हैं (तं हणह, खणह, छणह, डहह, पयह, आलुपह, विलुंपह, सहस्साक्कारेह, विपरामुसह एतावता जीवे णत्थि परलोए) तथा वे दूसरे को उपदेश करते हैं कि—जीवों को मारो, पृथिवी को खोदो तथा वनस्पति आदि को छेदन करो, जलाओ, पकाओ, जीवों को लूट लो, उन पर बलात्कार करो क्योंकि शरीर ही जीव है इससे भिन्न कोई परलोक नहीं है। (ते एव णो पडिसवेदेंति) वे शरीरात्मवादी आगे कही जाने वाली बातों को नहीं मानते हैं—(किरियाइवा

भावार्थ—इत्यादि परन्तु यह भी इनका कथन असंगत है क्योंकि—तलवार आदि तो मूर्त्त पदार्थ हैं वे दिखाये जाने योग्य हैं अत' वे दूसरी वस्तु से बाहर निकाल कर दिखाये जा सकते हैं परन्तु जो अमूर्त्त होने के कारण दिखाने योग्य नहीं है उसको कोई कैसे दिखा सकता है? नास्तिक अपने ज्ञान को क्यों नहीं दिखा देता? वह अपने ज्ञान को समझाने के लिये शब्द का प्रयोग क्यों करता है? जैसे हथेली में स्थित आँवले को बताने के लिये शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है

वा दुक्कडेइ वा कल्लाणेइ वा पावएइ वा साहुइ वा असाहुइ वा सिद्धीइ वा असिद्धीइ वा निरएइ वा अनिरएइ वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए। एवं एगे पागब्भिया णिक्खम्म मामगं धम्मं पन्नवेंति, तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साहु सुयक्खाए समं

छाया—वा, अक्रिया वा, सुकृतं वा, दुष्कृतं वा, कल्याणं वा, पापकं वा, साधु वा, असाधु वा, सिद्धिं वा, असिद्धिं वा, निरयं वा, अनिरयं वा, एवं ते विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैः विरूपरूपान् कामभोगान् समारभन्ते भोगाय। एवम् एके प्रागल्भिकाः निष्क्रम्य मामकं धर्मं प्रज्ञापयन्ति, तं श्रद्दधानाः तं प्रतियन्तः तं रोचयन्तः साधु स्वाख्यात

अन्वयार्थ—अकिरियाइ वा सुकडेइ वा दुक्कडेइ वा कल्लाणेइ वा पावएइ वा साहुइ वा असाहुइ वा सिद्धीइ वा असिद्धीइ वा निरएइ वा अनिरएइ वा) वे, शुभक्रिया, अशुभक्रिया, सुकृत दुष्कृत कल्याण, पाप, भला, बुरा, सिद्धि, असिद्धि, नरक और अनरक इन बातों को नहीं मानते हैं। (एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारम्भेहिं भोयणाए कामभोगाइं समारभंति) इस प्रकार वे शरीरात्मवादी अनेक प्रकार के आरम्भों के द्वारा अपने भोग के निमित्त विविध कामभोगों का आरम्भ करते हैं। (एवं पागब्भिया एगे णिक्खम्म मामगं धम्मं पन्नवेंति) इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा न मानने की धृष्टता करने वाले कोई नास्तिक अपने पक्ष के अनुसार प्रव्रज्या धारण करके "मेरा ही धर्म सत्य है" ऐसी प्ररूपणा करते हैं। (तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा) उस शरीरात्मवाद में श्रद्धा रखते हुए उसे सत्य मानते हुए उसमें

भावार्थ—किन्तु सीधे ही दर्शक को वह दिखा दिया जाता है इसी तरह नास्तिक अपने ज्ञान को क्यों नहीं दिखा देवे ? यदि वे कहें कि—अमूर्त होने के कारण ज्ञान नहीं दिखाया जा सकता है तो यही उत्तर आत्मा के न दिखाये जाने के पक्ष में भी क्यों न समझा जावे।

ये नास्तिक लोकायतिक कहलाते हैं इनके मत में कोई दीक्षा नहीं होती है लेकिन ये पहले शाक्य मत के अनुसार दीक्षा धारण करते हैं और पीछे लोकायतिक मत के ग्रन्थों को पढ़कर ये लोकायतिक बन जाते हैं। ये लोकायतिक मत को ही सत्य मानते हुए परलोक आदि का खण्डन करते हैं और जिस किसी प्रकार विषय भोग की प्राप्ति को ही

णेति वा माहणेति वा कामं खलु आउसो ? तुमं पूययामि, तंजहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु ॥ पुव्वमेव तेसिं णायं भवति—समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता

छाया—श्रमण इति वा माहन इति वा कामं खलु आयुष्मन् ! त्वां पूजयामि तद्यथा—अशनेन वा पानेन वा खाद्येन वा स्वाद्येन वा, वस्त्रेण वा, परिग्रहेण वा कम्बलेन वा पादप्रोञ्छनेन वा तत्रैके पूजायै समुत्थितवन्तः, तत्रैके पूजायै निकाचितवन्तः । पूर्वमेव तेषां ज्ञातं भवति श्रमणाः भविष्यामः अनगाराः अकिञ्चनाः अपुत्राः अपशवः परदत्तभोजिनः

अन्वयार्थ—रुचि रखते हुए कोई राजा आदि (समणेति वा माहणेति वा साहु सुयक्खाए) उस शरीरात्मवादी से कहते हैं कि—"हे श्रमण ! हे ब्राह्मण ! आपने यह बहुत उत्तम धर्म मुझको सुनाया है" (आउसो ! कामं खलु तुमं पूययामि) अत हे आयुष्मन् ! मैं आपकी पूजा करता हूँ (तंजहा असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा परिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुछणेण वा) मैं अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, परिग्रह, कम्बल और पादप्रोञ्छन आदि के द्वारा आपकी पूजा करता हूं । (तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु) इस प्रकार कहते हुए कोई राजा आदि उनकी पूजा में प्रवृत्त होते हैं अथवा वे शरीरात्मवादी अपनी पूजा में प्रवृत्त होते हैं और उस राजा आदि को अपने सिद्धान्त में दृढ करते हैं । (तेसिं पुव्वमेव परिण्णायं भवति) इस शरीरात्मवादी ने पहले तो यह प्रतिज्ञा की थी कि (समणा अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो भविस्सामो) "हम श्रमण,

भावार्थ—पुरुष का परम कर्त्तव्य बताते हैं । विषय प्रेमी जीवों को इनका मत बड़ा ही आनन्द दायक प्रतीत होता है क्योंकि इसमें पाप, परलोक और नरक आदि का भय नहीं है और विषयभोग की इच्छानुसार आज्ञा है । वे विषय प्रेमी जीव इनके मत को बड़े आदर के साथ ग्रहण करके कहते हैं कि हे श्रमण ! आपने मुझको बहुत उत्तम और आनन्द दायक धर्म का उपदेश किया है वस्तुतः यही धर्म सत्य है दूसरे सब धर्म धूर्तों ने अपने स्वार्थ साधन के लिये रचे हैं । आपने इस सत्य धर्म को सुना कर मेरा बड़ा ही उपकार किया है इसलिये हम आपको सब प्रकार की

अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति, सयमाइयंति अन्नेवि आदियावेंति अन्नंपि आयतंतं समणुजाणंति, एवमेव ते इत्थि कामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोस-वसट्टा, ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति ते णो परं समुच्छेदेंति ते

छाया—भिक्षवः पापं कर्म न करिष्यामः, समुत्थाय ते आत्मना अप्रति विरताः भवन्ति। स्वयम् आददते अन्यान् अपि आदापयन्ति अन्यम् अपि आददतं समनुजानन्ति। एवमेव ते स्त्रीकामभोगैः मूर्च्छिताः गृद्धाः ग्रथिताः अभ्युपपन्नाः लुब्धाः रागद्वेषवशार्ताः ते नो आत्मानं समुच्छेदयन्ति नो परं समुच्छेदयन्ति, ते नो

अन्वयार्थ—घररहित धनादि रहित, पुत्र रहित पशु रहित तथा दूसरे के द्वारा दिये हुए भिक्षान्न को खानेवाला भिक्षु बनेंगे (पावं कम्मं णो करिस्सामो) अब हम पापकर्म नहीं करेंगे" (समुट्ठाय अप्पणा ते अप्पडिविरया भवंति) ऐसी प्रतिज्ञा के साथ उठकर भी वे पापकर्म से निवृत्त नहीं होते हैं (सयमाइयंति अन्नेवि आदियावेंति अन्नंपि आयतंतं समणुजाणंति) वे स्वयं परिग्रह को स्वीकार करते हैं और दूसरे से स्वीकार कराते हैं तथा परिग्रह स्वीकार करते हुए को अच्छा समझते हैं। (एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा) इसी तरह वे स्त्री तथा दूसरे काम भोगों में आसक्त, उनमें अत्यन्त इच्छावाले, बँधे हुए उनके लोभी तथा रागद्वेष के वशीभूत और आर्त होते हैं। (ते णो अप्पाणं

भावार्थ—विषयभोग की सामग्री अर्पण करते हैं आप उन्हें स्वीकार करें। यह कह कर नास्तिकों के शिष्य उनको नाना प्रकार की विषय भोग की सामग्री अर्पण करते हैं और वे उस सामग्री को प्राप्त करके भोग भोगने में अत्यन्त प्रवृत्त हो जाते हैं। जिस समय ये नास्तिक शाक्य मत के अनुसार दीक्षा ग्रहण करते हैं उस समय तो वे प्रतिज्ञा करते हैं कि—"हम धन धान्य तथा स्त्री पुत्र आदि से रहित होकर दूसरे के द्वारा दिये हुए भिक्षान्नमात्र से अपना जीवन निर्वाह करते हुए सांसारिक भोगों के त्यागी बनेंगे" परन्तु इस प्रतिज्ञा को तोड़कर वे भारी विषयलम्पट हो जाते हैं और दूसरों को भी अपने कुमन्तव्यों का उपदेश करके उन्हें भी बिगाड़ देते हैं। इन लोकायतिकों का गृहस्थाश्रम भी नष्ट हो जाता

णो अएणाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति, पहीणा पुव्वसंजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसन्ना इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरएत्ति आहिए ॥ सूत्रं ९ ॥

छाया—अन्यान् प्राणान् भूतानि जीवान् सत्त्वान् समुच्छेदयन्ति प्रहीणाः पूर्व संयोगाद् आर्य्यं मार्गम् अप्राप्ताः इति ते नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा कामभोगेषु निषण्णाः इति प्रथमः पुरुषजातः तज्जीवतच्छरीरक इति आख्यातः । ९

अन्वयार्थ—समुच्छेदेंति णो अण्णाइं पाणाइ भूयाइ जीवाइ सत्ताइ समुच्छेदेंति) वे अपने आत्मा को संसाररूपी पाश से नहीं मुक्त कर सकते तथा वे उपदेश आदि के द्वारा दूसरे प्राणियों को भी ससाररूपी पाश से नहीं मुक्त कर सकते हैं (पुव्वसंजोग पहीणा आयरियं मग्गं असपत्ता) वे शरीरात्मवादी अपने स्त्री पुत्र और धन धान्य आदि से भी भ्रष्ट हो चुके हैं और आर्य्य मार्ग को भी नहीं पा सके हैं (णो हव्वाए णो पाराए) अत वे न इसी लोक के होते हैं और न परलोक के ही होते हैं (अंतरा कामभोगेसु विसन्ना) किन्तु बीच में ही काम भोग मे आसक्त रहते हैं (इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरएत्ति आहिए) यह पहला पुरुष तज्जीवतच्छरीरवादी कहा गया है ।

भावार्थ—है और परलोक भी बिगड़ जाता है। ये न इसी लोक के होते है और न परलोक के ही होते हैं किन्तु उभय भ्रष्ट होकर अपने जीवन को नष्ट करते हैं। ये लोग जब कि स्वयं अपने को संसार सागर से उद्धार नहीं कर सकते तब फिर ये अपने उपदेशों से दूसरे का कल्याण कर सकेंगे यह तो आशा ही करना व्यर्थ है। अत पूर्वोक्त पुष्करिणी के कमल को निकालने की इच्छा से पुष्करिणी के घोर कीचड़ मे फंसकर उससे अपने को उद्धार करने मे असमर्थ प्रथम पुरुष इस शरीरात्मवादी को समझना चाहिये।



अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति, सयमाइयंति अन्नेवि आदियावेंति अन्नंपि आयतंतं समणुजाणंति, एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा, ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति ते णो परं समुच्छेदेंति ते

छाया—भिक्षवः पापं कर्म न करिष्यामः, समुत्थाय ते आत्मना अप्रतिविरताः भवन्ति। स्वयम् आददते अन्यान् अपि आदापयन्ति अन्यम् अपि आददतं समनुजानन्ति। एवमेव ते स्त्रीकामभोगे मूर्च्छिताः गृद्धाः ग्रथिताः अभ्युपपन्नाः लुब्धाः रागद्वेषवशार्ताः ते नो आत्मानं समुच्छेदयन्ति नो परं समुच्छेदयन्ति, ते नो

अन्वयार्थ—घररहित धनधान्यादि रहित पुत्र रहित, पशु रहित तथा दूसरे के द्वारा दिये हुए भिक्षान्न को खानेवाला भिक्षु बनेंगे (पावं कम्मं णो करिस्सामो) अब हम पापकर्म नहीं करेंगे" (समुट्ठाए अप्पणा ते अप्पडिविरया भवंति) ऐसी प्रतिज्ञा के साथ उठकर भी वे पापकर्म से निवृत्त नहीं होते हैं (सयमाइयंति अन्नेवि आदियावेंति अन्नंपि आयतंतं समणुजाणंति) वे स्वयं परिग्रह को स्वीकार करते हैं और दूसरे से स्वीकार कराते हैं तथा परिग्रह स्वीकार करते हुए को अच्छा समझते हैं। (एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा) इसी तरह वे भी तथा दूसरे काम भोगों में आसक्त, उनमें अत्यन्त इच्छावाले, बंधेहुए उनके लोभी तथा रागद्वेष के वशीभूत और आर्त होते हैं। (ते णो अप्पाणं

भावार्थ—विषयभोग की सामग्री अर्पण करते हैं आप उन्हें स्वीकार करें। यह कह कर नास्तिकों के शिष्य उनको नाना प्रकार की विषय भोग की सामग्री अर्पण करते हैं और वे उस सामग्री को प्राप्त करके भोग भोगने में अत्यन्त प्रवृत्त हो जाते हैं। जिस समय ये नास्तिक शाक्य मत के अनुसार दीक्षा ग्रहण करते हैं उस समय तो वे प्रतिज्ञा करते हैं कि— "हम धन धान्य तथा स्त्री पुत्र आदि से रहित होकर दूसरे के द्वारा दिये हुए भिक्षान्नमात्र से अपना जीवन निर्वाह करते हुए सांसारिक भोगों के त्यागी बनेंगे" परन्तु इस प्रतिज्ञा को तोड़कर ये भारी विषयलम्पट हो जाते हैं और दूसरों को भी अपने कुमन्तव्यों का उपदेश करके उन्हें भी बिगाड़ देते हैं। इन लोकायतिकों का गृहस्थाश्रम भी नष्ट हो जाता

तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए, तत्थ अन्नयरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो से एवमायाणह भयंतारो! जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नते भवति ॥ इह खलु पंच महब्भूता, जेहिं नो विज्जइ किरियाति वा अकिरियाति

छाया—तं श्रमणाः वा ब्राह्मणाः वा सम्प्रधार्षुः गमनाय। तत्रान्यतरेण धर्मेण प्रज्ञापयितारः, वयमनेन धर्मेण प्रज्ञापयिष्यामः तदेवं जानीत भयात्त्रातारः। यथा मया एष धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवति इह खलु पञ्च महाभूतानि तैर्नो विद्यते क्रिया इति वा, अक्रिया

अन्वयार्थ—पुरुष धर्म में श्रद्धालु होता है। (त गमणाय समणा माहणा य सपहारिंसु) उसके निकट जाने के लिए श्रमण और माहन विचार करते हैं। (तत्थ अन्नतरेण धम्मेणं पन्नत्तारो वय इमेण धम्मेण पन्नवइस्सामो) वे किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले अन्यतीर्थी श्रमण और माहन राजा से कहते हैं कि— हम आपको अपने इस धर्म की शिक्षा देंगे। (भयतारो) वे कहते हैं कि— हे प्रजाओं को निर्भय करने वाले राजन्! (जहा मए एस सुयक्खाए धम्मे सुपन्नत्ते भवति से एवमायाणह) मैं जो इस उत्तम धर्म का उपदेश करता हूँ सो आप इसे सत्य समझें (इह पंच महब्भूता खलु) इस जगत में पाँच महाभूत ही सब कुछ हैं (जेहिं नो किरियाति वा अकिरियाति वा) जिनसे हमारी क्रिया, अक्रिया, (सुक्कडेति वा दुक्कडेति वा)

भावार्थ—आत्मा को स्वीकार न करने वाले नास्तिक और आत्मा को क्रियारहित मानने वाले सांख्यवादी दोनों ही पाञ्चमहाभूतिक समझने योग्य हैं। नास्तिक कहते हैं कि—पृथ्वी आदि पाँच महाभूत सदा विद्यमान रहते हैं इनका नाश कभी नहीं होता है तथा ये सबसे बड़े होने के कारण महाभूत कहलाते हैं। आना, जाना, उठना, बैठना, सोना, जागना आदि समस्त क्रियायें इनके द्वारा ही की जाती हैं किसी दूसरे काल ईश्वर अथवा आत्मा आदि के द्वारा नहीं क्योंकि काल ईश्वर तथा आत्मा आदि पदार्थ मिथ्या हैं इनकी कल्पना करना व्यर्थ है। एवं स्वर्ग नरक आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों की कल्पना भी मिथ्या है वस्तुत. इसी जगह जो उत्तम सुख भोगा जाता है वह स्वर्ग है तथा भयंकर रोग शोक आदि पीड़ायें भोगना नरक है इनसे भिन्न स्वर्ग या नरक कोई लोक विशेष नहीं हैं अत स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की तपस्याओं के अनुष्ठान से शरीर को क्लेश देना तथा नरक के भय से इस लोक के सुख को

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूतिएत्ति आहिज्जइ, इह खलु पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा, भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे एवं जाव दुरूवा वेगे, तेसिं च णं महं एगे राया भवइ महया० एवं चेव णिरवसेसं जाव सेणावइपुत्ता, तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवति कामं

छाया—अथापरः द्वितीयः पुरुषजातः पाञ्चमहाभूतिक इत्याख्यायते। इह खलु प्राच्यां वा ६ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति आनुपूर्व्या लोकमुपपन्ना तद्यथा आर्य्याः एके अनार्य्याः एके एवं यावत् दूरूपाः एके, तेषाञ्च महान् एको राजा भवति महा० एवञ्चैव निरवशेषं यावत् सेनापतिपुत्राः। तेषाञ्च एकतयः श्रद्धावान् भवति कामं

अन्वयार्थ—(अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूतिएत्ति आहिज्जइ) पूर्वोक्त प्रथम पुरुष से भिन्न दूसरा पुरुष पाञ्चमहाभूतिक कहलाता है। (इह खलु पाईणं वा ६ संते गतिया मणुस्सा भवंति) इस मनुष्य लोक में पूर्व आदि दिशाओं में मनुष्य गण निवास करते हैं। (आणुपुव्वेणं लोगमुववन्ना) वे नाना भेदों में लोक में उत्पन्न हुए होते हैं। (तंजहा—वेगे आरिया वेगे अणारिया) कोई आर्य्य होते हैं और कोई अनार्य्य होते हैं। (एवं वेगे जाव दुरूवा) इसी तरह पूर्व सूत्रोक्त वर्णन के अनुसार कोई कुरूप आदि होते हैं। (तेसिं च णं एगे राया भवइ) उन मनुष्यों के मध्य में कोई महान् पुरुष राजा होता है (महया एवं चेव णिरवसेसं जाव सेणावइपुत्ता) वह पूर्व सूत्रोक्त विशेषणों से युक्त होता है और उसकी सभा भी पूर्व सूत्रोक्त सेनापति आदि से युक्त होती है। (तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवति) उन पुरुषों में कोई

भावार्थ—प्रथम पुरुष के वर्णन के पश्चात् दूसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है। दूसरा पुरुष पाञ्चमहाभूतिक कहलाता है वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों से ही जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश मानकर दूसरे पदार्थों को नहीं स्वीकार करता है। संसार की समस्त क्रियायें इन पाँच महाभूतों के द्वारा ही की जाती हैं इसलिए पञ्चमहाभूतों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है यह पाञ्चमहाभूतिकों की मान्यता है। यद्यपि सांख्यवादी पूर्वोक्त पाँच महाभूत तथा छट्ठे आत्मा को भी मानता है तथापि वह भी पाञ्चमहाभूतिक से भिन्न नहीं है क्योंकि वह आत्मा को निष्क्रिय मानकर पाँच महाभूतों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ही समस्त कार्य्यों का कर्त्ता मानता है। अतः

तच्चे महब्भूते वाऊ चउत्थे महब्भूते आगासे पंचमे महब्भूते, इच्चेते पंच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविता अकडा णो कित्तिमा णो कडगा अणाइया अणिहणा अवंझा अपुरोहिता

छाया—महाभूतम्, आपो द्वितीयं महाभूतं तेजः तृतीयं महाभूतं, वायुः चतुर्थं महाभूतम् आकाशं पञ्चमं महाभूतम् । इत्येतानि पञ्च महाभूतानि अनिर्मितानि अनिर्मापितानि अकृतानि नो कृत्रिमाणि नो कृतकानि अनादिकानि अनिधनानि अवन्ध्यानि अपुरोहितानि

अन्वयार्थ—दूसरा महाभूत है (तेऊ तच्चे महब्भूते) तेज तीसरा महाभूत है (वाऊ चउत्थे महब्भूते) वायु चौथा महाभूत है (आगासे पचमे महब्भूते) आकाश पाँचवाँ महाभूत है (इच्चेते पच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविया) ये पाच महाभूत किसी कर्ता के द्वारा किये हुए नहीं हैं तथा किसी के द्वारा कराये हुए भी नहीं है (अकडा णो कित्तिमा णो कडगा) ये किये हुए नहीं हैं तथा कृत्रिम नहीं हैं एव अपनी उत्पत्ति के लिए ये किसी की अपेक्षा नहीं करते हैं । (अणाइया अणिहणा अवझा) ये पाच महाभूत आदि तथा नाश रहित और अवन्ध्य यानी सब कार्यों के

भावार्थ—का कार्य्य है अतएव वह त्रिगुणात्मिका है । अर्थात् वह बुद्धि भी तीन सूतों से बनी हुई रस्सी के समान सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से ही बनी हुई है । सत्व रज और तम इन तीन गुणों का सदा उपचय और अपचय होता रहता है, इसलिए ये तीनों गुण कभी स्थिर नहीं रहते । जब सत्त्व गुण की वृद्धि होती है तब मनुष्य शुभ कृत्य करता है और जब रजोगुण की वृद्धि होती है तब पाप और पुण्य दोनों से मिश्रित कार्य किये जाते हैं एव तमोगुण के उपचय होने पर हिंसा, झूठ, चोरी आदि एकान्त पापमय कार्य्य किए जाते हैं । इस प्रकार जगत् के समस्त कार्य्य सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के उपचय और अपचय के द्वारा ही किये जाते हैं निष्क्रिय आत्मा के द्वारा नहीं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूप पाँच महाभूत, सत्व, रज और तम इन तीन गुणों के द्वारा ही उत्पन्न हैं अत प्रकृति ही सबकी अधिष्ठात्री और आत्मा है । प्रकृति से पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार समझना चाहिये—सत्त्व, रज और तम इन तीन पदार्थों की साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं उस प्रकृति से बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है और उस बुद्धि तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है, अहंकार से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पाँच

वा सुक्कडेति वा दुक्कडेति वा कल्लाणेति वा पावएति वा साहुति वा असाहुति वा सिद्धीति वा असिद्धीति वा णिरएति वा अणिरएति वा अवि अतसो तणमायमवि ॥ त च पिहुदेसेण पुढोभूतसमवात जाणेज्जा, तजहा—पुढवी एगे महब्भूते आऊ दुच्चे महब्भूते तेऊ

छाया—इति वा, सुकृतम् इति वा दुष्कृतमिति वा, कल्याणमिति वा, पापकमिति वा, साधु इति वा, असाधु इति वा, सिद्धिरिति वा असिद्धिरिति वा निरयइति वा अनिरय इति वा अपि अन्तशः तृणमात्रमपि । तच्च पृथक् उद्देशेन पृथग् भूतसमवायं जानीयात् । तद्यथा पृथिवी एकं

अन्वयार्थ—सुकृत दुष्कृत (कल्लाणेति वा पावएति वा) कल्याण, पाप (साहुति वा असाहुति वा) भला बुरा (सिद्धिति वा असिद्धीति वा) सिद्धि असिद्धि (निरएति वा अनिरएति वा) नरक तथा उससे भिन्न गति (अवि अतसो तणमायमवि) अधिक कहाँ तक कहें तृण का भंग होना भी (क्रिया) होता है। (तं च पिहुदेसेणं पुढो भूतसमवायं जाणेज्जा) उस भूत समूह को अलग अलग नामों से जानिये (तंजहा) जैसे (पुढवी एगे महब्भूते) पृथिवी एक महाभूत है (आऊ दुच्चे महब्भूते) जल

भावार्थ—त्याग करना अज्ञान है। शरीर में जो चैतन्य अनुभव किया जाता है वह शरीर के रूप में परिणत पाँच महाभूतों का ही गुण है किसी अन्य स्वतन्त्र आत्मा का नहीं। शरीर के नाश होने पर उस चैतन्य का भी नाश हो जाता है अतः नरक या तिर्य्यंच योनि में जन्म लेकर कष्ट भोगने का भय करना अज्ञान है यह पञ्चमहाभूतवादी नास्तिकों का मन्तव्य है। अब सांख्यमत बताया जाता है—सांख्यवादी कहता है कि—सत्त्व, रज, और तम ये तीन पदार्थ संसार के मूल कारण हैं इन तीन पदार्थों की साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं यह प्रकृति ही समस्त विश्व की आत्मा है और यही सब कार्यों का सम्पादन करती है। यद्यपि पुरुष या जीव नामक एक चेतन पदार्थ भी अवश्य है तथापि वह आकाशवत् व्यापक होने के कारण क्रिया रहित है। वह प्रकृति के द्वारा किये हुए कर्मों का फल भोगता है और बुद्धि के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों का प्रकाश करता है। इन दो कार्य्यों से भिन्न कोई कार्य्य वह पुरुष या जीव नहीं करता है। जिस बुद्धि के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को वह पुरुष या जीव प्रकाशित करता है वह बुद्धि भी प्रकृति से भिन्न नहीं किन्तु उसी

तणमायमवि ॥ से किणं किणावेमाणे हणं घायमाणे पयं पयावेमाणे अवि अंतसो पुरिसमवि कीणित्ता घायइत्ता एत्थंपि जाणाहि णत्थित्थदोसो, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा—किरियाइ वा

छाया—अपि अन्तशः तृणमात्रमपि । स क्रीणन् क्रापयन् घ्नन् घातयन् पचन् पाचयन् अप्यन्तशः पुरुषमपि क्रीत्वा घातयित्वा अत्रापि जानीहि नास्त्यत्र दोषः । ते नो एवं विप्रतिवेदयन्ति तद्यथा क्रियेतिवा

अन्वयार्थ—तृण का कम्पन भी इन पांच महाभूतों के कारण ही होता है । (से कीणं कीणावेमागे हण घायमागे पय पयावेमागे अवि अतसो पुरिसमवि कीणित्ता घायइत्ता एत्थवि जाणाहि णत्थित्थ दोसो) अत स्वयं खरीद करता हुआ तथा दूसरे से खरीद कराता हुआ, एवं प्राणियों का स्वयं घात करता हुआ और दूसरे से घात कराता हुआ स्वयं पाक करता हुआ अथवा दूसरे से पाक कराता हुआ पुरुष दोष का भागी नहीं होता है । यदि वह किसी मनुष्य को भी खरीद कर उसका घात कर दे तो इसमें भी कोई दोष नहीं है यह जानो (ते) इस प्रकार के सिद्धान्त को मानने वाले वे पचमहाभूतवादी (किरियाइ वा जाव अणिरएइ वा णो विप्पडिवेदेंति)

भावार्थ—वह ज्ञानरहित जड़ है । तथा जो वस्तु है नहीं वह कभी नहीं होती और जो है उसका अभाव नहीं होता यह भी सांख्य मानता है अत जिस समय प्रकृति और पुरुष दो ही थे उस समय यह विश्व तो था ही नहीं फिर यह किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? यह सांख्यवादी को सोचना चाहिये । तथा यह विचारा आत्मा तो पाप पुण्य कुछ करता ही नहीं फिर इसे दु ख सुख क्यों भोगने पड़ते हैं? प्रकृति ने पाप पुण्य किये हैं इसलिए उचित तो यह है कि उनका फल प्रकृति ही भोगे । प्रकृति के पाप पुण्य का फल यदि पुरुष भोगता है तो देवदत्त के पाप पुण्य का फल यज्ञदत्त क्यो नहीं भोगता है ? अत दूसरे के कर्म का फल दूसरा भोगे यह कदापि सम्भव नहीं है तथा केवल जड़ से विश्व की उत्पत्ति मानना भी असंगत है । इसी तरह लोकायतिकों ने जो विश्व का कर्त्ता पाँच महाभूतो को माना है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पाँच महाभूत जड़ हैं चेतन नहीं हैं फिर वे जगत् के कर्ता कैसे हो सकते हैं ? यदि कहो कि—शरीर के आकार मे परिणत पाँच महाभूत चेतन हैं तो यह भी असगत है क्योंकि इनका अधिष्ठाता जब तक कोई चेतन पदार्थ न माना जाय तब तक

सतता सासता आयछट्ठा, पुण एगे एवमाहु—सतो णत्थि विणासो असतो णत्थि संभवो॥ एतावताव जीवकाए, एतावताव अत्थिकाए, एतावताव सव्वलोए, एत मुहं लोगस्स करणयाए, अवियतसो

छाया—स्वतन्त्राणि शाश्वतानि आत्मषष्ठानि । एके पुनराहुः—सतो नास्ति विनाशः असतो नास्ति सम्भवः । एतावानेव जीवकायः एतावानेव अस्तिकायः एतावानेव सर्वलोकः एतत् मुख्यं लोकस्य कारणम्

अन्वयार्थ—उत्पादक हैं। (अपुरोहिता सतता सासता) इनके कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है ये स्वतन्त्र तथा नित्य हैं (एगे पुण आयछट्ठा) कोई, पाँच महाभूत तथा छठे आत्मा को भी स्वीकार करते हैं (एवमाहु) वे इस प्रकार कहते हैं कि— (सतो विणासो णत्थि असतो संभवो णत्थि) सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती है। (एतावताव जीवकाए) वे पञ्चमहाभूतवादी कहते हैं कि— इतना ही जीव है (एतावताव अत्थिकाए एतावताव सव्वलोए) इतना ही अस्तिकाय है तथा इतना ही समस्त लोक है। (एत लोगस्स मुहं करणयाए) तथा ये पाँच महाभूत ही लोक के मुख्य कारण हैं। (अवि अन्तसो तणमायमवि)

भावार्थ—तन्मात्राओं (सूक्ष्मभूतों) की उत्पत्ति होती है, उन पाँच तन्मात्राओं से पृथ्वी आदि पाँच महाभूत और ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवाँ मन उत्पन्न होता है। ये सब मिलकर २४ पदार्थ होते हैं ये ही समस्त विश्व के परिचालक हैं। यद्यपि पच्चीसवाँ पुरुष भी एक पदार्थ है तथापि वह भोग और बुद्धि से गृहीत पदार्थ के प्रकाश करने के सिवाय और कुछ नहीं करता है। अतः प्रकृति से समस्त कार्य होते हैं यह सांख्य का सिद्धान्त है। इनके मत में पुण्य पाप आदि सभी क्रियायें प्रकृति करती हैं इसलिए भारी से भारी पाप करने पर भी आत्मा को उसका लेप नहीं होता है किन्तु वह निर्मल ही बना रहता है। एकेन्द्रिय प्राणियों की तो बात ही क्या है ? यदि पंचेन्द्रिय प्राणी को भी कोई सरीसे घात करे उसका मांस पकावे तो भी उसका आत्मा पाप से अलिप्त ही रहता है। यह संक्षेपतः सांख्यमत कहा गया है वस्तुतः विचारवान् पुरुष की दृष्टि में यह मत बिल्कुल निःसार और युक्तिरहित है क्योंकि सांख्यवादी, पुरुषको चेतन और प्रकृति को अचेतन तथा नित्य कहता है, ऐसी दशा में अचेतन और नित्य प्रकृति इस विश्व को किस प्रकार उत्पन्न कर सकती है ? क्योंकि

णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसएणा, दोच्चे पुरिसजाए पंचम-
हब्भूतिएत्ति आहिए ॥ सूत्रं १०॥

छाया--नो पाराय अन्तरा कामभोगेषु विषण्णाः द्वितीयः पुरुषजातः पाञ्चमहाभूतिक इत्याख्यायते ॥१०॥

अन्वयार्थ—(लोक के ही होते हैं किन्तु बीच में ही कामभोग में आसक्त हो कर कष्ट पाते हैं। (दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूएत्ति आहिए) यह दूसरा पुरुष पाञ्चमहाभूतिक कहलाता है।

भावार्थ—संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं। यह दूसरे पुरुष का वृतान्त है इसके पश्चात् अब तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है। ॥१०॥



अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए इति आहिज्जइ, इह खलु
पादीणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उव-

छाया—अथापरस्तृतीयः पुरुषजातः ईश्वरकारणिक इत्याख्यायते। इह खलु प्राच्यां वा ६ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति आनुपूर्व्या लोक

अन्वयार्थ—(अह अवरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए इति आहिज्जइ) इसके पश्चात् तीसरा पुरुष ईश्वरकारणिक कहलाता है। (इह खलु पाईणवा ६ सतेगतिया मणुस्सा भवति) इस मनुष्य लोक में पूर्व आदि दिशाओं में कोई मनुष्य होते हैं (आणुपुव्वेणं लोग मुववन्ना) जो क्रमश इस लोक में उत्पन्न हैं। (त० वेगे आरिया जाव)

भावार्थ—अब तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है। यह तीसरा पुरुष, चेतन और अचेतन स्वरूप इस समस्त संसार का कर्ता ईश्वर नामक एक पदार्थ मानता है। इसका कहना यह है कि जो पदार्थ किसी विशेष अवयव-रचना से युक्त होता है वह किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा बनाया हुआ होता है। जैसे घट, विशेष अवयव रचना से युक्त होता है इसलिये वह कुम्हार के द्वारा बनाया हुआ होता है तथा पट भी जुलाहे के द्वारा बनाया हुआ होता है इसी तरह प्राणियों का शरीर तथा यह समस्त भुवन, विशेष अवयव रचना से युक्त है अत यह भी किसी बुद्धिमान

जावअणिरएइ वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए, एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा जाव इति, ते णो हव्वाए

छाया—यावत् अनिरय इति वा। एवं ते विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैः विरूपरूपान् कामभोगान् समारभन्ते भोगाय। एवमेव ते अनार्याः विप्रतिपन्नाः तत् श्रद्दधानाः तत् प्रतियन्तः यावदिति। ते नोऽर्वाचि

अन्वयार्थ—क्रिया से ले कर नरक भिन्न तक के पदार्थों को नहीं मानते हैं। (ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारम्भेहिं भोयणाए विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति) वे नाना प्रकार के सावद्य अनुष्ठानों के द्वारा विषयभोगों की प्राप्ति के लिए सदा आरम्भ में प्रवृत्त रहते हैं। (एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना) अतः वे अनार्य तथा विपरीत विचार वाले हैं। (तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा जाव इति) इन पांच महाभूतवादियों के धर्म में श्रद्धा रखने वाले और इनके धर्म को सत्य मानने वाले राजा आदि इन्हें विषयभोग की सामग्री अर्पण करते हैं (ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा) वे विषयभोग में प्रवृत्त हो कर न इसी लोक के होते हैं और न पर-

भावार्थ—शरीर के आकार में इनका परिणाम होना ही असम्भव है। बिना कारण परिणाम नहीं हो सकता है अतः शरीर के आकार में पाँच भूतों के परिणाम का कारण आत्मा को मानना ही युक्तियुक्त है। अतः पूर्वोक्त सांख्य तथा नास्तिक दोनों के मत युक्तिरहित हैं। यद्यपि सांख्य और नास्तिकों का सिद्धान्त मानने योग्य नहीं है तथापि ये लोग अपने मतों को सत्य समझते हुए दूसरे को भी अपने मत का उपदेश करते हैं। इनके शिष्य इनके धर्म को सत्य मान कर अपने को कृतार्थ समझते हैं और इनके भोगार्थ नाना प्रकार की विषय भोग की सामग्री इन्हें अर्पण करते हैं। विषय भोग की सामग्री को पाकर ये लोग सांसारिक सुख भोग में इस प्रकार आसक्त हो जाते हैं जैसे महान् कीचड़ में हाथी फँस जाता है ये लोग इस लोक से भी भ्रष्ट हो चुके हैं और परलोक से भी बिगड़ जाते हैं ये न तो स्वयं संसार सागर को पार कर सकते हैं और न दूसरे को उससे उद्धार कर सकते हैं किन्तु विषय भोगरूपी कीचड़ में फंसकर ये सदा

णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसएणा, दोच्चे पुरिसजाए पंचम-हब्भूतिएत्ति आहिए ॥ सूत्रं १०॥

छाया—नो पाराय अन्तरा कामभोगेषु विषण्णाः द्वितीयः पुरुषजातः पाञ्चमहाभूतिक इत्याख्यायते ॥१०॥

अन्वयार्थ—(लोक के ही होते हैं किन्तु बीच में ही कामभोग में आसक्त हो कर कष्ट पाते हैं। (दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूएत्ति आहिए) यह दूसरा पुरुष पाञ्चमहाभूतिक कहलाता है।

भावार्थ—संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं। यह दूसरे पुरुष का वृतान्त है इसके पश्चात् अब तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है। ॥१०॥



अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए इति आहिज्जइ, इह खलु पादीणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उव-

छाया—अथापरस्तृतीयः पुरुषजातः ईश्वरकारणिक इत्याख्यायते। इह खलु प्राच्यां वा ६ सन्येकतये मनुष्याः भवन्ति आनुपूर्व्या लोक

अन्वयार्थ—(अह अवरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए इति आहिज्जइ) इसके पश्चात् तीसरा पुरुष ईश्वरकारणिक कहलाता है। (इह खलु पाईणवा ६ सतेगतिया मणुस्सा भवति) इस मनुष्य लोक में पूर्व आदि दिशाओं में कोई मनुष्य होते हैं (आणुपुव्वेणं लोग मुववन्ना) जो क्रमश इस लोक में उत्पन्न हैं। (त० वेगे आरिया जाव)

भावार्थ—अब तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है। यह तीसरा पुरुष, चेतन और अचेतन स्वरूप इस समस्त संसार का कर्ता ईश्वर नामक एक पदार्थ मानता है। इसका कहना यह है कि जो पदार्थ किसी विशेष अवयव-रचना से युक्त होता है वह किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा बनाया हुआ होता है। जैसे घट, विशेष अवयव रचना से युक्त होता है इसलिये वह कुम्हार के द्वारा बनाया हुआ होता है तथा पट भी जुलाहे के द्वारा बनाया हुआ होता है इसी तरह प्राणियों का शरीर तथा यह समस्त भुवन, विशेष अवयव रचना से युक्त है अत यह भी किसी बुद्धिमान

वन्ना, तं०–आरिया वेगे जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवइ जाव सेणावइपुत्ता, तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए जाव जहा मए एस धम्मे

छाया—समुपपन्नाः तद्यथा आर्य्याः एके यावत् तेषाञ्च महान् एको राजा भवति यावत् सेनापतिपुत्राः। तेषाञ्च एकतयः श्रद्धावान् भवति कामं तं श्रमणाश्च माहनाश्च सम्प्रधार्षुः गमनाय यावत्,

अन्वयार्थ—उनमें कोई आर्य्य तथा कोई अनार्य्य होते हैं इस प्रकार प्रथमसूत्रोक्त सब वर्णन यहाँ भी जानना चाहिये। (तेसिं च णं एगे महंते राया भवइ जाव सेणावइपुत्ता) उन मनुष्यों में कोई श्रेष्ठ पुरुष राजा होता है और उसकी सभा के सभासद् सेनापति पुत्र आदि होते हैं इस प्रकार राजा तथा उसकी सभा का वर्णन प्रथम सूत्रोक्त रीति से जानना चाहिये। (तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवइ) इन पुरुषों में कोई धर्म श्रद्धालु होता है। (तं समणा य माहणा य गमणाए पहारिंसु) उस धर्म

भावार्थ—कर्त्ता के द्वारा बनाया हुआ है। जिस बुद्धिमान् कर्त्ता ने इनको उत्पन्न किया है वह हम लोगों के समान अल्पशक्ति तथा अल्पज्ञ नहीं हो सकता है किन्तु वह सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ पुरुष है वह ईश्वर या परमात्मा कहलाता है उस ईश्वर की कृपा से जीव स्वर्ग भोगता है और उसके कोप से नरक भोगता है। जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है वह अपनी इच्छा से सुख नहीं प्राप्त कर सकता तथा अपने दुःख को भी दूर नहीं कर सकता है किन्तु ईश्वर की आज्ञा से उसे सुख दुःख की प्राप्ति होती है इस प्रकार ईश्वर की कल्पना करने वाले कहते हैं—"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा" अर्थात् यह अज्ञानी जीव में यह शक्ति नहीं है कि यह सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार स्वयं कर सके किन्तु ईश्वर की प्रेरणा से यह स्वर्ग या नरक में जाता है। इस प्रकार ईश्वरवादी जैसे समस्त जगत् का कारण ईश्वर को मानता है इसीतरह आत्माद्वैतवादी एक आत्मा को समस्त विश्व का कारण कहता है। जैसा कि—"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" अर्थात् एक ही आत्मा समस्त प्राणियों में स्थित है। वह एक होता हुआ भी जल में चन्द्रमा के समान भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। तथा—

सुअक्खाए सुपन्नते भवइ ॥ इह खलु धम्मा पुरसादिया पुरिसो-त्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूया पुरिसपज्जोतिता पुरिसमभि-समण्णागया पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति, से जहाणामए गंडे सिया सरीरे जाए सरीरे संवुड्ढे सरीरे अभिसमण्णागए सरीरमेव

छाया—यथा मया एष धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवति—इह खलु धर्माः पुरुषादिकाः पुरुषोत्तराः पुरुषप्रणीताः पुरुषसम्भूताः पुरुषप्रद्यो-तिताः पुरुषमभिसमन्वागताः पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति । तद्यथा नाम गण्डः स्यात् शरीरे जातः शरीरे संवृद्धः शरीरेऽभि

अन्वयार्थ—श्रद्धालु पुरुष के निकट श्रमण और ब्राह्मण जाने का निश्चय करते हैं । (जहा मए सुयक्खाए सुपन्नते भवइ जाव) वे जाकर कहते हैं कि—हे राजन् मैं तुमको सच्चा धर्म सुनाता हूँ, तू इसे सत्य जानो । (इह खलु धम्मा पुरिसादिया) इस जगत् में चेतन और अचेतन जितने पदार्थ हैं सब का मूल कारण ईश्वर या आत्मा है । (पुरिसोत्तरिया) एव सब पदार्थों का कार्य्य भी ईश्वर अथवा आत्मा ही है । (पुरिसप्पणीया) सभी पदार्थ ईश्वर के द्वारा रचित हैं । (पुरिससम्भूया) सभी ईश्वर से उत्पन्न है । (पुरिसपज्जोतिता) सभी ईश्वर से प्रकाशित है (पुरिसमभि समण्णागया) सभी पदार्थ ईश्वर के अनुगामी हैं (पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति) सभी पदार्थ ईश्वर को ही आधार रूप से आश्रय लेकर स्थित है । (जहाणामए गडे सिया) जैसे प्राणी के शरीर में उत्पन्न गण्ड (फोडा) (सरीरे जाए सरीरे सवुड्ढे

भावार्थ—"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" अर्थात् इस जगत् मे जो हो चुका है और जो होने वाला है वह सब आत्मा ही है । जैसे मिट्टी के द्वारा बने हुए सभी पात्र मृण्मय हैं तथा तन्तु के द्वारा बने हुए सभी वस्त्र तन्तुमय हैं इसीतरह समस्त विश्व आत्मा के द्वारा निर्मित होने के कारण आत्ममय है । समस्त पदार्थ आत्मा के द्वारा निर्मित होने के कारण आत्मा मे ही निवास करते हैं वे उससे अलग नहीं किये जा सकते हैं, जैसे शरीर मे उत्पन्न फोडा शरीर मे ही स्थित रहता है तथा मन मे उत्पन्न दुःख मनमे ही विद्यमान रहता है तथा पृथिवी से उत्पन्न वल्मीक पृथिवी पर ही रहता है एव जल से उत्पन्न बुद्बुद जल मे ही रहता है परन्तु शरीर को छोड़ कर फोड़ा, मन को छोड़ कर दुःख पृथिवी को छोड कर वल्मीक और जल को छोड़कर बुद्बुद अलग नहीं

वन्ना, त०—आरिया वेगे जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवइ जाव सेणावइपुत्ता, तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए जाव जहा मए एस धम्मे

छाया—मुपपन्नाः तद्यथा आर्य्या एके यावत् तेषाञ्च महान् एको राजा भवति यावत् सेनापतिपुत्राः। तेषाञ्च एकतय श्रद्धावान् भवति कामं तं श्रमणाश्च ब्राह्मणाश्च सम्प्रधार्षु गमनाय यावत्,

अन्वयार्थ—उनमें कोई आर्य्य तथा कोई अनार्य्य होते हैं इस प्रकार प्रथमसूत्रोक्त सब वर्णन यहां भी जानना चाहिये। (तेसिं च णं एगे महंते राया भवइ जाव सेणावइपुत्ता) उन मनुष्यों में कोई श्रेष्ठ पुरुष राजा होता है और उसकी सभा के सभासद् सेनापति पुत्र आदि होते हैं इस प्रकार राजा तथा उसकी सभा का वर्णन प्रथम सूत्रोक्त रीति से जानना चाहिये। (तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ) उन पुरुषों में कोई धर्म श्रद्धालु होता है। (तं समणा य माहणा य गमणाए पहारिंसु) उस धर्म

भावार्थ—कर्त्ता के द्वारा बनाया हुआ है। जिस बुद्धिमान् कर्त्ता ने इनको उत्पन्न किया है वह हम लोगों के समान अल्पशक्ति तथा अल्पज्ञ नहीं हो सकता है किन्तु वह सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ पुरुष है वह ईश्वर या परमात्मा कहलाता है उस ईश्वर की कृपा से जीव स्वर्ग भोगता है और उसके कोप से नरक भोगता है। जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है वह अपनी इच्छा से सुख नहीं प्राप्त कर सकता तथा अपने दुःख को भी दूर नहीं कर सकता है किन्तु ईश्वर की आज्ञा से उसे सुख दुःख की प्राप्ति होती है इस प्रकार ईश्वर की कल्पना करने वाले कहते हैं—"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा" अर्थात् ! इस अज्ञानी जीव में यह शक्ति नहीं है कि यह सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार स्वयं कर सके किन्तु ईश्वर की प्रेरणा से यह स्वर्ग या नरक में जाता है। इस प्रकार ईश्वरवादी जैसे समस्त जगत् का कारण ईश्वर को मानता है इसीतरह आत्माद्वैतवादी एक आत्मा को समस्त विश्व का कारण कहता है। जैसा कि—"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" अर्थात् एक ही आत्मा समस्त प्राणियों में स्थित है। वह एक होता हुआ भी जल में चन्द्रमा के समान भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। तथा—

णामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए रुक्खे सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति,

छाया--अभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम वल्मीकं स्यात् पृथिवी जातं पृथिवी सम्वृद्धं पृथिवीमभिसमन्वागतं पृथिवीमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति तद्यथानाम वृक्षः स्यात् पृथिवीजातः पृथिवीसम्वृद्धः पृथिवीमभि समन्वागतः पृथिवीमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्माअपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव

अन्वयार्थ—सरीरे सवुड्ढा सरीरे अभिसमण्णागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति) जैसे चित्त का उद्वेग शरीर में उत्पन्न होता है, शरीर में वृद्धि को प्राप्त होता है शरीर का अनुगामी होता है और शरीर को आधार रूप से आश्रय लेकर स्थित रहता है (एव मेव धम्मा अवि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति) इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होकर उसी के आश्रय से स्थित है। (से जहाणामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढवीमेव अभिभूय चिट्ठइ) जैसे वल्मीक पृथिवी से उत्पन्न होता हे और पृथिवी में ही बढ़ता है तथा वह पृथिवी का ही अनुगामी है एव पृथिवी का ही आश्रय लेकर स्थित रहता है (एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति) इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न और ईश्वर के आश्रय से ही स्थित हैं। (से जहाणए रुक्खे सिया पुढवीजाए पुढवीसवुड्ढे पुढवीमभिसमण्णागए पुढमीमेव अभिभूय चिट्ठति जैसे वृक्ष पृथिवी से उत्पन्न और उसीमें वृद्धि और स्थिति को प्राप्त करता है तथा उसी

भावार्थ—अपनी इच्छा से प्राणियों को क्रिया मे प्रवृत्त करता है अथवा किसी दूसरे की प्रेरणा से करता है ? यदि वह अपनी इच्छा से प्राणियों को क्रिया मे प्रवृत्त करता है तो प्राणी अपनी इच्छा से ही क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं यही क्यों न मान लिया जाय ? ईश्वर प्राणियों को क्रिया मे प्रवृत्त करता है यह क्यों माना जावे ? यदि वह ईश्वर किसी दूसरे की प्रेरणा से प्राणियों को क्रिया मे प्रवृत्त करता है तो जिसकी प्रेरणा से वह प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है उसकी भी प्रेरणा करने वाला कोई तीसरा होना चाहिये और उस तीसरे का चौथा और चौथे का पाँचवाँ इस प्रकार इस पक्ष में अनवस्था दोष आता है। अत प्राणिवर्ग

अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति । से जहाणामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे संवुड्ढा सरीरे अभिसमण्णागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति । से जहा

छाया—समन्वागतः शरीरमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्माः पुरुषादिका यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति । तद्यथा नाम अरतिः स्यात् शरीरे जाता शरीरे संवृद्धा शरीरेऽभिसमन्वागता शरीरमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव

अन्वयार्थ—सरीरे अभिसमण्णागए सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति) शरीर से उत्पन्न होता है और शरीर में ही बढ़ता है तथा शरीर का ही अनुगामी होता है और शरीर को ही आधार रूप से आश्रय लेकर स्थित रहता है (एवमेव धम्मा पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति) इसी तरह सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और ईश्वर में ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा ईश्वर के ही अनुगामी हैं एवं ईश्वर को ही आधार रूप से आश्रय लेकर स्थित रहते हैं । (से जहाणामए अरई सिया सरीरे जाया

भावार्थ—रह सकता है इसी तरह समस्त पदार्थ आत्मा को छोड़ कर अलग नहीं रह सकते हैं किन्तु व आत्मा में ही वृद्धि ह्रास आदि को प्राप्त करते रहते हैं यह आत्माद्वैतवादी का सिद्धान्त है । ईश्वर कारणवादी और आत्माऽद्वैतवादी ये दोनों ही तीसरे पुरुष में ग्रहण किये गये हैं । ये दोनों ही कहते हैं कि—आचाराङ्ग आदि जो श्रमण निर्ग्रन्थों का द्वादशाङ्ग शास्त्र है वह मिथ्या है क्योंकि वह ईश्वर के द्वारा किया हुआ नहीं है किन्तु किसी साधारण व्यक्ति के द्वारा निर्मित और विपरीत अर्थ का बोधक है । इस प्रकार आर्हत दर्शन की निन्दा करने वाले ईश्वरकारणवादी और आत्माद्वैतवादी अपने अपने मतों में अत्यन्त आग्रह रखते हुए अपने सिद्धान्तों की शिक्षा शिष्यों को देते हैं तथा द्रव्योपार्जनार्थ नाना प्रकार के सावद्य कर्मों का सेवन करके पाप का संचय करते हैं । व विषयभोग में अत्यन्त आसक्त तथा दाम्भिक होते हैं । इस कारण ये न तो इसी लोक के होते हैं और न परलोक के ही होते हैं किन्तु मध्य में ही कामभोग में आसक्त होकर कष्ट पाते हैं । ये जो ईश्वर या आत्मा को जगत् का कर्त्ता मानते हैं वह सर्वथा मिथ्या है क्योंकि—वह ईश्वर

णामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए रुक्खे सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति,

छाया--अभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम वल्मीकं स्यात् पृथिवी जातं पृथिवी सम्वृद्धं पृथिवीमभिसमन्वागतं पृथिवीमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति तद्यथानाम वृक्षः स्यात् पृथिवीजातः पृथिवीसम्वृद्धः पृथिवीमभि समन्वागतः पृथिवीमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्माअपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव

अन्वयार्थ—सरीरे सवुड्ढा सरीरे अभिसमण्णागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति) जैसे चित्त का उद्वेग शरीर में उत्पन्न होता है, शरीर में वृद्धि को प्राप्त होता है शरीर का अनुगामी होता है और शरीर को आधार रूप से आश्रय लेकर स्थित रहता है (एव मेव धम्मा अवि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति) इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होकर उसी के आश्रय से स्थित हैं। (से जहाणामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढवीमेव अभिभूय चिट्ठइ) जैसे वल्मीक पृथिवी से उत्पन्न होता है और पृथिवी में ही बढ़ता है तथा वह पृथिवी का ही अनुगामी है एव पृथिवी का ही आश्रय लेकर स्थित रहता है (एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति) इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न और ईश्वर के आश्रय से ही स्थित हैं। (से जहाणए रुक्खे सिया पुढवीजाए पुढवीसवुड्ढे पुढवीमभिसमण्णागए पुढमीमेव अभिभूय चिट्ठति जैसे वृक्ष पृथिवी से उत्पन्न और उसीमें वृद्धि और स्थिति को प्राप्त करता है तथा उसी

भावार्थ—अपनी इच्छा से प्राणियों को क्रिया मे प्रवृत्त करता है अथवा किसी दूसरे की प्रेरणा से करता है ? यदि वह अपनी इच्छा से प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है तो प्राणी अपनी इच्छा से ही क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं यही क्यों न मान लिया जाय ? ईश्वर प्राणियों को क्रिया मे प्रवृत्त करता है यह क्यों माना जावे ? यदि वह ईश्वर किसी दूसरे की प्रेरणा से प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है तो जिसकी प्रेरणा से वह प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है उसकी भी प्रेरणा करने वाला कोई तीसरा होना चाहिये और उस तीसरे का चौथा और चौथे का पाँचवाँ इस प्रकार इस पक्ष में अनवस्था दोष आता है। अत प्राणिवर्ग

एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए पुक्खरिणी सिया पुढविजाया जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति। से जहाणामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए जाव उदगमेव

छाया—अभिभूय तिष्ठन्ति तद्यथा नाम पुष्करिणी स्यात् पृथिवीजाता यावत् पृथिवीमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिका यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम उदकपुष्कलं स्यात् उदकजातं यावत् उदकमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम

अन्वयार्थ—के आश्रय से रहता है (एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूया चिट्ठति) इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न और उसीमें स्थित रहते हैं। (से जहाणामए पुक्खरिणी सिया पुढविजाया जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति) जैसे पुष्करिणी पृथिवी से उत्पन्न और उसीके आश्रय से स्थित रहती है (एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति) इसी तरह सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न और उसी के आश्रय से स्थित हैं। (से जहाणामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति) जैसे जल की वृद्धि जल से उत्पन्न होकर जल में ही स्थित

भावार्थ—ईश्वर की प्रेरणा से क्रिया में प्रवृत्त होते हैं यह पक्ष ठीक नहीं है।

तथा वह ईश्वर सराग है अथवा वीतराग है? यदि सराग है तो वह साधारण जीव के समान ही सृष्टि का कर्ता नहीं हो सकता है और यदि वीतराग है तो वह किसी को नरक के योग्य पाप क्रिया में और किसी को स्वर्ग तथा मोक्ष के योग्य शुभ क्रिया में क्यों प्रवृत्त करता है? यदि कहो कि—प्राणिवर्ग अपने पूर्वकृत शुभ और अशुभ कर्म के उदय से ही शुभ तथा अशुभ क्रिया में प्रवृत्त होते हैं ईश्वर तो निमित्तमात्र है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि—पूर्वकृत शुभ और अशुभ कर्मों का उदय भी ईश्वर के ही आधीन है अतः वह प्राणियों की शुभ और अशुभ प्रवृत्ति की जिम्मेदारी से नहीं बच सकता है।

यदि यह मान लें कि प्राणी अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से क्रिया में प्रवृत्त होते हैं तो यह भी मानना पड़ेगा कि— प्राणी जिस पूर्वकृत कर्म के उदय से क्रिया में प्रवृत्त होते हैं वह पूर्वकृत कर्म भी अपने

अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्माविं पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति । से जहाणामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ॥ जंपि य इमं समणाणं णिग्गं-

छाया—उदकबुद्बुदः स्यात् उदकजातः यावत् उदकमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्माः अपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति । यदपि चेदं श्रमणानां निग्रन्थानामुद्दिष्टं प्रणीतं

अन्वयार्थ—रहती है (एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति) इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होकर उसीमें स्थित रहते हैं । (से जहाणामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति)। जैसे पानी का बुद्बुद् पानी से उत्पन्न और उसीमें स्थित रहता है (एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति) इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न और उसीमें स्थित रहते हैं। ज पिय इमं समणाण णिग्गथाण उद्दिट्ठं पणीयं वियंजियं गणि

भावार्थ—पूर्वकृत कर्म के उदय से ही हुआ था तथा वह भी अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से हुआ था इस प्रकार पूर्वकृत कर्म की परम्परा अनादि सिद्ध होती है । इस प्रकार ईश्वर मानने पर भी जब पूर्वकृत कर्म की परम्परा अनादि सिद्ध होती है तथा वही प्राणी की क्रिया में प्रवृत्ति का कारण भी ठहरती है तब फिर निरर्थक ईश्वर मानने की क्या आवश्यकता है ? जिसके सम्बन्ध से जिसकी उत्पत्ति होती है वही उसका कारण माना जाता है दूसरा नहीं माना जाता । मनुष्य का घाव शस्त्र और औषधि के प्रयोग से अच्छा होता है इसलिए शस्त्र और औषधि ही घाव भरने के कारण माने जाते हैं परन्तु उस घाव के साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है उस ठूंठ को घाव भरने का कारण नहीं माना जाता अतः पूर्वकृत कर्म के उदय से ही प्राणियों की शुभाशुभ क्रिया मे प्रवृत्ति सिद्ध होने पर उसके लिये ईश्वर मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । ईश्वरवादी जो यह कहते हैं कि—"शरीर और भुवन, विशेष अवयव रचना से युक्त होने के कारण किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा किये हुए हैं" सो यह भी ईश्वर का साधक नहीं है क्योंकि इस अनुमान से बुद्धिमान् कर्ता की सिद्धि होती है ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है । जो बुद्धिमान होता है वह ईश्वर ही होता है ऐसा नियम नहीं है अतएव घट का कर्ता

त्थाएणं उवदिट्ठं पणीयं मियजियं दुवालसंगं गणिपिडयं, तंजहा— आयारो सूयगडो जाव दिट्ठिवातो, सव्वमेयं मिच्छा, ण एयं तहियं ण एयं आहातहियं, इमं सच्चं इमं तहियं इमं आहातहियं, ते एवं सन्नं कुव्वंति, ते एवं सन्नं सठवेंति, ते एवं सन्नं सोवट्ठवयंति, तमेवं

छाया—स्यमित्थं द्वादशाङ्गं गणिपिटकं तद्यथा—आचारः सूत्रकृतः यावत् दृष्टिवादः सर्वमेतन्मिथ्या। नैतत्तथ्यं नैतद्याथातथ्यम् इदं सत्यम् इदं तथ्यम् इदं याथातथ्यम् एवं संज्ञां कुर्वन्ति ते एवं संज्ञां संस्थापयन्ति ते एवं संज्ञामुपस्थापयन्ति, तदेवं ते तज्जातीयं

अन्वयार्थ—विरूप दुवालसंगं) यह जो श्रमण निर्ग्रन्थों के द्वारा कहा हुआ बनाया हुआ प्रकट किया हुआ आचार्यों का आध्यात्मिक द्वादशांग है (तंजहा आयारो सुयगडो जाव दिट्ठिवाओ) जैसे कि—आचारांग सूत्रकृतांग से लेकर दृष्टिवाद पर्य्यन्त (एवं सव्वं मिच्छा) ये सब मिथ्या हैं (एवं न तहियं) ये सब सत्य नहीं हैं (एवं न आहातहियं) ये सब वस्तु स्वरूप के यथार्थ बोधक नहीं हैं (इमं सच्चं इमं तहियं इमं आहातहियं) यह मेरा मत ही सत्य है यही तथ्य है यही यथार्थ है (ते एवं सन्नं कुव्वंति ते एवं सन्नं संठवेंति ते एवं सन्नं सोवट्ठवयंति) वे ईश्वरकारणवादी ऐसा विचार रखते हैं और वे अपने शिष्यों को भी इसी मत की शिक्षा देते हैं तथा वे सभा में इसी मत की स्थापना करते हैं । (जहा सउणी पंजरं एवं ते तज्जाय

भावार्थ—कुम्हार और पट का कर्ता जुलाहा माना जाता है ईश्वर नहीं माना जाता है। यदि बुद्धिमान् कर्ता ईश्वर ही हो तो फिर ईश्वरवादी घट और पट का कर्ता भी ईश्वर को ही क्यों नहीं मानते ?

तथा विशेष अवयव रचना भी बुद्धिमान् कर्ता के बिना नहीं होती है यह भी नियम नहीं है क्योंकि—घट पट के समान ही वल्मीक भी विशेष अवयव रचना से युक्त होता है परन्तु उसका कर्ता कुम्हार आदि के समान कोई बुद्धिमान् पुरुष नहीं होता है अतः शरीर और भुवन आदि की विशेष अवयव रचना को देख कर उससे अदृष्ट ईश्वर की कल्पना करना अयुक्त है।

इसी तरह आत्माद्वैतवाद भी युक्ति रहित है क्योंकि इस जगत् में जब एक आत्मा के सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है तब फिर मोक्ष के लिये प्रयत्न करना, शास्त्र पढ़ना, इत्यादि बातें निरर्थक होंगी। तथा ऐसा मानने पर जगत् की विचित्रता जो प्रत्यक्ष देखी जाती है वह भी सिद्ध

ते तज्जाइयं दुक्खं णातिउट्टंति सउणी पंजरं जहा ॥ ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा--किरियाइ वा जाव अणिरएइ वा, एवमेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए, एवामेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना एवं

छाया—दुःखं नैव त्रोटयान्ति शकुनिः पञ्जरं यथा । ते नो एवं विप्रतिवेदयन्ति तद्यथा क्रियादिर्वायावद् अनिरय इति । एवमेव ते विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैः विरूपरूपान् कामभोगान् समारभन्ते भोगाय। एवमेव ते अनार्य्याः विप्रतिपन्नाः एवं श्रद्धानाः यावद् इति ते

अन्वयार्थ—यं दुक्ख नातिउट्टन्ति) जैसे पक्षी पींजडे को नहीं तोड़ सकता है उसी तरह ईश्वर कारणतावादरूप मत के स्वीकार करने से उत्पन्न दुःख को वे ईश्वरकारणवादी नहीं तोड़ सकते हैं। (ते एवं णो विप्पडिवेदेंति) वे ईश्वरकारणवादी उन बातों को नहीं मानते हैं (तं जहा किरियाइ वा अनिरए वा) जो पूर्व सूत्र में क्रिया से लेकर अनिरय तक कही गई है। (ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारम्भेहिं भोयणाए विरूवरूवाइं कामभोगाइ समारभंते) वे नाना प्रकार के सावद्य अनुष्ठानों के द्वारा नाना प्रकार के कामभोगों का आरम्भ करते हैं (ते अणारिया) (विप्पडिवन्ना)

भावार्थ—नहीं हो सकती है किन्तु एक के पाप से दूसरा पापी और एक के मुक्ति से दूसरे की मुक्ति तथा एक के दुःख से दूसरे को दुःखी मानना पड़ेगा परन्तु यह आत्माद्वैतवादी को भी इष्ट नहीं है अतः युक्तिरहित आत्माद्वैतवाद को सर्वथा मिथ्या जानना चाहिये।

उक्त रीति से ईश्वरकारणतावाद और आत्माद्वैतवाद यद्यपि मिथ्या हैं तथापि इनके अनुयायी इन मतो के फंदे से इस प्रकार मुक्त नहीं होते जैसे पक्षी अपने पींजड़े से मुक्त नहीं होता है । ये लोग अपने मतों का उपदेश देकर दूसरे को भी भ्रष्ट करते हैं और स्वयं भी भवसागर से पार नहीं होते । ये कहते हैं कि—"यस्य बुद्धिर्न लिप्येत हत्वा सर्वमिदं जगत् । आकाशमिव पङ्केन नाऽसौ पापेन लिप्यते । अर्थात् जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है वह यदि समस्त जगत् का घात करे तो भी वह पाप से इस प्रकार लिप्त नहीं होता है जैसे आकाश

सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा काम भोगेसु विसएणेत्ति, तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिएत्ति आहिए (सूत्र ११)॥

छाया—नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा कामभोगेषु विषण्णा इति तृतीयः पुरुष जातः ईश्वरकारणिक इत्याख्यातः ।

अन्वयार्थ—वे असमर्थ तथा भ्रम में पड़े हैं (एवं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए) इस प्रकार की श्रद्धा रखनेवाले वे ईश्वरकारणवादी न इसी लोक के होते हैं और न परलोक के ही होते हैं (अंतरा काममोगेसु विसण्णेति तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिएत्ति आहिए) किन्तु काम भोग में फँस कर बीच में ही कष्ट पाते हैं यह तीसरा ईश्वरकारणवादी पुरुष कहा गया ॥११॥

भावार्थ—मैं ठीक नहीं लगता है । यह ईश्वरकारणवादी कहा गया । इसके आगे नियतिवादी का मत बताया जाता है—११



अहावरे चउत्थे पुरिसजाए णियतिवाइएत्ति आहिज्जइ, इह खलु पाईणं वा ६ तहेव जाव सेणावइपुत्ता वा, तेसिं च णं

छाया—अथापरश्चतुर्थः पुरुषः नियतिवादिक इत्याख्यायते । इह खलु प्राच्यां वा ६ तथैव यावत् सेनापतिपुत्राः । तेषाञ्च एकतय

अन्वयार्थ—(अहावरे चउत्थे पुरिसजाए णियतिवाइएत्ति आहिज्जइ) उक्त तीन पुरुषों से भिन्न चौथा पुरुष नियतिवादी कहा जाता है । (इह खलु पाईणं वा जाव सेणावइपुत्ता तहेव) इस पाठ में भी प्रथम पाठ के समान ही "पूर्व आदि दिशा के वर्णन से ले कर सेनापति पुत्र तक वर्णन जानना चाहिये । (तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ)

भावार्थ—तीसरे पुरुष के वर्णन के पश्चात् चौथे पुरुष का वर्णन किया जाता है । चौथा पुरुष नियतिवादी कहलाता है । इसका कारण यह है कि—यह समस्त पदार्थों का कारण नियति को मानता है । जो बात अवश्य होने वाली है उसे नियति या होनहार कहते हैं वही सुख दुःख हानि लाभ और जीवन मरण आदि का कारण है यह नियतिवादियों का मन्तव्य

एगतीए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए जाव मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ ॥ इह खलु दुवे पुरिसा भवंति—एगे पुरिसे किरियमाइक्खइ एगे पुरिसे णो किरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ जे य

छाया—श्रद्धावान् भवति कामं तं श्रमणाश्च माहनाश्च संप्रधार्षुः गमनाय, यावत् मया एष धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवति । इह खलु द्वौ पुरुषौ भवतः, एकः क्रियामाख्याति एकः पुरुषः नो क्रियामाख्याति । यश्च पुरुषः क्रियामाख्याति । यश्च पुरुषः नो क्रिया-

अन्वयार्थ—पूर्वोक्त राजा और उसके समासदों में से कोई एकाध पुरुष ही धर्म में श्रद्धावान् होता है । (त गमणाय समणा य माहणा य संपहारिंसु) उसे धर्मश्रद्धालु जानकर उसके निकट जाने के लिए श्रमण और ब्राह्मण निश्चय करते हैं । (जाव मए एस सुयक्खाए धम्मे सुपन्नत्ते भवति) वे उसके निकट जाकर कहते हैं कि—मैं आपको सच्चे धर्म का उपदेश करता हूँ उसे आप सुनें । (इह खलु दुवे पुरिसा भवति) इस लोक में दो प्रकार के पुरुष होते हैं (एगे पुरिसे किरिय माइक्खइ) एक पुरुष क्रिया का कथन करता है (एगे पुरिसे णो किरियमाइक्खइ) और दूसरा पुरुष क्रिया का कथन नहीं करता है यानी वह क्रिया का निषेध करता है (जे य पुरिसे

भावार्थ—है । इनका यह पद्य इसी अर्थ को स्पष्ट करता है "प्राप्तव्यो नियतिबला श्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभोवा । भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने नाऽभाव्य भवति न भाविनोऽस्ति नाशः" अर्थात् नियति के प्रभाव से भला या बुरा जो फल मनुष्य को प्राप्त होना निश्चित है वह अवश्य उसको प्राप्त होता है । मनुष्य चाहे कितना ही प्रयत्न करे परन्तु जो होनहार नहीं है वह नहीं होता है और जो होनहार है वह बिना हुए नहीं रहता है । जब हम यह देखते हैं कि—बहुत से मनुष्य अपने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये समान रूप से प्रयत्न करते हैं परन्तु किसी के कार्य्य की सिद्धि होती है और किसी की नहीं होती है तब यह निःसंदेह मानना पड़ता है कि मनुष्य के कार्य्य की सिद्धि या असिद्धि नियति के हाथ में है प्रयत्न आदि के वश नहीं है अतः नियति को छोड़ कर काल ईश्वर तथा अपने कर्म आदि को सुख दुःख आदि का कारण

पुरिसे णो किरियमाइक्खइ दोवि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा, कारणमावन्ना ॥ बाले पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा अहमेयमकासि परो

छाया—नाख्याति द्वावपि तौ पुरुषौ तुल्यौ, एकार्थौ एककारणमापन्नौ । बालः पुनरेवं विप्रतिवेदयति—कारणमापन्नोऽहमस्मि दुःख्यामि वा शोचामि वा गर्हामि वा तेपामि वा पीड्ये वा परितप्ये वा अहमेतमकार्षम् । परो वा यद् दुःख्यति वा

अन्वयार्थ—(किरिय माइक्खइ जे य पुरिसे णो किरिय माइक्खइ दोवि ते पुरिसा तुल्ला) जो पुरुष क्रिया का कथन करता है और जो क्रिया का निषेध करता है वे दोनों ही समान हैं। (एगट्ठा कारणमावन्ना) तथा वे दोनों एक अर्थ वाले और एक कारण को प्राप्त हैं (बाले) वे दोनों मूर्ख हैं (कारणमावन्ने एवं विप्पडिवेदेति) वे अपने सुख दुःख के कारण काल, कर्म तथा ईश्वर आदि को मानते हुए यह समझते हैं कि—(अहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा अहमेव मकासी) "मैं जो दुःख भोग रहा हूँ। शोक कर रहा हूँ, दुःख से आत्मनिन्दा करता हूँ, शारीरिक बल का नाश कर रहा हूँ पीड़ा पा रहा हूँ सन्ताप भोग रहा हूँ, यह सब मेरे कर्म के फल हैं तथा (परो वा जं दुक्खइ वा सोयइ वा

भावार्थ—मानना समान है परन्तु अज्ञानी जीव इस बात को समझते नहीं हैं उन्हें जब दुःख या सुख उत्पन्न होता है तब वे कहते हैं कि—यह दुःख या सुख मेरे द्वारा किये हुए कर्म के प्रभाव से मुझको प्राप्त हो रहा है। तथा जब दूसरे को सुख या दुःख उत्पन्न होता है उस समय भी वे यही मानते हैं कि ये दूसरे के कर्म के प्रभाव से प्राप्त हुए हैं वस्तुतः यह मन्तव्य युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि—सब कुछ नियति से ही प्राणी को प्राप्त होता है कर्म ईश्वर या काल आदि के प्रभाव से नहीं इस कारण विवेकी नियतिवादी पुरुष सुख दुःख आदि की प्राप्ति होने पर यह मानता है कि—मैं जो सुख या दुःख को प्राप्त करता हूँ यह मेरे द्वारा किए हुए कर्मों का फल नहीं है तथा दूसरा जो सुख दुःख आदि को प्राप्त करता है वह भी उसके द्वारा किए हुए कर्मों का फल नहीं है किन्तु नियति इसका कारण है। इस जगत् में दो प्रकार के पुरुष पाये जाते हैं, एक

वा जं दुक्खइ वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा परो एवमकासि, एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने ॥ मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने—अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि

छाया—शोचति वा गर्हयते वा तेपति वा पीड्यति वा परितप्यते वा परः एवमकार्षीत् । एवं स बालः स्वकारणं वा परकारणं वा एवं विप्रतिवेदयति कारणमापन्नः । मेधावी पुनरेवं विप्रतिवेदयति कारणमापन्नः अहमस्मि दुःख्यामि वा शोचामि वा गर्हामि वा तेपामि वा

अन्वयार्थ—जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा परो एव मकासी)"दूसरा जो दु:ख भोगता है शोक करता है आत्मनिन्दा करता है, शारीरिक बल को नष्ट करता है पीड़ित होता है और ताप भोगता है वह सब उस के कर्म के फल हैं" (एव कारणमावन्ने से बाले सकारण वा परकारण वा एव विप्पडिवेदेंति) इस प्रकार वह अज्ञानी काल कर्म और ईश्वर आदि को सुख दु:ख का कारण मानता हुआ अपने तथा दूसरे के दु:ख सुख को अपने तथा दूसरे के द्वारा किये हुए कर्मों का फल समझता है । (कारणमावन्ने मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेंति) परन्तु एकमात्र नियति को समस्त पदार्थों का कारण मानने वाला बुद्धिमान् पुरुष तो यह समझता है कि—(अह दुक्खामि वा,

भावार्थ—क्रियावादी और दूसरा अक्रियावादी । ये दोनों ही नियति के आधीन हैं स्वतन्त्र नहीं हैं अतः नियति की प्रेरणा से क्रियावादी क्रिया का समर्थन करता है और अक्रियावादी अक्रिया का प्रतिपादन करता है नियति के आधीन होने के कारण हम इन दोनों को समान ही समझते हैं । इस जगत् में ऐसा कोई पुरुष नहीं है जिसको अपना आत्मा अप्रिय हो, ऐसी दशा में कोई भी जीव आत्मा को कष्ट देने वाली क्रिया में किस तरह प्रवृत्त हो सकता है ? अत: यह मानता पड़ता है कि जीव स्वाधीन नहीं है वह नियति के वशीभूत है अतएव अपनी इच्छा न होने पर भी नियति की प्रेरणा से जीव को दु:खजनक क्रिया में प्रवृत्ति करनी पड़ती है । एवं शुभ अनुष्ठान करने वाले भी दु:खी और अशुभ कर्म करने वाले भी सुखी देखे जाते हैं इससे भी नियति की प्रबलता सिद्ध होती है ।

इस प्रकार एक नियति को समस्त कार्य्यों का कारण मान कर नियतिवादी परलोक का भय नहीं करते हैं । वे अपने भोग के लिये

वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, णो अहं एवमकासि, परो वा जं दुक्खइ वा जाव परितप्पइ वा णो परो एवमकासि, एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने, से बेमि पाईणं वा ६ जे तसथावरा पाणा ते एवं संघाय

छाया—पीडये वा परितप्ये वा नाहमेवमकार्षम् । परो वा यद् दुःख्यति यावत् परितप्यते वा न परः एवमकार्षीत् । एवं स मेधावी स्वकारणं वा परकारणं वा एवं विप्रतिवेदयति कारणमापन्नः । स ब्रवीमि प्राच्यां वा ६ ये त्रसस्थावराः प्राणा ते एवं संघात

अन्वयार्थ—सोयामि वा, जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा णो अहमेवमकासी) मैं जो दुःख भोगता हूँ शोक करता हूँ आत्मनिन्दा करता हूँ शारीरिक बल का क्षय करता हूँ पीड़ा पाता हूँ ताप भोगता हूँ यह सब मेरे कर्म के फल नहीं हैं (परो वा जं दुक्खइ वा जाव परितप्पइ वा णो परो एवमकासी) तथा दूसरा पुरुष जो दुःख भोगता है तथा शोक आदि पाता है वह भी उसके कर्म का फल नहीं है किन्तु यह सब नियतिकृत प्रभाव है (एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने) इस प्रकार वह बुद्धिमान् पुरुष अपने या दूसरे के दुःख आदि को यह मानता है कि—यह सब नियति के द्वारा किया गया है किसी दूसरे कारण से नहीं । (से बेमि पाईणं वा ६ जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमागच्छंति) सो मैं (नियतिवादी) कहता हूँ कि पूर्व आदि दिशाओं में निवास करने वाले जो त्रस और स्थावरप्राणी

भावार्थ—बुरे से बुरे कार्य्य करने में भी संकोच नहीं करते हैं । वस्तुतः यह नियतिवाद युक्तिसंगत न होने के कारण मानने योग्य नहीं है । इस मत की अयौक्तिकता इस प्रकार समझनी चाहिये जो वस्तु को उनके स्वभावों में नियत करती है उसे नियति कहते हैं वह यदि अपने अपने स्वभावों में वस्तुओं को नियत करने के लिये मानी जाती है तो फिर नियति को नियति के स्वभाव में नियत रखने के लिये उस नियति से भिन्न एक दूसरी नियति और माननी चाहिये अन्यथा वह नियति दूसरी नियति की सहायता के बिना अपने स्वभाव में किस तरह नियत रह सकती है ? यदि कहो कि नियति अपने स्वभाव में अपने आप ही नियत रहती है इसलिये दूसरी नियति की आवश्यकता नहीं है तो इसी तरह वह भी

मागच्छंति ते एवं विपरियासमावज्जंति ते एवं विवेगमागच्छंति ते एवं विहाणमागच्छंति ते एवं संगतियंति उवेहाए, णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा–किरियाति वा जाव णिरएति वा अणिरएति वा, एवं ते विरूवरूवेहि कम्मसमारंभेहि विरूवरूवाइं कामभोगाइं

छाया––मागच्छन्ति, ते एवं विपर्य्यासमागच्छन्ति ते एवं विवेकमागच्छन्ति ते एवं विधानमागच्छन्ति ते एवं सङ्गतिं यन्ति उत्प्रेक्षया। नो एवं विप्रतिवेदयन्ति तद्यथा क्रियादिर्वा यावत् निरयइति वा अनिरय इति वा। एवं ते विरुपरुपैः कर्मसमारम्भैः विरूपरूपान्

अन्वयार्थ—हैं वे नियतिके प्रभावसे ही औदारिक आदि शरीर को प्राप्त करते हैं। (ते एव विप्परियासमावज्जंति) और वे नियतिके कारण ही बाल युवा और वृद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं (ते एव विवेग मागच्छंति) एवं वे नियति के वशीभूत होकर ही शरीर से पृथक् हो जाते हैं (ते एव विहाणमागच्छंति) वे नियतिके कारण ही कुबड़े काणे आदि नाना प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। (ते एव संगतियंति) वे प्राणी नियति के प्रभावसे ही नाना प्रकार के सुख दु खों को प्राप्त करते हैं। (उवेहाए ते णो एव विप्पडिवेदेंति) श्री सुधर्मास्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि—इस प्रकार नियति को समस्त कार्य का कारण मानने वाले नियतिवादी आगे कही जानेवाली बातों को नहीं मानते हैं। (किरियाति वा जाव णिरएति वा अणिरएति वा) क्रिया, अक्रिया तथा प्रथम सूत्रोक्त नरक तथा नरक से भिन्न पर्यन्त पदार्थों को वे नियतिवादी नहीं मानते हैं। (एव ते विरुवरूवेहि कम्मसमारंभेहि

भावार्थ—समझो कि—सभी पदार्थ अपने अपने स्वभाव मे स्वयमेव नियत रहते हैं इसलिये उन्हें अपने स्वभाव मे नियत करने के लिये नियति नामक एक दूसरे पदार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है।

नियतिवादी ने जो यह कहा है कि—"क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों ही नियति के वशीभूत होकर क्रियावाद और अक्रियावाद का समर्थन करते हैं इसलिये ये दोनों ही समान हैं" यह कथन सर्वथा असगत है क्योंकि क्रियावादी क्रियावाद का समर्थन करता है और अक्रियावादी अक्रियावाद का निरूपण करता है इसलिये इनकी भिन्नता स्पष्ट होने से किसी प्रकार भी तुल्यता नहीं है। यदि कहो कि—ये दोनों नियति के वशीभूत होने के कारण तुल्य हैं तो यह भी ठीक नहीं है

समारभंति भोयणाए ॥ एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा काम भोगेसु विसण्णा । चउत्थे पुरिसजाए णियइवाइएत्ति आहिए ॥

छाया—कामभोगान् समारभन्ते भोगाय एवमेव ते अनार्य्याः विप्रतिपन्नाः तद् श्रद्दधाना यावदिति ते नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा कामभोगेषु विषण्णाः । चतुर्थः पुरुषः नियतिवादिक इत्याख्यायते इत्येते

अन्वयार्थ—(भोयणाए विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति) वे नियतिवादी नाना प्रकार के सावद्य कर्मों का अनुष्ठान करके काम—भोगका आरम्भ करते हैं (ते सद्दहमाणा ते अणारिया विप्पडिवन्ना) उस नियतिवाद में श्रद्धा रखने वाले वे नियति वादी अनार्य हैं भ्रममें पड़े हैं (ते णो हव्वाए णो पाराए) वे न तो इसी लोक के होते हैं और न पर लोक के ही होते हैं (अंतरा कामभोगेसु विसण्णा) किन्तु वे काम भोग में फँसकर कष्ट भोगते हैं। (चउत्थे पुरिसजाए णियइ—वाइएत्ति आहिए) यह चौथा नियतिवादी पुरुष कहा गया। (इच्चेते चत्तारि पुरिसजाया णाणापण्णा

भावार्थ—क्योंकि नियति की सिद्धि किए बिना इन दोनों पुरुषों का नियति के वश में होना सिद्ध नहीं होता और नियति की सिद्धि पूर्वोक्त रीति से होना सम्भव नहीं है अतः क्रियावादी और अक्रियावादी को नियति के आधीन कहना असङ्गत समझना चाहिये।

प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल नहीं भोगता है यह कथन तो सर्वथा असंगत है क्योंकि—ऐसा होने पर तो जगत् की विचित्रता हो ही नहीं सकती। प्राणिवर्ग अपने-अपने कर्मों की भिन्नता के कारण ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं परन्तु कर्मों का फल न मानने पर यह नहीं हो सकता है। नियति भी नियत स्वभाव वाली होने के कारण विचित्र जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकती है। यदि यह विचित्र जगत् की उत्पत्ति करे तो वह विचित्र स्वभाववाली सिद्ध होगी एक स्वभावा नहीं हो सकती ऐसी दशा में तो नाम मात्र का ही भेद होगा क्योंकि—हम जिसे कर्म कहते हैं उसे तुम नियति कहते हो परन्तु पदार्थ में कोई भेद नहीं रहता। विद्वानों ने कहा है कि—"यदिह क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते। मूलसिक्तेषु वृक्षेषु फलं शाखासु जायते" (१) "यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभमशुभं वा स्वकर्मपरिणत्या। तच्छक्यमन्यथा नो कर्तुं देवासुरैरपि" (२) अर्थात् वृक्षका मूल सींचने से जैसे

इच्चेते चत्तारि पुरिसजाया णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाअज्झवसाणसंजुत्ता पहीणपुव्वसंजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा ॥ (सूत्रं १२) ॥

छाया—चत्वारः पुरुषजातीयाः नानाप्रज्ञाः नानाच्छन्दाः नानाशीलाः नाना दृष्टयः नानारुचयः नानारम्भाः नानाऽध्यवसानसंयुक्ताः प्रहीण पूर्वसंयोगाः आर्य्यं मार्गम् अप्राप्ता इति नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा कामभोगेषु विषण्णाः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—णाणाच्छंदा) ये पूर्वोक्त चार पुरुष भिन्न भिन्न बुद्धि वाले और भिन्न भिन्न अभिप्राय वाले (णाणासीला णाणादिट्ठी) भिन्न भिन्न अनुष्ठान वाले भिन्न भिन्न दर्शनवाले (नानारुइ णागारंभा) भिन्न भिन्न रुचिवाले भिन्न भिन्न आरम्भवाले (णाणा अज्झवसाणसंजुत्ता) तथा भिन्न भिन्न निश्चयवाले हैं । (पहीणपुव्वसंजोगा) इन्होंने अपने माता पिता आदि के सम्बन्ध को भी छोड़ दिया है (अरियं मग्गं अपत्ता) तथा आर्य्यमार्ग को भी प्राप्त नहीं किया है (इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा चेव कामभोगेसु विसन्ना) अत ये न तो इसी लोकके होते हैं और न पर लोकके ही होते हैं किन्तु बीच में ही काम भोग में फँस कर कष्ट पाते हैं ॥१२

भावार्थ—शाखा मे फल उत्पन्न होता है इसी तरह इस जन्म में किए हुए कर्म का दूसरे जन्म मे फल प्राप्त होता है । १ । मनुष्य ने पूर्व जन्म मे अपने कर्म के परिणाम से जो शुभ या अशुभ कर्म सञ्चय किया है उसे देवता और असुर कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है । २ । अत कर्म को न मानना और नियति को सब का कारण कहना मिथ्या है । यद्यपि नियतिवाद तथा पूर्वोक्त ईश्वरकर्तृत्ववाद, आत्माऽद्वैतवाद पञ्चभूतवाद और शरीरात्मवाद मिथ्या हैं तथापि प्रबल मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी इनमें आसक्त होते हैं । वे इस लोक से भ्रष्ट तथा परलोक से भी पतित होकर अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करते रहते हैं । ये पुरुष विषयरूपी कीचड में फंस कर स्वय कष्ट भोगते हैं और दूसरे को भी दु खी बनाते हैं अत ये चारों ही पुरुष उत्तम श्वेत कमल के समान राजा आदि को पुष्करिणी रूपी भवसागर से उद्धार करने मे समर्थ नहीं हैं । १२ ।

से बेमि पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुवन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं जणजाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति, तं० अप्पयरा वा भुज्जयरा वा, तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिता सतो वावि एगे

छाया—स ब्रवीमि प्राच्यां वा ६ सन्ति एकतये मनुष्या भवन्ति तद्यथा— आर्या एके अनार्य्या एके उच्चगोत्रा एके नीचगोत्रा एके कायवन्त एके ह्रस्ववन्त एके सुवर्णा एके दुर्वर्णा एके सुरूपा एके दुरूपा एके तेषाञ्च जनजानपदाः परिगृहीता भवन्ति, तद्यथा— अल्पतरा वा भूयस्तरा वा। तथा प्रकारेषु कुलेषु आगत्य अभिभूय एके भिक्षाचर्य्यायामुपस्थिताः। सतोवाऽपि एके ज्ञातीन् (अज्ञातीन्)

अन्वयार्थ—(पाईणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति) पूर्व आदि दिशाओं में नाना प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं (वेगे आरिया वेगे अणारिया) कोई आर्य्य होते हैं और कोई अनार्य्य पापी अशुभ कर्म में रत होते हैं (वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया) कोई उच्च गोत्र में उत्पन्न कुलीन होता है और कोई नीच गोत्र में उत्पन्न कुलहीन होता है। (वेगे कायमंता वेगे हस्समंता) कोई उच्च शरीर वाला (लम्बा) होता है और कोई छोटे शरीर का होता है। (वेगे सुवन्ना वेगे दुवन्ना) किसी के शरीर का वर्ण सुन्दर होता है और किसी का असुन्दर होता है। (वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा) किसी का रूप मनोहर होता है और किसी का अमनोहर होता है। (तेसिं च णं जणजाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति) उन मनुष्यों का अनेक और देश परिग्रह (सम्पत्ति) होता है (अप्पयरा वा भुज्जयरा वा) किसी का परिग्रह थोड़ा और किसी का अधिक होता है। (एगे तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय भिक्खायरियाए समुट्ठिता) इनमें से कोई पुरुष पूर्वोक्त कुलों में से किसी कुल में जन्म लेकर विषयभोग को छोड़ कर भिक्षावृत्ति धारण करने के लिये उद्यत होते हैं (एगे सतो वावि णायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता) कोई विद्यमान ज्ञाति वर्ग तथा धन धान्य आदि सम्पत्ति का त्याग कर भिक्षावृत्ति

भावार्थ—मनुष्य मोह में पड़ कर दूसरी वस्तु को अपना मानता है इसीलिये उसे नाना प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं और वह अपने कल्याण के साधन से वंचित रह जाता है। मनुष्य अपने खेत मकान पशु और धन

णायओ (अणायओ) य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खाय रियाए समुट्ठिता असतो वावि एगे णायओ (अणायओ) य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता [जे ते सतो वा असतो वा णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता] पुव्वमेव तेहिं णायं भवइ, तंजहा—इह खलु पुरिसे अन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा-खेत्तं मे वत्थू मे हिरण्णं मे सुवन्नं मे धणं मे धण्णं मे कंसं मे दूसं मे विपुल-

छाया—उपकरणञ्च विप्रहाय भिक्षाचर्य्यायां समुत्थिताः असतोवाऽपि एके ज्ञातीन् (अज्ञातीन्) उपकरणञ्च विप्रहाय भिक्षाचर्य्यायां समुत्थिताः। (ये ते सतो वा असतो वा ज्ञातीन् अज्ञातीन् उपकरणञ्च विप्रहाय भिक्षाचर्य्यायां समुत्थिताः) पूर्वमेव तैर्ज्ञातं भवति तद्यथा इह खलु पुरुषः अन्यदन्यत् मदर्थाय एवं विप्रतिवेदयति, तद्यथा—क्षेत्रं मे वास्तु मे हिरण्यं मे सुवर्णं मे धनं मे धान्यं मे कांस्यं मे दूष्यं मे विपुल

अन्वयार्थ—धारण करने के लिये तत्पर होते हैं (वेगे असतो वावि णायओ य उवगरण च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता) और कोई अविद्यमान ज्ञातिवर्ग और धन धान्य आदि सम्पत्ति को त्याग कर भिक्षावृत्ति स्वीकार करने की इच्छा करते हैं। (जे ते सतो वा असतो वा णायओ य अणायओय उवगरणं च विप्पहाय भिक्खाय-रियाए समुट्ठिता पुव्वमेव तेसिं णाय भवति) जो विद्यमान ज्ञातिवर्ग तथा सम्पत्ति का त्याग कर भिक्षा वृत्ति धारण करना चाहते हैं और जो अविद्यमान ज्ञाति वर्ग और सम्पत्ति को छोड़ कर भिक्षावृत्ति स्वीकार करते हैं उन दोनों को पहले से ही यह जाना हुआ होता है कि (इह खलु पुरिसे अन्नमन्न ममट्ठाए एव विप्पडिवेदेंति तजहा) इस मनुष्य लोक में पुरुषगण अपने से सर्वथा भिन्न पदार्थों को झूठ ही अपना मान कर ऐसा अभिमान करते हैं कि—(खेत्त मे वत्थू मे हिरण्ण मे सुवन्न मे धग मे धण्ण मे कस मे दूस मे) खेत मेरा है घर मेरा है चाँदी मेरी है सोना मेरा है धन मेरा है धान्य मेरा है काँसा मेरा है लोहा आदि मेरे हैं। (विपुलधण

भावार्थ—धान्य आदि सम्पत्ति को अपने सुख के साधन मान कर इनकी प्राप्ति के लिये तथा प्राप्त हुए की रक्षा के लिये जी जान लड़ा कर परिश्रम करता है परन्तु जब उसके ऊपर किसी रोग आदि का आक्रमण होता है तो उसके खेत आदि सम्पत्ति उसको रोग से मुक्त करने मे समर्थ

धणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसाव-
तेयं मे सद्दा मे रूवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे, एते खलु मे कामभोगा अहमवि एतेसिं ॥ से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, तंजहा–इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे से हंता भयंतारो ! कामभोगाइं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अम

छाया—कनकरत्नमणिमौक्तिकशंखशिलाप्रवालरक्तरत्नसत्सारस्वापतेयं मे शब्दाः मे, रूपाणि मे, रसाः मे, गन्धा मे, स्पर्शाः मे, एते खलु मे कामभोगा अहमपि एतेषाम् । स मेधावी पूर्वमेव आत्मना एवं समभिजानीयात्, तद्यथा—इह खलु ममान्यतरद् दुःखं रोगातङ्कः समुत्पद्येत अनिष्टः अकान्तः अप्रियः अशुभः अमनोज्ञः अमनामः दुःखं नो सुखं तद् हन्त ! भयत्रातारः कामभोगा ममान्यतरद् दुःखं रोगातङ्कं विभज्य गृह्णीत अनिष्टमकान्तमप्रियमशुभम

अन्वयार्थ—(कणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसावतेयं मे) ये बहुत से धन सोना रत्न, मणि, मोती, शंख-शिला, मूँगा लाल रत्न उत्तमोत्तम मणि और पैतृक धन मेरे हैं (सद्दा मे रूवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे) मनमनोहर शब्द करने वाले वीणा वेणु आदि मेरे हैं सुन्दर रूपवती स्त्रियाँ मेरी हैं इत्र तेल आदि सुगंधित पदार्थ मेरे हैं उत्तमोत्तम रस तथा मृदुस्पर्श वाले तोसक आदि मेरे हैं (एते खलु मे कामभोगा अहमवि एतेसिं) ये पूर्वोक्त वस्तु समूह मेरे भोग के साधन हैं और मैं इनका उपभोग करने वाला हूँ। (से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा) परन्तु बुद्धिमान् पुरुष को पहले ही यह सोच लेना चाहिये कि—(इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके वा समुप्पज्जेज्जा) जब मुझमें किसी प्रकार का दुःख या रोग उत्पन्न होता है (अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे) जो इष्ट नहीं है मनोज्ञ नहीं है किन्तु

भावार्थ—नहीं होती है। मनुष्य अपने माता पिता भाई बहिन और स्त्री पुत्रादि परिवार वर्ग को अपने सुख का साधन समझता है और उसे सुखी करने के लिये विविध कष्ट को सहन कर धनादि उपार्जन करता है परन्तु वह परिवार वर्ग भी उसके रोग को दूर करने तथा उसे बाँट कर ले लेने

गुन्नं अमणामं दुक्खं णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा इमाओ मे अण्णयराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ पडिमोयह अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ, एवामेव णो लद्धपुव्वं भवइ, इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा, पुरिसे वा एगता पुव्विं काम

छाया—–मनोज्ञ मवनामं दुःखं नो सुखं, तदहं दुःख्यामि वा शोचामि वा जूरामि वा तिप्यामि वा पीड्ये वा परितप्ये वा अस्मान्मे अन्यतराद् दुःखाद् रोगातङ्काद् प्रतिमोचयत अनिष्टात् अकान्तात् अप्रियात् अशुभात् अमनोज्ञात् अवनामात् दुःखान्नो सुखात् एवमेव नो लब्धपूर्वो भवति। इह खलु कामभोगाः नो त्राणाय वा नो शरणाय वा पुरुषो वा एकदा पूर्वं कामभोगान् विप्रजहाति कामभोगाः वा एकदा

अन्वयार्थ—अप्रिय है अशुभ है अमनोज्ञ है विशेष पीड़ा देने वाला है दुःख है सुख नहीं है (से हंता भयंतारो कामभोगाइं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयह अणिट्टं जाव दुक्ख नो सुह) उस समय यदि मैं यह कहूँ कि—हे भय से रक्षा करने वाले मेरे धन धान्य आदि कामभोगों! मेरे इस अनिष्ट अप्रिय तथा अत्यन्त दुःखद रोग को तुम लोग बाँट कर ले लो (ताऽह दुक्खामि वा सोचामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामिवा) क्योंकि मैं इस रोग से बहुत दुःखित हो रहा हूँ मैं शोक में पड़ा हूँ, आत्मनिन्दा कर रहा हूँ, मैं कष्ट पा रहा हूँ बहुत वेदना पाता हूँ (इमाओ अणिट्ठाओ जाव दुक्खाओ णो सुहाओ मम अण्णतराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ पडिमोयह) अत आप लोग मुझको इस अप्रिय अनिष्ट तथा दुःखद रोग और दुख से मुक्त कर दें (एवामेव णो लद्धपुव्व भवइ) तो वे धन धान्य और क्षेत्र आदि कामभोग के साधन पदार्थ उक्त प्रार्थना को सुन कर दुःख से मुक्त कर दें यह कभी नहीं होता। (इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा) वस्तुतः धन धान्य और क्षेत्र आदि सम्पत्ति मनुष्य की रक्षा करने के लिये समर्थ नहीं है। (पुरिसे वा एगता पुव्विं कामभोगे विप्पजहाति) कभी तो पुरुष पहले ही

भावार्थ—के लिये समर्थ नहीं होते किन्तु अकेले उसे उस रोग की पीड़ा सहन करनी पड़ती है। मनुष्य अपने हाथ पैर आदि अंगों को तथा रूप बल और आयु आदि को सबसे अधिक आनन्द का कारण मानता है और इनका उसको बड़ा ही अभिमान रहता है परन्तु जब अवस्था ढल

भोगे विप्पजहति, कामभोगा वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्पजहति, अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं च कामभोगेहिं विप्पजहिस्सामो, से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेतं, इणमेव उवणीयतरागं, तंजहा—माया मे पिता मे भाया मे भगिणी मे भज्जा मे पुत्ता मे धूता मे पेसा मे नत्ता मे सुण्हा मे सुहा मे पिया मे सहा मे

छाया—पूर्वं पुरुषं विप्रजहति, अन्ये खलु कामभोगाः अन्योऽहमस्मि तत् किमङ्ग पुनर्वयमन्येषु कामभोगेषु मूर्च्छामः इति संख्याय वयं कामभोगान् विप्रहास्यामः स मेधावी जानीयाद् बहिरङ्गमेतत् इदमेव उपनीततरं तद्यथा—माता मे, पिता मे, भ्राता मे भगिनी मे भार्य्या मे पुत्राः मे सुता मे प्रेष्या मे नप्ता मे स्नुषा मे सुहृन्मे प्रियो मे सखा मे स्वजनसग्रन्थसंस्तुता मे । एते मम ज्ञातयः अहमेतेषाम्,

अन्वयार्थ—क्षेत्र आदि सम्पत्ति को छोड़ कर चल देता है (कामभोगा वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्पजहति) और कभी क्षेत्र आदि सम्पत्ति ही पहले पुरुष को छोड़ कर चल देती है। (अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि) अतः क्षेत्र आदि सम्पत्ति दूसरी है और मैं दूसरा हूँ (किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो) फिर हम क्यों दूसरी वस्तु सम्पत्ति में आसक्त हो रहे हैं ? (इति संखाए वयं कामभोगेहिं विप्पजहिस्सामो) अतः हम इन बातों को जान कर सम्पत्ति को अवश्य त्याग देंगे (से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं) इस प्रकार विचार करता हुआ वह बुद्धिमान् पुरुष यह सोचे कि—यह क्षेत्र आदि सम्पत्ति तो बाहर के पदार्थ हैं (इणमेव उवणीयतरागं) इन से भी मेरे निकट सम्बन्धी ये लोग हैं (तंजहा) जैसे कि—(माया मे पिया मे भाया मे भगिणी मे भज्जा मे पुत्ता मे धूता मे पेसा मे नत्ता मे सुण्हा मे सहा मे सयणसगंथसंथुया मे) मेरी माता है मेरा पिता है, मेरे भाई हैं मेरी बहिन है, मेरी स्त्री है, मेरे पुत्र हैं मेरी पुत्री है, मेरे दास हैं मेरा नाती है, मेरी पुत्रवधू है मेरा मित्र है, मेरे पहले और पीछे के परिचित

भावार्थ—जाती है तब उसके हाथ पैर आदि अंग ढीले पड़ जाते हैं शरीर की कान्ति फीकी हो जाती है और वह बलहीन तथा इन्द्रिय शक्ति से रहित हो जाता है। अन्त में आयु पूरी होने पर वह इस शरीर को छोड़ कर अकेला ही परलोक में जाता है और वहाँ वह अपने

सयणसंगंथसंथुआ मे, एते खलु मम णायओ अहमवि एतेसिं, एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे णो सुहे, से हंता भयंतारो ! णायओ इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयह अणिट्ठं जाव णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जाव परितप्पामि वा, इमाओ मे अन्नयरातो दुक्खातो

छाया—एवं स मेधावी पूर्वमेव आत्मना समभिजानीयात् इह खलु ममान्यतरद् दुःखं रोगतङ्को वा समुत्पद्येत अनिष्टः यावद् दुःखं नो सुखं तद् हन्त ! भयत्रातारः ज्ञातयः ! इदं ममान्यतरद् दुःखं रोगातङ्कं वा विभज्य विभज्य गृह्णीत अनिष्टं यावद् नो सुखम् । तदहं दुःख्यामि वा शोचामि वा यावत् परितप्ये अस्मान् मे अन्यतरस्माद् दुःखाद् रोगातङ्कात्

अन्वयार्थ—सम्बन्धी है (एते मम णायओ अहमवि एतेसिं) ये मेरे ज्ञाति हैं और मैं भी इनका आत्मीय हूँ (एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा) परन्तु बुद्धिमान् पुरुष को पहले अपने आप यह विचार लेना चाहिये कि—(इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगायंके वा समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे णो सुहे) जब कभी मुझको किसी प्रकार का दुःख या कोई रोग उत्पन्न हो, जो अनिष्ट और दुःखदायी है (से हता भयंतारो णायओ इम मम अन्नयरं दुक्खं रोयातकं अणिट्ठं जाव णो सुहं परियाइयह) उस समय मैं अपने ज्ञातिवर्ग से यदि यह कहूँ कि—हे भय से रक्षा करने वाले ज्ञातिवर्ग ! मेरे इस अनिष्ट और अप्रिय दुःख तथा रोग को आप लोग बाँट कर लेलें (ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जाव परितप्पामिवा) क्यों कि मैं इस दुःख से पीड़ित हो रहा हूँ, शोक करता हूँ बहुत ताप भोग रहा हूँ (इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोयातकाओ परिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो

भावार्थ—शुभाशुभ कर्म का फल अकेले भोगता है। उस समय उसकी सम्पत्ति, परिवार तथा शरीर आदि कोई भी साथ नहीं होते। अत बुद्धिमान पुरुष को धन, धान्य, मकान और खेत आदि सम्पत्ति तथा माता पिता स्त्री पुत्र आदि परिवार के ऊपर ममता को त्याग कर आत्म कल्याण का साधन करना चाहिये। मनुष्य रात दिन जिस सम्पत्ति के लिये नाना प्रकार का कष्ट सहन करता है वह परलोक मे काम नहीं आती है इतना

रोयातंकाओ परिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ, तेसिं वावि भयंताराणं मम णाययाणं अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहे, मा मे दुक्खंतु वा जाव मा मे परितप्पंतु वा, इमाओ णं अण्णयराओ दुक्खातो रोयातंकाओ

छाया—परिमोचयत अनिष्टात् यावत् नो सुखात्। एवमेव नो लब्धपूर्वो भवति। तेषां वाऽपि भयत्रातृणां मम ज्ञातीनां अन्यतरद् दुःखं रोगातङ्कः समुत्पद्येत अनिष्टः यावदसुखः तद् हन्त! अहमेतेषां भयत्रातृणां ज्ञातीनाम् इदमन्यतरद् दुःखं रोगातङ्कं वा विभज्य गृह्णामि अनिष्टं वा यावदसुखं, मा मे दुःख्यन्तु वा यावत् मा मे परितप्यन्तु वा अस्मात् अन्यतरस्मात् दुःखात् रोगातङ्कात् परि

अन्वयार्थ—सुहाओ) अतः आप इस अनिष्ट दुःख तथा रोग से मुझको मुक्त करें (एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ) तो वे ज्ञाति वर्ग इस प्रार्थना को सुनकर दुःख तथा रोग को बाँट कर ले लें या मुझको दुःख और रोग से मुक्त करें ऐसा कभी नहीं होता है। (तेसिं वावि मम भयंताराणं णाययाणं अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे) अथवा भय से मेरी रक्षा करने वाले उन ज्ञातियों को ही कोई दुःख या रोग उत्पन्न हो जाय जो अनिष्ट और असुख है (से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहे) तो मैं भय से रक्षा करने वाले इन ज्ञातियों के अनिष्ट दुःख या रोग को बाँट कर लेलूं (मा मे दुक्खंतु मा मे परितप्पंतु वा) जिससे वे मेरे ज्ञातिवर्ग दुःख तथा परिताप न भोगें (इमाओ अन्नयराओ दुक्खाओ रोयातंकाओ परिमोएमि) मैं इनको दुःख

भावार्थ—ही नहीं किन्तु इस लोक में भी वह स्थिर नहीं रहती है। बहुत से लोग धन सञ्चय करके भी फिर दरिद्र हो जाते हैं उनकी सम्पत्ति उन्हें छोड़ कर चली जाती है कभी ऐसा भी होता है कि सम्पत्ति को उपार्जन करने के पश्चात् उसका भोग किये बिना ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है ऐसी दशा में उस पुरुष को सम्पत्ति उपार्जन करने का कष्ट ही हाथ

परिमोएमि अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ, अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयति अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेति पत्तेयं जायति पत्तेयं मरइ पत्तेयं चयइ पत्तेयं उववज्जइ पत्तेयं झंझा पत्तेयं सन्ना पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेदणा, इह (इ) खलु णातिसंजोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा, पुरिसे वा एगता पुव्वि णातिसंजोए विप्पजहति, णातिसंजोगा

छाया—मोचयामि अनिष्टाद् यावन्नो सुखात् एवमेव न लब्धपूर्वो भवति। अन्यस्य दुःख मन्यो न विभज्य गृह्णाति अन्येन कृतम् अन्यो नो प्रतिसंवेदयति प्रत्येकं जायते प्रत्येकं म्रियते प्रत्येकं त्यजति प्रत्येकम् उपपद्यते प्रत्येकं झंझा प्रत्येकं संज्ञा प्रत्येकं मननम् एवमेव विद्वान् वेदना, इह खलु ज्ञातिसंयोगाः नो त्राणाय नो शरणाय वा पुरुषो वा एकदा पूर्वं ज्ञातिसंयोगान् विप्रजहाति, ज्ञातिसंयोगाः वा एकदा

अन्वयार्थ—तथा अनिष्ट रोग से मुक्त कर दूं (एवमेव णो लद्धपुच्व भवइ) तो यह मेरी इच्छा कभी पूरी नहीं होती है (अन्नस्स दुक्ख अन्नो न परियाइयति) दूसरे के दुःख को दूसरा बाँट कर नहीं ले सकता है (अन्नेण कं अन्नो नो पडिसंवेदयति) दूसरे के कर्म का फल दूसरा नहीं भोगता है (पत्तेय जायति पत्तेय मरइ पत्तेयं चयइ पत्तेय उववज्जइ पत्तेय झझा पत्तेय सन्ना पत्तेय मन्ना एव विन्नू वेयणा) मनुष्य अकेला ही जन्म लेता है अकेला ही मरता है अकेला ही अपनी सम्पत्ति का त्याग करता है अकेला ही सम्पत्ति को स्वीकार करता है अकेला ही कषायों को ग्रहण करता है अकेला ही पदार्थ को समझता है अकेला ही चिन्तन करता है अकेला ही विद्वान होता है और अकेला ही सुख दुःख भोगता है। (इह खलु णातिसजोगा णो ताणाए णो सरणाए) इस लोक में ज्ञातियों का सयोग दुःख से रक्षा करने और मनुष्य को शान्ति देने के लिए समर्थ नहीं है। (पुरिसे वा एगता पुव्वि णातिसजोए विप्पजहति) मनुष्य कभी पहले ज्ञातिसयोग को छोड़ देता है (णाति

भावार्थ—आता है सुख नहीं मिलता, सुख तो दूसरे प्राप्त करते हैं अतः ऐसी अस्थिर सम्पत्ति के लोभ मे पड़ कर अपने जीवन को कल्याण से वञ्चित रखना विवेकी पुरुष का कर्त्तव्य नहीं है।

जिस प्रकार सम्पत्ति चञ्चल है इसी तरह परिवार वर्ग का सम्बन्ध भी अस्थिर है। परिवार के साथ वियोग अवश्य होता है कभी तो

वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्पजहति, अन्ने खलु णातिसंजोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं णातिसंजोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं णातिसंजोगं विप्पजहिस्सामो । से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं, इणमेव उवणीयतरागं, तंजहा-हत्था मे पाया मे बाहा मे ऊरू मे उदरं मे सीसं मे सीलं मे आऊ मे बलं मे वण्णो मे तया मे छाया मे सोयं मे चक्खू मे घाणं मे जिब्भा

छाया—पूर्वं पुरुषं विप्रजहाति अन्ये खलु ज्ञातिसंयोगा अन्योऽहमस्मि । किमङ्ग ! पुनर्वयमन्येषु ज्ञातिसंयोगेषु मूर्च्छामः इति संख्याय वयं ज्ञातिसंयोगं विप्रहास्यामः । स मेधावी जानीयात् बहिरङ्गमेतत्, इदमेव उपनीततरं तद्यथा हस्तौ मे पादौ मे बाहू मे ऊरू मे उदरं मे शीर्षं मे शीलं मे आयुर्मे बलं मे वर्णो मे त्वचा मे छाया मे श्रोत्रं मे चक्षुर्मे घ्राणं मे जिह्वा मे स्पर्शाः मे ममीकरोति, वयसः

अन्वयार्थ—संयोगा वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति) और कभी ज्ञातिसंयोग पुरुष को पहले छोड़ देता है (अन्ने खलु णातिसंजोगा अन्नो अहमंसि) अतः ज्ञातिसंयोग दूसरा है और मैं दूसरा हूँ (से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं णातिसंजोगेहिं मुच्छामो) तब फिर हम इस दूसरे ज्ञातिसंयोग में क्यों आसक्त हो रहे हैं ? (इति संखाय वयं णातिसंजोगं विप्पजहिस्सामो) यह जान कर अब हम ज्ञातिसंयोग को छोड़ देंगे। (से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं इणमेव उवणीयतरागं) परन्तु बुद्धिमान पुरुष को यह जानना चाहिए कि—ज्ञातिसंयोग तो बाहरी वस्तु है, इससे तो निकट सम्बन्धी ये सब हैं (तं जहा हत्था मे पाया मे बाहा मे ऊरू मे उदरं मे सीसं मे सीलं मे आऊ मे बलं मे वण्णो मे तया मे छाया मे सोयं मे चक्खू मे घाणं मे जिब्भा मे फासा मे ममाइज्जइ) जैसे कि—मेरे हाथ हैं मेरे पैर

भावार्थ—मनुष्य परिवार को शोकाकुल बनाता हुआ स्वयं पहले मर जाता है और कभी परिवार वाले पहले मर कर उसे शोकसागर में गिरा देते हैं। अतः [illegible] सम्पत्ति तथा परिवार वर्ग के मोह में फंस कर कौन विवेकी पुरुष अपने कल्याण के साधन को त्याग सकता है ? बुद्धिमान् पुरुष इन बातों को जान कर सम्पत्ति तथा परिवार में कभी आसक्त नहीं होते व

मे फासा मे ममाइज्जइ, वयाउ पडिजूरइ, तंजहा-आउओ बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ जाव फासाओ सुसंधितो संधी विसंधीभवइ, वलियतरंगे गाए भवइ, किण्हा केसा पलिया भवंति, तंजहा—जंपि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं एयंपि य अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सति, एयं संखाए से भिक्खू

छाया—परिजीर्य्यते । तद्यथा आयुषः बलाद् वर्णाद् त्वचः छायायाः श्रोत्राद् यावद् स्पर्शात् सुसन्धितःसन्धिर्विसन्धी भवति वलिततरङ्गः गात्रेषु भवति कृष्णाः केशाः पलिताः भवन्ति तद्यथा यदपि च इदं शरीरम् उदार माहारोपचितम् एतदपि च आनुपूर्व्या विप्रहातव्यं भविष्यति । इदं

अन्वयार्थ—हैं मेरी भुजा है मेरी जाँघे हैं मेरा पेट है मेरा शिर है मेरा शील (आचार) है मेरी आयु है मेरा बल है मेरा वर्ण है मेरी त्वचा है मेरी कान्ति है मेरे कान हैं मेरे नेत्र हैं मेरी नासिका है मेरी जीभ है मेरा स्पर्श है। इस प्रकार प्राणी इन पर ममता करता है (वयाउ पडिजूरइ) परन्तु अवस्था के अधिक होने पर ये सब जीर्ण हो जाते है। (तजहा—आउओ बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ जाव फासाओ) वह मनुष्य, आयु बल, वर्ण त्वचा कान्ति कान तथा स्पर्शपर्यन्त सभी वस्तुओं से हीन हो जाता है (सुसधितो सधी विसधी भवति) उसकी सुघटित दृढ सन्धियाँ ढीली हो जाती है (गाए वलियतरंगे भवइ) उसके शरीर में सर्वत्र चमड़े संकुचित होकर तरङ्ग की रेखा के समान हो जाते हैं (किण्हा केसा पलिया भवति) उसके काले बाल सफेद हो जाते हैं। (जपि य आहारोवइयं उराल इम सरीरग एयंपि अणुपुव्वेण विप्पजहियव्वं भविस्सति) यह जो आहार से वृद्धि को प्राप्त उत्तम शरीर है इसे भी क्रमश: अवधि पूरी होने पर छोड़ देना पड़ेगा (एय संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोग जाणेज्जा) यह जान

भावार्थ—इन्हे शरीर के मल के समान झड़का कर सयम धारण करते हैं। ऐसे पुरुष ही ससार सागर को स्वय पार करते हैं और उपदेश आदि के द्वारा दूसरे को भी उद्धार करते हैं। ससार रूपी पुष्करिणी के उत्तम श्वेत कमल के समान राजा महाराजा आदि धर्मश्रद्धालु पुरुषों को वे

भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोगं जाणेज्जा, तं०-जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव थावरा चेव ॥ (सूत्रम् १२)

छाया—तस्याय स भिक्षु भिक्षाचर्यायां समुत्थितः द्विधा लोकं जानीयात् तद्यथा-जीवाश्चैव अजीवाश्चैव त्रसाश्चैव स्थावराश्चैव ॥१२॥

अन्वयार्थ—वह भिक्षावृत्ति का स्वीकार करने के लिये उद्यत साधु लोक को दोनों प्रकार से जान लेवे (तंजहा—जीवा चेव अजीवा चेव तसा चेव थावरा चेव) जैसे कि—लोक जीव रूप है और अजीव रूप है त्रस रूप है और स्थावर रूप है ॥१२॥

भावार्थ—वही उस पुष्करिणी से बाहर निकाल सकते हैं दूसरे नहीं यह जानना चाहिये ॥ १२ ॥



इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणावि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे तसा थावरा पाणा ते सयं

छाया—इह खलु गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः, सन्त्येके श्रमणाः माहना अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः, ये इमे त्रसाः स्थावराश्च प्राणाः

अन्वयार्थ—(इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा संति) इस लोक में गृहस्थ आरम्भ तथा परिग्रह के सहित होते हैं क्योंकि वे उन क्रियाओं को करते हैं जिनसे जीवों का विनाश होता है और वे दासी, दास, गाय भैंस आदि पशु एवं धन धान्य आदि परिग्रह रखते हैं। (संतेगतिया समणा माहणावि सारंभा सपरिग्गहा) कोई कोई श्रमण और ब्राह्मण भी आरम्भ तथा परिग्रह के सहित होते हैं क्योंकि वे भी गृहस्थ के समान ही सावद्य क्रिया करते हैं और धन धान्य तथा द्विपद चतुष्पद आदि परिग्रह रखते हैं। (जे इमे तसा थावरा पाणा ते सयं समारंभंति अन्नेणवि

भावार्थ—गृहस्थगण सावद्य अनुष्ठान करते हैं और धन, धान्य, सोना चाँदी आदि अचेतन तथा दासी दास और हाथी घोड़ा ऊंट बैल आदि सचेतन परिग्रह रखते हैं यह प्रत्यक्ष है। तथा शाक्य भिक्षु आदि श्रमण तथा ब्राह्मण आदि भी सावद्य अनुष्ठान करते हैं और सचेतन तथा अचेतन दोनों ही

समारभंति अन्नेणावि समारंभावेंति अण्णंपि समारभंतं समणु-
जाणंति ॥ इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया
समणा माहणावि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे कामभोगा सचित्ता
वा अचित्ता वा ते सयं परिगिण्हंति अन्नेणावि परिगिण्हावेंति
अन्नंपि परिगिण्हंतं समणुजाणंति ॥ इह खलु गारत्था सारंभा
सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणावि सारंभा सपरिग्गहा,

छाया—तान् स्वयं समारभन्ते अन्येनाऽपि समारम्भयन्ति अन्यमपि समारभमाणं समनुजानन्ति । इह खलु गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः, सन्त्येके श्रमणाः माहना अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः, ये इमे कामभोगाः सचित्ताः वा अचित्ताः वा तान् स्वयं परिगृह्णन्ति अन्येनाऽपि परिग्राहयन्ति अन्यमपि परिगृह्णन्तं समनुजानन्ति । इह खलु गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः सन्त्येके श्रमणाः माहना अपि

अन्वयार्थ—समारभावेंति अण्णंवि समारभत समणुजाणंति) वे गृहस्थ और श्रमण ब्राह्मण, त्रस तथा स्थावर प्राणियों का स्वय आरम्भ करते हैं, दूसरे के द्वारा भी कराते हैं और आरम्भ करते हुए दूसरे को अच्छा मानते हैं। (इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा संतेगतिया समणा माहणावि सारभा सपरिग्गहा) इस जगत् में गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह के सहित होते हैं और कोई कोई श्रमण ब्राह्मण भी आरम्भ तथा परिग्रह के सहित होते हैं। (जे इमे कामभोगा सचित्ता अचित्ता वा ते सयं परिगिह्णति अन्नेणवि परिगिह्णावेंति अन्नंपि परिगिह्णंतं समणुजाणंति) वे गृहस्थ और श्रमण ब्राह्मण सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के कामभोगों का ग्रहण स्वयं करते हैं और दूसरे के द्वारा भी कराते हैं तथा ग्रहण करते हुए को अच्छा मानते हैं। (इह खलु गारत्था सारम्भा सपरिग्गहा संतेगतिया समणा माहणावि सारंभा सपरिग्गहा) इस जगत् में गृहस्थ, आरम्भ और

भावार्थ—प्रकार के परिग्रह रखते हैं अत इन लोगों के साथ रह कर मनुष्य सावद्य अनुष्ठान रहित तथा परिग्रहवर्जित नहीं हो सकता है अत विवेकी पुरुष इनके संसर्ग को छोड़ कर निरवद्य अनुष्ठान करते हैं तथा परिग्रह को वर्जित करते हैं। यद्यपि शाक्य भिक्षु आदि नाम मात्र से दीक्षाधारी होते हैं तथापि वे दीक्षाग्रहण करने के पूर्व जैसे सावद्य अनुष्ठान करते हैं और परिग्रह रखते हैं वैसे ही दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भी सावद्य अनुष्ठान करते हैं और परिग्रह रखते हैं अत इनकी पूर्व तथा उत्तर

अह खलु अणारम्भे अपरिग्गहे, जे खलु गारत्था सारम्भा सपरिग्गहा, सन्तेगतिया समणा माहणावि सारम्भा सपरिग्गहा एतेसिं चेव निस्साए बम्भचेरवास वसिस्सामो, कस्स णं तं हेउ ?, जहा पुव्वं तहा अवरं जहा अवरं तहा पुव्वं, अञ्जू एते अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव ॥ जे खलु

छाया—सारम्भाः सपरिग्रहाः अहं खलु अनारम्भः अपरिग्रहः, ये खलु गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः सन्त्येके श्रमणाः माहना अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः एतेषां चैव निश्रयेण ब्रह्मचर्य्यवासं वत्स्यामि । कस्य हेतोः ? यथा पूर्वं तथा अपरं यथा अपरं तथा पूर्वम्, अञ्जसा एते अनुपरताः अनुपस्थिताः पुनरपि तादृशा एव । ये खलु गृहस्थाः

अन्वयार्थ—परिग्रह के सहित होते हैं तथा कोई कोई श्रमण और माहन भी आरम्भ तथा परिग्रह के सहित होते हैं (अह खलु अणारंभे अपरिग्गहे) परन्तु मैं (साधु) आरम्भ और परिग्रह से रहित हूँ (जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा संतेगतिया समणा माहणा अवि सारंभा सपरिग्गहा एतेसिं चेव निस्साए बम्भचेरवास वसिस्सामो) अतः मैं आरम्भ तथा परिग्रह से युक्त पूर्वोक्त गृहस्थगण एवं सारम्भ और सपरिग्रह श्रमण माहनों के आश्रय से ब्रह्मचर्य्य अच्छी पालूंगा । (कस्स णं तं हेउं) आरम्भ और परिग्रह के साथ रहने वाले गृहस्थ और श्रमण माहनों के निश्राय में ही अगर भिक्षु विचरता है तब फिर इन्हें त्यागने का क्या कारण है ? (जहापुव्वं तहा अवरं जहा अवरं तहा पुव्वं) गृहस्थ जैसे पहले आरम्भ और परिग्रह के साथ होते हैं इसी तरह वे पीछे भी होते हैं एवं कोई कोई श्रमण माहन भी जैसे प्रव्रज्या धारण करने के पहिले आरम्भ और परिग्रह के साथ होते हैं इसी तरह पीछे भी होते हैं । (अञ्जू एते अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव) यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि—ये लोग सावद्य आरम्भ से विरत नहीं हैं तथा शुद्ध संयमका पालन नहीं करते हैं अतः ये लोग इस समय भी पहले के समान ही हैं ।

भावार्थ—अवस्था में कोई भेद नहीं है । गृहस्थ तथा शाक्य भिक्षु आदि त्रस और स्थावर प्राणियों का विघातक व्यापार करते हैं यह प्रत्यक्ष है अतः इनमें रहकर निरवद्य वृत्ति का पालन एवं परिग्रह का त्याग सम्भव नहीं है अतः साधुजन इनका त्याग कर देते हैं । यद्यपि इन्हें छोड़े बिना निरवद्य वृत्ति का पालन और परिग्रह का त्याग सम्भव नहीं है तथापि निरवद्य

गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणावि सारंभा सपरिग्गहा, दुहतो पावाइं कुव्वंति इति संखाए दोहिवि अंतेहिं अदिस्समाणो इति भिक्खू रीएज्जा ॥ से बेमि पाइणं वा ६ जाव एवं से परिरणायकम्मे, एवं से ववेयकम्मे, एवं से विअंतकारए भवतीति मक्खायं ॥ (सूत्रं १४)

छाया—सारम्भाः सपरिग्रहाः सन्त्येके श्रमणाः माहना अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः द्विधाऽपि पापानि कुर्वन्ति, इति संख्याय द्वयोरप्यन्तयोरादिश्यमानः इति भिक्षुः रीयेत तद् ब्रवीमि प्राच्यां वा यावत् एवं स परिज्ञातकर्मा एवं स व्यपेतकर्मा एवं स व्यन्तकारको भवतीत्याख्यातम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा संतेगतिया समणा माहणावि सारंभा सपरिग्गहा दुहतो पावाइं कुव्वंति) आरम्भ और परिग्रह के साथ रहने वाले जो गृहस्थ और श्रमण ब्राह्मण हैं वे आरम्भ तथा परिग्रह इन दोनों कार्य्यों के द्वारा पापकर्म करते हैं। (इति संखाए दोहिवि अंतेहि अदिस्समाणो इति भिक्खू रीएज्जा) यह जानकर साधु आरम्भ और परिग्रह इन दोनों से रहित होकर संयम में प्रवृत्ति करे। (से बेमि पाईणंवा ६ जाव एवं से परिण्णायकम्मे) यह मैं कहता हूँ कि—पूर्व आदि दिशाओं से आया हुआ जो भिक्षु आरम्भ और परिग्रह से रहित है वही कर्म के रहस्य को जानता है (एवं से ववेयकम्मे) और वही कर्मबन्धन से रहित होता है (एव से विअंतकारए भवतीति मक्खायं) तथा वही कर्मों का क्षय करता है यह श्री तीर्थंकर देव ने कहा है। ॥१४॥

भावार्थ—वृत्ति के पालनार्थ इनका आश्रय लेना वर्जित नहीं किया जा सकता है अत साधु इन्हें त्याग कर भी निरवद्य वृत्ति के पालनार्थ इनका आश्रय लेते हैं। आशय यह है कि सयम के आधार भूत शरीर के रक्षार्थ साधु इनके द्वारा दिये हुए भिक्षान्न को प्राप्त कर अपना निर्वाह करते हैं क्योंकि ऐसा किये बिना उनकी निरवद्य वृत्तिका निर्वाह नहीं हो सकता है अतः वे इनके आश्रय का त्याग नहीं करते हैं। इस प्रकार जो पुरुष गृहस्थ आदि के द्वारा दिये हुए भिक्षान्न मात्र से अपना निर्वाह करते हुए शुद्ध संयम का पालन करते हैं वे ही उत्तम साधु हैं और वे ही कर्म बन्धन को तोड़ कर मोक्ष पद के अधिकारी होते हैं यह तीर्थंकरों का सिद्धान्त जानना चाहिये ॥ १४ ॥



अह खलु अणारम्भे अपरिग्गहे, जे खलु गारत्था सारम्भा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणावि सारम्भा सपरिग्गहा एतेसिं चेव निस्साए बम्भचेरवास वसिस्सामो, कस्स णं तं हेउ ?, जहा पुव्वं तहा अवरं जहा अवरं तहा पुव्वं, अञ्जू एते अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव ॥ जे खलु

छाया—सारम्भाः सपरिग्रहा अहं खलु अनारम्भः अपरिग्रहः, ये खलु गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः सन्त्येके श्रमणाः माहना अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः एतेषां चैव निश्रयेण ब्रह्मचर्य्यवासं वत्स्यामि । कस्य हेतोः ? यथा पूर्वं तथा अपरं यथा अपरं तथा पूर्वम्, अञ्जसा एते अनुपरताः अनुपस्थिताः पुनरपि तादृशा एव । ये खलु गृहस्थाः

अन्वयार्थ—परिग्रह के सहित होते हैं तथा कोई कोई श्रमण और माहन भी आरम्भ तथा परिग्रह के सहित होते हैं (अह खलु अणारंभे अपरिग्गहे) परन्तु मैं (साधु) आरम्भ और परिग्रह से रहित हूँ (जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा संतेगतिया समणा माहणा अवि सारंभा सपरिग्गहा एतेसिं चेव निस्साए बम्भचेरवास वसिस्सामो) अतः मैं आरम्भ तथा परिग्रह से युक्त पूर्वोक्त गृहस्थगण एवं सारम्भ और सपरिग्रह श्रमण माहनों के आश्रय से ब्रह्मचर्य्य अर्थात् पालूंगा । (कस्स णं तं हेउ) आरम्भ और परिग्रह के साथ रहने वाले गृहस्थ और श्रमण माहनों के निश्राय में ही जबकि विचरना है तब फिर इन्हें त्यागने का क्या कारण है ? (जहा पुव्वं तहा अवरं जहा अवरं तहा पुव्वं) गृहस्थ जैसे पहले आरम्भ और परिग्रह के साथ होते हैं इसी तरह वे पीछे भी होते हैं एवं कोई कोई श्रमण माहन भी जैसे प्रव्रज्या धारण करने के पहिले आरम्भ और परिग्रहके साथ होते हैं इसी तरह पीछे भी होते हैं । (अञ्जू एते अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव) यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि—ये लोग सावद्य आरम्भ से निवृत्त नहीं हैं तथा शुद्ध संयमका पालन नहीं करते हैं अतः ये लोग इस समय भी पहले के समान ही हैं।

भावार्थ—अवस्था में कोई भेद नहीं है। गृहस्थ तथा शाक्य भिक्षु आदि त्रस और स्थावर प्राणियों का विघातक व्यापार करते हैं यह प्रत्यक्ष है अतः इनमें रहकर निरवद्य वृत्ति का पालन एवं परिग्रह का त्याग सम्भव नहीं है अत साधुगण इनका त्याग कर देते हैं। यद्यपि इन्हें छोड़े बिना निरवद्य वृत्ति का पालन और परिग्रह का त्याग सम्भव नहीं है तथापि निरवद्य

सव्वे जीवा सव्वे भूता सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परियाविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं नच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्द-

छाया—सर्वाणि भूतानि सर्वे प्राणाः सर्वे सत्त्वाः दण्डेन वा यावत् कपालेन वा आकुट्यमानाः हन्यमानाः तर्ज्यमानाः ताड्यमानाः परिताप्यमानाः क्लाम्यमानाः उद्वेज्यमानाः यावद् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकरं दुःखं भयं प्रतिसंवेदयन्ति । एवं ज्ञात्वा सर्वे प्राणाः यावत् सत्त्वाः न हन्तव्याः नाऽऽज्ञापयितव्याः न परिग्राह्याः न परितापयितव्याः

अन्वयार्थ—(एवं जाण सव्वे जीवा सव्वे भूता सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा) इसी तरह सभी जीव सभी भूत सभी प्राणी और सभी सत्त्व डंडे तथा कपाल आदि से मारे जाते हुए तथा चाबुक आदि से पीटे जाते हुए (तज्जिज्जमाणा) अङ्गुलि दिखा कर धमकाये जाते हुए (ताडिज्जमाणा वा परियाविज्जमाणा वा) ताड़न किये जाते हुए सँताये जाते हुए (किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा) क्लेश दिये जाते हुए और उपद्रव किये जाते हुए (जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति) अधिक कहाँ तक कहें एक रोम उखाड़ने का कष्ट को प्राप्त करते हुए भी दुःख और भय को प्राप्त करते हैं। (एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेयव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा) यह जानकर किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिये तथा उन्हें बलात्कार से किसी कार्य्य में नहीं लगाना चाहिये, उन्हें बलात्कार से दासी दास आदि न बनाना चाहिये उन्हें सँताना नहीं चाहिये उन्हें उद्विग्न नहीं करना

भावार्थ—मुझको मारता है या गाली देता है अथवा बलात्कार से अपना दासी दास आदि बना कर अपनी आज्ञा पालन कराता है तो मैं जैसा दुःख अनुभव करता हूँ इसी तरह दूसरे प्राणी भी मारने पीटने गाली देने

तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकाय हेऊ पण्णत्ता, तंजहा—पुढवीकाए[१] जाव तसकाए, से जहाणामए मम असायं दंडेण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउट्टिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परियाविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण

छाया—तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकाया हेतवः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-पृथिवीकायः यावत् त्रसकायः। तद्यथा नाम ममासातं दण्डेन वा अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लेलुना वा कपालेन वा आकुट्यमानस्य वा, हन्यमानस्य वा तर्ज्यमानस्य वा ताड्यमानस्य वा, परिताप्यमानस्य वा क्लाम्यमानस्य वा उद्वेज्यमानस्य वा यावत् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकारकं दुःखं भयमिति संवेदयामि इत्येवं जानीहि सर्वे जीवाः

अन्वयार्थ—(तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पण्णत्ता) भगवान् श्री तीर्थंकर देवने छः काय के जीवों को कर्मबन्ध का कारण कहा है (तंजहा—पुढवीकाए जाव तसकाए) पृथिवी काय से लेकर त्रसकाय पर्यन्त छः प्रकार के जीव कर्मबन्ध के कारण हैं। (से जहाणामए दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउट्टिज्जमाणस्स हम्ममाणस्स) जैसे मुझको कोई डंडे से हड्डी से मुक्का से ढेला से और घड़े के टुकड़ा आदि से मारता है अथवा चाबुक आदि से पीटता है (तज्जिज्जमाणस्स) अथवा अंगुलि दिखा कर धमकाता है (ताडिज्जमाणस्स वा) अथवा ताड़न करता है (परियाविज्जमाणस्स) अथवा सताता है (किलामिज्जमाणस्स) या क्लेश देता है (उद्दविज्जमाणस्स) अथवा किसी प्रकार का उपद्रव करता है (मम असायं) तो मुझको दुःख होता है (जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि) अधिक कहने की आवश्यकता नहीं मेरा एक रोम भी यदि कोई उखाड़ लेता है तो मुझको दुःख और भय उत्पन्न होता है

भावार्थ—वस्तुतत्त्व को जानने वाले विज्ञ पुरुष अपने सुख दुःख के समान दूसरे प्राणियों के सुख दुःखों को जान कर उन्हें कभी भी पीड़ित करने की इच्छा नहीं करते हैं। वे यह समझते हैं कि—"जैसे कोई दुष्ट पुरुष

१ [illegible]

दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा णो अंजणं णो वमणं णो धूवणे णो तं परिआविएज्जा ॥ से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोहे उवसंते परिनिव्वुडे णो आसंसं पुरतो करेज्जा इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मएण वा विन्नाएण वा इमेण वा सुचरियतवनियमबंभचेरवासेण इमेण वा जाया-मायावुत्तिएणं धम्मेणं इओ चुए पेच्चा देवे सिया कामभोगाण

छाया—दन्तप्रक्षालनेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, नो अञ्जनं नो वमनं नो धूपनं नो तं परिपिवेत् । स भिक्षुरक्रियः अलूषकः अक्रोधः अमानः अमायः अलोभः उपशान्तः परिनिर्वृत्तः नो आशंसां पुरतः कुर्य्यात् अनेन मम दृष्टेन वा श्रुतेन वा मतेन वा विज्ञातेन वा अनेन वा सुचरिततपो-नियमब्रह्मचर्य्यवासेन वा अनेन वा यात्रामात्रावृत्तिना धर्मेण इत-श्च्युतः प्रेत्य देवः स्याम् । कामभोगाः वशवर्तिनः सिद्धोवा अदुःखः

अन्वयार्थ—पक्खालेज्जा) इस प्रकार प्राणातिपात से लेकर परिग्रह पर्य्यन्त पाँच आश्रवों से निवृत साधु, दातौन आदि दाँत साफ करने वाले पदार्थों के द्वारा दाँतों को साफ न करे (णो अजण णो वमणं णो धूवणे णो त परिआविएज्जा) तथा शोभा के लिये आँख में अंजन न लगावे एव दवा लेकर वमन न करे तथा अपने वस्त्रों को धूप आदि के द्वारा सुगन्धित न करे एवं खाँसी आदि रोगों की शान्ति के लिये धूम्रपान न करे । (से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोहे उवसंते परिनिव्वुडे पुरतो आसंसं णो करेज्जा) वह साधु सावद्य क्रियाओं से रहित जीवों का अहिंसक, क्रोध हीन, मान माया और लोभ से वर्जित शान्त तथा समाधि-युक्त होकर रहे और वह अपनी क्रिया से परलोक में कामभोग की प्राप्ति की आशा न करे । (इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मएण वा विन्नाएण वा इमेण वा सुचरियतव नियमबंभचेरवासेण इमेण वा जायामायावुत्तिएण धम्मेण इओ चुए पेच्चा देवे सिया) वह ऐसी कामना न करे कि—"यह जो ज्ञान मैंने देखा है तथा सुना है अथवा मनन किया है एवं विशिष्ट रूप से अभ्यास किया है तथा यह जो मैंने उत्तम आचरण, तप नियम और ब्रह्मचर्य्य का पालन किया है तथा अपने संयम शरीर के निर्वाह मात्र के लिए शुद्ध आहार ग्रहण किया है, इन सब कर्मों के फल स्वरूप

भावार्थ—और त्रस इन छः ही काय के जीवों को कष्ट देने वाले व्यापारों को त्याग देते हैं । ऐसे पुरुष ही धर्म के रहस्य को जानने वाले हैं क्योंकि भूत,

घेयव्वा ॥ से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आग मिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति–सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा एस धम्मे धुवे णीतिए सासए समिच्च लोगं खेयण्णेहिं पवेदिए, एवं से भिक्खू विरते पाणातिवायातो जाव विरते परिग्गहातो णो

छाया—न उद्वेजयितव्या स ब्रवीमि ये चातीताः ये च प्रत्युत्पन्नाः ये चाग मिष्यन्तोऽर्हन्तो भगवन्तः सर्वे ते एवं माख्यान्ति एवं भाषन्ते एवं प्रज्ञापयन्ति एवं प्ररूपयन्ति सर्वे प्राणाः यावत् सत्त्वाः न हन्तव्याः नाऽऽज्ञापयितव्याः न परिग्राह्याः न परितापयितव्याः नोद्वेज यितव्याः एष धर्मः ध्रुवः नित्यः शाश्वतः समेत्य लोकं खेदज्ञैः प्रवेदितः एवं स भिक्षुर्विरतः प्राणातिपातात् यावत् परिग्रहात्, नो

अन्वयार्थ—चाहिये। (से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवं माइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति) इसलिये मैं (सुधर्मा स्वामी) कहता हूँ कि—जो तीर्थंकर हो चुके हैं और जो इस समय विद्यमान हैं एवं जो भविष्य काल में होंगे वे सभी ऐसा ही उपदेश करते हैं ऐसा ही भाषण करते हैं ऐसा ही आदेश करते हैं ऐसी ही प्ररूपणा करते हैं। (सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा) वे कहते हैं कि किसी प्राणी को मत मारो, बलात्कार से उनको आज्ञा न दो बलात्कार से उनको दासी दास आदि न बनाओ उन्हें ताप न दो, उन पर कोई उपद्रव न करो। (एस धम्मे धुवे णीतिए सासए) यही धर्म ध्रुव है यही नित्य है यही सदा स्थिर रहने वाला है। (लोगं समिच्च खेयण्णेहिं पवेइए) समस्त लोक को केवल ज्ञान के द्वारा जान कर श्री तीर्थंकरों ने यह धर्म कहा है। (एवं पाणातिवायातो जाव परिग्गहातो विरते से भिक्खू दंतपक्खालणेणं णो दंते

भावार्थ—तथा बलात्कार से दासी दास आदि बना कर आज्ञा पालन कराने से दुःख अनुभव करते होंगे ? अतः किसी भी प्राणी को मारना पीड़ा देना तथा बलात्कार पूर्वक उसे दासी दास आदि बनाना उचित नहीं है"। जो पुरुष इस उत्तम विज्ञान के कारण पृथिवी, जल, तेज, वायु वनस्पति

जे इमे तसथावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारंभइ णो वऽण्णेहिं समारंभावेंति अन्ने समारभंतेवि न समणुजाणंति इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खू ॥ जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिण्हंति णो अन्नेणं परिगिण्हावेंति अन्नं परिगिण्हंतंपि ण समणुजाणंति इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से

छाया—भवन्ति तान् न स्वयं समारभते नाऽन्यैः समारम्भयति अन्यान् समारभतो वा न समनुजानाति इति स महतः आदानाद् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः स भिक्षुः। ये इमे कामभोगाः सचित्ता वा अचित्ता वा तान् न स्वयं प्रतिगृह्णाति नाऽप्यन्येन प्रतिग्राहयति अन्यमपि प्रतिगृह्णन्तं न समनुजानाति इति स महतः आदानात् उपशान्तः उप-

अन्वयार्थ—है वह उत्तम संयम में उपस्थित है वह सब पापों से निवृत्त है (जे इमे तसथावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारंभइ णो वाऽण्णेहिं समारंभावेंति अन्ने समारभंतेवि ण समनुजाणति) वह साधु त्रस और स्थावर प्राणियों का स्वयं आरम्भ नहीं करता है और दूसरे के द्वारा आरम्भ नहीं कराता है तथा आरम्भ करते हुए को अच्छा नहीं जानता है (इति से भिक्खू महतो आयाणाओ उवसते उवट्ठिए पडिविरते) इस कारण वह साधु महान् कर्मबन्धन से मुक्त हो गया है और शुद्ध संयम में उपस्थित तथा पाप से निवृत्त है । (जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिह्गति णो अन्नेणं परिगिह्णावेंति अन्न परिगिह्णतंपि ण समणुजाणंति) वह साधु सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के कामभोगों को स्वयं ग्रहण नहीं करता है और दूसरे के द्वारा ग्रहण नहीं कराता है तथा ग्रहण करते हुए पुरुष को अच्छा नहीं मानता है (इति से भिक्खू महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते) इसलिये वह साधु महान् कर्म बन्धन से मुक्त हो गया है तथा शुद्ध संयम मे उपस्थित और पाप से निवृत्त है । (ज पि य इम सपराइयं कम्मं कज्जइ णो

भावार्थ—और विरेचन नहीं करते हैं तथा वे अपने वस्त्रों को धूप आदि के द्वारा सुगन्धित नहीं करते हैं एवं खाँसी आदि रोगों की निवृत्ति के लिये धूम्र पान नहीं करते हैं वे बेयालीस दोषों को त्याग कर शुद्ध आहार ही ग्रहण करते हैं वह आहार भी केवल संयम शरीर के निर्वाह मात्र के लिये

वसवत्ती सिद्धे वा अदुक्खमसुभे एत्थवि सिया एत्थवि णो सिया॥ से भिक्खू सद्देहिं अमुच्छिए रूवेहिं अमुच्छिए गंधेहिं अमुच्छिए रसेहिं अमुच्छिए फासेहिं अमुच्छिए विरए कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुन्नाओ परपरिवायाओ अरइरईओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ इति से महतो आयाणाओ उवसते उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खू॥

छाया—अशुभोवा अत्राऽपि स्यादत्राऽपि न स्यात् । स भिक्षु शब्देषु अमूर्च्छित रूपेषु अमूर्च्छित गन्धेषु अमूर्च्छित रसेषु अमूर्च्छितः स्पर्शेषु अमूर्च्छित विरतः क्रोधात् मानात् मायायाः लोभात् प्रेम्णः द्वेषात् कलहात् अभ्याख्यानात् पैशून्यात् परपरीवादात् अरतिरतिभ्याम्, मायामृषाभ्याम् मिथ्यादर्शनशल्यात् इति स महत आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः स भिक्षु, ये इमे त्रसस्थावराः प्राणा

अन्वयार्थ—मुझको शरीर छोड़ने के पश्चात् परलोक में देवादि प्राप्त हों"। (कामभोगावशवत्ती सिद्धे वा अदुक्खमसुभे) पूर्व सब काम भोग मेरे आधीन हों मैं अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त करूँ तथा सब दुःख और अशुभ कर्मों से मैं रहित होऊँ ऐसी कामना साधु न करे (एत्थवि सिया एत्थवि णो सिया) क्योंकि तप आदि के द्वारा कभी कामनाओं की प्राप्ति होती है और कभी नहीं भी होती है। (से भिक्खू सद्देहिं रूवेहिं गंधेहिं रसेहिं फासेहिं अमुच्छिए) इस प्रकार जो साधु मनोहर शब्द रूप गन्ध रस और स्पर्श में आसक्त न रहता हुआ (कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुन्नाओ परपरिवायाओ अरइरईओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ विरए) क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष कलह, दोषारोपण चुगली, परनिन्दा, संयम में अप्रीति असंयम में प्रीति, कपट, झूठ और मिथ्यादर्शनरूपी शल्य से निवृत्त रहता है (इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खू) वह, महान् कर्म के बन्धन से मुक्त हो तथा

भावार्थ—वर्तमान और भविष्य तीर्थङ्करों को यही धर्म अभीष्ट है वे छः प्रकार के प्राणियों को पीड़ा न देना ही धर्म का स्वरूप बतलाते हैं। इस धर्म की रक्षा के निमित्त साधु पुरुष दातौन आदि से अपने दाँतों को नहीं धोते हैं तथा शोभार्थ आँखों में अञ्जन नहीं लगाते हैं तथा दवा लेकर वमन

जे इमे तसथावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारंभइ णो वऽएणेहिं समारंभावेंति अन्ने समारभंतेवि न समणुजाणंति इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खू ॥ जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिएहंति णो अन्नेणं परिगिएहावेंति अन्नं परिगिएहंतंपि ण समणुजाणंति इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से

छाया—भवन्ति तान् न स्वयं समारभते नाऽन्यैः समारम्भयति अन्यान् समारभतो वा न समनुजानाति इति स महतः आदानाद् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः स भिक्षुः। ये इमे कामभोगाः सचित्ता वा अचित्ता वा तान् न स्वयं प्रतिगृह्णाति नाऽप्यन्येन प्रतिग्राहयति अन्यमपि प्रतिगृह्णन्तं न समनुजानाति इति स महतः आदानात् उपशान्तः उप-

अन्वयार्थ—है वह उत्तम संयम में उपस्थित है वह सब पापों से निवृत्त है (जे इमे तसथावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारभइ णो वाऽण्णेहिं समारभावेंति अन्ने समारभंतेवि ण समनुजाणंति) वह साधु त्रस और स्थावर प्राणियों का स्वयं आरम्भ नहीं करता है और दूसरे के द्वारा आरम्भ नहीं कराता है तथा आरम्भ करते हुए को अच्छा नहीं जानता है (इति से भिक्खू महतो आयाणाओ उवसते उवट्ठिए पडिविरते) इस कारण वह साधु महान् कर्मबन्धन से मुक्त हो गया है और शुद्ध संयम में उपस्थित तथा पाप से निवृत्त है । (जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सय परिगिहूणंति णो अन्नेण परिगिहूणावेंति अन्न परिगिहूणंतपि ण समणुजाणति) वह साधु सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के कामभोगों को स्वयं ग्रहण नहीं करता है और दूसरे के द्वारा ग्रहण नहीं कराता है तथा ग्रहण करते हुए पुरुष को अच्छा नहीं मानता है (इति से भिक्खू महतो आयागाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते) इसलिये वह साधु महान् कर्म बन्धन से मुक्त हो गया है तथा शुद्ध संयम मे उपस्थित और पाप से निवृत्त है। (जं पि य इम सपराइयं कम्मं कज्जइ णो

भावार्थ—और विरेचन नहीं करते हैं तथा वे अपने वस्त्रों को धूप आदि के द्वारा सुगन्धित नहीं करते हैं एवं खाँसी आदि रोगों की निवृत्ति के लिये धूम्र पान नहीं करते हैं वे बेयालीस दोषों को त्याग कर शुद्ध आहार ही ग्रहण करते हैं वह आहार भी केवल संयम शरीर के निर्वाह मात्र के लिये

भिक्खू ॥ जंपि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ, णो तं सयं करेति णो अण्णाणं कारवेति अन्नंपि करेंतं ण समणुजाणइ इति, से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥ से भिक्खू जाणेज्जा असणं वा ४ अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छिज्जं अ[illegible] ७ आहट्टुद्देसियं तं चेतियं सिया तं

णो सयं भुंजइ णो अण्णेणं भुंजावेति अन्नंपि भुंजंतं ण समणुजाणइ इति, से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥ से भिक्खू अह पुणेवं जाणेज्जा तं विज्जति तेसिं परक्कमे जस्सट्ठा ते वेइयं सिया, तंजहा—अप्पणो पुत्ता इणट्ठाए जाव आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए पायरासाए संणिहिसंणिचओ किज्जइ इह एतेसिं माणवाणं भोयणाए तत्थ भिक्खू परकडं परणिट्ठितमुग्गमुप्पायणेसणासुद्धं

छाया—दत्तं स्यात् तन्नो भुञ्जीत नाऽन्येन भोजयेत् अन्यमपि भुञ्जानं न समनुजानीयात् इति स महतः आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः । स भिक्षुरथपुनरेवं जानीयात् तद् विद्यते तेषां पराक्रमे यदर्थाय ते इमे स्युः तद्यथा आत्मनः पुत्राद्यर्थाय यावदादेशाय पृथक् प्रग्रहणार्थं श्यामाशाय मातराशाय सन्निधिसंनिचयः क्रियते इह एतेषां मानवानां भोजनाय तत्र भिक्षुः परकृतं परनि-

अन्वयार्थ—जाय तो साधु उसे स्वयं न खावे (णो अण्णेणं भुंजावेंति अण्णपि भुंजतं णो समणुजाणइ) दूसरे को भी न खिलावे तथा ऐसा आहार खाने वाले को वह अच्छा न जाने (इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए) साधु ऐसे आहार का त्याग करता है इसलिये वह महान् कर्मबन्ध से मुक्त है तथा शुद्ध संयम में उपस्थित और पाप से निवृत्त है। (से भिक्खू अह पुणेवं जाणेज्जा) वह साधु यदि यह जाने कि—(जस्सट्ठा ते वेइय सिया) गृहस्थ ने जिनके लिये आहार बनाया है वे साधु नहीं किन्तु दूसरे हैं (तंजहा—अप्पणो पुत्ताण जाव आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए संणिहिसंणिचयो किज्जइ इह एतेसि माणवाणं भोयणाए) जैसे कि—अपने लिये अपने पुत्र के लिये अथवा अतिथि के लिये या किसी दूसरे स्थान पर भेजने के लिये, या रात्रि में खाने के लिये या सुबह में खाने के लिये गृहस्थ ने आहार बनाया है अथवा इस लोक में जो दूसरे मनुष्य हैं उनके लिये उसने आहार का सञ्चय किया है" (तत्थ भिक्खू

भावार्थ—आहार विहार आदि सभी उपयोग के साथ ही होते हैं अन्यथा नहीं होते हैं। वे अठारह प्रकार के पापों से सर्वथा निवृत्त होकर ज्ञान दर्शन और

सत्थाईय सत्थपरिणामिय अविहिंसिय एसिय वेसिय सामुयाणिय पत्तमसण कारणट्ठा पमाणजुत्त अक्खोवंजणवण लेवणभूय संजमजायामायावत्तिय बिलमिव पन्नगभूतेण अप्पाणेण आहार आहारेज्जा अन्न अन्नकाले पाण पाणकाले वत्थ वत्थकाले लेण लेणकाले सयण सयणकाले ॥ से भिक्खू आयसे

छाया—छिन्न उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धं शस्त्रातीतं शस्त्रपरिणामितम् अविहिंसितम् एषितं वैषिकं सामुदानिकं प्राप्तमशनं कारणार्थाय प्रमाणयुक्तम् अक्षोपाञ्जनव्रणलेपनभूतं संयमयात्रामात्रावर्तिकं बिलमिव पन्नग भूतेनाऽऽत्मना आहारमाहरेत् । अन्नमन्नकाले पानं पानकाले वस्त्रं वस्त्रकाले लयनं लयनकाले शयनं शयनकाले, स भिक्षुः मोपाधः

अन्वयार्थ—परकडं परनिट्ठियं उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थाईयं सत्थपरिणामियं अविहिंसियं एसियं वेसियं सामुयाणियं पत्तं असणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजणवणलेवण भूयं संजमजायामायावत्तियं बिलमिव पन्नगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा) वो साधु दूसरे के द्वारा और दूसरे के लिये किए हुए, उद्गम उत्पाद और एषणा दोष से रहित होने के कारण शुद्ध, अग्नि आदि शस्त्र के द्वारा अचित्त किए हुए एवं अग्नि आदि शस्त्रों से अत्यन्त निर्जीव किये हुए, भिक्षाचरी वृत्ति से प्राप्त तथा साधु के वेषमात्र से मिले हुए, मधुकरी वृत्ति से मिले हुए, गीतार्थ साधु के द्वारा लिये हुए एवं व्यावच आदि कारणों से लिये हुए, तथा प्रमाण के अनुकूल एवं गाड़ी को चलाने के लिये उसके धुरे पर दिये जाने वाले तेल तथा घाव पर लगाये जाने वाले लेप के समान केवल संयम के निर्वाहार्थ लिये हुए अथवा प्राण धारण मात्र के लिये आहार को बिल में प्रवेश करते हुए सांप के समान स्वाद लिये बिना ही भोजन करे। (अन्नं अन्नकाले पाणं पाणकाले वत्थं वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले) इस प्रकार वो साधु अन्न के समय में अन्न को और पान के समय में पान को वस्त्र के समय में वस्त्र को मकान के समय में मकान को और सोने के समय में शय्या को ग्रहण करता है (से भिक्खू आयसे) वह

भावार्थ—चरित्र की आराधना करते हैं। वे तप और ब्रह्मचर्य पालन आदि क्रियायें अपने कर्मों के क्षय के लिये ही करते हैं परलोक में या इस

अन्नयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्टिएसु वा अणुवट्टिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए, संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणाति वातियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं जाव सत्ताणं अणुवाइं किट्टए धम्मं ॥ से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्म-माइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो वत्थस्स

छाया—अन्यतरां दिश मनुदिशं वा प्रतिपन्नः धर्ममाख्यापयेद् विभजेत् कीर्त्तयेत् । उपस्थितेषु वा अनुपस्थितेषु वा शुश्रूषमाणेषु प्रवेदयेत् शान्ति विरतिम् उपशमं निर्वाणं शौचम् आर्जवं मार्द्दवं लाघवम् अनतिपातिकं सर्वेषां प्राणानां सर्वेषां भूतानां यावत् सत्त्वाना मनुविचिन्त्य कीर्त्तयेद् धर्मम् । स भिक्षुः धर्मं कीर्त्तयन् नो अन्नस्य हेतोः धर्म माचक्षीत नो पानकस्य हेतोः धर्ममाचक्षीत नो वस्त्रस्य हेतोः धर्म माचक्षीत नो लयनस्य हेतोः धर्ममाचक्षीत नो शयनस्य हेतोः

अन्वयार्थ—साधु धर्म को जानने वाला है (अन्नयरं दिसं अनुदिसं वा पडिवन्ने धम्म आइक्खेज्जा) वह किसी दिसा विदिशा से आकर धर्म का उपदेश करे। (विभए किट्टे) वह धर्म की व्याख्या करे तथा उपदेश करे (उवट्टिएसु अणुवट्टिएसु सुस्सुसमाणेसु पवेदए) वह साधु, धर्म सुनने की इच्छा से अच्छी तरह उपस्थित अथवा कौतुक आदि से उपस्थित पुरुषों को धर्म का उपदेश करे। (संतिविरइ उवसम निव्वाणं सोयविहिं अज्जविय मद्दविय लाघविय अणतिवातिय सव्वेसिं पाणाण सव्वेसिं भूताण जाव सत्ताणं अणुवाइ धम्म किट्टए) वह साधु शान्ति, वैराग्य, इन्द्रियनिग्रह, मोक्ष शौच, सरलता, मृदुता, कर्म की लघुता, प्राणियों की अहिंसा, आदि धर्म का उपदेश करता हुआ समस्त प्राणियों का कल्याण विचार कर उपदेश करे। (से भिक्खू धम्म किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउ धम्ममाइक्खेज्जा णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा णो

भावार्थ—लोक मे उनका फल स्वरूप सुख प्राप्ति की इच्छा से नहीं करते हैं। वे इस लोक तथा परलोक के सुखों की तृष्णा से रहित परम वैराग्य सम्पन्न होते हैं। वे जगत् के कल्याण के लिये अहिंसामय धर्म का उपदेश करते हैं। वे धर्मोपदेश के द्वारा लोक कल्याण के सिवाय किसी दूसरी वस्तु

सत्थाईयं सत्थपरिणामियं अविहिंसियं एसियं वेसियं सामुदाणियं पन्नमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजणवणलेवणभूयं संजमजायामायावत्तियं बिलमिव पन्नगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा अन्नं अन्नकाले पाणं पाणकाले वत्थं वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले ॥ से भिक्खू मायन्ने

छाया—हित उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धं शस्त्रातीतं शस्त्रपरिणामितम् अविहिंसितम् एषितं वैषिकं सामुदानिकं प्राज्ञमशनं कारणार्थाय प्रमाणयुक्तम् अक्षोपाञ्जनव्रणलेपनभूतं संयमयात्रामात्रावृत्तिकं बिलमिव पन्नगभूतेनाऽऽत्मना आहारमाहरेत् । अन्नमन्नकाले पानं पानकाले वस्त्रं वस्त्रकाले लयनं लयनकाले शयनं शयनकाले, स भिक्षुः मात्राज्ञः

अन्वयार्थ—(परकडं परनिट्ठितं उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थाईयं सत्थपरिणामियं अविहिंसियं एसियं वेसियं सामुदाणियं पन्नं असणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजणवणलेवणभूयं संजमजायामायावत्तियं बिलमिव पन्नगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा) जो साधु दूसरे के द्वारा और दूसरे के लिये किए हुए, उद्गम उत्पाद और एषणा दोष से रहित होने के कारण शुद्ध, अग्नि आदि शस्त्र के द्वारा अचित्त किए हुए एवं अग्नि आदि शस्त्रों से अत्यन्त निर्जीव किये हुए, भिक्षाचरी वृत्ति से प्राप्त तथा साधु के वेषमात्र से मिले हुए, मधुकरी वृत्ति से मिले हुए, गीतार्थ साधु के द्वारा लिये हुए एवं व्याधि आदि कारणों से लिये हुए, तथा प्रमाण के अनुकूल एवं गाड़ी को चलाने के लिये उसके धुरे पर दिये जाने वाले तेल तथा घाव पर लगाये जाने वाले लेप के समान केवल संयम के निर्वाहार्थ लिये हुए अशन पान खाद्य स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार को बिल में प्रवेश करते हुए साँप के समान स्वाद लिये बिना ही भोजन करे। (अन्नं अन्नकाले पाणं पाणकाले वत्थं वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले) इस प्रकार वो साधु अन्न के समय में अन्न को और पान के समय में पान को वस्त्र के समय में वस्त्र को मकान के समय में मकान को और सोने के समय में शय्या को ग्रहण करता है (से भिक्खू मायन्ने) वह

भावार्थ—चारित्र की आराधना करते हैं। वे तप और ब्रह्मचर्य पालन आदि क्रियायें अपने कर्मों के क्षय के लिये ही करते हैं परलोक में या इस

अन्नयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए, संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं जाव सत्ताणं अणुवाइं किट्टए धम्मं ॥ से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो वत्थस्स

छाया—अन्यतरां दिश मनुदिशं वा प्रतिपन्नः धर्ममाख्यापयेद् विभजेत् कीर्त्तयेत् । उपस्थितेषु वा अनुपस्थितेषु वा शुश्रूषमाणेषु प्रवेदयेत् शान्तिं विरतिम् उपशमं निर्वाणं शौचम् आर्जवं मार्दवं लाघवम् अनतिपातिकं सर्वेषां प्राणानां सर्वेषां भूतानां यावत् सत्त्वाना मनुविचिन्त्य कीर्त्तयेद् धर्मम् । स भिक्षुः धर्मं कीर्त्तयन् नो अन्नस्य हेतोः धर्म माचक्षीत नो पानकस्य हेतोः धर्ममाचक्षीत नो वस्त्रस्य हेतोः धर्म माचक्षीत नो लयनस्य हेतोः धर्ममाचक्षीत नो शयनस्य हेतोः

अन्वयार्थ—साधु धर्म को जानने वाला है (अन्नयरं दिस अनुदिस वा पडिवन्ने धम्म आइक्खेज्जा) वह किसी दिसा विदिशा से आकर धर्म का उपदेश करे। (विभए किट्टे) वह धर्म की व्याख्या करे तथा उपदेश करे (उवट्ठिएसु अणुवट्ठिएसु सुस्सुसमाणेसु पवेदए) वह साधु, धर्म सुनने की इच्छा से अच्छी तरह उपस्थित अथवा कौतुक आदि से उपस्थित पुरुषों को धर्म का उपदेश करे। (सतिविरइ उवसम निव्वाणं सोयविहिं अज्जवियं मद्दवियं लाघविय अणतिवातिय सव्वेसि पाणाण सव्वेसिं भूताण जाव सत्ताणं अणुवाइ धम्म किट्टए) वह साधु शान्ति, वैराग्य, इन्द्रियनिग्रह, मोक्ष शौच, सरलता, मृदुता, कर्म की लघुता, प्राणियों की अहिंसा, आदि धर्म का उपदेश करता हुआ समस्त प्राणियों का कल्याण विचार कर उपदेश करे। (से भिक्खू धम्म किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउ धम्ममाइक्खेज्जा णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा णो

भावार्थ—लोक मे उनका फल स्वरूप सुख प्राप्ति की इच्छा से नहीं करते हैं। वे इस लोक तथा परलोक के सुखों की तृष्णा से रहित परम वैराग्य सम्पन्न होते हैं। वे जगत् के कल्याण के लिये अहिंसामय धर्म का उपदेश करते हैं। वे धर्मोपदेश के द्वारा लोक कल्याण के सिवाय किसी दूसरी वस्तु

हेउ धम्ममाइक्खेज्जा, णो जेणस्स हेउ धम्ममाइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेऊ धम्म माइक्खेज्जा णो अन्नेसिं विरूवरूवाण काम भोगाण हेउ धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, नमत्थ कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा ॥ इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्म सोच्चा णिसम्म उट्ठाणेण उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया जे तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्म सोच्चा णिसम्म सम्म उट्ठाणेण उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया ते एव सव्वोवगता

छाया— धर्ममाचक्षीत नो अन्येषां विरूपरूपाणां कामभोगानां हेतवे धर्ममाचक्षीत अग्लानः धर्ममाचक्षीत, नाऽन्यत्र कर्मनिर्जरार्थाद् धर्ममाचक्षीत । इह खलु तस्य भिक्षोरन्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य उत्थानेनोत्थाय वीराः अस्मिन् धर्मे समुत्थिताः ते एवं सर्वोप

अन्वयार्थ—(अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा णो जेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा णो अन्नेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा) इस प्रकार धर्म का कीर्तन करता हुआ वह साधु अन्न पान, वस्त्र मकान शय्या तथा दूसरे अनेक काम भोगों की प्राप्ति के लिये धर्म का कथन न करे (अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा) वह प्रसन्न चित्त होकर धर्म का उपदेश करे और कर्मों की निर्जरा के सिवाय दूसरे फल की प्राप्ति की इच्छा से धर्मोपदेश न करे । (इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्म सोच्चा णिसम्म उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया) इस जगत् में उस साधु से धर्म को सुन कर और समझ कर धर्माचरण करने के लिये उद्यत वीर पुरुष इस आर्हत धर्म में उपस्थित होते हैं। (जे तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया ते एव सव्वोवगता) जो वीर पुरुष उस साधु से धर्म को सुनकर और समझ कर धर्माचरण करने के लिये तत्पर होते हुए इस आर्हत धर्म में उपस्थित होते हैं वे मोक्ष के सब कारणों को प्राप्त करते हैं

भावार्थ—की इच्छा नहीं करते हैं। ऐसे पुरुषों के द्वारा किये हुए उपदेशों को सुनने और समझ कर उसके आचरण करने से ही जीव कल्याण का भाजन हो सकता है अतः यह पुरुष ही पूर्वोक्त पुष्करिणी के कमल को

ते एवं सव्वोवरता ते एवं सव्वोवसंता ते एवं सव्वत्ताए परिनिव्वुडत्ति बेमि ॥ एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविऊ णियाग-पडिवण्णे से जहेयं बुतियं अदुवा पत्ते पउमवरपोंडरीयं अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, एवं से भिक्खू परिण्णायकम्मे परिण्णाय-संगे परिण्णायगेहवासे उवसंते समिए सहिए सया जए, सेवं वयणिज्जे, तंजहा—समणेति वा माहणेति वा खंतेति वा दंतेति

छाया—शान्ताः ते एवं सर्वोपगताः ते एवं सर्वात्मतया परिनिर्वृत्ता इति ब्रवीमि। एवं स भिक्षुः धर्मार्थी धर्मविद् नियागप्रतिपन्नः तद् यथेद मुक्तम्। अथवा प्राप्तः पद्मवरपुण्डरीकम् अथवा अप्राप्तः पद्मवरपुण्ड-रीकम् एवं स भिक्षुः परिज्ञातकर्मा परिज्ञातसङ्गः परिज्ञातगृहवासः उपशान्तः समितः सहितः सदा यतः स एवं वचनीयः तद्यथा श्रमण इति वा माहन इति वा क्षान्त इति वा दान्त इति वा गुप्त इति वा मुक्त

अन्वयार्थ—(ते एव सव्वोवरता ते एव सव्वोवसता ते एव सव्वत्ताए परिनिव्वुडत्ति बेमि) वे सब पापों से निवृत्त होते हैं, वे सर्वथा शान्त एव सब प्रकार से कर्मों का क्षय करते हैं यह मैं कहता हूँ। (एव से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवन्ने से जहेय बुतिय अदुवा पत्ते पउमवरपोंडरीय अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं) इस प्रकार धर्म से प्रयोजन रखने वाला, धर्म को जानने वाला शुद्ध सयम को प्राप्त किया हुआ वह साधु पूर्वोक्त पुरुषों में से पांचवां पुरुष है, वह चाहे उस उत्तम श्वेत कमल को प्राप्त करे या न करे, वही सबसे श्रेष्ठ है। (एव से भिक्खू परिण्णाय कम्मे परिण्णायसगे परिण्णायगेहवासे उवसते समिए सहिए सया जए से एवं वयणिज्जे) इस प्रकार कर्म के रहस्य को, बाह्य तथा आभ्यन्तर दो प्रकार के सबधों को और गृहवास के मर्म को जो जानने वाला है और जितेन्द्रिय समिति सम्पन्न एव ज्ञान आदि गुणों से युक्त होकर सदा सयम में प्रवृत्त रहता है उसको इस तरह कहना चाहिये (तं जहा—समणेति वा माहणेति वा खतेति वा दंतेति वा गुत्ते

भावार्थ—निकालने वाले पुरुषों में से पाँचवाँ पुरुष है। यही पुरुष शुद्ध धर्म का अनुष्ठान करके स्वयं भवसागर को पार करता है और धर्मोपदेश के

वा गुत्तेति वा मुत्तेति वा इसीति वा मुणीति वा कतीति वा विऊति वा भिक्खूति वा लूहेति वा तीरट्ठीति वा चरणकरणपारविउत्ति बेमि॥ (सूत्र १५)

छाया—इति वा ऋषिरिति वा मुनिरिति वा कृती इति वा विद्वान् इति वा भिक्षुरिति वा रूक्ष इति वा तीरार्थी इति वा चरणकरणपारविद् इति वा।

अन्वयार्थ—(ति वा मुत्तेति वा इसीति वा मुणीति वा कतीति वा विऊति वा भिक्खूति वा लूहेति वा तीरट्ठीतिवा चरणकरणपारविउत्तिवा) जैसे कि—यह श्रमण है वा माहण है अथवा यह शान्त है दान्त है गुप्त है मुक्त है ऋषि है मुनि है कृती है विद्वान है भिक्षु है, रूक्ष है तीरार्थी है तथा मूल गुण और उत्तर गुण के पार को जानने वाला है ॥ १५

भावार्थ—उत्त दूसरे को भी मुक्ति देता है। ऐसे पुरुष को ही श्रमण माहन जितेन्द्रिय ऋषि, मुनि, आदि शब्दों से विभूषित करना चाहिये ॥ १५ ॥

॥ पहला अध्ययन समाप्त ॥



॥ ओ३म् ॥

श्री सूत्र कृताङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का

द्वितीय अध्ययन



प्रथम अध्ययन की व्याख्या करने के पश्चात् दूसरे अध्ययन का अनुवाद आरम्भ किया जाता है। प्रथम अध्ययन मे पुष्करिणी और पुण्डरीक का दृष्टान्त देकर यह समझाया है कि—"मोक्ष प्राप्ति के सम्यक् उपाय को न जानने वाले परतीर्थी कर्मबन्धन से मुक्त नहीं होते किन्तु सम्यक् श्रद्धा से पवित्र हृदय वाले रागद्वेष रहित, विषयों से दूरवर्ती उत्तम साधु ही कर्म बन्धन को तोड कर मोक्ष पद के भाजन होते हैं तथा अपने सदुपदेश के द्वारा वे ही दूसरे को भी मुक्ति का अधिकारी बनाते हैं" अब यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—"जीव किन कारणों से कर्म बन्धन का भागी होता है और वह क्या करके कर्म बन्धन से मुक्त होता है ?" इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए इस दूसरे अध्ययन की रचना हुई है। इस अध्ययन मे बारह प्रकार के क्रिया स्थानो से बन्धन और तेरहवे क्रिया स्थान से मुक्ति बताई है। यद्यपि बन्धन और मुक्ति के कारणों की चर्चा पहले भी कई बार की जा चुकी है तथापि सामान्य रूप से ही की है विशेष रूप से नहीं अत प्रधान रूप से इनका विवेचन करने के लिए इस अध्ययन का निर्माण हुआ है।

इस अध्ययन में कहा गया है कि—जो पुरुष अपने कर्मों को क्षपण करने की इच्छा करता है वह बारह प्रकार के क्रिया स्थानों को पहले जान लेवे और पीछे उनका त्याग कर दे। जो पुरुष ऐसा करता है वह अवश्य अपने कर्मों को क्षपण करके मुक्ति का अधिकारी होता है। इस प्रकार इस अध्ययन मे क्रिया स्थानों का वर्णन किया है इसलिए इसका नाम 'क्रियास्थानाध्ययन' है।

इस अध्ययन के उक्त नाम मे क्रिया पद आया है इसलिये सक्षेपत क्रिया का कुछ विवेचन किया जाता है। हिलना, चलना और कम्पन आदि व्यापार करना क्रिया

१२

शब्द का अर्थ है। इसके दो भेद हैं एक द्रव्य क्रिया और दूसरा भाव क्रिया। घट पट आदि द्रव्यों का जो हिलना चलना या कम्पन आदि है वह द्रव्य क्रिया है इसी तरह चेतन पदार्थों का भी हिलना, चलना और कम्पन आदि द्रव्य क्रिया है। कोई क्रिया प्रयोग करने से होती है और कोई प्रयोग के बिना ही शब्दा आदि कारणों से होती है एवं कोई क्रिया उपयोग के साथ की जाती है और कोई उपयोग के बिना ही की जाती है। इस प्रकार चली क्रिया से ले कर पलक मारने तक की क्रियायें द्रव्य क्रिया कहलाती हैं। भाव क्रिया आठ प्रकार की होती है, जैसे कि—(१) प्रयोग क्रिया (२) उपाय क्रिया (३) करणीय क्रिया (४) समुदान क्रिया (५) ईर्य्यापथक्रिया (६) सम्यक्त्व क्रिया (७) सम्यक् मिथ्यात्व क्रिया (८) मिथ्यात्व क्रिया। इनमें पहली प्रयोग क्रिया तीन प्रकार की है (१) मनप्रयोगक्रिया (२) कायप्रयोगक्रिया और वचनप्रयोगक्रिया। मनोद्रव्य जिस क्रिया के द्वारा चलायमान होकर आत्मा के उपयोग का साधन बनता है उसे (मनप्रयोगक्रिया) कहते हैं। कायप्रयोगक्रिया और वचनप्रयोगक्रिया की व्याख्या भी इसी तरह करनी चाहिये परन्तु यहां विशेष यह है कि वचन प्रयोग क्रिया में मनप्रयोगक्रिया और कायप्रयोगक्रिया दोनों ही विद्यमान होती हैं क्योंकि—शब्द उच्चारण करते समय शरीर से पुद्गलोंका ग्रहण और वाणी से उनका उच्चारण किया जाता है अतः उस में मन शरीर और वाणी इन तीनों का व्यापार होता है। चलना फिरना आदि क्रियायें शरीर की ही हैं मन और वाणी की नहीं। जिन उपायों के द्वारा घट पट आदि पदार्थ निर्माण किये जाते हैं उन उपायों का प्रयोग करना उपाय क्रिया है जैसे घट बनाने के लिए मिट्टी खोदना उसे जल के द्वारा भींगोकर पिण्ड बनाना और चाक पर उसे चढ़ाना इत्यादि। जो वस्तु जिस तरह की जानी चाहिये उसे उसी तरह करना करणीय क्रिया है। जैसे घट मिट्टी से ही किया जा सकता है पत्थर या रेती आदि से नहीं अतः घट को मिट्टी से ही बनाना करणीय क्रिया है।

समुदायरूप में स्थित जिस क्रिया को ग्रहण करके जीव प्रकृति स्थिति, अनुभाव और प्रदेश रूप से अपने अन्दर स्थापित करता है उसे समुदानक्रिया कहते हैं यह क्रिया प्रथम गुण स्थान से लेकर दशम गुणस्थानपर्य्यन्त रहती है।

जो क्रिया उपशान्त मोह से लेकर सूक्ष्म सम्पराय तक रहती है वह ईर्य्या पथ क्रिया है। जिस क्रिया के द्वारा जीव सम्यग् दर्शन के योग्य ७७ कर्म प्रकृतियों को बाँधता है। उसे सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं। जिस क्रिया के द्वारा प्राणी सम्यक् और मिथ्यात्व इन दोनों के योग्य कर्म प्रकृतियों को बाँधता है उसे सम्यङ् मिथ्यात्व क्रिया कहते हैं। तीर्थङ्कर आहारक शरीर और उसके आङ्गोपाङ्ग इन तीन पदार्थों को छोड़ कर १२० प्रकृतियों को जिस क्रिया के द्वारा जीव बाँधता है उसे मिथ्यात्व क्रिया कहते हैं।

इन क्रियाओं का जो स्थान है उसे क्रिया स्थान कहते है इसी क्रियास्थान का इस अध्ययन मे वर्णन है। अब मूल सूत्र लिख कर उसकी व्याख्या की जाती है।



सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु किरिया ठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते, तस्स णं अयमट्ठे इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणे एवमाहिज्जंति, तंजहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव उवसंते चेव अणुवसंते चेव ॥ तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्म पक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते, इह खलु पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया

छाया—श्रुतं मया आयुष्मता तेन भगवतैवमाख्यातम् इह खलु क्रियास्थानं नामाध्ययनं प्रज्ञप्तं तस्यायमर्थः । इह खलु सामान्येन द्वे स्थाने एवमाख्यायेते तद्यथा—धर्मश्चैव अधर्मश्चैव उपशान्तश्चैव अनुपशान्तश्चैव । तत्र योऽसौ प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभङ्गः तस्याऽयमर्थः प्रज्ञप्तः । इह खलु प्राच्यां वा ६ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति तद्यथा—आर्य्या एके अनार्य्या एके उच्चगोत्रा एके नीच

अन्वयार्थ—(आउसंतेण भगवया एव मक्खायं मे सुयं) हे आयुष्मन् ! उस आयुष्मान् भगवान् महावीर स्वामी ने इस प्रकार कहा था, मैंने सुना है (इह खलु किरियाठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते तस्स णं अयमट्ठे) इस जैन शासन में क्रियास्थान नामक अध्ययन कहा गया है उसका अर्थ यह है—(इह खलु संजूहेण दुवे ठाणे पण्णत्ते एवं आहिज्जंति तंजहा-धम्मे चेव अधम्मे चेव उवसंते चेव अणुवसंते चेव) इस लोक में संक्षेप से दो स्थान बताये जाते हैं एक धर्मस्थान और दूसरा अधर्मस्थान एवं एक उपशान्तस्थान और दूसरा अनुपशान्तस्थान । (तत्थ जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते) इन दोनों स्थानों के मध्य में पहला स्थान अधर्म पक्ष का जो विभाग है उसका अभिप्राय यह है—(इह खलु पाईणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति) इस लोक में पूर्व आदि दिशाओं में अनेकविध मनुष्य निवास करते हैं (तंजहा-आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे

भावार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि—मैं तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के उपदेशानुसार क्रियास्थान नामक अध्ययन का उपदेश करता हूँ—इस जगत् में कोई प्राणी धर्म स्थान में निवास करते हैं और कोई अधर्म स्थान में रहते हैं । कोई भी क्रियावान् प्राणी इन दोनों स्थानों से अलग नहीं है इनमें पहला स्थान उपशान्त और दूसरा शान्तिरहित है । जिसका पूर्वकृत शुभ कर्म उदय को प्राप्त है व भक्ति-

वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवण्णा वेगे दुव्वण्णा वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे ॥ तेसिं च णं इमं एतारूवं दंडसमादाणं संपेहाए तंजहा—णेरइएसु वा तिरिक्खजोणिएसु वा मणुस्सेसु वा देवेसु वा जे जावन्ने तहप्पगारा पाणा विन्नू वेयणं वेयंति ॥ तेसि पि य णं इमाइं तेरस किरिया-ठाणाइं भवंतीतिमक्खायं, तंजहा—अट्ठादंडे १ अणट्ठादंडे २

छाया—गोत्रा एके कायवन्त एके हस्ववन्त एके सुवर्णा एके दुर्वर्णा एके सुरूपा एके दूरूपा एके तेषाञ्चेदमेतद्रूपं दण्डसमादानं सम्प्रेक्ष्य तद्यथा—नैरयिकेषु वा तिर्य्यग्योनिकेषु वा मनुष्येषु वा देवेषु वा ये च यावन्तः तथाप्रकाराः प्राणाः विद्वांसः वेदनां वेदयन्ति तेषा-मपि च इमानि त्रयोदश क्रियास्थानानि भवन्तीत्याख्यातम् तद्यथा—अर्थदण्डः अनर्थदण्डः हिंसादण्डः अकस्माद्दण्डः दृष्टि

अन्वयार्थ—कायवंता वेगे हस्सवंता वेगे सुवण्णा वेगे दुव्वण्णा वेगे सुरूवा वेगे दुरुवा वेगे) जैसे कि—कोई आर्य कोई अनार्य कोई उच्चगोत्र मे उत्पन्न कोई नीच गोत्र में उत्पन्न कोई लम्बे कोई छोटे कोई उत्तम वर्णवाले कोई निकृष्ट वर्ण वाले कोई सुन्दर रूप वाले और कोई निकृष्ट रूप वाले मनुष्य होते हैं। (तेसिं च ण इम एतारूव दंडसमादाणं संपेहाए तंजहा-णेरइएसुवा तिरिक्खजोणिएसुवा मणुस्सेसुवा देवेसुवा जे जावन्ने तहप्प-गारा विन्नू वेयणं वेयंति तेसि पि य ण इमाइ तेरसकिरियाठाणाइ भवंतीति मक्खाय) उन मनुष्यों मे आगे कहे अनुसार पापकर्म करने का संकल्प होता है यह देखकर नारक तिर्य्यञ्च मनुष्य और देवताओं में जो समझदार प्राणी सुख दु ख अनुभव करते हैं उनमें तेरह प्रकार के क्रियास्थानों को श्री तीर्थङ्कर ने बतलाया है। (तंजहा—अट्ठादडे) जैसे कि अर्थदण्ड यानी अपने प्रयोजन के लिए पाप क्रिया करना, (अणट्ठादंडे) विना ही प्रयोजन पापक्रिया करना, (हिंसादडे) प्राणियों की हिंसा

भावार्थ—शाली पुरुष उपशान्त धर्मस्थान मे वर्तमान रहते हैं और उनसे भिन्न प्राणी अनुपशान्त अधर्मस्थान मे निवास करते हैं। इस जगत् मे सुख दु ख का ज्ञान और अनुभव करने वाले जितने प्राणी निवास करतेहैं उनमे तेरह प्रकार के क्रियास्थानों का वर्णन श्री तीर्थंकर देव ने किया है। वे तेरह क्रिया स्थान ये हैं—(१) (अर्थदण्ड) किसी प्रयोजन से पाप करना (२) (अनर्थदण्ड)

हिंसावडे ३ अकम्हावडे ४ दिट्ठीविपरियासियावडे ५ मोसवत्तिए ६ अदिन्नादाणवत्तिए ७ अज्झत्थवत्तिए ८ माणवत्तिए ९ मित्त दोसवत्तिए १० मायावत्तिए ११ लोभवत्तिए १२ इरियावहिए १३॥ (सूत्र १६)

छाया—विपर्य्यासदण्ड मृषा—प्रत्ययिक. अदत्तादानप्रत्ययिक अध्यात्म-प्रत्ययिक मानप्रत्ययिकः मित्रद्वेषप्रत्ययिक मायाप्रत्ययिक. लोभप्रत्ययिक ईर्य्याप्रत्ययिक ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—रूप पाप करना (अकम्हादंडे) दूसरे के अपराध से दूसरे को दण्ड देना (दिट्ठीविपरियासियादंडे) दृष्टि के दोष से पाप करना जैसे कि पत्थर का टुकड़ा जानकर बाण के द्वारा पक्षी का मारना। (मोसवत्तिए) मिथ्याभाषण के द्वारा पाप करना। (अदिन्नादाणवत्तिए) वस्तु के स्वामी के दिये बिना ही उसकी वस्तु को ले लेना यानी चोरी करना। (अज्झत्थवत्तिए) मन में बुरा चिन्तन करना। (माणवत्तिए) जाति आदि के गर्व के कारण दूसरे को अपने से नीच मानना। (मित्तदोसवत्तिए) मित्र से द्रोह करना। (मायावत्तिए) दूसरे को ठगना (लोभवत्तिए) लोभ करना (ईरियावहिए) पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पालन करने और सतत उपयोग रखने पर भी सामान्य रूप से कर्मबन्ध होना ॥ १६ ॥

भावार्थ—प्रयोजन के बिना ही पाप करना। (३) (हिंसा दण्ड), प्राणियों की हिंसा करना (४) (अकस्मात् दण्ड), दूसरे के अपराध से दूसरे को दण्ड देना (५) (दृष्टिविपर्य्यास दण्ड दृष्टि दोष से किसी प्राणी को पत्थर का टुकड़ा आदि जान कर मारना। (६) (मृषावादप्रत्ययिक) सच्ची बात को छिपाना और झूठी बात को स्थापित करना (७) (अदत्तादान) स्वामी के दिये बिना ही उसकी वस्तु को ले लेना (८) (अध्यात्मप्रत्ययिक) मन में बुरा विचार करना (९) (मानप्रत्ययिक) जाति आदि के गर्व से दूसरे को नीच दृष्टि से देखना। (१०) (मित्रद्वेषप्रत्ययिक) मित्र के साथ द्रोह करना (११) (मायाप्रत्ययिक) दूसरे को वञ्चन करना (१२) (लोभप्रत्ययिक) लोभ करना (१३) (ऐर्य्यापथिक) पाँच समिति और तीन गुप्तियों से गुप्त रहते हुए सर्वत्र उपयोग रखने पर भी चलने फिरने आदि के कारण सामान्य रूप से कर्मबन्ध होना। ये तेरह क्रिया स्थान हैं इन्हीं के द्वारा जीवों को कर्मबन्ध होता है, इनसे भिन्न कोई दूसरी क्रिया कर्मबन्ध का कारण नहीं है। इन्हीं तेरह क्रिया स्थानों में संसार के समस्त प्राणी हैं ॥ १६ ॥

पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा आगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहेउं वा भूतहेउं वा जक्खहेउं वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरिति अण्णेणवि णिसिरावेति अण्णंपि णिसिरंतं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिए॥ (सूत्रं १७)

छाया—प्रथमं दण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः आत्महेतोर्वा ज्ञातिहेतोर्वा अगारहेतोर्वा परिवारहेतोर्वा मित्रहेतोर्वा नागहेतोर्वा भूतहेतोर्वा यक्षहेतोर्वा तं दण्डं त्रसस्थावरेषु प्राणेषु स्वयमेव निसृजति अन्येनाऽपि निसर्जयति अन्यमपि निसृजन्तं समनुजानाति एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते प्रथमं दण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यातम्

अन्वयार्थ—(पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ) प्रथम क्रियास्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहलाता है (से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउ वा णाइहेउं वा अगारहेउ वा परिवारहेउ वा मित्तहेउ वा णागहेउं वा भूतहेउ वा जक्खहेउ वा त सयमेव तसथावरेहिं दंड णिसिरति) कोई पुरुष अपने लिये अथवा अपने ज्ञातिवर्ग, घर, परिवार, मित्र, नागकुमार, भूत और यक्ष के लिये स्वय त्रस और स्थावर प्राणियों को दंड देता है (अण्णेणवि णिसिरावेति अण्णवि णिसिरत समणुजाणइ एव खलु तस्स तप्पत्तिय सावज्जति आहिज्जइ) तथा दूसरे के द्वारा दण्ड दिलाता है एवं दण्ड देते हुए को अच्छा समझता है तो उसको उक्त क्रिया के कारण सावद्यकर्म का बन्ध होता है (पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिए) यह पहला क्रिया स्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहा गया ॥१७॥

भावार्थ—जो पुरुष अपने लिये अथवा अपने ज्ञाति परिवार मित्र घर देवता भूत और यक्ष आदि के लिये त्रस और स्थावर प्राणी का स्वयं घात करता है अथवा दूसरे से घात कराता है तथा घात करते हुए को अच्छा मानता है उसको प्रथम क्रियास्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक के अनुष्ठान का पापबन्ध होता है। यही प्रथम क्रियास्थान का स्वरूप है ॥१७॥

अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सोणियाए एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणिए अट्ठीए अट्ठिमंजाए णो हिंसिंसु मेत्ति णो हिंसंति मेत्ति णो हिंसिस्संति मेत्ति णो पुत्तपोसणाए णो

छाया—अथाऽपरं द्वितीयं क्रियास्थानमनर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते, तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः ये इमे त्रसाः प्राणाः भवन्ति तान् नो अर्चायै नो अजिनाय नो मांसाय नो शोणिताय एवं हृदयाय पित्ताय वसायै पिच्छाय पुच्छाय वालाय शृङ्गाय विषाणाय दन्ताय दंष्ट्रायै नखाय स्नायवे अस्थ्ने अस्थिमज्जायै, न अहिंसिषुर्ममेति न हिंसन्ति ममेति न हिंसिष्यन्ति ममेति न पुत्रपोषणाय न

अन्वयार्थ—(अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ) इसके पश्चात् दूसरा क्रियास्थान अनर्थदण्डप्रत्ययिक कहलाता है। (से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सोणियाए) जैसे कोई पुरुष ऐसा होता है कि वह त्रस प्राणियों को अपने शरीर की रक्षा के लिये चमड़े के लिये मांस के लिये रक्त के लिये नहीं मारता है (एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए) एवं हृदय के लिए पित्त चर्बी, पाँख पूँछ बाल सींग (विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणिए अट्ठीए अट्ठिमंजाए) तथा विषाण दांत दाढ नख नाड़ी हड्डी और हड्डी की मज्जा के लिये नहीं मारता है (णो हिंसिंसु मेत्ति णो हिंसंति मेत्ति णो हिंसिस्संति मेत्ति) तथा इसने मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है अथवा मार रहा है या मारेगा इसलिये नहीं मारता है (णो पुत्तपोसणाए णो पसुपोसणाए णो अगारपरिवूहणयाए) एवं पुत्र पोषण पशु

भावार्थ—इस जगत् में ऐसे भी पुरुष होते हैं जो बिना प्रयोजन ही प्राणियों का घात किया करते हैं उनको अनर्थ दण्ड देने का पाप बन्ध होता है। ऐसे पुरुष बड़ा मूर्ख हैं क्योंकि—जो अपने शरीर की रक्षा के लिये अथवा अपने पुत्र पशु आदि के पोषण लिये प्राणियों का घात नहीं करते किन्तु बिना प्रयोजन कौतुक के लिये प्राणिघात जैसा निन्दित कर्म करते हैं। ऐसे पुरुष

पसुपोसणयाए णो अगारपरिवूहणताए णो समणमाहणवत्तणाहेउं णो तस्स सरीरगस्स किंचि विप्परियादित्ता भवंति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे ॥ से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तंजहा–इक्कडा इ वा कडिणा इ वा जंतुगा इ वा परगा इ वा मोक्खा इ वा तणा इ वा कुसा इ वा कुच्छगा

छाया—पशुपोषणाय नागारपरिवृद्धये न श्रमणमाहनवर्तनाहेतोः न तस्य शरीरस्य किञ्चित् परित्राणाय भवति, स हन्ता छेत्ता भेत्ता लुम्पयिता विलुम्पयिता उपद्रावयिता उज्झित्वा वैरस्य भागी भवति अनर्थदण्डः। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः ये इमे स्थावराः प्राणाः भवन्ति तद्यथा इक्कडादिर्वा कठिनादिर्वा जन्तुकादिर्वा परकादिर्वा मुस्तादिर्वा तृणादिर्वा कुशादिर्वा कुच्छकादिर्वा

अन्वयार्थ—पोषण तथा अपने घर की हिफाजत के लिये नहीं मारता है (णो समणमाहणवत्तणाहेउ णो तस्स सरीरगस्स किंचि वि परियादित्ता भवति) तथा श्रमण और माहन की जीविका के लिए अथवा अपने प्राणों की रक्षा के लिए उन पशुओं को नहीं मारता है (अणट्ठादंडे बाले हता) किन्तु प्रयोजन के बिना ही प्राणियों को निरर्थक वह मूर्ख दण्ड देता हुआ उन्हे मारता है (छेत्ता) छेदन करता है (भेत्ता) भेदन करता है (लुपइता) प्राणी के अङ्गों को काट कर जुदा-जुदा करता है (विलुपइता) उनके चमडे और नेत्रों को उखाडता है (उद्दवइत्ता) उन पर उपद्रव करता है (उज्झिउ) वह विवेक को त्याग कर स्थित है (वेरस्स अभागी भवति) इस प्रकार प्राणियों को प्रयोजन के बिना दण्ड देने वाला वह पुरुष निरर्थक उनके वैर का पात्र होता है। (से जहाणामए केइपुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवति तजहा इक्कडाइवा कडिणाइवा जतुगाइवा परगाइवा मोक्खाइवा तणाइवा कुसाइवा कुच्छगाइवा पव्वगाइवा पलालाइवा) जैसे कोई पुरुष प्रयोजन के बिना ही इन स्थावर प्राणियों को दण्ड देता है जैसे कि—इक्कड, कठिन, जतुक, परक, मुस्त, तृण, कुश, कुच्छक, पर्वक, पलाल,

भावार्थ—निरर्थक प्राणियों के साथ वैर का पात्र होते हैं अत इससे बढकर दूसरी मूर्खता क्या हो सकती है ? इस दूसरे क्रिया स्थान का अभिप्राय बिना प्रयोजन प्राणियों को दण्ड देना है सो इस सूत्र मे कहा है। कोई पुरुष मार्ग में चलते समय बिना ही प्रयोजन वृक्ष के पत्तों को तोड़ गिराता है

इ वा पव्वगा इ वा पलाला इ वा, ते णो पुत्तपोसणाए णो पसु पोसणाए णो अगारपडिवूहणयाए णो समणमाहणपोसणयाए णो तस्स सरीरगस्स किंचि विपरियाइत्ता भवति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउ बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे ॥ से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा

छाया—पर्वकादिर्वा पलालादिर्वा तान न पुत्रपोषणाय न पशुपोषणाय नागार परिबृंहणाय नो श्रमणमाहनपोषणाय नो तस्य शरीरस्य किञ्चित् परित्रा णाय भवति स हन्ता छेत्ता भेत्ता लुम्पयिता विलुम्पयिता उपद्रावयिता उज्झित्वा बाल: वैरस्य भागी भवति अनर्थदण्ड । तद्यथा नामकः कश्चित् पुरुषः कच्छे वा ह्रदे वा उदके वा द्रव्ये वा वलये वा अवतमसे वा

अन्वयार्थ—आदि वनस्पतियों को व्यर्थ ही दण्ड देता है (णो पुत्तपोसणाए णो पसुपोसणाए णो अगारपरिवूहणयाए णो समणमाहणपोसणयाए) वह इन वनस्पतियों को पुत्रपोषण पशुपोषण गृहरक्षा तथा श्रमणमाहन के पालन के लिए नहीं दण्ड देता है तथा (णो तस्स सरीरगस्स किंचि विपरियाइत्ता भवति) तथा वे वनस्पतियाँ उसके शरीररक्षा के लिये भी नहीं होती। (से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता) तथापि वह निरर्थक उनका हनन छेदन भेदन लूनन और मर्दन करता है (उज्झिउ बाले अणट्ठादंडे वेरस्स आभागी भवति) वह विवेकहीन मूर्ख व्यर्थ प्राणियों को दण्ड देने वाला वृथा ही प्राणियों के वैर का पात्र बनता है। (से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा) जैसे कोई पुरुष नदी के तट पर तालाब पर किसी जलाशय के ऊपर तृणराशि के ऊपर तथा नदी आदि के द्वारा वेष्टित स्थान में घोर अन्धकार से पूर्ण स्थान में (गहनंसि वा

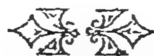
भावार्थ—तथा चपलता के कारण दूसरे वनस्पतियों को भी उखाड़ फेंकता है तथा बिना ही प्रयोजन नदी, तालाब और जलाशयों के तट पर तथा पर्वत, वन आदि में व्यर्थ ही आग लगा देता है, यद्यपि उसे इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती तथापि वह अपनी मूर्खता के कारण ऐसा करके प्राणियों को

गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणिकायं णिसिरति अएणेणवि अगणिकायं णिसिरावेति अएणंपि अगणिकायं णिसिरिंत समणुजाइ अणट्ठादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जन्ति आहिज्जइ, दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठा-दण्डवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम् १८ ॥

छाया— गहने वा गहनविदुर्गे वा वने वा वनविदुर्गे वा पर्वते वा पर्वतविदुर्गे वा तृणानि उत्सर्प्य उत्सर्प्य स्वयमेव अग्निकायं निसृजति अन्येनाऽपि अग्निकायं निसर्जयति अन्यमपि अग्निकायं निसृजन्तं समनुजानाति अनर्थदण्डः । एवं च खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते । द्वितीयं दण्डसमादानम् अनर्थप्रत्ययिकमाख्यातम् ।

अन्वयार्थ—गहणविदुग्गसि वा वणसि वा वणविदुग्गसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गसि वा) गहन यानी किसी दुष्प्रवेश स्थान मे वन मे या घोर वन में पर्वत पर या पर्वत के किसी गहन स्थान मे (तणाइ ऊस्सविय ऊस्सविय) तृण को रख कर (सयमेव अगणि-काय निसिरति) स्वय उसमें आग जलाता है (अण्णेणवि णिसिरावेति) अथवा दूसरे से जलवाता है (अण्णवि अगणिकाय णिसिरतं समणुजाणइ) तथा इन स्थानों पर आग जलाते हुए को अच्छा मानता है (अणट्ठावडे) वह पुरुष प्रयोजन के विना ही प्राणियों को निरर्थक घात करने वाला हैं (एव खलु तस्स तप्पत्तिय सावज्जति आहिज्जइ) ऐसे पुरुष को निरर्थक प्राणियों के घात का सावद्य कर्म बंधता है । (दोच्चे दडसमादाणे अणट्ठादडवृत्तिएत्ति आहिए) यह दूसरा अनर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया ॥१८॥

भावार्थ—अनर्थ दण्ड देने का पाप करता है तथा व्यर्थ ही वह अनेक जन्मो के लिये प्राणियों के वैर का पात्र होता है ॥ १८ ॥



अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा अन्नं वा अन्निं वा हिंसिंसु वा हिंसइ वा हिंसिस्सइ वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति अण्णेणवि णिसिरावेति अन्नंपि णिसिरंत

छाया—अथापरं तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः मां वा मदीयं वा अन्यं वा अन्यदीयं वा अवधीत् हिनस्ति हिंसिष्यति वा तं दण्डं त्रसे स्थावरे प्राणे स्वयमेव निसृजति अन्येनाऽपि निसर्जयति अन्यमपि निसृजन्तं समनु

अन्वयार्थ—(अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ) इसके पश्चात् तीसरा क्रियास्थान हिंसादण्डप्रत्ययिक कहा जाता है (से जहाणामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा अन्नं वा अन्निं वा हिंसिंसु वा हिंसइ वा हिंसिस्सइ वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरइ) कोई पुरुष त्रस और स्थावर प्राणी को इसलिए दण्ड देते हैं कि "इस (त्रस स्थावर) प्राणी ने मुझको या मेरे सम्बन्धी को तथा दूसरे को या दूसरे के सम्बन्धी को मारा था अथवा मार रहा है या मारेगा। (अण्णेणवि णिसिरावेति अन्नंपि णिसिरंतं समणुजाणइ) तथा वे दूसरे के द्वारा त्रस और स्थावर प्राणी को दण्ड दिलाते हैं एवं त्रस और स्थावर प्राणी को दण्ड देते हुए

भावार्थ—बहुत से पुरुष ऐसे हैं जो दूसरे प्राणियों को इस आशंका से मार डालते हैं कि—'यह जीवित रह कर मेरे को न मार डाले"। जैसे कंस ने देवकी के पुत्रों को उनके द्वारा भविष्य में अपने नाश की शङ्का करके मार डाला था। तथा बहुत से अपने सम्बन्धी के घात के क्रोध से प्राणियों का घात करते हैं जैसे परशुराम ने अपने पिता के घात से क्रोधित होकर कार्त्तवीर्य्य का घात किया था। बहुत से मनुष्य, सिंह और सर्प आदि प्राणियों का घात इसलिये कर डालते हैं कि—"यह जीवित रहकर दूसरे प्राणियों का घात करेगा"। इस प्रकार जो पुरुष किसी त्रस या स्थावर प्राणी का स्वयं घात करता है अथवा दूसरे के द्वारा घात कराता है अथवा प्राणिघात करते हुए को अच्छा मानता है उसको

समणुजाणइ हिंसादण्डे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, तच्चे दण्डसमादाणे हिंसादण्डवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम् १९ ॥

छाया—जानाति हिंसादण्डः। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमित्याधीयते। तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमाख्यातम्।

अन्वयार्थ—पुरुष को वे अच्छा मानते हैं। (हिंसादंडे) ऐसे पुरुष प्राणियों को हिंसा का दण्ड देने वाले हैं (एव खलु तस्स तप्पत्तिय सावज्जमाहिज्जइ) ऐसे पुरुष को हिंसाप्रत्ययिक सावद्य कर्म का बन्ध होता है (तच्चे दंडसमादागे हिंसावत्तिएत्ति आहिए) यह तीसरा क्रियास्थान हिंसादण्डप्रत्ययिक कहा गया।

भावार्थ—हिंसाहेतुक सावद्यकर्म का बन्ध होता है यही तीसरे क्रियास्थान का स्वरूप है ॥ १९ ॥



अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकस्मात् दण्डवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवत्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता एए मियत्ति-

छाया—अथापरं चतुर्थं दण्डसमादानम् अकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः कच्छे वा यावद् वनविदुर्गेवा मृगवृत्तिकः मृगसंकल्पः मृगप्रणिधानः मृगवधाय गन्ता एते मृगा

अन्वयार्थ—(अहावरे चउत्थे दंडसमादागे अकम्हादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ) चौथा क्रियास्थान अकस्माद् दण्डप्रत्ययिक कहा जाता है। (से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसिवा जाव वनविदुग्गंसिवा मियवत्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता) जैसे कोई पुरुष नदी के तट पर अथवा किसी घोर जंगल में जाकर मृग को मारने का व्यापार करता है और मृग को मारने का ही विचार रखता है और मृग का ही ध्यान रखता है तथा वह मृग को मारने के लिये ही गया है (एस मिएत्ति काउ

भावार्थ—दूसरे प्राणी को घात करने के अभिप्राय से चलाए हुए शस्त्र के द्वारा यदि दूसरे प्राणी का घात हो जाय तो उसे अकस्मात् दण्ड कहते हैं क्यों

काउ अण्णयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा, स मियं वहिस्सामित्तिकट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा चडगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविं वा कविंजलं वा विंधित्ता भवइ, इह खलु से अण्णस्स अट्ठाए अण्णं फुसति अकम्हादंडे ॥ से जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा

छाया—इति कृत्वा अन्यतरस्य मृगस्य वधाय इषुमायाम्य निःसृजेत् । स मृगं हनिष्यामीति कृत्वा तित्तिरं वा वर्त्तकं वा चटकं वा लावकं वा कपोतकं वा कपिं वा कपिञ्जलं वा व्यापादयिता भवति । इह खलु स अन्यस्य अर्थाय अन्यं स्पृशति अकस्मात् दण्डः । यथा नाम कश्चित् शालीन् वा व्रीहीन् वा कोद्रवान्

अन्वयार्थ—अण्णयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ता णिसिरेज्जा) वह पुरुष "यह मृग है" यह जानकर किसी मृग को मारने के लिए धनुष पर बाण को खींच कर चलाये (स मियं वहिस्सामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा चडगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविं वा कविंजलं वा विंधित्ता भवति) परन्तु मृग को मारने का आशय होने पर भी उसका बाण लक्ष्य पर न गिर कर तित्तिर, बटेर, चटक, लावक, कबूतर, बन्दर अथवा कपिंजल पक्षी पर कदाचित् जा गिरे तो वह उन पक्षियों का घातक होता है । (इह खलु से अण्णस्स अट्ठाए अण्णं फुसति अकम्हादंडे) ऐसी दशा में वह पुरुष दूसरे के घात के लिए प्रयुक्त दण्ड से दूसरे का घात करता है । यह दंड इच्छा न होने पर भी अचानक हो जाता है इसलिए इसे अकस्मात् दण्ड कहते हैं । (से जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा

भावार्थ—कि घातक पुरुष का उस प्राणी के घात का आशय न होने पर भी अचानक उसका घात हो जाता है । ऐसा देखने में भी आता है कि—मृग का घात करके अपनी जीविका करने वाला व्याध मृग को लक्ष्य करके बाण चलाता है परन्तु वह बाण कभी कभी लक्ष्य से भ्रष्ट हो कर मृग को नहीं लगता किन्तु दूसरे प्राणी पक्षी आदि को लग जाता है । इस प्रकार पक्षी को मारने का आशय न होने पर भी उस घातक के द्वारा पक्षी आदि का घात हो जाता है अतः यह दण्ड अकस्मात् दण्ड कहलाता

परगाणि वा रालाणि वा णिलिज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा, से सामगं तणगं कुमुदुगं वीहीऊसियं कलेसुयं तणं छिंदिस्सामित्तिकट्टु सालिं वा वीहिं वा कोद्दवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं वा छिंदित्ता भवइ, इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति अकम्हादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं

छाया—वा कंगून् वा परकान् वा रालान् वा अपनयन् अन्यतरस्य तृणस्य वधाय शस्त्रं निसृजेत् स श्यामाकं तृणकं कुमुदकं व्रीहुच्छ्रितं कलेसुकं तृणं छेत्स्यामीति कृत्वा शालिं वा व्रीहिं वा कोद्रवं वा कंगुं वा परकं वा रालं वा छिन्द्यात् इति स खलु अन्यस्य अर्थाय अन्यं स्पृशति अकस्माद् दण्डः। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्य

अन्वयार्थ—रालाणिवा णिलिज्जमाणे अण्णयरस्स तणस्स वहाए सत्थ णिसिरेज्जा) जैसे कोई पुरुष शाली, व्रीहि, कोद्रव, कगू, परक, और राल नामक धान्यों के पौधों को शोधन करता हुआ (निनान करता हुआ) किसी दूसरे तृण को काटने के लिए शस्त्र चलावे (से सामगं तणग कुमुदग छिंदिस्सामित्ति कट्टू सालि वा वीहि वा कोद्दव वा कगुं वा परग वा राल वा छिंदित्ता भवइ) और "मैं श्यामक, तृण, और कुमुद आदि घास को काटूं" ऐसा आशय होने पर भी लक्ष्य चुक जाने से शाली, व्रीहि, कोद्रव कगू, परक और राल के पौधों का ही छेदन कर बैठता है (इति खलु अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति अकम्हा दंडे) इस प्रकार अन्य वस्तु को लक्ष्य करके दिया हुआ दंड अन्य को स्पर्श करता है। यह दण्ड, घातक पुरुष के अभिप्राय न होने पर भी हो जाने के कारण अकस्माद् दण्ड कहलाता है। एवं खलु तस्स तप्प-

भावार्थ—है। किसान जब अपनी खेती का परिशोधन करता है उस समय धान्य के पौधों की हानि करने वाले तृणों को साफ करने के लिए वह उनके ऊपर शस्त्र चलाता है परन्तु कभी कभी उसका शस्त्र घास पर न लग कर धान्य के पौधों पर ही लग जाता है जिस से धान्य के पौधों का घात हो जाता है। किसान का आशय धान्य के पौधों को छेदन करने का नहीं होता फिर भी उससे धान्य के पौधों का छेदन हो जाता है इसे अकस्माद् दण्ड कहते हैं। अत: मारने की इच्छा न होने पर भी यदि

आहिज्जइ, चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिए आहिए ॥ सूत्रम् । २०

छाया—आधीयते चतुर्थं दण्डसमादानम् अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक मास्यातम् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(एवं सावज्जंति आहिज्जइ) इस प्रकार उस घातक पुरुष को अकस्मात् दण्ड देने के कारण सावद्य कर्म का बन्ध होता है। (चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिए आहिए) यह चौथा क्रिया स्थान अकस्मात् दण्डप्रत्ययिक कहा गया है॥

भावार्थ—अपने द्वारा चलाये हुए शस्त्र से कोई अन्य प्राणी मर जाय तो अकस्माद् दण्ड देने का पाप होता है। यही चौथे क्रिया स्थान का स्वरूप है॥ २० ॥



अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूताहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमेव मन्नमाणे मित्ते

छाया—अथाऽपरं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिक मित्याख्यायते । तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः मातृभिर्वा पितृभिर्वा भ्रातृभिर्वा भगिनीभिर्वा भार्य्याभिर्वा पुत्रैर्वा दुहितृभिर्वा स्नुषादिभिर्वा सार्धं संवसन् मित्रममित्रमेव मन्यमानः मित्रं हतपूर्वो

अन्वयार्थ—(अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ) पाँचवें क्रियास्थान को दृष्टिविपर्यास दण्ड कहते हैं (से जहाणामए केई पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूताहिं वा सुण्हाहिं वा संवसमाणे मित्तं अमित्तमेव मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवई) माता, पिता, भाई बहिन स्त्री, पुत्र कन्या, और पुत्रवधू के साथ निवास करता हुआ कोई पुरुष मित्र

भावार्थ—अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी को दण्ड देना दृष्टिविपर्यास दण्ड कहलाता है। जो पुरुष मित्र को शत्रु के भ्रम से तथा साहुकार को चोर

हयपुव्वे भवइ दिट्ठिविपरियासियादंडे ॥ से जहाणामए केइ पुरिसे गामघायंसि वा णगरघायंसि वा खेड० कव्वड० मडंबघायंसि वा दोणमुहघायंसि वा पट्टणघायंसि वा आसमघायंसि वा सन्निवेसघायंसि वा निग्गमघायंसि वा रायहाणिघायंसि वा अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हयपुव्वे भवइ दिट्ठिविपरियासियादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम् २१ ॥

छाया—भवति दृष्टिविपर्य्यासदण्डः तद्यथानामकः कोऽपि पुरुषः ग्रामघाते वा, नगरघाते वा, खेडकर्वटमडम्बघाते वा, द्रोणमुखघाते वा, पट्टनघाते वा, आश्रमघाते वा, सन्निवेशघाते वा निर्गमघाते वा राजधानीघाते वा, अस्तेनं स्तेनमिति मन्यमानः अस्तेनं हतपूर्वो भवति दृष्टिविपर्य्यासदण्डः। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्य मित्याधीयते पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्य्यासप्रत्ययिकमाख्यातम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—को शत्रु मान कर मित्र को ही शत्रु के भ्रम से मार देता है (दिट्ठिविप्परियासियादडे) इसी को दृष्टि विपर्य्यास करते हैं क्यों कि समझ के फेर से यह दण्ड होता है जान बूझ कर नहीं होता है। (जहाणामए केइ पुरिसे गामघायसि वा नगरघायसि वा खेडकव्वडमडबघायसि वा दोणमुहघायसि वा पट्टणघायसि वा आसमघायसि वा सनिवेसघायसि वा निगमघायंसि वा रायहाणिघायसि वा अतेणं तेगमिति मण्णमाणे अतेणं हयपुव्वे भवइ) ग्राम, नगर, खेड़, कब्बड़, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, सन्निवेश, निगम और राजधानी के घात के समय यदि कोई पुरुष किसी चोर से भिन्न व्यक्ति को चोर समझकर मार डाले तो वह चोर भिन्न व्यक्ति को समझ के फेर से (भ्रमसे) मारता है (दिट्ठिविप्परियासियादण्डे) इसलिये इस दण्ड को दृष्टिविपर्य्यास दण्ड कहते हैं। (एव खलु तस्स तप्पत्तियंत्ति आहिज्जइ) इस प्रकार जो पुरुष अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी को मारता है उसको दृष्टिविपर्य्यास दण्ड का पाप लगता है (पचमे दण्डसमादाणे दिट्ठिविप्परियासियादडवत्तिएत्ति आहिए) यह दृष्टिविपर्य्यासदण्डप्रत्ययिक पाचवाँ क्रिया स्थान कहा गया ॥२१॥

भावार्थ—के भ्रम से दण्ड देता है वह उस पाँचवें क्रियास्थान का उदाहरण है ॥ २१ ॥

अहावरे छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति अण्णेणवि मुसं वाएइ मुसं वयतंपि अण्णं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति आहिए ॥सूत्रम् २२॥

छाया—अथाऽपरं षष्ठं क्रियास्थानं मिथ्याप्रत्ययिकमित्याख्यायते । तद्यथा नाम कश्चित् पुरुष आत्महेतोर्ज्ञातिहेतोरगारहेतोः परिवारहेतोः स्वयं मृषा वदति अन्येनाऽपि मृषा वादयति मृषा वदन्तमन्यं समनुजानाति एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते षष्ठं क्रियास्थानं मृषावादप्रत्ययिकमाख्यातम् ।

अन्वयार्थ—(अहावरे छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति आहिज्जइ) छठा क्रिया स्थान मृषाप्रत्ययिक कहलाता है (से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति) जैसे कोई पुरुष अपने लिए, अथवा ज्ञाति के लिए अथवा घर के लिए या परिवार के लिए स्वयं झूठ बोलता है (अण्णेणवि मुसं वाएइ मुसं वयंतंपि अण्णं समणुजाणइ) तथा दूसरे से झूठ बोलवाता है और झूठ बोलते हुए को अच्छा जानता है (एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ) ऐसा करने के कारण उस पुरुष को झूठ बोलने का पाप होता है (छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति आहिए) यह छठा क्रियास्थान मृषाप्रत्ययिक कहा गया ।

भावार्थ—जो पुरुष अपने ज्ञातिवर्ग, घर तथा परिवार आदि के लिये स्वयं झूठ बोलता है अथवा दूसरे से झूठ बोलाता है तथा झूठ बोलते हुए को अच्छा मानता है उसको मिथ्या भाषण से उत्पन्न सावद्य कर्म का बन्ध होता है यही छट्ठे क्रियास्थान का स्वरूप है । इसके पूर्व जो पाँच क्रियास्थान कहे गये हैं उनमें प्रायः प्राणियों का घात होता है इसलिए उनको दण्डसमादान कहा है परन्तु छट्ठे क्रियास्थान से लेकर १२ वें क्रियास्थान तक के भेदों में प्रायः प्राणियों का घात नहीं होता है अतः इनको दण्डसमादान न कह कर क्रियास्थान कहा है ।

अहावरे सत्तमे किरियट्ठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिन्नं आदियइ अन्नेणवि अदिन्नं आदियावेति अदिन्नं आदियंतं अन्नं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, सत्तमे किरियट्ठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम् २३ ॥

छाया—अथाऽपरं सप्तमं क्रियास्थानमदत्तादानप्रत्ययिकमित्याख्यायते । तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः आत्महेतोर्वा यावत् परिवारहेतोर्वा स्वयमेव अदत्तमादद्यात् अन्येनाऽप्यादापयेत् अदत्तमाददान मन्यं समनुजानाति एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते सप्तमं क्रियास्थानमदत्तादोनप्रत्ययिकमाख्यातम् ॥

अन्वयार्थ—(अहावरे किरियट्ठाणे सत्तमे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिज्जइ) सातवें क्रिया स्थान को अदत्तादानप्रत्ययिक कहते हैं । (से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवारहेउ वा सयमेव अदिन्नं आदियइ) जैसे कोई पुरुष अपने लिए तथा अपने परिवार आदि के लिए स्वयं मालिक के द्वारा न दी हुई चीज को लेता है (अन्नेणवि अदिन्नं आदियावेति अदिन्नं आदियत अन्नं समणुजाणइ) और दूसरे से भी मालिक के द्वारा न दी हुई वस्तु को ग्रहण कराता है तथा ऐसा करते हुए को अच्छा मानता है (एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्ज आहिज्जइ) उस पुरुष को अदत्तादान का पाप लगता है (सत्तमे किरियट्ठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिए) यह सातवाँ क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्ययिक कहा गया ।

भावार्थ—मालिक के द्वारा न दी हुई वस्तु को ले लेना अदत्तादान कहलाता है । इसी को चोरी कहते हैं । जो पुरुष अपने स्वार्थ के लिए अथवा अपने परिवार आदि के लिए मालिक की आज्ञा के विना उसकी वस्तु को ले लेता है अथवा दूसरे के द्वारा ग्रहण करता है तथा ऐसा कार्य करने वालों को अच्छा जानता है उसको अदत्तादान यानी चोरी करने का पाप लगता है । यही सातवें क्रियास्थान का स्वरूप है ।

अहावरे अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे णत्थि णं केइ किंचि विसंवादेति सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठिए झियाइ, तस्स णं अज्झत्थया असंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जइ (ज्जंति), तं—कोहे माणे माया लोहे, अज्झत्थमेव

छाया—अथाऽपरमष्टमं क्रियास्थानमाध्यात्मिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः नाऽस्ति कोऽपि किञ्चिद् विसंवादयिता स्वयमेव हीनो दीनो दुष्टः दुर्मनाः उपहतमनःसंकल्पः चिन्ताशोकसागरसंप्रविष्टः करतलपर्य्यस्तमुखः आर्तध्यानोपगतः भूमिगतदृष्टिः ध्यायति। तस्य आध्यात्मिकानि असंशयितानि चत्वारि स्थानानि एवमाख्यायन्ते, तद्यथा क्रोधो मानं माया

अन्वयार्थ—(अहावरे अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिज्जइ) आठवाँ क्रिया स्थान आध्यात्मिक कहलाता है। (से जहाणामए केइ पुरिसे णत्थि णं केइ किंचि विसंवादेति) जैसे कोई पुरुष ऐसा होता है कि उसे क्लेश देने वाला कोई न होने पर भी (सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे) वह अपने आप हीन दीन दुःखित उदास तथा मन में बुरा संकल्प करता रहता है (चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठिए झियाइ) तथा चिन्ता और शोक के समुद्र में डूबता रहता है एवं हथेली पर मुख को रख कर पृथिवी को देखता हुआ आर्तध्यान करता रहता है (तस्स णं अज्झत्थया असंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जइ) निश्चय उसके हृदय में चार वस्तु स्थित हैं जिनके ये नाम हैं (तंजहा कोहे माणे माया लोहे) क्रोध मान, माया, और लोभ। (अज्झत्थमेव कोह

भावार्थ—बहुत से पुरुष ऐसे भी देखे जाते हैं—जो तिरस्कार आदि के बिना ही तथा धननाश, पुत्रनाश, पशुनाश आदि दुःख के कारणों के बिना ही हीन दीन दुःखित और चिन्तामग्न होकर आर्तध्यान करते रहते हैं। वे विवेक हीन पुरुष कभी भी धर्मध्यान नहीं करते हैं। निःसन्देह ऐसे पुरुषों के हृदय में क्रोध, मान, माया और लोभ का प्राबल्य रहता है। ये चार भाव ही उनकी रुग्ण अवस्था के कारण हैं। ये चारों भाव आत्मा से उत्पन्न

कोहमाणमायालोहे, एवं खलु तस्स पप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिए ॥सूत्रम् २४॥

छाया—लोभः आध्यात्मिका एव क्रोधमानमायालोभाः। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते। अष्टमं क्रियास्थानम् अध्यात्मप्रत्ययिकमाख्यातम्।

अन्वयार्थ—माणमायालोहे) क्रोध, मान, माया और लोभ आध्यात्मिक भाव हैं। (एवं खलु तस्स तप्पत्तिय सावज्जंति आहिज्जइ) इस प्रकार कार्य्य करने वाले पुरुष को आध्यात्मिक सावद्य कर्म का बन्ध होता है (अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिए) यह अध्यात्मप्रत्ययिक आठवाँ क्रियास्थान कहा गया।

भावार्थ—होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं। ये मन को दूषित करनेवाले और विचार को मलिन करने वाले हैं। जिस पुरुष में ये प्रबल होकर रहते हैं उसको आध्यात्मिक सावद्य कर्म का बन्ध होता है, यही आठवें क्रियास्थान का स्वरूप है। २४।



अहावरे णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केई पुरिसे जातिमएण वा कुलमएण वा बलमएण वा रूवमएण वा तवोमएण वा सुयमएण वा लाभमएण वा

छाया—अथाऽपरं नवमं क्रियास्थानं मानप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः जातिमदेन वा कुलमदेन वा बलमदेन वा रूपमदेन वा तपोमदेन वा श्रुतमदेन वा लाभमदेन वा ऐश्वर्य्यमदेन वा

अन्वयार्थ—(अहावरे णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिएत्ति आहिज्जइ) नवम क्रियास्थान को मान प्रत्ययिक कहते हैं। (से जहाणामए केइ पुरिसे जाइमएण वा कुलमएण वा बलमएण वा रूवमएण वा तवोमएण वा सुयमएण वा लाभमएण वा इस्सरियमएण

भावार्थ—जाति, कुल, बल, रूप, तप, शास्त्र, लाभ, ऐश्वर्य्य और प्रज्ञा के मद से मत्त होकर जो पुरुष दूसरे प्राणियों को तुच्छ गिनता है तथा अपने को

इस्सरियमएण वा पन्नामएण वा अन्नतरेण वा मयट्ठाणेण मत्ते समाणे परं हीलेति निंदेति खिंसति गरहति परिभवइ अवमण्णेति, इत्तरिए अयं, अहमंसि पुण विसिट्ठजाइकुलबलाइगुणोववेए, एवं अप्पाणं समुक्कस्से, देहचुए कम्मबितिए अवसे पयाइ, तंजहा—गब्भाओ गब्भं ४ जम्माओ जम्मं माराओ मारं णरगाओ णरगं चंडे थद्धे चवले माणियावि भवइ, एवं खलु तस्स तप्प

छाया—प्रज्ञामदेन वा अन्यतरेण वा मदस्थानेन मत्तः परं हीलयति निन्दति जुगुप्सते गर्हति परिभवति अवमन्यते इत्वरोऽयम् अहमस्मि पुनः विशिष्टजातिकुलबलादिगुणोपेतः एवमात्मानं समुत्कर्षेत् । देहच्युतः कर्मद्वितीयः अवशः प्रयाति, तद्यथा—गर्भतो गर्भम्, जन्मतः जन्म, मरणान्मरणम्, नरकान्नरकम्, चण्डः स्तब्धः चपलः

अन्वयार्थ—(वा पन्नामएण वा अन्नतरेण वा मयट्ठाणेण मत्ते समाणे परं हीलेति निंदेति खिंसति गरहति परिभवइ अवमण्णति) जैसे कोई पुरुष जातिमद कुलमद बलमद रूप मद तपोमद, शास्त्रज्ञानमद लाभमद, ऐश्वर्यमद बुद्धिमद आदि किसी मद से मत्त होकर दूसरे व्यक्ति की अवहेलना करता है निन्दा करता है घृणा करता है गर्हणा करता है अपमान करता है। (इत्तरिए अयं अहमंसि पुण विसिट्ठजाइकुलबलाइ गुणोववेए) वह समझता है कि—"यह दूसरा व्यक्ति हीन है परन्तु मैं एक विशिष्ट पुरुष हूँ मैं उत्तम जाति कुल और बल आदि गुणों से युक्त हूँ" (एवं अप्पाणं समुक्कस्से) इस प्रकार वह अपने को उत्कृष्ट मानता हुआ गर्व करता है (देहचुए कम्मबितिए अवसे पयाइ) वह अभिमानी आयु पूरी होने पर शरीर को छोड़ कर कर्ममात्र को साथ लेकर विवशतापूर्वक परलोक में जाता है। (गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं णरगाओ णरगं) वह एक गर्भ से दूसरे गर्भ को एक जन्म से दूसरे जन्म को एक मरण से दूसरे मरण को एक नरक से दूसरे नरक को प्राप्त करता है। (चंडे थद्धे चवले माणियावि भवइ) वह परलोक में भयङ्कर नम्रता रहित, चपल

भावार्थ—सब से श्रेष्ठ मानता हुआ दूसरे का तिरस्कार करता है उसको मान प्रत्ययिक कर्म का बन्ध होता है। ऐसा पुरुष इस लोक में निन्दा का पात्र होता है और परलोक में उसकी दशा बुरी होती है। वह बार बार जन्म लेता है और मरता है तथा एक नरक से निकल कर दूसरे नरक

त्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, णवमे किरियाठाणे माणवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम् २५ ॥

छाया—मान्यपि भवति एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययं सावद्यमाधीयते । नवमं क्रियास्थानं मानप्रत्ययिकमाख्यातम् ।

अन्वयार्थ—और अभिमानी होता है (एव खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ) इस प्रकार वह पुरुष मान से उत्पन्न सावद्य कर्म का बन्ध करता है (णवमे किरियाठाणे माणवत्तिएत्ति आहिए) यह मानप्रत्ययिक नामक नवम क्रियास्थान कहा गया ।

भावार्थ—में जाता है । उसे क्षण भर भी दुःख से मुक्ति नहीं मिलती है । यदि वह दैववश इस मनुष्य लोक में जन्म लेता है तो भी भयंकर नम्रता रहित चञ्चल और घमण्डी होता है ।



अहावरे दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केई पुरिसे माईहिं वा पितीहि वा भाईहि वा भइणीहि वा भज्जाहिं वा धूयाहिं वा पुत्तेहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सय-

छाया—अथाऽपरं दशमं क्रियास्थानं मित्रदोषप्रत्ययिक मित्याख्यायते, तद्यथा नाम कोऽपि पुरुषः मातृभिर्वा पितृभिर्वा भ्रातृभिर्वा भगिनीभिर्वा भार्य्याभिर्वा दुहितृभिर्वा पुत्रैर्वा स्नुषाभिर्वा सार्धं संवसन् तेषामन्यतमस्मिन् लघुकेऽप्यपराधे स्वयमेव गुरुकं दण्डं निर्वर्तयति तद्यथा-

अन्वयार्थ—(अहावरे दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिज्जइ) दशम क्रिया स्थान मित्र दोषप्रत्ययिक कहलाता है । (सेजहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पितीहिं वा भाईहिं वा भइणीहिं वा भज्जाहिं वा धूयाहिं वा पुत्तेहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गुरुयं दंडं निवत्तेति)

भावार्थ—जगत् में कोई ऐसे पुरुष होते हैं जो थोड़े अपराध में महान दण्ड देते है । माता, पिता, भाई, भगनी, स्त्री, पुत्र, पुत्रवधू तथा कन्या के द्वारा

मेव गरुयं दण्डं निवत्तेति, तंजहा—सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवति, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवति, अगणिकाएण कायं उवडहित्ता भवति, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तयाइ वा [कसेण वा छियाए वा] लयाए वा (अन्नयरेण वा दवरएण) पासाइं उद्दालित्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता

छाया—शीतोदकविकटे वा कायमुच्छोलयिता भवति उष्णोदकविकटेन वा कायमपसिञ्चयिता भवति, अग्निकायेन कायमुपदाहयिता भवति योत्रेण वा वेत्रेण वा नेत्रेण वा त्वचा वा कशया वा लतया वा अन्यतमेन वा दवरकेण पार्श्वानि उद्दालयिता भवति दण्डेन वा अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लेष्टुना वा कपालेन वा कायमाकुट्टयिता भवति।

अन्वयार्थ—जैसे माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, कन्या, पुत्र, पुत्रवधू आदि के साथ निवास करता हुआ कोई पुरुष इनके द्वारा थोड़ा अपराध होने पर भी इन्हें भारी दण्ड देता है (तंजहा—सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवति) वह ठंड के समय इन्हें ठंडे जल में डाल देता है (उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवति) तथा गर्मी के दिनों में उनके शरीर पर अत्यन्त गर्म जल छिड़कता है। (अगणिकाएण कायं उवडहित्ता भवति) तथा आग से उनके शरीर को जलाता है। (जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तयाइ वा कसेण वा छियाए वा अन्नयरेण वा दवरएण पासाइं उद्दालित्ता भवति) तथा जोत से बेंत से छड़ी से चमड़े से कशा से या किसी प्रकार की रस्सी से मार कर उनके पार्श्व की चमड़ी उधाड़ देता है (दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति) वह डंडे से हड्डी से

भावार्थ—थोड़ा अपराध होने पर भी वे इन्हें महान दण्ड देते हैं। ठण्डक के दिनों में इन्हें वे बर्फ के समान ठंडे जल में गिरा देते हैं तथा गर्मी के दिनों में इनके शरीर पर गर्म जल डाल कर कष्ट देते हैं एवं अग्नि गर्म लोहा या गर्म तेल छिड़क कर इनके शरीर को जला देते हैं तथा बेंत, रस्सी या छड़ी आदि से मार कर इनके शरीर का चमड़ा उधाड़ देते हैं। ऐसे पुरुष जब घर पर रहते हैं तब उसके परिवार वाले दुःखी रहते हैं।

भवति, तहप्पगारे पुरिसजाए संवसमाणे दुम्मणा भवति, पवसमाणे सुमणा भवति, तहप्पगारे पुरिसजाए दंडपासी दंडगुरुए दंडपुरक्कडे अहिए इमंसि लोगंसि अहिए परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसि यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति, दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम् २६ ॥

छाया—तथाप्रकारे पुरुषजाते संवसति दुर्मनसो भवन्ति प्रवसमाने सुमनसो भवन्ति । तथाप्रकारः पुरुषजातः दण्डपार्श्वी दण्डगुरुकः दण्डपुरस्कृतः अहितः अस्मिन् लोके अहितः परस्मिन् लोके संज्वलनः क्रोधनः पृष्ठमांसखादकः भवति । एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते दशमं क्रियास्थानं मित्रदोषप्रत्ययिकमाख्यातम् ।

अन्वयार्थ—मुक्के से ढेले कपाल से मार कर उनके शरीर को ढीला कर देता है । (तहप्पगारे पुरिसजाए सवसमाणे दुम्मणा भवति) ऐसे पुरुष के घर पर रहने से परिवार दुःखी रहता है । (पवसमाणे सुमणा भवति) और परदेश चले जाने पर सुखी रहता है (तहप्पगारे पुरिसजाए दडपासी दंडगुरुए दंडपुरक्कडे अहिए इमसि लोगंसि अहिए परंसि लोगंसि सजलणे कोहणे पिट्ठमसि यावि भवइ) ऐसा पुरुष, जो बराबर दड को बगल में लिए रहता है तथा थोडे अपराध में भारी दण्ड देता है और दण्ड को आगे रखता है वह इस लोक में अपना अहित करता है और परलोक में जलने वाला क्रोधी तथा परोक्ष में गाली देने वाला होता है । (एव खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जति आहिज्जइ) ऐसे पुरुष को मित्रदोषप्रत्ययिक कर्म का बन्ध होता है । (दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिज्जइ) यह दशवां क्रियास्थान मित्रदोषप्रत्ययिक कहा गया ।

भावार्थ—और उनके परदेश चले जाने पर वे सुखी रहते हैं । ऐसे पुरुष इस लोक में अपना तथा दूसरे का दोनों का अहित करते हैं और मरने के पश्चात् वे परलोक में अत्यन्त क्रोधी और परोक्ष में निन्दा करने वाले होते हैं । ऐसे पुरुष मित्रदोषप्रत्ययिक क्रिया के स्थान हैं । यही दशवें क्रियास्थान का स्वरूप है ॥ २६ ॥



अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिज्जइ, जे इमे भवंति—गूढायारा तमोकसिया उलुगपत्तलहुया पव्वयगुरुया ते आयरियावि संता अणारियाओ भासाओवि पउज्जंति, अन्नहासंतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति, अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति ॥ से जहाणामए केइ पुरिसे

छाया—अथाऽपरमेकादशं क्रियास्थानं मायाप्रत्ययिकमित्याख्यायते। ये इमे भवन्ति गूढाचाराः तमःकाषिणः उलूकपत्रलघवः पर्वतगुरुकाः ते आर्य्या अपि सन्तः अनार्य्याः भाषाः प्रयुञ्जते। अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा मन्यन्ते अन्यत् पृष्टा अन्यद् व्यागृणन्ति अन्यस्मिन् आख्यातव्ये अन्यद् आख्यान्ति। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः

अन्वयार्थ—(अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिज्जइ) ग्यारहवाँ क्रियास्थान मायाप्रत्ययिक कहलाता है (जे इमे भवंति गूढायारा तमोकसिया उलुगपत्तलहुया) पव्वयगुरुया ते आयरियावि संता अणारिया भासाओवि पउज्जंति) जो विश्वास उत्पन्न करके जगत् को ठगनेवाले एवं कपट से छिपा कर बुरी क्रिया करनेवाले, तथा उल्लूक पक्षी के पंख से हल्के होते हुए भी अपने को पर्वत के समान बड़ा भारी समझते हैं (ते आयरियावि संता अणारियाओ भासाओवि पउज्जंति) वे पूर्वोक्त आर्य्य होकर भी अनार्य्य भाषायें बोलते हैं (अन्नहा संतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति) वे और तरह के होकर भी अपने को और तरह के मानते हैं। (अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरंति) वे, दूसरी बात पूछने पर दूसरी बात कहते हैं। (अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति) वे दूसरी बात कहने के अवसर में दूसरी बात बताते हैं। (से

भावार्थ—इस जगत् में बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं जो बाहर से सभ्य तथा सदाचारी प्रतीत होते हैं परन्तु छिप कर पाप करते हैं। वे लोगों पर अपना विश्वास जमाकर पीछे से उन्हें ठगते हैं। वे बिल्कुल तुच्छवृत्तिवाले होकर भी अपने को पर्वत के समान महान् समझते हैं। वे माया यानी कपट क्रिया करने में बड़े चतुर होते हैं। वे आर्य्य होते हुए भी दूसरे पर अपना प्रभाव जमाने के लिए अनार्य्य भाषा का व्यवहार करते हैं व अन्य विषय पूछने पर अन्य विषय बताते हैं। कोई-कोई वैयाकरण आदि ऐसे धूर्त होते हैं कि—शास्त्रार्थ में वादी को परास्त करने के लिये तर्कमार्ग को सामने रख देते हैं तथा अपने अज्ञान को ढकने के लिये

अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णिहरति णो अन्नेण णिहरावेति णो पडिविद्धंसेइ, एवमेव निराहवेइ, अविउट्टमाणे अंतोअंतो रियइ, एवमेव माई मायं कट्टु णो आलोएइ णो पडिक्कमेइ णो णिंदइ णो गरहइ, णो विउट्टइ णो विसोहेइ णो अकरणाए अब्भुट्ठेइ णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ, माई

छाया—अन्तःशल्यः तं शल्यं नो स्वयं निर्हरति नाऽप्यन्येन निर्हारयति नाऽपि प्रतिविध्वंसयति एवमेव निन्हुते पीड्यमानः मध्ये रीयते एवमेव मायी मायां कृत्वा नो आलोचयति नो प्रतिक्रमते नो निन्दति नो गर्हते न त्रोटयति नो विशोधयति नो अकरणाय अभ्युतिष्ठते नो यथार्हं तपः कर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते मायी अस्मिन् लोके प्रत्यायाति

अन्वयार्थ—जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णिहरति) जैसे कोई पुरुष अपने हृदय में गडे हुए कीले को स्वय नहीं निकालता है (णो अन्नेण णिहरावेति णो पडिविद्धंसेइ) तथा दूसरे के द्वारा भी नहीं निकलवाता है तथा उस शल्यका नाश भी नहीं करता है (एवमेव णिण्हवेइ अवि उट्टमाणे अंतो अंतो रियइ) किन्तु उसे व्यर्थ ही छिपाता है तथा उससे पीड़ित होकर अन्दर अन्दर वेदना को भोगता है (एवमेव माई मायं कट्टु णो आलोएइ णो पडिक्कमेइ णो णिंदइ णो गरहइ णो विउट्टइ णो विसोहेइ णो अकरणाए अब्भुट्ठेइ णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ) इसी तरह मायावी पुरुष माया करके उसकी आलोचना नहीं करता है प्रतिक्रमण नहीं करता है, उसकी निन्दा नहीं करता है उसकी गर्हा नहीं करता है उसे तोड़ता नहीं है उसका शोधन नहीं करता है फिर उसे न करने के लिए तय्यार नहीं होता है तथा उस पाप के अनुरूप तपस्या आदि प्रायश्चित्त भी नहीं करता है ।

भावार्थ—व्यर्थ शब्दाडम्बरों से समय का दुरुपयोग करते हैं । कपट के कार्य्यों से अपने जीवन को निन्दित करने वाले बहुत से मायावी अकार्य्यों मे रत रहते हैं । जैसे कोई मूर्ख हृदय मे गड़े हुए बाण को पीड़ा से डरकर स्वय न निकाले तथा दूसरे के द्वारा भी न निकलवाये किन्तु उसे छिपाकर व्यर्थ ही दुःखी बना रहे इसी तरह कपटी पुरुष अपने हृदय के कपट को बाहर निकाल कर नहीं फेंकता है तथा अपने अकृत्य को निन्दा के भय से छिपाता है । वह अपने आत्मा को साक्षी बना कर उस अपने मायाचार की निन्दा भी नहीं करता है तथा वह अपने गुरु के निकट जाकर उस माया की आलोचना भी नहीं करता है । अपराध विदित हो जाने पर

अस्सिं लोए पच्चायाइ माई परंसि लोए (पुणो पुणो) पच्चायाइ निंदइ गरहइ पसंसइ णिच्चरइ ण नियट्टइ णिसिरियं दंडं छाएति, माई असमाहडसुहलेस्से यावि भवइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्र २७ ॥

छाया—*मायी परस्मिन् लोके प्रत्यायाति निन्दति गर्हते प्रशंसति निश्चरति* न निवर्तते । निसृज्य दण्डं छादयति मायी असमाहृतशुभलेश्यश्चाऽपि भवति एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते एकादशं क्रियास्थानं मायाप्रत्ययिकमाख्यातम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(माई अस्सिं लोए पच्चायाइ) इस लोक में मायावी पुरुष का कोई विश्वास नहीं करता है (माई परंसि लोए पुणो पुणो पच्चायाइ) तथा वह परलोक में बार बार नीच गतियों में जाता है (निंदइ गरहइ पसंसइ णिच्चरइ ण नियट्टइ णिसिरियं दंडं छाएति) वह दूसरे की निन्दा करता है और अपनी प्रशंसा करता है वह और ज्यादा असत् कार्य करता है वह असत् कर्म के अनुष्ठान से निवृत्त नहीं होता है वह प्राणी को दण्ड देकर भी उसे स्वीकार नहीं करता है (माई असमाहडसुहलेस्से यावि भवइ) मायावी पुरुष शुभ विचार से रहित होता है। (एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जमाहिज्जइ) ऐसे मायावी पुरुष को मायाप्रत्ययिक सावद्य कर्म का बन्ध होता है। (एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिए) ग्यारहवाँ क्रियास्थान मायाप्रत्ययिक कहा गया ॥ २७ ॥

भावार्थ—गुरुजनों के द्वारा निर्देश किए हुए प्रायश्चित्तों का आचरण भी वह नहीं करता है इस प्रकार कपटाचरण के द्वारा अपनी समस्त क्रियाओं को छिपाने वाले उस पुरुष की इस लोक में अत्यन्त निन्दा होती है उसका विश्वास उठ जाता है, वह किसी समय दोष न करने पर भी दोषी माना जाता है वह मरने के पश्चात् परलोक में नीच से नीच स्थान में जाता है। वह बार-बार तिर्य्यग् योनि में जन्म लेता है। वह नरक का तो सदा पात्र होता रहता है। ऐसा पुरुष दूसरे को धोखा देकर लज्जित नहीं होता है अपितु प्रसन्नता लाभ करता है। वह दूसरे को ठग कर अपने को धन्य मानता है। उसकी चित्तवृत्ति सदा प्रपञ्च में लीन रहती है उसके समस्त कार्य्य प्रपञ्चमय होते हैं। उसके हृदय में शुभभाव की प्रवृत्ति तो कभी होती ही नहीं। वह पुरुष मायाप्रत्ययिक क्रिया स्थान का सेवक है यह ग्यारहवें क्रियास्थान का स्वरूप कहा गया ।२७।

अहावरे बारसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिज्जइ, जे इमे भवंति, तंजहा—आरन्निया आवसहिया गामंतिया कण्हुई-रहस्सिया णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया सव्वपाणभूतजीव-सत्तेहिं ते अप्पणो सच्चामोसाइं एवं विउंजंति, अहं ण हंतव्वो

छाया—अथाऽपरं द्वादशं क्रियास्थानं लोभमत्ययिकमित्याख्यायते ये इमे भवन्ति तद्यथा—आरण्यकाः आवसथिकाः ग्रामान्तिकाः क्वचिद्राहसिकाः नो बहुसंयताः नो बहुविरताः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेभ्यः ते आत्मना सत्यमृषाभूतानि एवं प्रयुञ्जते—अहं न हन्तव्योऽन्ये

अन्वयार्थ—(अहावरे बारसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिज्जइ) बारहवाँ क्रिया स्थान लोभप्रत्ययिक कहलाता है। (जे इमे भवंति तंजहा—आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुईरहस्सिया णोबहुसंजया णो बहुपडिविरया सव्वपाणभूतजीव सत्तेहिं) ये जो वन में निवास करने वाले, कुटी बनाकर रहने वाले ग्राम के आस पास डेरा डालकर बसने वाले कोई गुप्त क्रिया करने वाले होते हैं जो सब सावद्य कर्मों से निवृत्त नहीं है तथा सब प्राणी भूत जीव और सत्त्वों की हिंसासे हटे हुए नहीं हैं (ते अप्पणो सच्चामोसाइं एव विउंजंति) वे कुछ सत्य और कुछ झूठ इस प्रकार कहा करते हैं कि—(अहं ण हंतव्वो अण्णे हंतव्वा) मैं मारने योग्य नहीं

भावार्थ—कोई पाखण्डी जंगल मे निवास करते हैं और कन्द मूल फल खाकर अपना निर्वाह करते हैं, कोई कोई वृक्ष के मूल मे रहते हैं और कोई कुटी बना कर निवास करते है। कोई ग्राम के आश्रय से अपना निर्वाह करने के लिए ग्राम के आस पास निवास करते हैं। ये पाखण्डी लोग यद्यपि त्रस प्राणी का घात नहीं करते हैं तथापि एकेन्द्रिय जीवों के घात से ये अपना निर्वाह करते हैं। तापस आदि प्राय इसी तरह के होते हैं। ये लोग द्रव्य से तो कई व्रतों का आचरण करते हैं परन्तु भाव से एक भी व्रत का पालन नहीं करते हैं। भावरूप व्रतों के पालन का कारण सम्यग्दर्शन है वह इनमे नहीं होता है इसलिए ये भाव से व्रतहीन हैं। ये पाखण्डी लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए बहुत सी कल्पित बातें लोगों से कहते हैं। इनकी बातें कुछ झूठ और कुछ सत्य होती हैं। ये कहते हैं कि—"मैं ब्राह्मण हूँ इसलिए मैं डंडा आदि से ताड़न करने योग्य नहीं परन्तु दूसरे शूद्र आदि डंडा आदि से ताड़न करने योग्य हैं

अन्ने हतव्वा अहं ण अज्जावेयव्वो, अन्ने अज्जावेयव्वा अहं ण परिघेतव्वो अन्ने परिघेतव्वा अहं ण परितावेयव्वो अन्ने परितावेयव्वा अहं ण उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा, एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया गरहिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु

छाया—हन्तव्या अहं नाऽऽज्ञापयितव्योऽन्ये आज्ञापयितव्याः। अहं न परितापयितव्योऽन्ये परितापयितव्या अहं न परिग्रहीतव्योऽन्ये परिग्रहीतव्याः अहं न उपद्रावयितव्योऽन्ये उपद्रावयितव्याः, एवमेव ते स्त्रीकामेषु मूर्च्छिताः गृद्धाः ग्रथिताः गर्हिताः अभ्युपपन्ना यावत् वर्षाणि चतुः पञ्च षट् दशकानि अल्पतरान् वा भूयस्तरान् वा

अन्वयार्थ—किन्तु दूसरे प्राणी मारने योग्य हैं। (अहं ण अज्जावेयव्वो अन्ने अज्जावेयव्वा) मैं आज्ञा देने योग्य नहीं परन्तु दूसरे प्राणी आज्ञा देने योग्य हैं (अहं ण परिघेतव्वो अन्ने परिघेतव्वा) मैं दासी दास आदि बनाने योग्य नहीं परन्तु दूसरे प्राणी दासी दास आदि बनाने योग्य हैं। (अहं ण परितावेयव्वो अन्ने परितावेयव्वा) मैं कष्ट देने योग्य नहीं किन्तु दूसरे प्राणी कष्ट देने योग्य हैं। (अहं ण उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा) मैं उपद्रव के योग्य नहीं परन्तु दूसरे प्राणी उपद्रव के योग्य हैं (एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना) इस प्रकार उपदेश देने वाले वे पूर्वोक्त पुरुष स्त्री और काम भोगों में आसक्त रहते हैं। वे सदा विषय भोग के खोज में लगे रहते हैं उनकी चित्तवृत्ति निरन्तर विषय भोग में लगी रहती है। (जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरोवा भुज्जयरोवा भोगभोगाइं भुंजित्तु

भावार्थ—इनके आगम का यह वाक्य इस बात को स्पष्ट कर रहा है, जैसे कि— "शूद्रं व्यापाद्य प्राणायामं जपेत् किञ्चिद् दद्यात्" तथा "क्षुद्रसत्त्वानामनस्थिकानां शकटभरमपि व्यापाद्य ब्राह्मणं भोजयेत्" अर्थात् शूद्र को मार कर प्राणायाम करे और मन्त्र जपे अथवा कुछ दान देवे एवं बिना हड्डी के प्राणियों को एक गाड़ी भर भी मार कर ब्राह्मण को भोजन करा दे। इसी तरह वे कहते हैं कि—*हम वर्णों में श्रेष्ठ हैं* इसलिए हम चाहे भारी से भारी भी अपराध करें तो हमको लाठी आदि के द्वारा दण्ड न देना चाहिए परन्तु दूसरे को वध आदि दण्ड देने में भी कोई दोष नहीं है। इस प्रकार असम्बद्ध प्रलाप करने वाले ये अन्यतीर्थी विषमदृष्टि हैं इनके

भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु आसुरिएसु किब्बि-सिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति, ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइमूयत्ताए पच्चायंति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिए ॥ इच्चेयाइं दुवालसकिरियट्ठाणाइं दवि-

छाया—भुक्त्वा भोगान् कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु आसुरिकेषु किल्बिषिकेषु स्थानेषु उपपत्तारो भवन्ति। ततो विप्रमुच्यमानाः भूयो भूयः एलमूकत्वाय तमस्त्वाय जातिमूकत्वाय प्रत्यागच्छन्ति। एव खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते द्वादशं क्रियास्थानं लोभप्रत्ययिक माख्यातम्। इत्येतानि द्वादश क्रिया स्थानानि द्रव्येण

अन्वयार्थ—कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु उववत्तारो भवंति) वे चार पाच छ या दश वर्ष तक थोड़ा या अधिक कामभोगों को भोग कर मृत्यु के समय मृत्यु को प्राप्त करके असुर लोक में किल्विषी देवता होते हैं (ततोवि विप्प-मुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमुयत्ताए जाइमूयत्ताए पच्चागच्छति) उस देवयोनि से मुक्त होने पर वे वार वार गूँगा, जन्मान्ध, तथा जन्म से गूँगा होते हैं। (एव खलु तस्स तप्पत्तिय सावज्जंति आहिज्जइ) इस प्रकार उस लोभी पाखण्डी को लोभप्रत्ययिक सावद्य कर्म का बन्ध होता है। (दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभ-वत्तिएत्ति आहिए) यह वारहवाँ क्रियास्थान लोभप्रत्ययिक कहा गया। (इच्चे-

भावार्थ—पास न्याय बिल्कुल नहीं है अन्यथा अपने को अदण्डनीय और दूसरे प्राणी को दण्डनीय ये कैसे कहते ? इनमे प्रथम व्रत तो होता ही नहीं साथ ही शेष चार व्रत भी नहीं होते हैं। ये स्त्रीभोग मे अत्यन्त आसक्त रहते हैं अत शब्दादि विषयों मे भी इनकी आसक्ति आवश्यक है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है कि—"मूलमेयमहम्मस्स महादोस समुस्सय" अर्थात् स्त्री अधर्म का मूल और दोषों की राशि है अत जो स्त्री में आसक्त है वह सब विषयों मे आसक्त है। ऐसे स्त्रीभोग में आसक्त अन्यतीर्थी कुछ काल तक थोड़ा या ज्यादा विषयों को भोग कर मृत्यु के समय शरीर को छोड़कर किल्विषी देवता होते हैं। वहा से जब इनका पतन होता है तब ये मनुष्यलोक मे आकर जन्मान्ध, गूंगा और

एए समणेण वा माहणेण वा सम्मं सुपरिजाणिअव्वाइं भवंति ॥ सूत्र २८ ॥

छाया—श्रमणेन वा माहनेन वा सम्यक् सुपरिज्ञातव्यानि भवन्ति ॥२८॥

अन्वयार्थ—एयाई दुवालसकिरियट्ठाणाई इच्चेयाइं समणेण वा माहणेण वा सम्मं सुपरिजाणियव्वाइं भवंति) इन पूर्वोक्त बारह क्रियास्थानों को मुक्ति जाने योग्य श्रमण और माहन अच्छी तरह से जान लेवें और जानकर इनका त्याग करें ॥ २८ ॥

भावार्थ—अज्ञानी होते हैं। ऐसे अन्यतीर्थियों को लोभप्रत्ययिक सावद्य कर्म का बन्ध होता है अत: विवेकी साधु को अर्थदण्ड से लेकर लोभप्रत्ययिक तक के १२ क्रियास्थानों को कर्मबन्ध का कारण जान कर सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। २८



अहावरे तेरसमे किरियट्ठाणे इरियावहिएत्ति आहिज्जइ, इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स ईरियासमियस्स भासा

छाया—अथाऽपरं त्रयोदशं क्रियास्थानमैर्यापथिकमित्याख्यायते। इह खलु आत्मत्वाय संवृतस्यानगारस्य ईर्यासमितस्य भाषासमितस्य

अन्वयार्थ—(अहावरे तेरसमे किरियट्ठाणे इरियावहिएत्ति आहिज्जइ) तेरहवें क्रिया स्थान को ऐर्यापथिक कहते हैं। (इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स) इस लोक में जो पुरुष अपने आत्मा का कल्याण करने के लिए सब पापों से निवृत्त है तथा घर-द्वार को छोड़कर प्रव्रज्याधारी हो गया है (ईरियासमियस्स) जो ईर्यासमिति से

भावार्थ—आत्मा का अपने सच्चे स्वरूप में सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाना आत्मभाव, मुक्ति अथवा निर्वाण कहलाता है। पर यह अवस्था जीव को कभी प्राप्त न हुई किन्तु वह अनादिकाल से दूसरे स्वरूप में स्थित होता हुआ चला आ रहा है। इसी कारण ही इसको कभी आत्मसुख की प्राप्ति नहीं हुई है। जब शुभ कर्म के उदय से जीव को यह अभिलाषा उत्पन्न होती है कि—"मैं अपने सत्य आत्मसुख को प्राप्त करूं" तब वह

समियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमियस्स मणसमियस्स वयसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तिंदियस्स गुत्तबंभयारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स

छाया—एसणासमितस्य आदानभाण्डमात्रानिक्षेपणासमितस्य उच्चार प्रस्रवणखेलसिंघानजलपरिष्ठापनासमितस्य मनःसमितस्य वचः समितस्य कायसमितस्य मनोगुप्तस्य वचोगुप्तस्य कायगुप्तस्य गुप्तेन्द्रियस्य गुप्तब्रह्मचर्य्यस्य आयुक्तं गच्छतः आयुक्तं तिष्ठतः

अन्वयार्थ—युक्त है (भासासमियस्स) जो सावद्य भाषा का भाषण नहीं करता है (एसणासमियस्स) जो एषणा समिति का पालन करता है (आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स) जो आदान भांड और मात्रा के निक्षेपण की समिति से युक्त है (उच्चार पासवणखेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणियासमियस्स) जो बड़ीनीति लघुनीति थूक कफ और नासिका के मल को परठने की समिति से युक्त है (मणसमियस्स) जो मन की समिति से युक्त है (वयसमितस्स) जो वचन की समिति से युक्त है (कायसमियस्स) जो काय की समिति से युक्त है (मनगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तिंदियस्स) जो मन, वचन और काय की गुप्ति से युक्त है (गुत्तबमयारिस्स)

भावार्थ—किसी भी सांसारिक सुख में आसक्त नहीं होता है किन्तु सब सुखों को त्याग कर उस नित्य सुख की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होता है। उस समय उसको उत्तमोत्तम रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द प्रलोभित नहीं कर सकते। गृहवास तो उसको पाश बन्धन के समान प्रतीत होता है। वह पुरुष माता, पिता और भाई आदि सभी सम्बन्धियों से ममता को उतार कर दीक्षा ग्रहण करता है। और शास्त्रानुसार प्रमाद रहित होकर अपनी प्रव्रज्या का पालन करता हुआ जीवन मरण मे नि:स्पृह होकर अपनी आयु को व्यतीत करता है। वह कभी भी आश्रवों का सेवन नहीं करता है सभी इन्द्रियों को उनके विषय से निवृत्त करके पाप से आत्मा की खूब रक्षा करता है। वह चलते फिरते उठते बैठते सोते जागते सदा ही जीवों की विराधना का ध्यान रखता हुआ प्रवृत्ति करता है। वह विना उपयोग के अपने नेत्र के पलकों को गिराना भी बुरा समझता है वह अपने भाण्डोपकरण को लेते और रखते समय

आउत्त चिट्ठमाणस्स आउत्त णिसीयमाणस्स आउत्त तुयट्टमाणस्स आउत्त भुंजमाणस्स आउत्त भासमाणस्स आउत्त वत्थं पडिग्गहं कम्बलं पायपुञ्छणं गिण्हमाणस्स वा णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणिवायमवि अत्थि विमाया सुहुमा किरिया ईरियावहिया नाम

छाया—आयुक्तं निषीदतः आयुक्तं त्वग्वर्तनां कुर्वतः आयुक्तं भुञ्जानस्य आयुक्तं भाषमाणस्य आयुक्तं वस्त्रं परिग्रहं कम्बलं पादप्रोञ्छनं गृह्णतो वा निक्षिपतो वा यावत् चक्षुः पक्ष्मनिमीलनमपि । अस्ति विमात्रा सूक्ष्मा क्रिया ऐर्य्यापथिकी नाम क्रियते । सा च प्रथमसमये

अन्वयार्थ—जो ब्रह्मचर्य्य का पालन करता है (आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्त चिट्ठमाणस्स आउत्त णिसीयमाणस्स) जो उपयोग के साथ चलता है खड़ा होता है और बैठता है (आउत्त तुयट्टमाणस्स आउत्त भुंजमाणस्स आउत्त भासमाणस्स) जो उपयोग के साथ करवटें बदलता है तथा भोजन करता है और बोलता है (आउत्त वत्थं परिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स) जो उपयोग के साथ वस्त्र परिग्रह, पादप्रोञ्छन और कम्बल को ग्रहण करता है (णिक्खिवमाणस्स) जो उपयोग के साथ ही इन वस्तुओं को रखता है (जाव चक्खुपम्हणिवायमवि) जो नेत्र का पलक भी उपयोग के साथ ही गिराता है (अत्थि विमाया सुहुमा किरिया ईरियावहिया नाम कज्जइ) उस साधु को भी विविध मात्रावाली सूक्ष्म ऐर्य्यापथिकी

भावार्थ—तथा बड़ी भीति छींक नीति एवं कफ तथा नासिका के मल को त्यागते समय जीवों की विराधना का ध्यान रखता हुआ ही अपनी प्रवृत्ति करता है। वह अपने मन को बुरे विचार में कभी नहीं आने देता है तथा वाणी को वश में रखते हुए कभी भी सावद्य भाषा का उच्चारण नहीं करता है। शरीर को वह इस प्रकार स्थिर रखता है कि कभी भी उसे बुरी प्रवृत्ति में नहीं जाने देता। वह नव गुप्तियों के साथ ब्रह्मचर्य्य का पालन करता है। इस प्रकार सब प्रकार से पाप की क्रियाओं से बचते रहने पर भी उस पुरुष को तेरहवीं क्रिया ऐर्य्यापथिकी नहीं बचती किन्तु लग जाती है कारण यह है कि—यह क्रिया बड़ी सूक्ष्म है इसलिये धीरे से भी पलक गिराने पर भी लग जाती है केवली पुरुष को भी इस क्रिया का बन्ध होता है। केवली पुरुष स्थाणु की तरह निष्कम्प रहता है इसलिये उसको यह क्रिया न लगनी चाहिये यह शंका करना

कज्जइ, सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा बितीयसमए वेइया तइयसमए णिज्जिएणा सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिएणा सेयकाले अकम्मे यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहि-

छाया--बद्धा स्पृष्टा द्वितीयसमये वेदिता तृतीयसमये निर्जीर्णा सा बद्धस्पृष्टा उदीरिता वेदिता निर्जीर्णा एष्यत्काले अकर्मताऽपि भवति एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते त्रयोदशं क्रियास्थान

अन्वयार्थ—क्रिया लगती है। (सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा) उस ऐर्य्यापथिकी क्रिया का प्रथम समय में बन्ध और स्पर्श होता है (बितीयसमए वेइया) दूसरे समय में उसका अनुभव होता है (तइयसमए णिज्जिण्णा) और तृतीय समय में उसकी निर्जरा होती है (सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिण्णा सेयकाले अकम्मेयावि भवइ) वह ऐर्य्यापिथिकी क्रिया प्रथम समय में बन्ध और स्पर्श को प्राप्त कर तथा दूसरे समय में अनुभव का विषय होकर तीसरे समय में निर्जरा को प्राप्त करके चौथे समय में अकर्मता को प्राप्त होती है। (एवं खलु तप्पत्तिय सावज्जंति आहिज्जइ) इस प्रकार वीत-

भावार्थ—भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे अग्नि के ऊपर चढ़ाया हुआ पानी बराबर फिरता रहता है इसी तरह मन, वचन और काय के योग जिसमे विद्यमान हैं वह जीव सदा ही चलायमान रहता है। वह स्थाणु की तरह निश्चल हो कर रहे यह सम्भव नहीं है अत केवली को भी इस क्रिया का बन्ध होना ठीक ही है।

इस ऐर्य्यापथिकी क्रिया के द्वारा जो कर्म-बन्ध होता है उसकी स्थिति बहुत थोड़ी होती है। वह प्रथम समय मे बाँधा जाकर उसी समय मे स्पर्श किया जाता है और द्वितीय समय में विपाक का अनुभव हो कर तृतीय समय मे निर्जीर्ण हो जाता है। अत इसकी स्थिति की मर्य्यादा दो समय की है। इतनी कम स्थिति जो इसकी मानी जाती है इसका कारण यह है कि—योगों के कारण कर्मों का बन्ध होता है और कषाय के कारण उसकी स्थिति होती है इसलिये जहाँ कषाय नहीं है वहाँ बन्धन की स्थिति होना संभव नहीं है इसलिए साम्परायिक कर्मबन्ध के समान इसकी चिरकाल की स्थिति नहीं होती है। आशय यह है कि—योग के कारण इसका बन्ध तो हो जाता है परन्तु कषाय न रहने के कारण इसकी स्थिति नहीं होती है अतएव इसे 'बद्धस्पृष्टा'

ज्जइ, तेरसमेकिरियट्ठाणे ईरियावहिएत्ति आहिज्जइ ॥ से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरियट्ठाणाइं भासिंसु वा भासेंति वा भासिस्सति वा पन्नविंसु वा पन्नविंति वा पन्नविस्सति वा,

छाया—ऐर्य्यापथिकमित्याख्यायते। स ब्रवीमि ये च अतीताः ये च प्रत्युत्पन्नाः ये च आगमिष्यन्त अर्हन्तो भगवन्तः सर्वे ते एतानि चैव त्रयोदश क्रियास्थानानि अभाषिषुः भाषन्ते भाषिष्यन्ते प्राज्ञि

अन्वयार्थ—उस पुरुष को ऐर्य्यापथिकी क्रिया का बन्ध होता है। (तेरसमे किरियट्ठाणे ईरियावहिएत्ति आहिज्जइ) यह तेरहवाँ क्रियास्थान ऐर्य्यापथिक कहलाता है। (से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एयाइं किरियट्ठाणाइं भासिंसु भासेंतिवा भासिस्संतिवा पन्नविंसुवा पन्नविंतिवा पन्नविस्संतिवा) श्रीसुधर्मास्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि—पूर्व समय में जितने तीर्थंकर हुए हैं और वर्तमान समय में जितने विद्यमान हैं तथा भविष्य में जितने होंगे सभी ने इन तेरह क्रियास्थानों का ही कथन किया है तथा करते हैं और करेंगे। (एवं चेव

भावार्थ—करते हैं अर्थात् यह बन्ध और स्पर्श को साथ ही उत्पन्न करती है। इसका विपाक भी एक मात्र सुख रूप है यह सुख देवताओं के सुख से भी कई गुण उत्तम है। यही ऐर्य्यापथिकी क्रिया का स्वरूप है। जो पुरुष वीतराग हैं उनको इसी क्रिया का बन्ध होता है, शेष प्राणियों को साम्परायिक कर्म का बन्ध होता है। अतः शेष प्राणी ऐर्य्यापथिकी क्रिया को छोड़ कर पूर्वोक्त बारह क्रियास्थानों में विद्यमान होते हैं। पूर्वोक्त १२ प्रकार के क्रियास्थानों में रहने वाले प्राणियों में मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग अवश्य विद्यमान रहते हैं इसलिये उनको साम्परायिक कर्म का बन्ध होता है परन्तु जिसमें प्रमाद और कषाय आदि नहीं हैं किन्तु एक मात्र योग विद्यमान है उसको ऐर्य्यापथिकी क्रिया का बन्ध होता है।

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि—यह जो तेरह

एवं चेव तेरसमं किरियट्ठाणं सेविंसु वा सेवंति वा सेविस्संति वा ॥ सूत्रं २९ ॥

छाया—ज्ञपन् प्रज्ञायन्ति प्रज्ञापयिष्यन्ति वा । एवं त्रयोदशं क्रियास्थानं सेवितवन्तः सेवन्ते सेविष्यन्ते ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—तेरसम किरियट्ठाण सेविंसु वा सेवति वा सेविस्सति वा) प्राचीन तीर्थङ्करों ने इसी तेरहवें क्रियास्थान का सेवन किया है और वर्तमान तीर्थङ्कर इसी का सेवन करते हैं तथा भविष्य तीर्थङ्कर भी इसी का सेवन करेंगे । २९ ॥

भावार्थ—क्रियास्थानों का वर्णन हमने किया है यह सब तीर्थंकरो के द्वारा कहा हुआ है अत इसमे किसी प्रकार का सशय नहीं करना चाहिये ॥ २९॥



अदुत्तरं च णं पुरिसविजयं विभंगमाइक्खिस्सामि, इह खलु णाणापराणाणं णाणाछंदाणं णाणासीलाणं णाणादिट्ठीणं णाणारूईणं णाणारंभाणं णाणाज्झवसाणसंजुत्ताणं णाणाविहपावसुय-

छाया—अत उत्तरं पुरुषविजयविभङ्गमाख्यास्यामि, इह खलु नाना प्रज्ञानां नानाच्छन्दसां नानाशीलानां नानादृष्टीनां नानारुचीनां नानारम्भाणां नानाऽध्यवसानसंयुक्तानां नानाविधपापश्रुताध्ययन-

अन्वयार्थ—(अदुत्तर पुरिसविजय विभगमाइक्खामि) इसके पश्चात् जिस विद्या से पुरुषगण विजय प्राप्त करते हैं अथवा जिसका अन्वेषण करते हैं उस विद्या को बताऊगा । (इह खलु णानापण्णाण णाणाच्छदाण णाणासीलाण णाणादिट्ठीण णाणरुइण णाणा रभाणं णाणाज्झवसाणसजुत्ताण णाणाविहपावसुयज्झयण भवइ) इस लोक में नाना प्रकार के ज्ञान, अभिप्राय, स्वभाव, दृष्टि, रुचि, आरम्भ और अध्यवसायवाले मनुष्य

भावार्थ—इस जगत् मे प्रत्येक मनुष्यों की बुद्धि भिन्न भिन्न होती है । किसी को कोई वस्तु अच्छी लगती है और किसी को कोई । आहार, विहार, शयन, आसन, भूषण, वस्त्र, यान, वाहन, गान और वाद्य आदि मे सब की रुचि समान नहीं होती इसलिये एक जिसको पसन्द करता है दूसरा उसे नहीं करता है । रोजगार धन्धे आदि भी सब, सब को पसन्द नहीं

उज्झयणा एवं भवइ, तंजहा—भोमं उप्पायं सुविणं अंतलिक्खं अंगं सरं लक्खणं वंजणं इत्थिलक्खणं पुरिसलक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं मिंढलक्खणं कुक्कुडलक्खणं तित्तिर लक्खणं वट्टगलक्खणं लावयलक्खणं चक्कलक्खणं छत्तल

छाया— मेवं भवति। तद्यथा भौमम्, उत्पातम्, स्वप्नम् आन्तरिक्षम् आङ्गम् स्वरलक्षणम् व्यञ्जनम्, स्त्रीलक्षणम् पुरुषलक्षणम् हयलक्षणम् गज लक्षणम्, गोलक्षणम्, मेषलक्षणम्, कुक्कुटलक्षणम्, तित्तिरलक्षणम्, वर्तकलक्षणम्, लावकलक्षणम् चक्रलक्षणम्, छत्रलक्षणम्, चर्मलक्ष

अन्वयार्थ—होते हैं वे अपनी अपनी रुचिके अनुसार नाना प्रकार के पापमय शास्त्रों का अध्ययन करते हैं (तंजहा) वे पापमय शास्त्र ये हैं—(१) (भौमम्) भूकम्प आदि विषयों की शिक्षा देनेवाला पृथिवी सम्बन्धी शास्त्र (उप्पायं) उत्पात के अर्थ को बताने वाला शास्त्र। (सुविणं) स्वप्न में देखे हुए हाथी और सिंह आदि वस्तुओं के शुभाशुभ फल को समझाने वाला शास्त्र। (अंतलिक्खं) आकाश में होने वाले मेघ आदि के विषय का ज्ञान बताने वाला शास्त्र (अंगं) भ्रकुटि नेत्र और भुजा आदि अङ्गों के फड़कने का फल बताने वाला शास्त्र। (सरं) काक और शृगाली आदि के शब्दों के फल को बताने वाला शास्त्र। (लक्खणं) पुरुष या स्त्री के हाथ आदि अङ्गों में पड़े हुए यव, मत्स्य पद्म शंख, चक्र तथा श्रीवत्स आदि रेखाओं का फल बताने वाला शास्त्र। (वंजणं) मनुष्य के शरीर में उत्पन्न मस्सा और तिल आदि के फल को बताने वाला शास्त्र। (इत्थिलक्खणं) स्त्री के लक्षण को बताने वाला शास्त्र। (पुरिसलक्खणं) पुरुष के लक्षणों को बतलानेवाला शास्त्र (हयलक्खणं) घोड़े के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र जो 'शालिहोत्र' कहलाता है। (गयलक्खणं) हाथी के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र। (गोणलक्खणं) गौके लक्षणों को बताने वाला शास्त्र। (मिंढलक्खणं) मेष के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र (कुक्कुडलक्खणं) मुर्गे के लक्षण को बताने वाला शास्त्र (तित्तिरलक्खणं) तित्तिर के लक्षण को बताने वाला शास्त्र (वट्टगलक्खणं) वतक पक्षी के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र (लावयलक्खणं) लाव के लक्षण को बताने वाला

भावार्थ—पढ़ते हैं अतएव कोई खेती करता है, कोई नौकरी करता है, कोई शिल्प करता है और कोई वाणिज्य आदि करता है। किसी का शुभ अध्यवसाय होता है और किसी का अशुभ होता है। जो पुरुष प्रबल पुण्य के उदय से उत्तमविवेक सम्पन्न है वह तो सांसारिक पदार्थों में आसक्त

क्खणं चम्मलक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणिलक्खणं कागिणिलक्खणं सुभगाकरं दुब्भगाकरं गब्भाकरं मोहणकरं आहव्वणि पागसासणिं दव्वहोमं खत्तियविज्जं चंदचरियं सूरचरियं सुक्कचरियं बहस्सइचरियं उक्कापायं दिसादाहं मियचक्कं

छाया—णम्, दण्डलक्षणम्, असिलक्षणम्, मणिलक्षणम्, काकिनीलक्षणम्, सुभगाकरीम्, दुर्भगाकरीम्, गर्भकरीम्, मोहनकरीम्, आथर्वणीम्, पाकशासनीम्, द्रव्यहोमम्, क्षत्रियविद्याम्, चन्द्रचरितम्, सूर्य्यचरितम्, शुक्रचरितम्, बृहस्पतिचरितम्, उल्कापातम्, दिग्दाहम्,

अन्वयार्थ—शास्त्र (छत्तलक्खणं) छत्र के लक्षण को बताने वाला शास्त्र (चम्मलक्खणं) चर्म के लक्षण को बताने वाला शास्त्र (दण्डलक्खणं) डंडे के लक्षण को बताने वाला शास्त्र (असिलक्खणं) तलवार के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र (मणिलक्खणं) मणि के लक्षण को बताने वाला शास्त्र (कागिणीलक्खण) कौडी के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र (सुभगाकरं) कुरूप को सुरूप बना देनेवाली विद्या । '(दुब्भगाकरीं) सुरूप को कुरूप बनाने वाली विद्या (गब्भाकरीं) जिस स्त्री को गर्भ न रहता हो उसको गर्भ रख देनेवाली विद्या (मोहणकरीं) पुरुष या स्त्री को मोहित करने वाली विद्या (आहव्वणीं) तत्काल अनर्थ उत्पन्न करने वाली विद्या (पागसासणीं) इन्द्रजाल विद्या (दव्वहोमं) किसी प्राणी को उच्चाटन करने के लिए मधु, घृत आदि द्रव्यों का होम जिससे किया जाता है वह विद्या । (खत्तियविज्ज) क्षत्रियों की विद्या यानी अस्त्र शस्त्र विद्या (चदचरितं) चन्द्रमा की गति को बताने वाली विद्या (सुरचरियं) सूर्य्य की गति को बताने वाला शास्त्र (सुक्कचरियं) शुक्र की चाल को बताने वाला शास्त्र (बहस्सइचरिय) बृहस्पतिकी गति को बताने वाला शास्त्र (उक्कापाय) उल्कापात को बताने वाला शास्त्र (दिसादाह) दिशा के दाह को बताने वाला शास्त्र (मियचक्क) ग्राम आदि में प्रवेश के समय जगली जानवरों के दर्शन होने पर उसके शुभाशुभ फल को बताने वाला शास्त्र

भावार्थ—न रहने के कारण मिथ्याशास्त्रों का अध्ययन नहीं करता है परन्तु जो पुरुष काम भोग मे आसक्त और परलोक की तृष्णा से रहित हैं वे सांसारिक भोग के साधनों की प्राप्ति तथा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए नानाविध पापमय विद्याओं का अभ्याम करते हैं। यद्यपि इन पापमय विद्याओं के अध्ययन से वे इस लोक के पदार्थों को सुगमता से प्राप्त करके उनका उपभोग करते हैं तथापि उनका परलोक बिगड़ जाता है।

वायसपरिमडल पसुवुट्टिं केसवुट्टिं मसवुट्टिं रुहिरवुट्टिं वेतालिं अद्धवेतालिं ओसोवणिं तालुग्घाडणिं सोवागिं सोवरिं दामिलिं कालिंगिं गोरिं गंधारिं ओवतणिं उप्पयणिं जंभणिं थंभणिं लेसणिं आमयकरणिं विसल्लकरणिं पक्कमणिं अंतद्धाणिं आयमिणिं, एवं माइआओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति पाणस्स हेउं पउंजंति

छाया—मृगचक्रम्, वायसपरिमण्डलम्, पांसुवृष्टिम्, केशवृष्टिम्, मांस वृष्टिम्, रुधिरवृष्टिम्, वैतालीम्, अर्धवैतालीम्, उपस्वापिनीम्, तालोद्घाटनीम्, श्वापाकीम्, शाम्बरीम्, द्राविडीम्, कालिङ्गीम्, गौरीम्, गान्धारीम्, अवपतनीम्, उत्पतनीम्, जृम्भणीम्, स्तम्भ नीम्, श्लेषणीम्, आमयकरणीम्, विशल्यकरणीम्, प्रक्रामणीम्, अन्तर्धानीम्, आयमनीम्, एवमादिका विद्याः अन्नस्य हेतोः प्रयु

अन्वयार्थ—(वायसपरिमण्डल) काक आदि पक्षियों के शब्द का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र (पांसुवुट्ठिं) धूलि की वृष्टि का फल बताने वाला शास्त्र (केसवुट्ठिं) केश की वृष्टि का फल बताने वाला शास्त्र (मंसवुट्ठिं) मांस की वृष्टि का फल बताने वाला शास्त्र (रुहिरवुट्ठिं) रुधिर की वृष्टि का फल बताने वाला शास्त्र (वेतालिं) वैताली विद्या, जिसके जप करने से अचेतन काष्ठ में चेतना सी आ जाती है। (अद्ध वेतालिं) अर्ध वैताली विद्या, इस विद्या से वैताली विद्या के द्वारा उठाया हुआ दण्ड गिरा दिया जाता है (ओसोवणिं) अवस्वापनी विद्या, इस विद्या के द्वारा जागते हुए मनुष्य को सुला दिया जाता है (तालुग्घाडणिं) ताला को खोल देने की विद्या (सोवागिं) चाण्डालों की विद्या (सोवरिं) शाम्बरी विद्या (दामिलिं) द्राविडी विद्या (कालिंगिं) कालिङ्गी विद्या (गोरिं) गौरी विद्या (गंधारिं) गान्धारी विद्या (ओवतणिं) नीचे गिराने वाली विद्या (उप्पयणिं) ऊपर उठाने वाली विद्या (जंभणिं) जृम्भण विद्या (थंभणिं) स्तम्भन विद्या (लेसणिं) श्लेषणी विद्या (आमयकरणिं) किसी प्राणी को रोगी बनाने वाली विद्या (विसल्लकरणिं) प्राणी को नीरोग करने वाली विद्या (पक्कमणिं) किसी प्राणी पर भूत आदि की बाधा उत्पन्न करने वाली विद्या (अन्तद्धाणिं) अन्तर्धान होने की विद्या (आयमिणिं) छोटी वस्तु को बड़ी बनाने वाली विद्या (एवमाइआओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति

भावार्थ—आर्य्य जाति में जन्म लेकर भी जो पुरुष इन विद्याओं में आसक्त हैं उसे भाव से अनार्य्य समझना चाहिए। परलोक की चिन्ता को भूलकर जो केवल इस लोक के भोग साधनों को उत्पन्न करने वाली कपटमय विद्याओं

वत्थस्स हेउं पउंजंति लेणस्स हेउं पउंजंति सयणस्स हेउं पउंजंति, अन्नेसिं वा विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं पउंजंति, तिरिच्छं ते विज्जं सेवेंति, ते अणारिया विप्पडिवन्ना कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति ततोऽवि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयताए तमअंधयाए पच्चायंति ॥ सूत्रं ३० ॥

छाया—-ञ्जते, पानस्य हेतोः प्रयुञ्जते वस्त्रस्य हेतोः प्रयुञ्जते, लयनस्य हेतोः प्रयुञ्जते शयनस्य हेतोः प्रयुञ्जते अन्येषां वा विरूपरूपाणां कामभोगानां हेतोः प्रयुञ्जते, तिरश्चीनां ते विद्यां सेवन्ति ते अनार्य्याः विप्रतिपन्नाः कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु आसुरिकेषु किल्बिषिकेषु स्थानेषु उपपत्तारो भवन्ति, ततोऽपि विप्रमुक्ताः भूयः एलमूकत्वाय तमोऽन्धत्वाय प्रत्यायान्ति ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—पानस्स हेउं पउंजंति वत्थस्स हेउ पउंजंति लेणस्स हेउं पउंजंति सयणस्स हेउ पउंजंति) पाषण्डी लोग इन विद्याओं का प्रयोग अन्न, पान, वस्त्र, गृह और शय्या की प्राप्ति के लिए करते हैं (अन्नेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाण हेउं पउंजंति) तथा वे नाना प्रकार के विषय भोगों की प्राप्ति के लिए इन विद्याओं का प्रयोग करते हैं। (तिरिच्छ ते विज्जं सेवंति) वस्तुत ये विद्यायें परलोक के प्रतिकूल हैं अत इनका अभ्यास करने वाले प्रतिकूल विद्याओं का सेवन करते हैं। (ते अणारिया विप्पडिवन्ना कालमासे काल किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति) इन विद्याओं का अध्ययन करने वाले वे अनार्य्य पुरुष भ्रम में पड़े हैं, वे आयु क्षीण होने पर मर कर किसी असुरसम्बन्धी किल्बिषी देवता के स्थान को प्राप्त करते हैं (ततोवि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमुयत्ताए तमअन्धयाए पच्चायंति) वे वहाँ से हट कर फिर गूंगे और जन्मान्ध होते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—में आसक्त हैं वे भ्रम मे पड़े हैं। ये विद्यायें परलोक के प्रतिकूल हैं इसलिए जो इनका अभ्यास करते हैं वे मरने के पश्चात् असुर लोक में किल्बिषी होते हैं। वहां की अवधि पूर्ण होने पर वे मनुष्य लोक मे जन्म लेकर गूंगे और जन्मान्ध होते हैं अत विवेकी पुरुष इन विद्याओं के अभ्यास से दूर रहते हैं। ये पापमय विद्यायें अन्वयार्थ मे नाम और अर्थ के साथ लिख दी गई हैं अत फिर यहा लिखने की आवश्यकता नहीं है ॥ ३० ॥

से एगइओ आयहेउं वा णायहेउं वा सयणहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा नायगं वा सहवासियं वा णिस्साए अदुवा अणुगामिए १ अदुवा उवचरए २ अदुवा पडिपहिए ३ अदुवा संधिछेदए ४ अदुवा गंठिछेदए ५ अदुवा उरब्भिए ६ अदुवा सोयरिए ७ अदुवा वागुरिए ८ अदुवा साउणिए ९ अदुवा

छाया—स एकत्यः आत्महेतोर्वा ज्ञातिहेतोर्वा शयनहेतोर्वा अगारहेतोर्वा परिवारहेतोर्वा ज्ञातकं वा सहवासिकं वा निश्रित्य अथवा अनुगामिकः अथवा उपचरकः अथवा प्रातिपथिकः अथवा सन्धिच्छेदकः अथवा ग्रन्थिच्छेदकः अथवा औरभ्रिकः अथवा शौकरिकः अथवा वागुरिकः अथवा शाकुनिकः अथवा मात्स्यिकः अथवा गोघातकः अथवा

अन्वयार्थ—(से एगइओ आयहेउवा णाइहेउवा सयणहेउवा) कोई पापी मनुष्य अपने लिए अथवा अपने ज्ञाति के लिए अथवा अपने स्वजन के लिए अथवा निवास आदि के लिए (अगारहेउ वा परिवारहेउवा) घर बनाने के लिए अथवा अपने परिवार का भरण पोषण के लिए (नायगंवा सहवासियं णिस्साए) अथवा अपने परिचित व्यक्ति या पड़ोसी के लिए निम्न लिखित पाप कर्म का आचरण करते हैं। (अणुगामिए) कोई पापी किसी स्थान पर जाते हुए पुरुष के पीछे उसका धन हरण करने के लिए जाता है (अदुवा उवचरए) अथवा वह धन हरने के लिए किसी की सेवा करता है (अदुवा पडिपहिए) अथवा वह धन हरण करने के लिए किसी पुरुष के सम्मुख आता है (संधिछेदए) कोई पापी दूसरे के धन को चुराने के लिए उसके घर में सेंध करता है (अदुवा गंठिछेदए) अथवा वह किसी की गाँठ काटता है (अदुवा उरब्भिए) अथवा वह भेड़ चराता है (अदुवा सोयरिए) अथवा वह सूअर चराता है (अदुवा वागुरिए) अथवा वह जाल फैला कर मृग आदि को पकड़ता है (अदुवा साउणिए) अथवा वह जाल

भावार्थ—जिस मनुष्य को परलोक का ध्यान नहीं है वह क्या-क्या अनर्थ नहीं कर सकता है? जो पुरुष सांसारिक विषय भोगों को उपार्जन करना ही मनुष्य का परम कर्तव्य समझते हैं उनके लिये कार्य्य और अकार्य्य कोई वस्तु नहीं है। वे भारी से भारी पाप करने में जरा भी संकोच नहीं करते हैं। वे झूठ बोल कर चोरी करके, विश्वासघात के द्वारा नरहत्या स्त्रीहत्या, बालहत्या, पशुहत्या इत्यादि पापों के आचरण से

च्छिए १० अदुवा गोघायए ११ अदुवा गोवालए १२ अदुवा
ोवणिए १३ अदुवा सोवणियंतिए १४ ॥ एगइओ आणुगा-
ियभावं पडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता छेत्ता भेत्ता
तुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया
ावेहिं कम्मेहि अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ उव-
चरयभावं पडिसंधाय तमेव उवचरियं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता

छाया—गोपालकः अथवा शौवनिकः अथवा श्वभिरन्तकः। एकतयः अनु-
गामुकभावं प्रतिसन्धाय तमेव अनुगामुकानुगम्य हत्वा छित्त्वा
भित्त्वा लोपयित्वा विलोप्य उपद्राव्य आहारमहारयति। इति स
महद्भिः पापैः कर्मभिः आत्मानम् उपख्यापयिता भवति। स एक-
तयः उपचरकभाव प्रतिसंधाय तमेवोपचर्य्यं हत्वा छित्त्वा भित्त्वा

अन्वयार्थ—फेंक कर पक्षियो को पकड़ता है (अदुवा मच्छिए) अथवा वह मछलियों को पकड़ता है (अदुवा गोघायए) अथवा वह गायों का घात करता है यानी कसाई का काम करता है (अदुवा गोवालए) अथवा वह गोपालन करता है (अदुवा सोवणिए) अथवा वह कुत्तों को पालता है (अदुवा सोवणियतिए) अथवा वह कुत्तों के द्वारा जानवरों का शिकार करता है (एगइओ आणुगामियभाव पडिसधाय) कोई पापी पुरुष, ग्राम आदि में जाते हुए किसी धनवान व्यक्ति के पीछे पीछे जाता हुआ (तमेव अणुगामियाणुगामिय हत्ता छेत्ता भेत्ता लुपइत्ता विलुपइत्ता उद्दवइत्ता आहार आहारेति) उस पुरुष को दण्ड आदि से मार कर अथवा तलवार आदि से काट कर अथवा शूल आदि से वेधकर उसे घसीट कर अथवा चाबुक आदि से मार कर अथवा उसकी हत्या करके उसके धन को लूट कर अपना आहार उपार्जन करता है। (इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताण उव-क्खाइत्ता भवति) इस प्रकार महापाप करने वाला वह पुरुष जगत में महा पापी के नाम से प्रसिद्ध होता है (से एगइओ उवचरगभावं पडिसधाय तमेव उवचरिय हत्ता छेत्ता भेत्ता लुपइत्ता विलुपइत्ता उद्दवइत्ता आहारमाहारेति) कोई

भावार्थ—सांसारिक सुख की सामग्री को उपार्जन करते हैं। वे दया का नाम भी नहीं जानते हैं। क्रूरता निष्ठुरता उनके नश नश मे भरी रहती है। वे आगे कहे हुए चौदह प्रकार के अनर्थों का सेवन करके अपने मनुष्य जीवन को पापमय बना देते हैं। वे जगत् मे महापापी कह कर बोधित

विलुपइत्ता उद्दवइत्ता आहार आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताण उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ पाडिपहिय भाव पडिसधाय तमेव पाडिपहे ठिच्चा हृता छेत्ता भेत्ता लुपइत्ता विलुपइत्ता उद्दवइत्ता आहार आहारेति, ति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताण उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ संधि

छाया—लोपयित्वा विलोप्य उपद्राव्य आहारमाहारयति । इति स महद्भिः पापै कर्मभि· आत्मानम् उपख्यापयिता भवति । स एकत्य· प्रति पथिकभावं प्रतिसन्धाय तमेव प्रतिपथे स्थित्वा हत्वा छित्वा भित्वा लोपयित्वा विलोप्य उपद्राव्य आहारम् आहरति । इति स महद्भि· पापै कर्मभिः आत्मानम् उपख्यापयिता भवति । स एकत्य·

अन्वयार्थ—पापी किसी धनवान् व्यक्ति का सेवक बनकर उस अपने स्वामी को ही मार पीट कर तथा उसका छेदन भेदन घात और जीवन का नाश करके उसके धन को हरकर अपना आहार उपार्जन करता है (इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति) इस प्रकार का महापाप करने वाला वह पापी जगत् में अपने महान् पाप के कारण महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है । (से एगइओ पाडिपहियभावं पडिसधाय तमेव पडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारमाहारेति) कोई पापी जीव किसी ग्राम आदि से आते हुए किसी धनवान व्यक्ति के सम्मुख जाकर उसके मार्ग में स्थित रहता हुआ उसे मार पीट कर तथा उसका छेदन भेदन आदि करके उसके धन को हरकर अपनी जीविका उपार्जन करता है । (इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति) इस प्रकार महान् पाप करने के कारण वह पुरुष जगत में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है (से एगइओ

भावार्थ—किये जाते हैं । वे जिन पापमय कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे संक्षेपतः ये हैं—

(१) कोई मनुष्य किसी धनवान व्यक्ति को किसी ग्राम आदि में आता हुआ देख कर उसका धन हरण करने के लिए उसके पीछे-पीछे जाता है, जब वह अपने पाप कार्य के योग्य काल और स्थान को प्राप्त करता है तब वह उस धनवान् को मारपीट कर उसका धन छीन लेता है ।

(२) कोई धनवान् का नौकर बन कर उसकी सेवा करता है

छेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ गंठिछेदगभावं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहि कम्मेहि अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ उरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ । एसो अभिलावो सव्वत्थ ॥ से एगइओ

छाया—सन्धिच्छेदकभावं प्रतिसन्धाय तमेव सन्धिं छित्वा भित्वा यावत् इति स महद्भिः पापैः कर्मभिः आत्मानम् उपख्यापयिता भवति । स एकतयः ग्रन्थिच्छेदकभाव प्रतिसन्धाय तामेव ग्रन्थिं छित्वा भित्वा यावत्, इति स महद्भि पापैः कर्मभिः आत्मानम् उपख्यापयिता भवति स एकतयः औरभ्रिकभावं प्रतिसन्धाय उरभ्रं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावत् उपख्यापयिता भवति । एष अभिलापः सर्वत्र । स एकतयः शौकरिकभावं प्रतिसन्धाय महिषं

अन्वयार्थ—सधिच्छेदगभाव पडिसंधाय तमेव संधि छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहि कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति) कोई पापी धनवानों के घरों में सेंध काटने वाला बनकर धनवानों के घरों में सेंध काट कर उसके धन का हरण करके अपनी जीविका उपार्जन करता है इसलिए वह महान् पाप करने के कारण जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है (से एगइओ गण्ठिच्छेदगभाव पडिसंधाय तमेव गंठि छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहि कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुष धनवानों के धन की गांठ काटने वाला बनकर धनवानों की गांठ काटता फिरता है और वह इसी पाप से अपनी जीविका उपार्जन करता है इसलिए वह इस महान पापकर्म के कारण जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है । (से एगइओ उरब्भियभावं पडिसधाय तमेव उरब्भंवा अन्नयरंवा तसं पाण हत्ता जाव उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुष भेड़ों को पालन करने वाला बन

भावार्थ—परन्तु वह धन हरण करने का मौका पाकर उसे मार कर उसका धन हरण कर लेता है ।

(२) कोई धनवान् को किसी दूसरे ग्राम से आता हुआ सुन कर उसके सम्मुख जाता है और अवसर पाकर उसे मारपीट कर उसका धन लूट लेता है ।

सोयरियभाव पडिसंधाय महिसं वा अण्णतर वा तस पाण जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ वागुरियभाव पडिसंधाय मियं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ सउणियभाव पडिसंधाय सउणिं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ मच्छियभाव

छाया—वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावत् उपख्यापयिता भवति । स एकतयः वागुरिकभावं प्रतिसन्धाय मृगं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावत् उपख्यापयिता भवति । स एकतयः शाकुनिकभावं प्रतिसन्धाय शकुनिं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावत् उपख्यापयिता भवति । स एकतयः मात्स्यिकभावं प्रतिसन्धाय मत्स्यं वा

अन्वयार्थ—वह भैंसों को या किसी दूसरे त्रस प्राणियों को मार कर अपनी जीविका उपार्जन करता है इसलिए वह जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है । (से एगइओ सोयरियभाव पडिसंधाय महिसं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुष सुअरों को पालन करने वाला बनकर भैंसे या दूसरे त्रस प्राणियों को मार कर अपनी जीविका उपार्जन करता है इसलिए वह जगत में इस महान् पाप कर्म के कारण महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है । (से एगइओ वागुरियभावं पडिसंधाय मियं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुष मृग घातक का कर्म अङ्गीकार करके मृग या किसी दूसरे प्राणी को मारकर अपना आहार उपार्जन करता है वह पापी इस महान् पापकर्म के आचरण से जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है । (से एगइओ सउणिय-

भावार्थ— (४) कोई धनवानों के घर में सेंध काट कर उसमें प्रवेश करता है और उसके धन को हरण करके अपना और अपने परिवार का पालन करता है ।

(५) कोई धनवानों को असावधान देख कर उनकी गाँठ काटता है ।

(६) कोई भेड़ों को पालता हुआ उनके मांस और बालों को बेच कर अपना आहार उपार्जन करता है । वह दूसरे प्राणियों का भी घात करता है केवल भेड़ों का ही नहीं इसलिये वह महापापी है ।

(७) कोई सुअरों को पाल कर उसके बाल तथा मांस से अपना

पडिसंधाय मच्छं वा अएणतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ गोघायभावं पडिसंधाय तमेव गोणं वा अएणयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ गोवालभावं पडिसंधाय तमेव गोवालं वा परिजविय परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ सोवणियभावं पडिसंधाय तमेव सुणगं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता

छाया—अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावत् उपख्यापयिता भवति। स एकतयः गोघातकभावं प्रतिसन्धाय तामेव गां वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावत् उपख्यापयिता भवति। स एकतयः गोपालभावं प्रतिसन्धाय तमेव गोवालं परिविच्य परिविच्य हत्वा यावत् उपख्यापयिता भवति। स एकतयः सौवनिकभा' प्रतिसन्धाय तमेव

अन्वयार्थ—भाव पडिसधाय सउणिवा अन्नयर वा तस पाण हता जाव उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुष पक्षी पकड़ने वाले के कार्य को अगीकार करके पक्षी को या अन्य किसी दूसरे प्राणी को मार कर अपना आहार उपार्जन करता है अत वह इस महान् पाप के कारण जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है। (से एगइओ मच्छियभाव पडिसधाय मच्छं वा अन्नयर वा तस पाण हता जाव उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुष मछली पकड़ने वाले का धन्धा स्वीकार करके मछली या किसी दूसरे त्रस प्राणी को मारकर अपना आहार उपार्जन करता है इसलिए वह महापाप करने के कारण जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है। (से एगइओ गोघायभाव पडिसंधाय गोण वा अन्नयरवा तस पाण हता जाव उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुष गौ घात का यानी कसाई का कार्य्य अङ्गीकार कर के गौ को या किसी दूसरे त्रस प्राणी को मार कर अपना आहार उपार्जन करता है अत वह ऐसे महान् पाप के कार्य्य करने से जगत् में महा पापी के नाम से प्रसिद्ध होता है। (से एगइओ गोवालभाव पडिसधाय तमेव गोवालं परिजविय परिजविय जाव इति मे महया पावेहि कम्मेहि उव-

भावार्थ—आहार उपार्जन करता है। श्वपच चाण्डाल और खट्टिक जाति के लोग प्राय' यह कार्य्य करते हैं।

(८) कोई जाल लगा कर मृग आदि प्राणियों को मारा करता है और उसके मास को वेच कर अपनी जीविका चलाता है।

जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ सोवणियंतियभावं पडिसंधाय तमेव मणुस्सं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारं आहारेति इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति

छाया—श्वानंवा अन्यतरंवा त्रसं प्राणं हत्वा यावत् उपख्यापयिता भवति । स एकत्यः श्वभिरन्तकभावं प्रतिसन्धाय तमेव मनुष्यंवा

अन्वयार्थ—(उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुष गौ पालन का कार्य्य स्वीकार करके उसी गौ के बच्चे को गोठे से बाहर निकाल कर पीटता है इस पाप के सेवन करने से वह जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है (से एगइओ सोवणियभावं पडिसंधाय तमेव मणुस्सं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुष कुत्ता पालने का कार्य्य स्वीकार करके उसी कुत्ते को अथवा दूसरे त्रस प्राणी को मारकर अपनी जीविका चलाता है अतः वह उक्त महा पाप के सेवन से जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है (से एगइओ सोवणियंतियभावं पडिसंधाय तमेव मणुस्सं वा अन्नयरंवा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुष कुत्तों के द्वारा ग्राम की जानवरों को मारने की वृत्ति स्वीकार करके मनुष्य को या त्रस प्राणी

भावार्थ—(९) कोई श्रावक आदि पक्षियों को फंसा कर अपना तथा अपने स्वजनवर्ग का पालन करता है।

(१०) कोई मछली मार कर अपना आहार उत्पन्न करता है।

(११) कोई क्रूरकर्मी जीव गायों का वध करके उनके माँस और चर्म से अपना आहार उत्पन्न करता है।

(१२) कोई गोपालन का कार्य्य स्वीकार करके किसी गाय पर क्रोधित होकर उसे गोठे से बाहर निकाल कर लाठियों से पीटता है।

(१३) कोई कुत्तों को तथा दूसरे प्राणियों को मार कर अपनी जीविका उपार्जन करता है।

(१४) कोई कुत्तों के द्वारा जानवरों का घात करके अपना निर्वाह करता है ये चौदह प्रकार के पापमय कार्य महापापी पुरुषों के

वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारं आहरति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥ सूत्रं ३१ ॥

छाया--अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावत् आहारमाहारयति । इति स महद्भिः पापैः कर्मभिः आत्मानम् उपख्यापयिता भवति ।

अन्वयार्थ—को मारकर अपना आहार उपार्जन करता है इसलिए वह उक्त महापाप के कारण जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है।

भावार्थ—द्वारा किए जाते हैं। ये सभी नरकगामी और महापातकी है । विवेकी पुरुप सदा इनसे निवृत्त रहते हैं ॥ ३१ ॥



से एगइओ परिसामज्झाओ उट्ठित्ता अहमेयं हणामीत्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविंजलं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति से एगइओ केणवि आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताणं वा सयमेव अगणिका

छाया--स एकतयः पर्षन्मध्यादुत्थाय अहमेतं हनिष्यामीति कृत्वा तित्तिरं वा वर्तकं वा लावकं वा कपोतकं वा कपिञ्जलं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हंता यावद् उपख्यापयिता भवति । स एकतयः केनाप्यादानेन विरुद्धः सन् अथवा खलदानेन अथवा सुरास्थालकेन गृहपतेरथवा गृहपतिपुत्राणां वा स्वयमेव अग्निकायेन शस्यानि

अन्वयार्थ—(से एगइओ परिसामज्झाओ उट्ठित्ता उहमेयं हणामीत्ति कट्टु तित्तिरवा लावग वा कवोयग वा कपिजल वा अन्नयर वा तस पाणं हता जाव उवक्खाइत्ता भवति) कोई पुरुप सभा में से उठकर प्रतिज्ञा करता है कि—"मैं इस प्राणी को मारूंगा," पश्चात् वह तिचिर, लावक, कबूतर, कपिञ्जल या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार कर अपने इस महान् पाप कर्म के कारण महापापी के नाम से अपनी प्रसिद्धि करता है (से एगइओ खलदाणेणं सुराथालएणं केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे गाहवतीणं गाहावइपुत्ताण वा सम्माइ सयमेव अगणिकाएण

एणं सस्साइं झामेइ अन्नेणवि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेइ अगणिकाएणं सस्साइं झामंतंवि अण्णं समणुजाणइ इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ।

छाया—ध्मापयति अन्येनाऽपि अग्निकायेन शस्यानि ध्मापयति अग्निकायेन शस्यानि ध्मापयन्तमन्यं वा समनुजानाति इति स महद्भिः पापैः कर्मभिः आत्मानमुपख्यापयिता भवति ।

अन्वयार्थ—झामेइ) कोई पुरुष सड़े गले अन्न देनेसे अथवा किसी दूसरी अपनी इष्टसिद्धि के न होने से अथवा और किसी कारण से गाथापति के ऊपर क्रोधित होकर उसके अथवा उसके पुत्रों के शस्यों को गेहूँ आदि धान्यों को स्वयमेव आग लगाकर जला देता है (अन्नेणवि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेइ, अगणिकाएणं सस्साइं झामंतं समणुजाणइ) और दूसरे के द्वारा भी जलवा देता है तथा गाथापति और उसके पुत्रों के शस्य आदि के जलाते वाले को अच्छा जानता है (इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति) इस कारण वह जगत् में महापापी के नाम से अपने को प्रसिद्ध करता है ।

भावार्थ—स्पष्ट है ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ

छाया—स एकतयः केनाऽप्यादानेन विरुध्यन् अथवा खलदानेन अथवा सुरास्थालकेन गाथापतीनां वा गाथापतिपुत्राणां वा उष्ट्राणां गवां घोटकानां गर्दभाणां स्वयमेव अङ्गादीन् कल्पयति अन्येना-

अन्वयार्थ—(से एगइओ खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा) कोई पुरुष सड़ा गला अन्न आदि देने से अथवा किसी दूसरे अभीष्ट अर्थ की सिद्धि न होने से तथा किसी दूसरे अपमान आदि कारणों से क्रोधित हो कर गाथापति के अथवा उसके पुत्रों के (उट्टाणं वा गोणाणं घोडगाणं वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेति) ऊंट, गौ, घोड़ा और गदहों के

कप्पेति अन्नेणवि कप्पावेति कप्पंतंवि अन्नं समणुजाणइ इति से महया जाव भवइ ।

छाया—ऽपि कल्पयति कल्पयन्तं वा अन्यं समनुजानाति इति महद्भिर्यावद् भवति ।

अन्वयार्थ—जङ्घा आदि अङ्गों को स्वयमेव कटता है (अण्णेणवि कप्पावेति कप्पंतं वि अण्ण समणुजाणइ इति से महया जाव भवइ) और दूसरे से भी कटवाता है तथा काटते हुए को अच्छा जानता है इस कारण वह महापापी के नाम से अपने को प्रसिद्ध करता है ।

भावार्थ—स्पष्ट है ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा गोणसालाओ वा घोडगसालाओ वा गद्दभसालाओ वा कंटकबोंदियाए परिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं

छाया—स एकतयः केनाऽप्यादानेन विरुध्यन् अथवा खलदानेन अथवा सुरास्थालकेन गाथापतीनां वा गाथापतिपुत्राणां वा उष्ट्रशालाः वा गोशालाः वा घोटकशालाः वा गर्दभशालाः वा कण्टकशाखाभिः

अन्वयार्थ—(से एगइओ केणइ आयाणेण) कोई पुरुष अपमान आदि किसी कारणवश (अदुवा खलदाणेण अदुवा सुराथालएण) अथवा गाथापति से खराब या कम अन्न पाकर अथवा उससे अपनी इष्ट सिद्धि न होने के कारण (विरुद्धे समाणे) गाथापति के ऊपर क्रोधित होकर (गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा) गाथापति की तथा उसके पुत्रों की (उट्टसालाओ वा गोणसालाओ वा घोडगसालाओ वा गद्दभसालाओ वा) उष्ट्रशाला, गोशाला, अश्वशाला और गर्दभशालाओं को (कंटकबोंदियाए परिपेहित्ता) कांटे की शाखाओं से ढक कर (सयमेव अगणिकाएण झामेइ अन्ने-

भावार्थ—जगत् में कोई पुरुष ऐसे होते हैं जो किसी गृहस्थ के ऊपर किसी कारण वश क्रोधित होकर उसकी तथा उसके पुत्रों की उष्ट्रशाला, गोशाला, अश्वशाला तथा गर्दभशाला को काँटे की शाखाओं से ढक कर उनमें स्वय

झामेइ अन्नेणवि झामावेइ झामंतं वि अन्नं समणुजाणइ इति से महया जाव भवइ ।

छाया—परिपिधाय स्वयमेवाग्निकायेन ध्मापयति अन्येनाऽपि ध्मापयति ध्मायन्त मप्यन्यं समनुजानाति इति स महाक्रियावान् भवति ।

अन्वयार्थ—(झामेइ झामावेइ झामंतं वि अन्नं समणुजाणइ) स्वयं उसमें आग लगा देता है और दूसरे के द्वारा आग लगवा देता है तथा उसमें आग लगाने वाले को अच्छा मानता है (इति से महया जाव भवइ) इस कारण वह पुरुष जगत् में महापापी कहा जाता है ।

भावार्थ—आग लगा देते हैं और दूसरे से भी लगवा देते हैं तथा आग लगाने वाले को अच्छा समझते हैं ऐसे पुरुष महापापी कहलाते हैं ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा कुण्डलं वा मणिं वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ अन्नेणवि अवहरावेइ अवहरंतंवि अन्नं समणुजाणइ इति से महया जाव भवइ ।

छाया—स एकतयः केनाऽप्यादानेन विरुध्यन् अथवा खलदानेन अथवा सुरास्थालकेन गाथापतीनां वा गाथापतिपुत्राणां वा कुण्डलं वा मणिं वा मौक्तिकं वा स्वयमेव अपहरति अन्येनाऽप्यपहारयति अपहरन्त मप्यन्यं समनुजानाति इति स महाक्रि० यावद् भवति ।

अन्वयार्थ—(से एगइओ खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं) कोई पुरुष ऐसा होता है, जो गाथापति से कम या खराब अन्न पाने से अथवा उससे किसी दूसरे मनोरथ की सिद्धि न हो सकने से अथवा (केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे) किसी दूसरे कारण से उसके ऊपर क्रोधित होकर (गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा) गाथापति के अथवा उसके पुत्रों के (कुण्डलं वा मणिं वा मोत्तियं वा) कुण्डल मणि, अथवा मोती को (सयमेव अवहरइ) स्वयं हरण करता है (अन्नेणवि अवहरावेइ) दूसरे से भी हरण कराता है (अवहरंतंवि अन्नं समणुजाणइ) तथा हरण करते हुए दूसरे को अच्छा जानता है (इति से महया जाव भवइ) ऐसा कर्म करने के कारण वह पुरुष महापापी कहलाता है ।

भावार्थ—इस जगत् में बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं जो किसी कारणवश गाथापति के ऊपर क्रोधित हो कर उसके तथा उसके पुत्रों के कुण्डल, मणि, और मोती को स्वयं हरण कर लेते हैं और दूसरे से भी हरण कराते हैं तथा हरण करते हुए को अच्छा मानते हैं ऐसे पुरुष महापापी हैं ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा भंडगं वा मत्तगं वा लट्ठिं वा भिसिगं वा चेलगंवा चिलिमिलिगंवा चम्मयं वा छेयणगं वा चम्मकोसियं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणइ इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

छाया--स एकतयः केनाप्यादानेन विरुध्यन् अथवा खलदानेन अथवा सुरास्थालकेन श्रमणानां वा माहनानां वा छत्रकं वा दण्डकं वा भाण्ड कं वा मात्रकं वा यष्टिकां वा वृसीं वा चेलकं वा मच्छादनपटीं वा चर्मकं वा छेदनकं वा चर्मकोशिकां वा स्वयमेव अपहरति यावत् समनुजानाति इति स महद्भिर्यावद् उपख्यापयिता भवति ।

अन्वयार्थ—(से एगइओ खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं केणइ आयाणेण विरुद्धे समाणे) कोई पुरुष श्रमण माहनों से कम या सड़ा गला अन्न पाकर अथवा उनसे किसी अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि न होने से अथवा किसी भी कारण से उनके ऊपर क्रोधित हो कर (समणाणं वा माहणाणं वा छत्तग वा दंडग वा भंडग वा मत्तगवा लट्ठिं वा भिसिग वा चेलग वा चिलिमिलिगं वा चम्मय वा छेयणग वा चम्मकोसियवा सयमेव अवहरति) उन श्रमण और माहनों के छत्ता, डंडा, भाण्ड, पात्र, लाठी, आसन, वस्त्र, पर्दा, चर्म, तलवार चमड़े की थैली इन वस्तुओं को स्वयं हरण करता है (जाव समणुजाणइ इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ) तथा दूसरे से हरण कराता है और हरण करते हुए को अच्छा जानता है। वह पुरुष इस कर्म के कारण महापापी कहा जाता है ।

भावार्थ--किसी पाखण्डी के ऊपर क्रोधित निर्विवेकी पुरुष उनके उपकरणों को स्वयं हरण करता है और दूसरे से भी हरण कराता है तथा हरण करते हुए को अच्छा जानता है ऐसे पुरुष को महापापी जानना चाहिये ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ तंजहा गाहावईण वा गाहावइपुत्ताणवा सयमेव अगणिकाएणं ओसहीओ झामेइ जाव अन्नंपि झामंतं समणुजाणइ इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवति ।

छाया—स एकत्यः नो विमर्शति, तद्यथा गाथापतीनां वा गाथापतिपुत्राणां वा स्वयमेवाग्निकायेन ओषधी ध्मापति, यावत् ध्मापयन्तमप्यन्यं समनुजानाति इति समहद्भिः यावत् उपख्यापयिता भवति ।

अन्वयार्थ—(से एगइओ णो वितिगिंछइ) कोई पुरुष कुछ विचार नहीं करता है (तंजहा गाहावईणं वा गाहावइपुत्ताणं वा ओसहीओ सयमेव अगणिकाएणं झामेइ) वह बिना ही कारण गाथापति तथा उसके पुत्रों के धान्य आदि को स्वयमेव आग लगा कर जला देता है (जाव अन्नंपि झामंतं समणुजाणइ) तथा दूसरे से भी जलवाता है और जलाते हुए को अच्छा जानता है (इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ) इस कारण वह जगत् में महापापी कहलाता है ।

भावार्थ—पूर्व सूत्रों में किसी कारण से क्रोधित होकर दूसरे का अपकार करने वाले पापियों का वर्णन किया है परन्तु यहां बिना कारण ही पाप करने वाले अधार्मिकों का वर्णन किया जाता है । कोई पुरुष इतना अधिक पापी होता है कि वह बिना कारण ही दूसरे का अपकार आदि पाप किया करता है वह पाप का जरा भी विचार नहीं करता है । दूसरे की बुराई करने में उसे बड़ा ही आनन्द आता है इसलिये वह अपने इस अधार्मिक स्वभाव के कारण गाथापति के धान्य आदि पदार्थों को आग लगाकर स्वयं जला देता है तथा दूसरे से भी ऐसा कराता है और ऐसा करने वाले को वह अच्छा मानता है । जिसकी ऐसी प्रवृत्ति है वह पुरुष महापापी कहलाता है ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ, तं० गाहावईण वा गाहावइ

छाया—स एकत्यः नो विमर्शति तद्यथा गाथापतीनां वा गाथापति

अन्वयार्थ—(से एगइओ णो वितिगिंछइ) कोई पुरुष अपने कर्म के फल को विचारता नहीं है (तंजहा गाहावईण वा गाहावइपुत्ताणवा) वह गाथापति तथा उसके पुत्रों के

भावार्थ—कोई पुरुष बिना कारण ही गाथापति तथा उसके पुत्रों के ऊंट गाय घोड़े और गदहे आदि जानवरों के अङ्गों को स्वयमेव छेदन करता है तथा

पुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेइ अन्नेणावि कप्पावेइ अन्नंपि कप्पंतं समणु जाणइ ।

छाया—पुत्राणां वा उष्ट्राणं गवां घोटकानां गर्द्दभाणां वा स्वयमेव अवयवान् कल्पयति अन्येनापि कल्पयति अन्यमपि कल्पयन्तं समनुजानाति ।

अन्वयार्थ—(उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सममेव घूराओ कप्पेइ) ऊँट, गाय, घोड़ा और गदहे के अङ्गों को स्वय छेदन करता है (अन्नेणवि कप्पावेति अन्नमवि कप्पत समणुजाणइ) तथा दूसरे से छेदन कराता है और छेदन करने वाले को अच्छा जानता है ।

भावार्थ—छेदन करने वाले को वह अच्छा जानता है । यद्यपि इससे उसको कुछ लाभ नहीं है किन्तु व्यर्थ ही महापाप उसको होता है तथापि वह अत्यन्त मूढ प्राणी इस बात का विचार नहीं करता है उसे ऐसा करने में बडा आनन्द मालुम होता है इसमे उसकी पापमयी मनोवृत्ति ही कारण है ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ तं० गाहावतीण वा गाहावइ पुत्ताण वा उट्टसालाओ वा जाव गद्दभसालाओ वा कंटक बोंदियाहि परिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ जाव समणु जाणइ ।

छाया—स एकतयः नो विमर्षति तद्यथा गाथापतीनां वा गाथापतिपुत्राणां वा उष्ट्रशालाः वा यावद् गर्द्दभशालाः वा कण्टकशाखाभिः परिपिधाय स्वयमेव अग्निकायेन ध्मापयति यावत् समनुजानाति ।

अन्वयार्थ—(से एगइओ णो वितिगिछइ) कोई पुरुष अपने कर्म के फल का कुछ विचार नहीं करता है (त० गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टसालाओ जाव गद्दभसालाओ वा) किन्तु विना ही कारण गाथापति तथा उसके पुत्रों की ऊँटशाला, घोड़शाला, गोशाला और गर्दभशाला को (कटकबोंदियाहि परिपेहित्ता) कॉटों की शाखाओं से ढककर (सयमेव अगणिकाएण झामेइ जाव समणुजाणइ) स्वयमेव आग लगा कर जला देता है और दूसरे से भी जलवा देता है तथा जलाते हुए को अच्छा जानता है ।

भावार्थ—स्पष्ट है ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ त० गाहावतीण वा गाहावइ पुत्ताण वा जाव मोत्तिय वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ।

छाया—स एकत्यः नो विमर्षति तद्यथा गाथापतीनां वा गाथापतिपुत्राणां वा यावद् मौक्तिकं स्वयमेवापहरति यावत् समनुजानाति ।

अन्वयार्थ—(से एगइओ णो वितिगिंछइ) कोई पुरुष अपने कर्म के फल को विचारता नहीं है (त-गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा जाव मोत्तियं सयमेव अवहरइ) वह गाथापति तथा उसके पुत्रों के मोती आदि भूषणों को स्वयं हरण करता है (जाव समणुजाणइ) तथा दूसरे से भी हरण कराता है और हरण करते हुए को अच्छा जानता है ।

भावार्थ—स्पष्ट है ।

से एगइओ णो वितिगिंछइ त० समणाण वा माहणाण वा छत्तग वा दंडग वा जाव चम्मछेदणगं वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

छाया—स एकत्य नो विमर्षति तद्यथा श्रमणानां वा माहनानां वा छत्रकं वा दण्डकं वा यावत् चर्मच्छेदनकं वा स्वयमेव अपहरति यावत् समनुजानाति इति स महद्भिःपापैः उपख्यापयिता भवति ।

अन्वयार्थ—(से एगइओ णो वितिगिंछइ) कोई पुरुष अपने कर्म के फल का विचार नहीं करता है (त० समणाण माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा जाव चम्मछेदणगं सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ) जैसे कि—वह बिना कारण ही श्रमण और माहनों के छत्र-दण्ड तथा चर्मछेदन आदि उपकरणों को स्वयं हर लेता है और दूसरे से भी हरण कराता है तथा हरण करने वाले को अच्छा जानता है (इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ) इस कारण वह पुरुष महापापी कहा जाता है ।

भावार्थ—जगत् में बहुत पुरुष ऐसे भी होते हैं जो अपने कर्म के फल का विचार नहीं करते । वे बिना ही कारण दूसरे को कष्ट दिया करते हैं । ऐसे पुरुषों का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—कोई पुरुष बिना ही कारण श्रमण और माहनों के छत्र आदि उपकरणों को स्वयं हर लेते हैं और दूसरों से भी हरण कराते हैं तथा हरण करते हुए को अच्छा समझते हैं । जो पुरुष किसी अपमान आदि कारणों से ऐसा करता है वह भी महापापी है फिर बिना ही कारण ऐसा करने वाला तो उससे भी बढ़ कर महा पापी है इसमें तो सन्देह ही क्या है ।

से एगइओ समणं वा माहणं वा दिस्सा नानाविहेहिं पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ, अदुवा णं अच्छराए आफालित्ता भवइ अदुवा णं फरुसं वदित्ता भवइ। कालेणपि से अणुपविट्ठस्स असणं वा पाणं वा जाव णो दवावेत्ता भवइ।

छाया—स एकतयः श्रमणं वा माहनं वा दृष्ट्वा नानाविधैः पापकर्मभिः आत्मानमुपख्यापयिता भवति अथवा अप्सरसः आस्फालयिता भवति अथवा परुषं वदिता भवति कालेनाऽपि तस्यानुप्रविष्टस्य अशनं वा पानं वा यावन्नो दापयिता भवति।

अन्वयार्थ—(से एगइओ समणं वा माहण वा दिस्सा) कोई पुरुष श्रमण और माहन को देखकर (नानाविहेहिं पावकम्मेहिं अत्ताण उवक्खाइत्ता भवइ) उनके प्रति अनेक प्रकार के पापमय व्यवहार करता है और ऐसा करने से वह महापापी कहा जाता है (अदुवा ण अच्छराए आफालित्ता भवइ) वह साधु को अपने सामने से हटजाने के लिए चुटकी बजाता है (अदुवा ण फरुसं वदित्ता भवइ) अथवा वह साधु को कटुवाक्य कहता है। (कालेणवि अणुपविट्ठस्स असणं वा पाण वा जाव णो दवावेत्ता भवइ) उसके घर पर साधु यदि गोचरी के लिए गोचरी के समय जाता है तो वह साधु को अशन आदि आहार नहीं देता है।

भावार्थ—कोई पुरुष साधु को देखकर उनके प्रति अनेक पापमय व्यवहार करता है वह साधु को देखना भी न चाहता हुआ सामने से उन्हें हट जाने के लिये चुटकी बजाता है तथा कटुवाक्य कहकर साधु को पीड़ित करता है। जब साधु उसके घर पर गोचरी के समय गोचरी के निमित्त जाते हैं तो वह उन्हें अशनादिक आहार नहीं देता है।

जे इमे भवंति वोनमंता भारक्कंता अलसगा वसलगा किवणगा समणगा पव्वयंति।

छाया—ये इमे भवन्ति व्युन्नमन्तः भाराक्रान्ताः अलसकाः वृषलकाः कृपणकाः श्रमणकाः प्रव्रजन्ति।

अन्वयार्थ—(जे इमे भवति वोनमंता भारक्कता अलसगा किवणगा वसलगा) वह पापी पुरुष कहता है कि—ये जो भारवहन आदि नीच कर्म करनेवाले दरिद्र शूद्र हैं वे आलस्य के कारण (समणगा पव्वयंति) श्रमण की दीक्षा लेकर सुखी बनने की चेष्टा करते हैं।

भावार्थ—स्पष्ट है।

ते इणामेव जीवितं धिज्जीवित संपडिबूहेंति, नाइ ते परलोगस्स अट्ठाए किंचिवि सिलीसंति, ते दुक्खंति ते सोयंति ते जूरंति ते तिप्पंति ते पिट्टंति ते परितप्पंति ते दुक्खणजूरणसोयणतिप्पणपिट्टणपरितिप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति, ते महया आरंभेणं ते महया समारंभेणं ते महया आरंभसमारंभेणं विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोग

छाया—ते इदमेव जीवितं धिग्जीवितं सम्प्रतिबृंहन्ति । नाऽपि ते परलोकस्य अर्थाय किञ्चिदपि श्लिष्यन्ति ते दुःख्यन्ति ते शोचन्ते ते जूरयन्ति ते तिप्यन्ति ते पिट्टन्ति ते परितप्यन्ति ते दुःखनजूरणशोचन तेपनपिट्टनपरितापनवधबन्धनपरिक्लेशेभ्यः अप्रतिविरताः भवन्ति ते महता आरम्भेण महता समारम्भेण ते महद्भ्यामारम्भसमारम्भाभ्यां विरूपरूपैः पापकर्मकृत्यैः उदाराणां मानुष्यकाणां

अन्वयार्थ—(ते इणमेव जीवितं धिज्जीवितं संपडिबूहेंति) वे साधु द्रोही जीव इस सदोष मय जीवन को जो वस्तुतः धिग्जीवन है उत्तम मानते हैं। (ते परलोगस्स अट्ठाए णाइ किंचिवि सिलिस्संति) वे मूर्ख परलोक के लिए कुछ भी कार्य्य नहीं करते हैं (ते दुक्खंति) वे दुःख पाते हैं (ते सोयंति) शोक पाते हैं (ते जूरंति) पश्चात्ताप करते हैं (ते तिप्पंति) दुःखी होते हैं (ते पिट्टंति) पीड़ित होते हैं (ते परितप्पंति) ताप भोगते हैं (ते दुक्खणजूरणसोयणतिप्पणपिट्टणपरितिप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति) वे दुःख खिन्नता, शोक, ताप पीड़ा, परिताप वध और बन्धन आदि कष्टों से कभी निवृत्त नहीं होते हैं (ते महया आरंभेणं महया समारंभेण महया आरंभसमारंभेण विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजित्तारो भवंति) वे

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से साधुओं की निन्दा करने वाले साधुद्रोहियों का जीवन यद्यपि धिग्जीवन है तथापि वे उसे उत्तम समझते हैं। वे परलोक के लिए कुछ भी कार्य्य नहीं करते। वे पाप कर्म में आसक्त रहते हुए स्वयं दुःख भोगते हैं और दूसरों को भी कष्ट देते हैं। वे प्राणियों को नाना प्रकार की पीड़ायें देकर अपने लिए भोग की सामग्री तैयार करते हैं। चाहे करोड़ों प्राणियों की हत्या क्यों न हो जाय परन्तु अपने भोग में

भोगाइं भुंजित्तारो भवंति, तंजहा-अन्नं अन्नकाले पाणं पाणकाले वत्थं वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले सपुव्वावरं च णं एहाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसा एहाए कंठेमालाकडे आविद्धमणिसुवन्ने कप्पियमालामउली पडिबद्धसरीरे वग्घारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे अहतवत्थपरिहिए चंदणोक्खित्तगायसरीरे महतिमहालियाए कूडागारसालाए महतिमहा-

छाया—भोगानां भोक्तारो भवन्ति। तद्यथा- अन्नमन्नकाले पानं पान काले वस्त्रं वस्त्रकाले लयनं लयनकाले शयनं शयनकाले सपूर्वा परञ्च स्नातः कृतवलिकर्मा कृतकौतुकमङ्गलमायश्चित्तः शिरसा स्नातः कण्ठे मालाकृत् आविद्धमणिसुवर्णः कल्पितमालामुकुटी प्रतिबद्धशरीरः प्रतिलम्बितश्रोणिसूत्रकमाल्यदामकलापः अहत वस्त्रपरिहितः चन्दनोक्षितगात्रशरीरः महत्यां विस्तीर्णायां कूटा-

अन्वयार्थ—अनेक प्रकार के आरम्भ और समारम्भ तथा नाना प्रकार के पाप कर्म करके उत्तमोत्तम मनुष्यसम्बन्धी भोगों को भोगते हैं (तजहा—अन्नं अन्नकाले पानं पानकाले वत्थ वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले) वे अन्न के समय अन्न को पान के समय पान को वस्त्र के समय वस्त्र को गृह के समय गृह को शय्या के समय शय्या को भोगते हैं (सपुव्वावरं च ण्हाए कयवलिकम्मे) वे प्रातः- काल और मध्यान्हकाल तथा सायंकाल में स्नान करके देवता आदि की पूजा करते हैं (कयकोउयमंगलपायच्छित्ते) वे देवता की आरती करके मङ्गल के लिए सुवर्ण चन्दन दधि अक्षत और दर्पण आदि माङ्गलिक पदार्थों का स्पर्श करते हैं। (सिरसाण्हाए कंठेमालाकडे) वे सर्शीर्ष स्नान करके कण्ठ में माला धारण करते हैं (आविद्धमणिसुवन्ने कप्पियमालामउली) वे मणि और सुवर्ण को अङ्गों में पहन कर शिर के ऊपर फूलों की माला के मुकुट धारण करते हैं (पडिवद्धसरीरे वग्घारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे) युवावस्था के कारण शरीर से वे हृष्ट पुष्ट होते हैं और कमर में करधनी तथा छाती के ऊपर वे फूलों की माला पहनते हैं (अहतवत्थपरिहिए) अत्यन्त स्वच्छ और नवीन वस्त्र पहनते हैं (चदणोक्खित गायसरीरे) अपने अङ्गों में चन्दन का लेप करते हैं (महति महालियाए कुडागार

भावार्थ—वे किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने देते। यहां उनकी विलासिता का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है— ये प्रातःकाल उठ कर स्नान कर के

लयसि सीहासणंसि इत्थीगुम्मसंपरिवुडे सव्वराइएणं जोइणा झियायमाणेणं महयाहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुपवाइयरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ,

छाया—गारशालायां महति विस्तीर्णे सिंहासने स्त्रीगुल्मसंपरिवृतः सार्वरात्रिकेण ज्योतिषा ध्यायमानेन महताहतनाट्यगीतवादित्रतन्त्रीतलताल-त्रुटिकघनमृदङ्गपटुप्रवादितरवेण उदारान् मानुष्यकान् भोगान् भुञ्जानो विहरति ।

अन्वयार्थ—सजाए) इस प्रकार स्नान कर के वे महान् प्रासाद के ऊपर जाते हैं (महति महालयंसि सिंहासणंसि) वहाँ वे महान् सिंहासन के ऊपर बैठ जाते हैं (इत्थीगुम्मसंपरिवुडे) वहाँ स्त्रियाँ आकर चारों ओर से उन्हें घेर लेती हैं (सव्वराइएणं जोइणा झियायमाणेणं) वहाँ रात भर दीपक जलते रहते हैं (महयाहयनट्टगीय वाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुपवाइयरवेणं) उस स्थान में नाच गान, वीणा मृदङ्ग और हाथ की तालियों की ध्वनि होने लगती है (उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति) इस प्रकार उत्तमोत्तम मनुष्य सम्बन्धी भोगों को भोगता हुआ वह पुरुष अपना जीवन व्यतीत करता है।

भावार्थ—मंगलार्थ सुवर्ण दर्पण सरसों दधि अक्षत आदि माङ्गलिक पदार्थों का स्पर्श करते हैं। पश्चात् देवार्चन कर के अपने शरीर में चन्दनादि का लेप और फूलमाला कटिसूत्र और मुकुट आदि भूषणों को धारण करते हैं। युवावस्था तथा यथेष्ट उपभोग की प्राप्ति के कारण इनका शरीर बहुत हृष्ट पुष्ट होता है वे सायंकाल में शृङ्गार कर के ऊँचे महल में जा कर बड़े सिंहासन पर बैठ जाते हैं। वहाँ नवयौवना स्त्रियाँ उन्हें चारों ओर से घेर लेती हैं और अनेकों दीपकों के प्रकाश में रात भर वहाँ वे नाच गान और बाजों के मधुर शब्दों का उपभोग करते हैं। इस प्रकार उत्तमोत्तम भोगों को भोगते हुए वे अपने जीवन को व्यतीत करते हैं।

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा आवुत्ता चेव अब्भुट्ठंति, भणह देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? किं आहरेमो ? किं उवणेमो ? किं आचिट्ठामो ! किं भे हियं इच्छियं ? किं भे आसगस्स सयइ ?, तमेव पासित्ता अणारिया एवं वयंति-देवे खलु अयं पुरिसे, देवसिणाए खलु अयं पुरिसे, देवजीवणिज्जे खलु अयं पुरिसे, अन्नेवि य णं उवजीवंति, तमेव

छाया—तस्यैकमप्याज्ञापयतः यावत् चत्वारः पञ्च वा अनुक्ताश्चैव पुरुषाः अभ्युत्तिष्ठन्ति । भणत देवानुप्रियाः । किं कुर्मः किमाहरामः किमुपनयामः किमातिष्ठामः किं भवतां हितमिष्टं किं भवतः आस्यस्य स्वदते । तमेव दृष्ट्वा अनार्य्याः एवं वदन्ति देवः खलु अयं पुरुषः देवस्नातकः खलु अयं पुरुषः देवजीवनीयः खलु अयं पुरुषः अन्ये

अन्वयार्थ—(एगमवि आणवेमाणस्स तस्स अवुत्ता चेव चत्तारि पच जणा अब्भुट्ठंति) वह पुरुष जब किसी एक मनुष्य को आज्ञा देता है तो चार पाच मनुष्य विना कहे ही खड़े हो जाते हैं (देवाणुप्पिया भणह कि करेमो ? कि आहरेमो ? कि उवहरेमो) वे कहते हैं कि—हे देवताओं के प्रिय ! कहिये हम आपकी क्या सेवा करें ? क्या लावें क्या भेंट करें । (कि आचिट्ठामो) तथा क्या कार्य्य करें ? (भे कि हिय इच्छिय) आपका क्या हित है और क्या इष्ट है ? (भे आसगस्स कि सयइ) आपके मुख को कौनसी वस्तु रुचिकर है सो बताइये ? (तमेव पासित्ता अणारिया एव वयति) उस पुरुष को इस प्रकार सुख भोगते हुए देख कर अनार्य्य जीव कहते हैं कि—(देवे खलु अय पुरिसे) यह पुरुष तो देवता है (देवसिणाए खलु अय पुरिसे) यह तो देवों से भी श्रेष्ठ है (देवजीवणिज्जे खलु अय पुरिसे) यह तो देव जीवन व्यतीत कर रहा है (अन्ने वि य णं उवजीवति) इसके आश्रय से

भावार्थ—वह पुरुष जब किसी एक मनुष्य को कुछ आज्ञा देता है तो विना कहे ही चार पाँच मनुष्य खड़े हो जाते हैं। वे कहते हैं कि—हे देवानुप्रिय ! बतलाइये हम आपकी क्या सेवा करें ? कौन सी वस्तु आपको प्रिय है जिसे लाकर हम आपका प्रिय करें इत्यादि। इस प्रकार सेवक वृन्दों से सेवा किये जाते हुए तथा उत्तमोत्तम विषयों को भोगते हुए उस पुरुष को देखकर अनार्य्य पुरुष उसे बहुत उत्तम समझते हैं वे कहते हैं कि—यह पुरुष मनुष्य नहीं किन्तु देवता है यह देवजीवन व्यतीत

पासित्ता आरिया वयंति अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे, अतिधुत्ते अइयायरक्खे दाहिणगामिए नेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहियाए यावि भविस्सइ,

छाया—ऽप्येनमुपजीवन्ति । तमेवं दृष्ट्वा आर्य्याः वदन्ति अभिक्रान्तक्रूरकर्मा खलु अयं पुरुषः अतिधूर्त्तः अत्यात्मरक्षः दक्षिणगामी नैरयिकः कृष्णपाक्षिकः आगमिष्यति दुर्लभबोधिको भविष्यति ।

अन्वयार्थ—दूसरे भी आनन्द करते हैं (तमेव पासित्ता आरिया वयंति) परन्तु इस प्रकार भोग विलास में आसक्त उस पुरुष को देख कर आर्य्य पुरुष कहते हैं कि—(अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे) यह पुरुष तो अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाला है (अतिधुत्ते) यह अत्यन्त धूर्त पुरुष है (अइयायरक्खे) यह अपने शरीर की अत्यन्त रक्षा करने वाला है । (दाहिणगामिए) यह दक्षिण दिशा के नरक को जाने वाला है (नेरइए कण्हपक्खिए) यह नरकगामी तथा कृष्णपक्षी है । (आगमिस्साणं दुल्लहबोहियाए यावि भविस्सइ) यह भविष्य काल में दुर्लभबोधी होगा ।

भावार्थ—कर रहा है इसके बराबर सुखी जगत् में कोई नहीं है दूसरे लोग जो इसकी सेवा करते हैं वे भी आनन्द भोगते हैं अतः यह पुरुष महाभाग्य वान् है इत्यादि । परन्तु जो पुरुष विवेकी हैं वे उस विषयी जीव को भाग्यवान् नहीं कहते वे तो उसे अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाला अतिधूर्त और विषय की प्राप्ति के लिए अत्यन्त पाप करने वाला कहते हैं । ऐसा मनुष्य नरकगामी कृष्णपक्षी और भविष्य में दुर्लभबोधी होता है यह आर्य्य पुरुष कहते हैं ।

इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिया एगे अभिगिज्झंति अणुट्ठिया

छाया—इत्येतस्य स्थानस्य उत्थिता एके अभिगृध्यन्ति अनुत्थिता एके

अन्वयार्थ—(उट्ठिया एगे इच्चेयस्स ठाणस्स अभिगिज्झंति) कोई मूर्ख जीव मोक्ष के लिये उठ कर भी इस स्थान के पाने की इच्छा करते हैं (एगे अणुट्ठिया अभिगिज्झंति)

भावार्थ—कोई मूर्ख जीव घर द्वार को छोड़ कर मोक्ष के लिए उद्यत हो कर भी पूर्वोक्त विषय सुख की इच्छा करते हैं तथा गृहस्थ और दूसरे विषयासक्त प्राणी भी इस स्थान की चाहना करते हैं, वस्तुतः यह स्थान इच्छा के

वेगे अभिगिज्झंति अभिझंझाउरा वेगे अभिगिज्झंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुन्ने अणेयाउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अनिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहु एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सूत्रं ३२ ॥

छाया——अभिगृध्यन्ति अभिझंझाकुलाः एके अभिगृध्यन्ति। एतत् स्थानम् अनार्य्यम् अकेवलम् अप्रतिपूर्णम् अनैयायिकम् असंशुद्धम् अशल्य-कर्त्तनम् असिद्धिमार्गम् अमुक्तिमार्गम् अनिर्वाणमार्गम् अनिर्य्याणमार्गम् असर्वदुःखप्रहीणमार्गम् एकान्तमिथ्या असाधु एष खलु प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभङ्गः एवमाख्यातः।

अन्वयार्थ—कोई गृहस्थ भी इस स्थान को पाने की इच्छा करते हैं। (अभिझंझाउरा अभिगिज्झति) तथा तृष्णातुर मनुष्य इस स्थान को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं (एस ठाणे अणारिए) वस्तुत यह स्थान अनार्य्य यानी बुरा है (अकेवले) यह स्थान केवल ज्ञान रहित है। (अप्पडिपुन्ने) इसमें पूर्ण सुख नहीं है (अणेयाउए) इसमें न्याय नहीं है (असंसुद्धे) इसमें पवित्रता नहीं है (असल्लगत्तणे) यह कर्मरूपी शल्य नष्ट करने वाला नहीं है। (असिद्धिमग्गे) यह सिद्धि का मार्ग नहीं है (अमुत्तिमग्गे) यह मुक्ति का मार्ग नहीं है (अनिव्वाणमग्गे) यह निर्वाण का मार्ग नहीं है (अनिज्जाणमग्गे) यह निर्याण का मार्ग नहीं है (असव्वदुक्खपहीणमग्गे) यह समस्त दुःखों का नाश करने वाला नहीं है (एगंतमिच्छे असाहु) यह स्थान एकान्त मिथ्या और बुरा है (एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभगे एवमाहिए) यह प्रथम स्थान अधर्मपक्ष का विचार किया गया।

भावार्थ—योग्य नहीं है क्योंकि यह हिंसा झूठ कपट आदि दोषों से पूर्ण होने के कारण अधर्ममय है। इस स्थान में केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती न कर्मबन्धन ही नष्ट होता है यह स्थान संसार को बढाने वाला और कर्म-पाश को दृढ करने वाला है। यद्यपि मृगतृष्णा के जल के समान इसमें कुछ सुख भी दिखाई देता है तथापि विषलिप्त अन्न भोजन के समान वह परिणाम मे दुःखोत्पादक है अतः विद्वान् पुरुष को इस स्थान की इच्छा न करनी चाहिये यह आशय है ॥ ३२ ॥

पासित्ता आरिया वयंति अभिक्कतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे, अतिधुन्ने अइयायरक्खे दाहिणगामिए नेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहियाए यावि भविस्सइ,

छाया—ऽप्येनमुपजीवन्ति । तमेव दृष्ट्वा आर्य्या वदन्ति अभिक्रान्तक्रूरकर्मा खलु अयं पुरुष अतिधूर्त अत्यात्मरक्ष दक्षिणगामी नैरयिकः कृष्णपाक्षिक आगमिष्यति दुर्लभबोधिको भविष्यति ।

अन्वयार्थ—दूसरे भी आनन्द करते है (तमेव पासित्ता आरिया वयंति) परन्तु इस प्रकार भोग विलास में आसक्त उस पुरुष को देख कर आर्य्य पुरुष कहते हैं कि—(अभिक्कंत कूरकम्मे खलु अयं पुरिसे) यह पुरुष तो अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाला है (अतिधुन्ने) यह अत्यन्त धूर्त पुरुष है (अइयायरक्खे) यह अपने शरीर की अत्यन्त रक्षा करने वाला है । (दाहिणगामिए) यह दक्षिण दिशा के नरक को जाने वाला है (नेरइए कण्हपक्खिए) यह नरकगामी तथा कृष्णपक्षी है । (आगमिस्साणं दुल्लहबोहियाए यावि भविस्सइ) यह भविष्य काल में दुर्लभबोधी होगा ।

भावार्थ—कर रहा है इसके बराबर सुखी जगत् में कोई नहीं है दूसरे लोग जो इसकी सेवा करते हैं वे भी आनन्द भोगते हैं अतः यह पुरुष महाभाग्यवान् है इत्यादि । परन्तु जो पुरुष विवेकी हैं वे उस विषयी जीव को भाग्यवान् नहीं कहते वे तो उसे अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाला अतिधूर्त और विषय की प्राप्ति के लिए अत्यन्त पाप करने वाला कहते हैं । ऐसा मनुष्य नरकगामी कृष्णपक्षी और भविष्य में दुर्लभबोधी होता है यह आर्य्य पुरुष कहते हैं ।

इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिया वेगे अभिगिज्झंति अणुट्ठिया

छाया—इत्येतस्य स्थानस्य उत्थिता एके अभिगृध्यन्ति अनुत्थिता एके

अन्वयार्थ—(उट्ठिया वेगे इच्चेयस्स ठाणस्स अभिगिज्झंति) कोई मूर्ख जीव मोक्ष के लिये उद्यत हो कर भी इस स्थान के पाने की इच्छा करते हैं (वेगे अणुट्ठिया अभिगिज्झंति)

भावार्थ—कोई मूर्ख जीव घर बार को छोड़ कर मोक्ष के लिए उद्यत हो कर भी पूर्वोक्त विषय सुख की इच्छा करते हैं तथा गृहस्थ और दूसरे विषयासक्त प्राणी भी इस स्थान की वाञ्छा करते हैं, वस्तुतः यह स्थान दुःखम य

णेतव्वो, तेणेव अभिलावेण जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुडेत्ति बेमि ॥ एस ठाणे आरिए केवले जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहु, दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सूत्रं ३३ ॥

छाया— भिलापेन यावत् सर्वोपशान्ताः सर्वात्मतया परिनिर्वृत्ता इति ब्रवीमि। एतत् स्थानं आर्य्यं केवलं यावत् सर्वदुःखप्रहीणमार्गम् एकान्त सम्यक् साधु द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभङ्ग एवमाख्यातः।

अन्वयार्थ—तहा णेयव्वो) ये सब बातें जो पुण्डरीक के प्रकरण मे कही हैं वे यहां कहनी चाहियें (तेणेव अभिलावेण जाव सव्वोपसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुडेत्ति बेमि) और उसी बोल के अनुसार जो पुरुष सब कषायों से अलग और सब इन्द्रियों के भोगों से निवृत्त हैं वे धर्म पक्ष वाले है यह मै (सुधर्मास्वामी) कहता हूं (एस ठाणे आरिए केवले जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगतसम्मे साहु) यह स्थान आर्य्यस्थान और केवल ज्ञान को उत्पन्न करने वाला तथा समस्त दुखों का नाशक है। यह एकान्त सम्यक् और उत्तम स्थान है। (दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए) यह द्वितीय स्थान जो धर्मपक्ष है उसका विचार इस प्रकार किया गया है।

भावार्थ—है अत फिर दुहराने की आवश्यकता नहीं है यहाँ केवल बताना यह है कि शक यवन आदि अनार्य्य पुरुषों के जो दोष बताये गये हैं उन दोषों से रहित जो पुरुष उत्तम आचार मे प्रवृत्त है वही धार्मिक है और उसका जो स्थान है वही धर्मस्थान या धर्म पक्ष है वही स्थान केवल ज्ञान की प्राप्ति का कारण और न्यायसंगत है अत विवेकी पुरुष को उसी पक्ष का आश्रय लेना चाहिये यह आशय है।



अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाइं भवंति, एसो आलावगो जहा पोंडरीए तहा

छाया—अथापरः द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभङ्ग एवमाख्यायते इह खलु प्राच्यां वा प्रतीच्यां वा उदीच्यां वा दक्षिणस्यां वा सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति तद्यथा— आर्य्या एके अनार्य्या एके उच्चगोत्रा एके नीचगोत्रा एके कायवन्त एके ह्रस्वा एके सुवर्णा एके दुर्वर्णा एके सुरूपा एके दुरूपा एके, तेषाञ्च क्षेत्रवास्तूनि परिगृहीतानि भवन्ति, एष आलापकः यथा पौण्डरीके तथा नेतव्यः तेनैव

अन्वयार्थ—(अह अवरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ) इसके पश्चात् द्वितीय स्थान जो धर्मपक्ष कहलाता है उसका विचार किया जाता है। (इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवन्ति) इस मनुष्य लोक में पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशाओं में अनेक प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं (तंजहा आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे) जैसे कि—कोई आर्य्य कोई अनार्य्य कोई उच्च गोत्र वाले कोई नीच गोत्र वाले (कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे) कोई लम्बे शरीर वाले कोई छोटे कोई सुन्दर वर्ण वाले कोई बुरे वर्ण वाले कोई सुरूप और कोई कुरूप होते हैं (तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाइं भवन्ति) इन पुरुषों के खेत और मकान परिग्रह होते हैं (एसो आलावगो जहा पोंडरीए

भावार्थ—अधर्म पक्ष पहला पक्ष है इसलिये उसका वर्णन करने के पश्चात् धर्मपक्ष का वर्णन किया जाता है। जिन कार्य्यों से पुण्य की उत्पत्ति होती है उसे धर्म कहते हैं उस धर्म का अनुष्ठान करने वाले बहुत से मनुष्य जगत् में निवास करते हैं वे पुण्यात्मा आर्य्यवंश में उत्पन्न हैं उनसे विपरीत शक यवन और बर्बर आदि अनार्य्य जन भी जगत् में निवास करते हैं इनका वर्णन पुण्डरीक अध्ययन में विस्तार के साथ किया गया

णेतव्वो, तेणेव अभिलावेण जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुडेत्ति बेमि ॥ एस ठाणे आरिए केवले जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहु, दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सूत्रं ३२ ॥

छाया— भिलापेन यावत् सर्वोपशान्ताः सर्वात्मतया परिनिर्वृत्ता इति ब्रवीमि। एतत् स्थानं आर्य्यं केवलं यावत् सर्वदुःखप्रहीणमार्गम् एकान्त सम्यक् साधु द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभङ्ग एवमाख्यातः।

अन्वयार्थ—तहा णेयव्वो) ये सब बातें जो पुण्डरीक के प्रकरण मे कही हैं वे यहां कहनी चाहियें (तेणेव अभिलावेण जाव सव्वोपसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुडेत्ति बेमि) और उसी बोल के अनुसार जो पुरुष सब कषायों से अलग और सब इन्द्रियों के भोगों से निवृत्त है वे धर्म पक्ष वाले है यह मै (सुधर्मास्वामी) कहता हू (एस ठाणे आरिए केवले जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगतसम्मे साहु) यह स्थान आर्य्यस्थान और केवल ज्ञान को उत्पन्न करने वाला तथा समस्त दुःखों का नाशक है। यह एकान्त सम्यक् और उत्तम स्थान है। (दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभगे एवमाहिए) यह द्वितीय स्थान जो धर्मपक्ष है उसको विचार इस प्रकार किया गया है।

भावार्थ—है अत फिर दुहराने की आवश्यकता नहीं है यहाँ केवल बताना यह है कि शक यवन आदि अनार्य्य पुरुषों के जो दोष बताये गये हैं उन दोषों से रहित जो पुरुष उत्तम आचार मे प्रवृत्त है वही धार्मिक है और उसका जो स्थान है वही धर्मस्थान या धर्म पक्ष है वही स्थान केवल ज्ञान की प्राप्ति का कारण और न्यायसंगत है अत विवेकी पुरुष को उसी पक्ष का आश्रय लेना चाहिये यह आशय है।



अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ, जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुई रहस्सिता जाव त तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए पच्चायंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्व

छाया—अथाऽपरस्तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभङ्ग एवमाख्यायते-ये इमे भवन्ति आरण्यका आवसथिका ग्रामान्तिका क्वचिद्रा हसिका यावत् ते ततो विप्रमुच्यमाना भूय एलमूकत्वाय तम स्त्वाय प्रत्यायान्ति। एतत् स्थानम् अनार्य्यम् अकेवलं यावत्

अन्वयार्थ—(अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ) इसके पश्चात् तीसरा स्थान जो मिश्रपक्ष कहलाता है उसका विचार इस प्रकार है (जे इमे आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुईरहस्सिता) वन में निवास करने वाले तापस आदि तथा घर या कुटी बना कर रहने वाले तापस तथा ग्राम के निकट निवास करने वाले तापस और जो किसी गुप्त विषय में विचार करने वाले तापस हैं (ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए पच्चायंति) वे मरने के पश्चात् किल्बिषी देवता होते हैं और वे वहां से छूट कर इस लोक में फिर गूंगे और अन्धे होते हैं। (वे जिस मार्ग का सेवन करते हैं उसे मिश्र स्थान कहते हैं)

भावार्थ—जिस स्थान में पाप और पुण्य दोनों का योग है उसे मिश्रस्थान कहते हैं इसके कई भेद हैं। जिसमें पुण्य और पाप दोनो ही बराबर हैं वह भी मिश्र स्थान कहलाता है और जिसमें पाप बहुत अधिक और पुण्य बिलकुल अल्पमात्रा में है वह भी मिश्र स्थान है। यहां उस मिश्रस्थान का वर्णन है जिसमें पुण्य बिलकुल अल्प और पाप बहुत अधिक है क्योंकि—इसे शास्त्रकार बिलकुल मिथ्या और बुरा बतलाते हैं यह उसी हालत में हो सकता है जबकि पुण्यका अंश बिलकुल नगण्यसा हो। यह स्थान तापसों का है जो जंगल में निवास करते हैं तथा कोई कुटी बनाकर रहते हैं एवं कोई ग्रामकी सीमा के ऊपर रहते हैं। ये तापस अपने को धार्मिक और मोक्षगामी बतलाते हैं। इनकी प्राणातिपात आदि दोषों से किञ्चित् निवृत्ति भी देखी जाती है परन्तु वह नहीं के बराबर ही है क्योंकि—इनका हृदय मिथ्यात्वमल से दूषित होता है तथा इनको जीव और अजीव का विवेक भी नहीं होता है अतः ये मिश्र

दुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सूत्रं ३४ ॥

छाया—असर्वदुःखप्रहीणमार्गमेकान्तमिथ्या असाधु । एष खलु तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभङ्गः एवमाख्यातः ।

अन्वयार्थ—(एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंत मिच्छे असाहु) यह स्थान आर्य्य पुरुषों से सेवित नहीं है तथा यह केवल ज्ञान को उत्पन्न करने वाला नहीं है यह स्थान एकान्त मिथ्या और बुरा है (एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभगे एव माहिए) यह तीसरा जो मिथ्या स्थान है उसका विचार कहा गया है ।

भावार्थ—मार्ग का सेवन करते हैं उसमे पाप बहुत और पुण्य बिलकुल अल्प मात्रा मे है । अत. इनके स्थान को यहां मिश्रस्थान कहा है । ये लोग मरने के पश्चात् किल्बिषी देवता होते हैं और फिर वहाँ से भ्रष्ट होकर मनुष्य लोक मे गूंगे और अन्धे होते है इस कारण इनका जो स्थान है, वह आर्य्यजनों के योग्य नहीं है, वह केवल ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला और सब दुःखों का नाश करने वाला नहीं है किन्तु एकान्त मिथ्या और बुरा है यह तीसरा मिश्रस्थान का वर्णन समाप्त हुआ । ३४



अहावरे पढमस्य ठाणस्य अधम्मपक्खस्य विभंगे एवमाहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति—

छाया—अथाऽपरः प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभङ्गः एवमाख्यायते । इह खलु प्राच्यां वा ४ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति—गृहस्थाः महेच्छाः

अन्वयार्थ—(अहावरे पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभगे एवमाहिज्जइ) इसके पश्चात् प्रथम स्थान जो अधर्मपक्ष है उसको विचार किया जाता है—(इह खलु पाईण वा संतेगतिया मणुस्सा भवनि) इस मनुष्य लोक में पूर्व आदि दिशाओं में ऐसे

भावार्थ—इस पाठ के पूर्व पाठों मे अधर्म धर्म और मिश्र स्थानो का वर्णन किया है परन्तु यहां से इन स्थानों मे रहने वाले पुरुषों का वर्णन आरम्भ होता है ।

गिहत्था महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुया (एणा) अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मप (वि) लोई अधम्मपलज्जणा अधम्मसीलसमुदायारा अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति ॥

छाया—महारम्भाः महापरिग्रहाः अधार्मिकाः अधर्मानुगाः अधर्मिष्ठाः अधर्मख्यायिनः अधर्मप्रायजीविनः अधर्मप्रलोकिनः अधर्मप्ररञ्जनाः अधर्मशीलसमुदाचाराः अधर्मेण चैव वृत्तिं कल्पयन्तः विहरन्ति ।

अन्वयार्थ—मनुष्य भी निवास करते हैं (गिहत्था महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा) जो घर बार और कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करनेवाले गृहस्थ हैं। वे बड़ी इच्छावाले और महान् आरम्भ करने वाले तथा बड़े से बड़े परिग्रहवाले होते हैं (अधम्मिया अधम्माणुया अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई) वे अधर्म करने वाले और अधर्म के पीछे चलने वाले अधर्म को अपना अभीष्ट माननेवाले और अधर्म की ही चर्चा करने वाले होते हैं (अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोई अधम्मपलज्जणा) वे अधर्ममय जीविका करने वाले और अधर्म को ही देखने वाले तथा अधर्म में आसक्त होते हैं (अधम्मसीलसमुदायारा अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति) वे अधर्ममय स्वभाव और आचरण वाले पुरुष अधर्म से ही अपनी जीविका उत्पन्न करते हुए अपनी आयुको पूर्ण करते हैं।

भावार्थ—इस में सब से पहले अधर्म स्थान में स्थित पुरुष का वर्णन इस पाठ के द्वारा किया जाता है। इस लोक में जो पुरुष गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हुए विषय साधनों की प्राप्ति की बड़ी से बड़ी इच्छा रखते हैं अर्थात् सब से अधिक धन धान्य पशु परिवार और गृह आदि की इच्छा करते हैं तथा वाहन रथ घोड़ा गाड़ी नाव खेत और दास दासी बहुत अधिक रखते हुए उनके पालनार्थ महान् आरम्भ समारम्भ करते हैं तथा किसी भी आश्रव से निवृत्त न होकर उसका सेवन करते हैं एवं रात दिन अधर्म के कार्य्य में लगे हुए रह कर अधर्म की ही चर्चा करते रहते हैं वे पुरुष प्रथम पक्ष अधर्म स्थान में स्थित हैं यह शास्त्रकार का आशय है।

हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिया उक्कुंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइसंपश्रोगबहुला दुस्सीला दुव्वया दुप्पडियाणंदा असाहू सव्वाश्रो पाणाइवायाश्रो अप्पडिविरया जावज्जीवाए-जाव सव्वाश्रो परिग्गहाश्रो अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाश्रो कोहाश्रो जाव मिच्छादंसणसल्लाश्रो अप्पडिविरया, सव्वाश्रो

छाया—जहि, छिन्धि, भिन्धि, विकर्त्तकाः लोहितपाणयः चण्डाः रौद्राः क्षुद्राः साहसिकाः उत्कुञ्चनवञ्चनमायानिकृतिकूटकपटसातिसंप्रयोगबहुलाः दुःशीलाः दुर्व्रताः असाधवःसर्वस्मात् प्राणातिपातात्-अप्रतिविरताः यावज्जीवनं या-त् सर्वस्मात् परिग्रहादप्रतिविरताः यावज्जीवनम् । सर्वस्मात् क्रोधाद् यावद् मिथ्यादर्शनशल्यादप्रति

अन्वयार्थ—(हण छिंद भिंद) जो हमेश यही आज्ञा देते रहते हैं कि—प्राणियों को मारो काटो और भेदन करो (विगत्तगा लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा) जो प्राणियों के चमड़े उखाड़ लेते हैं और प्राणियों के रक्त से जिनके हाथ लाल हो जाते हैं जो क्रोधी भयङ्कर और क्षुद्र हैं। (साहसिया) जो पाप करने में बड़े साहसी हैं (उक्कुंचनवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइसंपओगबहुला) जो प्राणियों को ऊपर फेंक कर शूल पर चढ़ाते हैं दूसरे को ठगते हैं, माया करते हैं, और वगुला भक्त बनते हैं, कम तोलते हैं और जगत को धोखा देने के लिये देश वेष और भाषा को बदल देते हैं (दुस्सीला दुव्वया दुप्पडियाणंदा असाहू) ये दुष्ट स्वभाव वाले दुष्ट व्रत वाले दु:ख से प्रसन्न किये जाने वाले और दुर्जन होते हैं। (जावज्जीवाए सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया) जो जीवन भर सब प्रकार की हिंसाओं से निवृत्त नहीं होते हैं (जाव सव्वाओ परिग्गहाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो समस्त परिग्रहों से जीवनभर निवृत्त नहीं होते हैं (सव्वाओ कोहाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो, क्रोध से लेकर मिथ्या दर्शन

भावार्थ—जो पुरुष जीवन भर दूसरे प्राणियों को मारने पीटने वध करने तथा उन्हें नाना प्रकार के कष्ट देने की आज्ञा देते रहते हैं तथा स्वयं प्राणियों का वध करते रहते हैं, जो हिंसा, झूठ, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह को जीवन भर नहीं छोड़ते हैं जो झूठ बोलना और कम मापना कभी नहीं छोड़ते, जो क्रोध मान माया और लोभ को सदा बढ़ाते रहते हैं

ण्हाणुम्मद्दणवण्णगगंधविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंका-राओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसियासंदमाणियासयणासणजाणवाहणभोगभोयणपवित्थरविहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ कयविक्कयमासद्धमासरूवगसंववहाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए

छाया—विरताः सर्वस्मात् स्नानोन्मर्दनवर्णकविलेपनशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमाल्यालङ्कारादप्रतिविरताः यावज्जीवनम् । सर्वस्मात् शकटरथयानयुग्यगिल्लिथिल्लिस्यन्दनशयनासनयानवाहनभोग्यभोजनप्रविस्तर-विधितः अप्रतिविरताः यावज्जीवनम् । सर्वतः क्रयविक्रयमाषार्धमाषरूपकसंव्यवहारादप्रतिविरताः यावज्जीवनम् सर्वस्मात्

अन्वयार्थ—सब पर्यन्त अठारह पापों से जीवन भर निवृत्त नहीं होते हैं (सव्वाओ ण्हाणुम्मद्दणवण्णगगंधविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो जीवन भर स्नान, तैलमर्दन, तथा शरीर में रंग लगाना, गंध लगाना चन्दन लेप करना मनोहर शब्द सुनना स्पर्श रूप रस और गन्ध का भोगना तथा पुष्प माला और अलङ्कारों को धारण करना नहीं छोड़ते (सव्वाओ सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसियासंदमाणियासयणासणजाणवाहणभोगभोयणपवित्थरविहीओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो गाड़ी रथ सवारी डोली आकाशयान और पालकी आदि वाहनों पर चढ़ कर चलना तथा शय्या, आसन यान वाहन भोग और भोजन के विस्तार को जीवन भर नहीं छोड़ते (सव्वाओ कयविक्कयमासद्धमासरूवगसंववहाराओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो सब प्रकार के क्रय और विक्रय तथा मासा आधा मासा और तोला आदि व्यवहारों से जीवन भर निवृत्त नहीं होते (सव्वाओ हिरण्णसुवण्णधणधण्णमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालाओ

भावार्थ—जो जीवन भर शारीरिक शृंगार करने और उत्तमोत्तम वस्त्र भूषण वाहन तथा उत्तम रूप रस गन्धादि विषयों के सेवन करने में दत्तचित्त रहते हैं जो सदा परवञ्चन करने के लिये झूठा वेष और माया को बना कर विषय के उपार्जन में लगे रहते हैं जो क्रोधादि अठारह पापों से

सव्वाओ हिरण्णसुवण्णधणधण्णमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ कूडतुलकूडमाणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ आरंभसमारंभाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ करणकारावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ पयणपयावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणताडणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जे आवण्णे तहप्प-

छाया—हिरण्यसुवर्णधनधान्यमणिमौक्तिकशंखशीलप्रवालादप्रतिविरताः यावज्जीवनम्। सर्वस्मात् कूटतुलकूटमानादप्रतिविरताः यावज्जीवनम्। सर्वस्मात् आरम्भसमारम्भादप्रतिविरताः यावज्जीवनम् सर्वतः पचनपाचनतः अप्रतिविरताः यावज्जीवनम् सर्वतः कुट्टनपिट्टनतर्जनताडनवधबन्धनपरिक्लेशादप्रतिविरताः यावज्जीवनम्।

अन्वयार्थ—जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो सोना चाँदी धन धान्य मणि, मोती शख शिला और मूँगा आदि के सञ्चय से जीवन भर निवृत्त नहीं होते (सव्वाओ कूडतुलकूड माणाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो झूठ तोलने और झूठ मापने से जन्म भर निवृत्त नहीं होते (सव्वाओ आरम्भसमारम्भाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए) जो सब प्रकार के आरम्भ और समारम्भो से जीवन भर निवृत नहीं होते। (सव्वाओ करणकारणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए) जो सब प्रकार के सावद्य व्यापार करने और कराने से जीवन भर निवृत्त नहीं होते (सव्वाओ पयणपायणाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो सब प्रकार के पचन और पाचन से जीवन भर दूर नहीं होते (सव्वाओ कुट्टनपिट्टनतज्जणताडनवहबंधणपरिकिलेसाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो ,जीवन भर प्राणियों को कूटने पीटने धमकाने मारने वध करने और बाधने तथा नाना प्रकार से उन्हे क्लेश देने से निवृत्त नहीं होते हैं

भावार्थ—कभी निवृत्त न होकर निरन्तर अनार्य्य पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले सावद्य कर्मों के अनुष्ठान में तत्पर रहते हैं जो सदा ही क्रय विक्रय के झंझट में पड कर मासा आधा मासा और तोला आदि का अभ्यास करते रहते हैं जो जीवन भर अन्न पकाने और पकवाने से सन्तुष्ट नहीं

गारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा जे अणारिएहिं कज्जंति ततो अप्पडिविरया जावज्जीवाए ॥

छाया—ये चाऽन्ये तथाप्रकाराः सावद्या अबोधिकाः कर्मसमारम्भाः परप्राणपरितापनकराः ये अनार्य्यैः क्रियन्ते ततोऽप्रतिविरता यावज्जीवनम् ।

अन्वयार्थ—(जे अन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया परपाणपरितावणकरा कम्मंता) तथा दूसरे प्रकार के कर्म जो प्राणियों को क्लेश देने वाले सावद्य तथा बोधिबीज को नष्ट करने वाले हैं (जे अणारिएहिं कज्जंति ततो जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो अनार्य्य पुरुषों के द्वारा किए जाते हैं उन कर्मों से जो जीवन भर निवृत्त नहीं होते हैं उन पुरुषों को एकान्त अधर्म स्थान में स्थित जानना चाहिये ।

भावार्थ—होवे, जो सब प्रकार के सावद्य कर्मों के स्वयं करने और दूसरों से कराने से निवृत्त नहीं होवे वे पुरुष अधर्म स्थान में स्थित हैं यह जानना चाहिये ।

से जहाणामए केइ पुरिसे कलममसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थ आलिसंदगपलिमंथगमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजति,एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तिरवट्टगलावगकवोतकविंजलमियमहि

छाया—तद् यथानाम केचित् पुरुषाः कलममसूरतिलमुद्गमाषनिष्पाव कुलत्थालिसन्दकपरिमन्थादिकेषु अत्यन्तं क्रूराः मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जते एवमेव तथाप्रकाराः पुरुषजाताः तित्तिरवर्तकलावक

अन्वयार्थ—(से जहाणामए अयते कूरे केइ पुरिसे) जैसे कोई अत्यन्त क्रूर पुरुष (कलम मसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थआलिसंदगपलिमंथगमादिएहिं मिच्छादंडं पउंजंति) चावल मसूर, तिल, मूंग, उड़द निष्पाव (अन्न विशेष) कुलथी चंवला परिमंथक (धान्य विशेष) आदि को अपराध के बिनाही व्यर्थ दण्ड देते हैं (एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तिरवट्टगलावगकवोतकविंजलमियमहिसवराहगाह

भावार्थ—बिना ही अपराध प्राणियों को दण्ड देने वाले बहुत से क्रूर पुरुष जगत् में निवास करते हैं । वे निर्दय जीव अपने और दूसरे के भोजनार्थ शालि, मूंग गेहूं आदि अन्नों को पकाकर इन प्राणियों का बिना ही अप

संवराहगाहगोहकुम्मसिरिसिवमादिएहिं अयंते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति, जावि य से बाहिरिया परिसा भवइ, तंजहा-दासे इ वा पेसे इ वा भयए इ वा भाइल्ले इ वा कम्मकरए इ वा भोगपुरिसे इ वा तेसिंपि य णं अन्नयरंसि वा अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेइ, तंजहा—इमं दंडेह इमं मुंडेह इमं तज्जेह इमं तालेह इमं अदुयबंधणं करेह इमं नियलबंधणं करेह इमं

छाया—कपोतकपिञ्जलमृगमहिषवराहग्राहगोधाकूर्मसरिसृपादिकेषु अत्यन्तं क्रूराः मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जन्ति याऽपि च तेषां बाह्या परिषद् भवति तद्यथा-दासोवा प्रेष्यो वा भृतको वा भागिको वा कर्मकरोवा भोगपुरुषो वा तेषाञ्चान्यतरस्मिन् लघुकेऽप्यपराधे स्वयमेव गुरुकं दण्डं निर्वर्तयन्ति तद्यथा इमं दण्डयत, इमं मुण्डयत, इमं तर्जयत, इमं ताडयत, इमं पृष्ठबन्धनं कुरुत, इमं निगडबन्धनं कुरुत, इमं

अन्वयार्थ—(गोहकुम्मसरिसिवमादिएहिं मिच्छादंड पउजंति) इसी तरह अत्यन्त क्रूर पुरुष तित्तिर, वटेर, कबूतर, कपिंजल, मृग, भैंसा सुअर, ग्राह गोह और जमीन पर सरक कर चलनेवाले जानवरों को अपराध के विनाही मिथ्या दण्ड देते हैं (जावि य से बाहिरिया परिसा भवइ तजहा—दासे इ वा पेसेइ वा भयएइ वा भाइल्लेइ वा कम्मकरएइ वा भोगपुरिसे इ वा) उन क्रूर पुरुषों की जो बाहरी पर्षद् होती है उस में दासी का पुत्र तथा दूत का काम करनेवाला, वेतन लेकर सेवा करनेवाला, छठा भाग लेकर खेती करानेवाला एव दूसरा काम काज करनेवाला एव भोग की सामग्री देनेवाला इत्यादि पुरुष होते हैं। (तेसिंपि य णं अन्नयरंसि वा अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुअं दंड निवत्तेइ) इन लोगों से जब कभी थोड़ा भी अपराध हो जाता है तो वे क्रूर पुरुष स्वय इन्हें भारी दण्ड देते हैं (तजहा—इमं दंडेह इमं तज्जेह इमं तालेह) वे कहते है कि—इस पुरुष को मारो, इसके शिर मुँडादो, इसे डाँटो, इसे लाठी आदि से पीटो (इम अदुयबंधण करेह) इसकी भुजायें पीछे से बांध दो (इम नियलबंधण करेह) इसके हाथ और पैर में बेड़ी डाल दो (इम

भावार्थ—राध दण्ड देते हैं। कोई निर्दय जीव तित्तिर वटेर और बत्तक आदि पक्षियों को विना ही अपराध मारते फिरते है। इन पुरुषो के बाहरी परिवार के लोग ये हैं—इनकी दासी का पुत्र, तथा दूत का काम करने वाला पुरुष, एवं वेतन लेकर इनकी सेवा करने वाला मनुष्य, तथा

हडिबंधणं करेह इमं चारगबंधणं करेह इमं नियलजुयलसंको
डियमोडियं करेह इमं हत्थछिन्नयं करेह इमं पायछिन्नयं करेह इमं
कण्णछिण्णयं करेह इमं नक्कओट्ठसीसमुहछिन्नयं करेह वेयगछ
हिय अंगछहिय पक्खाफोडियं करेह इमं णयणुप्पाडियं करेह इमं
दसणुप्पाडियं वसणुप्पाडियं जिब्भुप्पाडियं ओलंबियं करेह घसियं
करेह घोलियं करेह सूलाइयं करेह सूलाभिन्नयं करेह खारवत्तियं

छाया—हडिबन्धनं कुरुत, इमं चारकबन्धनं कुरुत, इमं निगडयुगल संकोचितमोटितं कुरुत, इमं हस्तच्छिन्नकं कुरुत, इमं पादच्छिन्नकं कुरुत, इमं कर्णच्छिन्नकं कुरुत, इमं नासिकौष्ठशीर्ष-मुखच्छिन्नकं कुरुत, इमं वेदकच्छिन्नाङ्गच्छिन्नकं, पक्षस्फो-टितं कुरुत, इमं नयनोत्पाटितं कुरुत, इमं दशनोत्पाटितं वृषणोत्पाटितं जिह्वोत्पाटितम् अवलम्बितं कुरुत, घर्षितं कुरुत घोलितं कुरुत, शूलार्पितं कुरुत शूलाभिन्नकं कुरुत, क्षारवर्तितं

अन्वयार्थ—हडिबंधणं करेह) इसको हाथी बन्धन में दे दो (इमं चारगबंधणं करेह) इसे चारक बन्धन में बाँध दो (इमं नियलजुयलसंकोडियमोडियं करेह) इसे दो बेड़ियों से बाँधकर अङ्गों को मरोड़ दो (इमं हत्थछिन्नयं करेह) इसके हाथ काट दो (इमं पायछिन्नयं करेह) इसके पैर काट दो (इमं कण्णछिन्नयं करेह) इसके कान काट दो (इमं नक्कओट्ठसीसमुहछिन्नयं करेह) इसकी नाक, ओठ, शिर और मुख काट दो (वेयगछहियं अंगछहियं पक्खाफोडियं करेह) इसे मार कर मूर्छित करो इसके अङ्ग काट दो (पक्खाफोडियं करेह) चाबुक से मार कर इसकी खाल खींचलो (इमं णयणुप्पाडियं करेह) इसकी आँखें निकाल लो (इमं दसणुप्पाडियं वसणुप्पाडियं जिब्भुप्पाडियं ओलंबियं करेह) इसके दाँत अण्डकोष और जिह्वा को उखाड़कर इसे उलटा लटका दो। (घसियं करेह) इसे जमीन पर घसीटो (घोलियं करेह) इसे पानी में बोरा दो (सूलाइयं करेह) इसे शूली पर चढ़ा दो (सूलाभिन्नयं करेह) इसके शरीर में शूल चुभा दो (खारवत्तियं करेह) इसके अङ्गों को

भावार्थ—छट्ठा भाग लेकर खेती करने वाला पुरुष, इसी तरह दूसरे भी नौकर चाकर आदि इनके परिवार होते हैं, वे लोग भी इनके समान ही अत्यन्त निर्दय हुआ करते हैं वे लोग किसी के थोड़े अपराध को भी अधिक कहकर उसे घोर दण्ड दिलवाते हैं इनसे भी जब कभी थोड़ा अपराध हो

करेह वज्झवत्तियं करेह सीहपुच्छियगं करेह वसभपुच्छियगं करेह दवग्गिदड्ढयंगं कागणिमंसखावियंगं भत्तपाणनिरुद्धगं इमं जावज्जीवं वहबंधणं करेह इमं अन्नयरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह ॥

छाया—कुरुत वध्यवर्तिनं कुरुत सिंहपुच्छितकं कुरुत, वृषभपुच्छितकं कुरुत, दावाग्निदग्धाङ्गं कुरुत काकालीमांसखादिताङ्गं भक्तपाननिरुद्धकं यावज्जीवनं वधबन्धनं कुरुत, इममशुभेन कुमारेण मारयत।

अन्वयार्थ—काटकर उस पर नमक छिड़को (वज्झवत्तियं करेह) इसे मार डालो (सीह पुच्छियग वसभपुच्छियग) इसे सिंह की पूँछ में बाँध दो इसे बैल की पूँछ में बाँध दो (दवग्गिदड्ढयग) इसे दावाग्नि में जला दो (कागणिमसखावियग) इसका माँस काट कर कौए को खिला दो (भत्तपाणनिरुद्धग इमं जावज्जीव वहबधण करेह) भोजन और पानी बन्द करके इसे जीवन भर कैद में रखो (इम अन्नयरेणं असुभेण कुमारेणं मारेह) इसे बुरी तरह मारकर जीवन रहित कर दो।

भावार्थ—जाता है तो इनका स्वामी वह निर्दय पुरुष इन्हें घोर दण्ड देता है वह दण्ड यह है—सर्वस्व हरण करके निकाल देना, आँख, कान, नाक, भुजा और पैर आदि अंगों का छेदन कर देना, सिंह तथा साँढ़ की पूँछ मे बाँध कर मार डालना, शूली पर चढ़ाना, अन्न, पानी बन्द करके जीवन भर जेल में रख देना इत्यादि। इस प्रकार प्राणियों को घोर दण्ड देने वाले ये निर्दय जीव अधर्म पक्ष मे स्थित हैं यह जानना चाहिये।

जावि य से अब्भितरिया परिसा भवइ, तंजहा—माया इ वा पिया इ वा भाया इ वा भगिणी इ वा भज्जा इ वा

छाया—याऽपि च तस्य आभ्यन्तरिकी परिषद् भवति तद्यथा—माता वा पिता वा भ्राता वा भगिनी वा भार्य्या वा पुत्राः वा दुहितरो वा

अन्वयार्थ—(जावि य से अब्भिंतरिया परिसा भवइ तजहा) इन क्रूर पुरुषों के अन्दर के परिवार ये होते हैं जैसे कि—(मायाइवा पियाइवा भायाइवा भगिणीइवा भज्जाइवा

भावार्थ—इन क्रूर पुरुषों के अन्दर के परिवार जो माता, पिता, भाई, बहिन, भार्य्या, पुत्र, कन्या और पुत्रवधू आदि होते हैं इनका भी थोडा अपराध होने पर इन्हें वे भारी दण्ड देते हैं। शर्दी के समय वे इन्हें ठंडे पानी

पुत्ता इ वा धूता इ वा सुण्हा इ वा, तेसिंपि य णं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं णिवत्तेइ,' सीओदगवियडंसि उच्छोलित्ता भवइ जहा मित्तदोसवत्तिए जाव अहिए परंसि लोगंसि, ते दुक्खंति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिट्टंति परितप्पंति ते दुक्खणसोयणजूरणतिप्पणपिट्टणपरितप्पणवहबंधण परिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति ॥

छाया—स्नुषा वा तेषाञ्च अन्यतरस्मिन् लघुकेऽप्यपराधे स्वयमेव गुरुकं दण्डं निर्वर्तयन्ति शीतोदकविकटे उत्क्षेप्तारो भवन्ति यथा मित्रदोषप्रत्ययिके यावत् अहिताः परस्मिन् लोके ते दुःख्यन्ति शोचन्ते जूरयन्ति तिप्यन्ति पीड्यन्ते परितप्यन्ति, ते दुःखनशोचनजूरणतेपनपिट्टनपरितापनवधबन्धनपरि, क्लेशेभ्योऽप्रतिविरताः भवन्ति ।

अन्वयार्थ—पुत्ताइवा धुताइवा सुण्हाइवा) माता, पिता, भाई, बहिन स्त्री पुत्र, कन्यायें और पुत्र वधू आदि । (एतेसिंपि य णं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गुरुयं दंडं णिवत्तेइ) इन लोगों से थोड़ा अपराध हो जाने पर वे क्रूर पुरुष इन्हें घोर दण्ड देते हैं (सीओदगवियडंसि उच्छोलित्ता भवइ) सर्दी के समय इन्हें वे ठंडे पानी में डाल देते हैं (जहा मित्तदोसवत्तिए जाव) जो जो दण्ड मित्रद्वेष प्रत्ययिक क्रिया स्थान में कहे गये हैं वे सभी दण्ड इन्हें वे देते हैं (अहिए परंसि लोगंसि) ऐसा करके वे अपने परलोक को खराब करते हैं (ते दुक्खंति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिट्टंति परितप्पंति) ऐसा क्रूर कर्म करने वाले वे पुरुष अन्त में दुःखी होते हैं शोक करते हैं पश्चात्ताप करते हैं पीड़ा और परिताप पाते हैं (ते दुक्खणसोयणजूरणतिप्पणपिट्टणपरितप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति) वे दुःख शोक पश्चात्ताप पीड़ा ताप और वध बन्धन आदि क्लेशों से कभी निवृत्त नहीं होते हैं ।

भावार्थ—में डाल देते हैं तथा *मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रियास्थान* में जिन दण्डों का वर्णन किया गया है वे सभी दण्ड इन्हें वे देते हैं इस प्रकार निर्दयता के साथ अपने परिवार को दण्ड देने वाला वह पुरुष अपने परलोक को नष्ट करता है । वह अपने इस क्रूर कर्म के फल से दुःख पाता है, शोक पाता है, पश्चात्ताप करता है । वह सदा दुःख शोक आदि कष्टों को भोगता रहता है परन्तु कभी इनसे मुक्ति नहीं पाता है यह जानना चाहिए ।

एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पविसुइंत्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उस्सन्नाइं संभारकडेण कम्मणा से जहाणामए अयगोले इ वा सेलगोलेइ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ, एवमेव तहप्पगारे

छाया—एवमेव ते स्त्रीकामेषु मूर्च्छिताः गृद्धाः ग्रथिताः अभ्युपपन्नाः यावद् वर्षाणि चतुः पञ्च षड् दश वा अल्पतरं वा भूयस्तरं वा कालं भुक्त्वा भोगान् प्रविसूय वैरायतनानि सञ्चित्य बहूनि पापानि कर्माणि उत्सन्नानि सम्भारकृतेन कर्मणा तद् यथा नाम अयोगोलको वा शैलगोलको वा उदके प्रक्षिप्यमाणः उदकतलमतिवर्त्य अधः धरणितलप्रतिष्ठानो भवति एवमेव तथाप्रकारः पुरुषजातः

अन्वयार्थ—(एवमेव इत्थिकामेसु मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना) पूर्वोक्त प्रकार से स्त्री भोग तथा दूसरे भोगों में आसक्त, अत्यन्त इच्छा वाले और अत्यन्त भोगों में गूँथे हुए तथा तल्लीन पुरुष (चउपंचमाइं छद्दसमाइ वासाइं अप्पतरो वा भुज्जत्तरोवा काल भोगभोगाइ भुंजित्तु) चार पाँच या छ दश वर्षों तक, थोड़े या बहुत काल तक शब्दादि विषयों को भोग कर (वेरायतणाइ पविसूय) और प्राणियों के साथ वैर का भण्डार उत्पन्न करके (बहुइ पावाइ कम्माइं सचिणित्ता) एव बहुत पाप कर्मों का सञ्चय कर (संभारकडेण कम्मणा) पाप कर्म के भार से इस प्रकार दूब जाते हैं (से जहणामए अयगोलए वा सेलगोलए वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता धरणितलपइट्ठाणे भवति) जैसे लोह या पत्थर का गोला पानी में डाला हुआ पानी को लाँघकर नीचे पृथिवी पर भार के कारण बैठ जाता है

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से बाहर और भीतर के परिवार वर्ग को घोर दण्ड देने वाले स्त्री तथा शब्दादि विषयों मे अत्यन्त आसक्त वे अधार्मिक पुरुष थोड़े या बहुत कालतक भोग सेवन करके अनेक प्राणियों के साथ वैर उत्पन्न करते हैं तथा बहुत अधिक पाप का समह करके उसके भार से अत्यन्त दब जाते हैं। जैसे लोह या पत्थर का गोला पानी मे फेंका

पुरिसजाते वज्जबहुले धूतबहुले पंकबहुले वेरबहुले अप्पत्तियबहुले दमबहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उस्सन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवइ ॥ सूत्र ३५ ॥

छाया—पर्य्यायबहुल धूर्त्तबहुलः पङ्कबहुल वैरबहुल अप्रत्ययबहुल दम्भबहुल नियतिबहुलः अयशोबहुल उत्सन्नत्रसप्राणघाती कालमासे कालं कृत्वा धरणितलमतिवर्त्य अधो नरकतलप्रतिष्ठानो भवति ।

अन्वयार्थ—(एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए वज्जबहुले धुत्तबहुले पंकबहुले वेरबहुले अप्पत्तिय बहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उस्सण्णतसपाणघाती कालमासे काल किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवइ) इसी तरह कर्म के भार से दबा हुआ गुरुकर्मी अधिक पाप वाला प्राणियों के साथ वैर किया हुआ मन में बुरा विचार करने वाला दूसरे को ठगने वाला द्वेष वेष और भाषा को बदल कर दूसरे के साथ द्रोह करने वाला उत्तम पदार्थ में हीन पदार्थ को मिला कर उसे उत्तम पदार्थ की कीमत में बेचने वाला जगत् में अपकीर्ति का कार्य करने वाला, और त्रस प्राणियों का घात करने वाला वह पुरुष मृत्यु को प्राप्त करके रत्नप्रभा आदि पृथ्वी को लाँघ कर नरक में जाकर निवास करता है।

भावार्थ—तुम्बा पानी के तल को पार कर पृथिवी के तल पर बैठ जाता है इसी तरह वे पापी जीव पृथिवी को पार करके नरक तल में जाकर बैठ जाते हैं। वे पुरुष पाप के भार से इतने दबे रहते हैं कि—वे पृथिवी के ऊपर ठहर नहीं सकते एक मात्र नरक ही उनका आश्रय होता है। ३९

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधकारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइप्पहा मेदवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा कण्हा अगणिवन्नाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभा णरएसु वेयणाओ ॥ णो चेव णरएसु

छाया—ते नरकाः अन्तोवृत्ताः वहिश्चतुरस्राः अधः क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिताः नित्यान्धकारतमसो व्यपगतग्रहचन्द्रसूर्य्यनक्षत्रज्योतिष्पथाः मेदो वसामांसरुधिरपूयपटललिप्तानुलेपनतलाः अशुचयो विश्राः परमदुर्गन्धाः कृष्णाः अग्निवर्णाभाः कर्कशस्पर्शाः दुरधिसहाः अशुभाः नरकाः अशुभाः नरकेषु वेदनाः नो चैव नरकेषु नैरयिकाः निद्रान्ति

अन्वयार्थ—(ते णरगा अतो वट्टा बाहिं चउरंसा) वे नरक अन्दर से गोल और वाहर से चतुष्कोण होते हैं (अहे खुरप्पसठाणसंठिया) वे नीचे अस्तुरे की धार के समान तीक्ष्ण होते है (निच्चधकारतमसा) उनमें घोर अन्धकार सदा भरा रहता है (ववगय गहचन्दसूरनक्खत्तजोइप्पहा) वे ग्रह, चन्द्र, सूर्य्य, नक्षत्र और ज्योतिमडल के प्रकाश से रहित होते हैं (मेदवसामसरुहिरपूयपडलचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला) उनकी भूमि, मेद, चर्वी, माँस, रक्त और पीव से उत्पन्न कीचड के द्वारा लिपी हुई है (असुई वीसा परमदुब्भिगधा कण्हा) वे अपवित्र सडे हुए मास से युक्त और बहुत दुर्गन्ध वाले एव काले हैं (अगणिवन्नाभा कक्खडफासा दुरहियासा) वे सधूम अग्नि के समान वर्ण वाले कठिन स्पर्श वाले और दु ख से सहन करने योग्य हैं (असुभा णरगा असुभा णरएसु वेदणाओ) इस प्रकार नरक बडे अशुभ हैं और उनकी पीडा भी अशुभ है (णो चेव णरएसु नेरइया निद्दायंति वा पालायंति वा

भावार्थ—पूर्वोक्त अधार्मिक पुरुष जिन नरकों मे जाते हैं वे नरक अन्दर से गोल और वाहर से चार कोण वाले हैं। नीचे से उनकी बनावट तेज अस्तुरे की धार के समान तीक्ष्ण होती है। उनमें चन्द्र, सूर्य्य, ग्रह और नक्षत्र आदि का प्रकाश नहीं होता किन्तु सदा घोर अन्धकार फैला रहता है। उनकी भूमि सडे हुए मांस, रुधिर, चर्वी और पीव से लिप्त होती है। वे बडे दुर्गन्ध वाले अपवित्र होते हैं, उनका दुर्गन्ध सहन करने योग्य नहीं है। उनका स्पर्श काँटे से भी अधिक कर्कश होता है, अधिक कहां तक कहा जाय उनके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द सभी अशुभ होते हैं। उनमें

नेरइया णिद्दायंति वा पयलायंति वा सुइं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंते, ते णं तत्थ उज्जलं पगाढं विउलं कडुयं कक्कसं चंडं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं णेरइया वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥ सूत्र २१ ॥

छाया—वा प्रचलायन्ते वा श्रुतिं वा रतिं वा धृतिं वा मतिं वा उपलभन्ते । ते तत्र उज्ज्वलां प्रगाढां विपुलां कटुकां कर्कशां दुःखां दुर्गां तीव्रां दुरधिसह्यां नैरयिका वेदनां पर्य्यनुभवन्तो विहरन्ति ।

अन्वयार्थ—वा सुइं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंते) उन नरकों में रहने वाले जीव कभी निद्रा सुख को प्राप्त नहीं करते और वहाँ से भाग कर अन्यत्र भी नहीं जा सकते । वे वहाँ किसी विषय को स्मरण नहीं करते न सुख पाते, न धीरता ग्रहण करते न विचार ही कर सकते हैं (ते णेरइया तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कडुयं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति) वे नारकी जीव वहाँ कठिन, विपुल प्रगाढ़ कर्कश तीव्र दुस्सह और अपार दुःख को भोगते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं ।

भावार्थ—रहने वाले प्राणी कभी निद्रा को नहीं प्राप्त करते और वहाँ से भाग कर कहीं अन्यत्र भी नहीं जा सकते । वे वहाँ निरन्तर असह्य दुःखों को भोगते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं ॥ २१ ॥



से जहाणामए रुक्खे सिया पव्वयग्गे जाए मूले छिन्ने अग्गे गरुए जओ णिण्णं जओ विसमं जओ दुग्गं तओ पवडति,

छाया—तद्यथा नाम वृक्षः स्यात्, पर्वताग्रे जातः मूलेच्छिन्नः अग्रे गुरुकः यतो निम्नं यतो विषमं यतो दुर्गं तत्र प्रपतति एवमेव तथा प्रकार

अन्वयार्थ—(से जहाणामए रुक्खे सिया) जिस प्रकार कोई वृक्ष ऐसा हो (पव्वयग्गे जाए) जो पर्वत के अग्रभाग में उत्पन्न हो (मूले छिन्ने अग्गे गुरुए) उसकी जड़ कट दी गई हो और वह आगे से भारी हो (जओ णिण्णं जओ विसमं जओ दुग्गं तओ

भावार्थ—एकान्त रूप से पाप कर्म करने में आसक्त पुरुष इस प्रकार नरक में गिरता है जैसे पर्वत के अग्रभाग में उत्पन्न वृक्ष जड़ कट जाने पर एका

एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए गब्भातो गब्भं जम्मातो जम्मं माराओ मारं णरगाओ णरगं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवइ, एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥सूत्रं ३७॥

छाया—पुरुषजातः गर्भतोगर्भं जन्मतो जन्म, मरणतो मरणं, नरकान्नरकं, दुःखाद् दुःखं (प्राप्नोति) दक्षिणगामी नैरयिकः कृष्णपाक्षिकः आगमिष्यति दुर्लभबोधिकश्चाऽपि भवति । एतत् स्थानम् अनार्य्यम् अकेवलं यावदसर्वदुःखप्रहीणमार्गम् एकान्तमिथ्या असाधु । प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभङ्गः एवमाख्यातः

अन्वयार्थ—पवडति) तो वह जिधर नीच होता है, जिधर विषम होता है, जिधर दुर्ग स्थान होता है उधर ही गिरता है (एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए) इसी तरह गुरुकर्मी पूर्वोक्त पापी पुरुष (गब्भातो गब्भं जम्मातो जम्म माराओ मारं णरगाओ णरगं दुक्खाओ दुक्खं) एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को,एक मृत्यु से दूसरे मृत्यु को, एक नरक से दूसरे नरक को तथा एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त करता है (दाहिणगामिए) वह दक्षिण दिशा को जाने वाला (णेरइए) और नरकगामी होता है (कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहिए यावि भवइ) वह कृष्णपक्ष वाला और भविष्यकाल मे दुर्लभबोधी होता है (एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू) अतः यह अधर्म स्थान अनार्य्य है, तथा केवल ज्ञान रहित है यह समस्त दुःखों का नाशक नहीं है यह एकान्त मिथ्या और बुरा है। (पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एव, माहिए) इस प्रकार पहला स्थान जो अधर्मपक्ष है उसका यह विचार किया गया है।

भावार्थ—एक नीचे गिर जाता है। ऐसे पापी को कभी सुख नहीं मिलता है। वह वार वार एक गर्भ से दूसरे गर्भ मे, एक जन्म से दूसरे जन्म मे, एक मृत्यु से दूसरे मृत्यु में,और एक नरक से दूसरे नरक में जाता रहता है। अतः इस पुरुष का स्थान अनार्य्य पुरुषों का स्थान है। इसमें केवल ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है और यह समस्त दुःखों का नाशक नहीं है किन्तु एकान्त मिथ्या और बुरा है अतः बुद्धिमान पुरुषों को इसे दूर से ही त्याग देना चाहिये। यही प्रथम पक्ष का विचार है॥ ३७॥

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा जाव धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वतो पाणातिवायाओ पडिविरया जावजीवाए जाव जे

छाया—अथाऽपरो द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभङ्ग एवमाख्यायते—इह खलु प्राच्यां वा ४ सन्त्येकतये मनुष्या भवन्ति तद्यथा—अनारम्भा अपरिग्रहा धार्मिका धर्मानुगा धर्मिष्ठा यावद् धर्मेण चैव वृत्तिं कल्पयन्तो विहरन्ति सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः सुसाधवः सर्वतः प्राणातिपातात् प्रतिविरता यावज्जीवनम् यानि

अन्वयार्थ—(अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ) इसके पश्चात् दूसरा स्थान जो धर्मपक्ष कहलाता है उसका विचार किया जाता है (इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति) इस मनुष्य लोक में पूर्व आदि दिशाओं में कोई पुरुष ऐसे होते हैं (अणारंभा अपरिग्गहा) जो आरम्भ नहीं करते हैं और परिग्रह नहीं रखते हैं (धम्मिया धम्माणुया) स्वयं धर्माचरण करते हैं और दूसरे को भी इसकी आज्ञा देते हैं (धम्मिट्ठा) वा धर्म को अपना इष्ट मानते हैं (धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति) एवं धर्म से ही अपनी जीविका उत्पन्न करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। (सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू) जो सुशील, सुन्दर व्रत धारी, शीघ्र प्रसन्न होने वाले और उत्तम साधु हैं (सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए) जो जीवन भर समस्त जीव हिंसाओं से

भावार्थ—अधर्म पक्ष के वर्णन के पश्चात् धर्म पक्ष का वर्णन किया जाता है। इस जगत् में कोई कोई उत्तम पुरुष आरम्भ नहीं करते हैं और धर्मोपकरण के सिवाय दूसरे किसी परिग्रह को नहीं रखते हैं। वे स्वयं धर्माचरण करते हैं और दूसरे को भी इसकी आज्ञा देते हैं, वे धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं और धर्म से ही जीविका का साधन करते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं। उनका शील और व्रत अति उत्तम होता है तथा वे शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं। वे उत्तम कोटि के साधु हैं और वे जीवनभर सब प्रकार की जीवहिंसाओं से निवृत्त रहते हैं। दूसरे

यावन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावण-
करा कज्जंति ततो विपडिविरता जावजीवाए ।

छाया—चान्यैः तथा प्रकाराणि सावद्यानि अबोधिकानि कर्माणि परप्राण-
परितापनकराणि क्रियन्ते ततः प्रतिविरताः यावज्जीवनम् ।

अन्वयार्थ—निवृत्त रहते हे (जे यावन्ने तहप्पगारा अबोहिया सावज्जा परपाणपरियावणकरा कम्मता कज्जति ततो जावजीवाए पडिविरया) तथा दूसरे अधार्मिक लोग प्राणियों के विनाशक अज्ञानयुक्त जिन सावद्य कर्मों का अनुष्ठान करते है उनसे वे जीवन भर निवृत्त रहते है ।

भावार्थ—लोग प्राणियों के घातक अज्ञानवर्धक जिन सावद्य कर्मों का अनुष्ठान करते है उन कर्मों से वे सदा अलग रहते है ।

से जहाणामए अणगारा भगवंतो ईरियासमिया भासास-
मिया एसणासमिया आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिया उच्चार-
पासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिया [मणसमिया वय-
समिया कायसमिया मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता गुत्ता गुत्ति-

छाया—तद्यथा नाम अनगाराः भगवन्तः ईर्य्यासमिताः भाषासमिताः एषणासमिताः आदानभाण्डमात्रानिक्षेपणासमिताः उच्चारप्रस्र-वणखेलसिंघाणमलप्रतिष्ठापनासमिताः मनःसमिताः वचःसमिताः कायसमिताः मनोगुप्ताः वचोगुप्ताः कायगुप्ताः गुप्ताः

अन्वयार्थ—(से जहाणामए अणगारा भगवंतो) वे धार्मिक पुरुष अगार यानी घर द्वार से रहित और बडे भाग्यवान् होते हैं (इरियासमिया भासासमिया) वे ईर्य्या समिति तथा भासासमिति को यथाविधि पालन करते हैं (एसणासमिया आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिया) वे एषणा समिति तथा पात्र और वस्त्र आदि धर्मोपकरणों को ग्रहण करने और रखने की समिति से युक्त होते हैं (उच्चार-पासवणखेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणासमिया) वे महापुरुष बडी नीत लघु नीत खखार तथा नाक और शरीर के मल को शास्त्रोक्त रीति से डालते हैं (मणसमिया वयसमिया कायसमिया) वे मन, वचन और काय की समिति से युक्त होते हैं (मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता) वे मन, वचन और काय को पाप से गुप्त रखते है

दिया गुत्तबंभयारी अकोहा अमाणा अमाया अलोभा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुडा अणासवा अग्गंथा छिन्नसोया निरुवलेवा कंसपाई व मुक्कतोया संखो इव णिरंजणा जीव इव अपडिहय गती गगणतलंव निरालंबणा वाउरिव अपडिबद्धा सारदसलिलं व सुद्धहियया पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा कुम्मो इव गुत्तिंदिया

छाया—गुप्तेन्द्रियाः गुप्तब्रह्मचर्याः अक्रोधाः अमानाः अमायाः अलोभाः शान्ताः प्रशान्ताः उपशान्ताः परिनिर्वृताः अनाश्रवाः अग्रन्थाः छिन्नशोकाः निरुपलेपाः कांस्यपात्रीव मुक्ततोयाः शंख इव निरञ्जनाः जीव इवाप्रतिहतगतयः गगनतलमिव निरवलम्बनाः वायुरिवाप्रतिबद्धाः शारदसलिलमिव शुद्धहृदयाः पुष्करपत्रमिव निरुपलेपाः

अन्वयार्थ—(गुत्तिंदिया गुत्तबंभयारी) वे अपने इन्द्रियों को विषयभोग से गुप्त रखते हुए ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। (अकोहा अमाणा अमाया अलोभा) वे क्रोध मान माया और लोभ से रहित होते हैं (संता पसंता परिणिव्वुडा अणासवा अग्गंथा) वे शान्ति उपशम शान्ति पूर्ण बाहर और भीतर की शान्ति से युक्त और समस्त सन्तापों से रहित होते हैं। वे आस्रवों का सेवन नहीं करते हैं और सब परिग्रहों से रहित होते हैं (छिन्नसोया निरुवलेवा) वे महात्मा संसार के प्रवाह का छेदन किए हुए तथा कर्म मल के लेप से रहित होते हैं (कंसपाई व मुक्कतोया) जैसे कांसे की पात्री में जल का लेप नहीं लगता है इसी तरह उन महात्माओं में कर्मरूपी मल का लेप नहीं लगता है। (संख इव निरंजणा) जैसे शंख कालिमा से रहित होता है उसी तरह वे महात्मा रागादि दोषों से वर्जित होते हैं (जीव इव अप्पडिहयगती) जैसे जीव की गति कहीं नहीं रुकती वैसे ही उन महात्माओं की गति किसी भी स्थान में नहीं रुकती। (गगणतलं व निरालंबणा) जैसे आकाश बिना अवलम्बन के ही रहता है इसी तरह वे महात्मा भी निरवलम्ब रहते हैं अर्थात् वे अपने निर्वाह के लिए किसी ग्राम नगर, तथा व्यक्ति का अवलम्बन नहीं रखते हैं (वाउरिव अप्पडिबद्धा) जैसे वायु बन्धन रहित होता है इसी तरह वे महात्मा भी प्रतिबन्ध रहित होते हैं (सारदसलिलमिवसुद्धहियया) वे शरद ऋतु के निर्मल जल की तरह शुद्ध हृदय वाले होते हैं (पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा) जैसे कमल का पत्र जल के लेप से रहित होता है इसी तरह वे महात्मा कर्म जल के लेप से रहित हैं। (कुम्मो इव गुत्तिंदिया) वे कछुवे की

विहग इव विप्पमुक्का खग्गिविसाणं व एगजाया भारंडपक्खीव अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंडीरा वसभो इव जातत्थामा सीहो इव दुद्धरिसा मंदरो इव अप्पकंपा सागरो इव गंभीरा चंदो इव सोमलेसा सूरो इव दित्ततेया जच्चकंचणगं व जातरूवा वसुंधरा इव सव्वफासविसहा सुहुयहुयासणोविव तेयसा जलंता। णत्थि णं

छाया—कूर्मइव गुप्तेन्द्रियाः विहगइव विप्रमुक्ताः खड्गिविषाणमिवैक जाताः भारण्डपक्षीवाप्रमत्ताः कुन्जर इव शौण्डीराः वृषभ इव जातस्थामानः सिंह इव दुर्धर्षाः मन्दर इवाप्रकम्पाः सागर इव गम्भीराः चन्द्रइव सोमलेश्याः सूर्य्यइव दीप्ततेजसः जात्यकञ्चनमिव जातरूपाः वसुन्धरा इव सर्वस्पर्शसहाः सुहुतहुताशन इव तेजसा

अन्वयार्थ—तरह अपनी इन्द्रियों को गुप्त रखते हैं (विहग इव विप्पमुक्का) जैसे पक्षी स्वच्छन्द विहारी होता है इसी तरह वे महात्मा समस्त ममताओं से रहित स्वच्छन्द विहारी होते हैं (खग्गिविसाण व एगजाया) जैसे गेंडे की सींग एक ही होती है उसी तरह वे महात्मा राग द्वेष वर्जित तथा भाव से एक ही होते हैं (भारण्डापक्खीव अप्पमत्ता) वे भारण्ड पक्षी की तरह प्रमाद रहित होते हैं (कुंजरो इव सोंडीरा) जैसे हाथी वृक्ष आदि को तोडने में दक्ष होता है उसी तरह वे महात्मा कषायों को दलन करने में बहादुर होते हैं (वसभो इव जातत्थामा) जैसे बैल भारवहन करने में समर्थ होता है इसी तरह वे महात्मा सयम भार के वहन मे समर्थ होते हैं (सीहो इव दुद्धरिसा) जैसे सिंह को दूसरे पशु दबा नहीं सकते इसी तरह उन महात्माओं को परीषह और उपसर्ग नहीं दबा सकते हैं (मदरो इव अप्पकपा) जैसे मन्दर पर्वत कम्पित नहीं होता है उसी तरह वे महात्मा परीषह और उपसर्गों से कम्पित नहीं होते हैं (सागरो इव गभीरा) वे समुद्र की तरह गम्भीर होते हैं अर्थात् हर्ष शोकादि से व्याकुल नहीं होते। (चन्दो इव सोमलेसा) चन्द्रमा के समान उनकी शीतल प्रकृति होती है (सूरो इव दित्ततेया) वे सूर्य्य के समान बडे तेजस्वी होते हैं (जच्चकचणगव जातरूवा) उत्तम जाति वाले सोने में जैसे मल नहीं लगता है उसी तरह उन महात्माओं में कर्म मल नहीं लगता है (वसुंधराइव सव्वफासविसहा) वे पृथ्वी के समान सभी स्पर्शों को सहन करते हैं (सुहुयहुयासणो विव तेयसा जलता) अच्छी तरह होम की हुई अग्नि के समान वे तेज से जलते रहते हैं (तेसि भगवताण कत्थवि पडिबंधे णत्थि)

तेसिं भगवंताणं कत्थवि पडिबंधे भवइ से पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा अंडए इ वा पोयए इ वा उग्गहे इ वा पग्गहे इ वा जन्नं जन्नं दिसं इच्छंति तन्नं तन्नं दिसं अपडिबद्धा सुइभूया लहुभूया अप्पगंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। तेसिं णं भगवंताणं इमा एतारूवा जायामायावित्ति होत्था, तंजहा-चउत्थे भत्ते छट्ठे भत्ते अट्ठमे भत्ते दसमे भत्ते दुवालसमे भत्ते चउदसमे भत्ते अद्धमासिए भत्ते मासिए भत्ते दोमासिए तिमासिए चउम्मा-

छाया—ज्वलन्त नाऽस्ति तेषां भगवतां कुत्राऽपि प्रतिबन्धो भवति। स प्रतिबन्धश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः तद्यथा—अण्डजे वा पोतके वा अवग्रहे वा प्रग्रहे वा यां यां दिशमिच्छन्ति तां तां दिशमप्रतिबद्धाः शुचीभूता लघुभूता अल्पग्रन्थाः संयमेन तपसा आत्मानं भावयन्तो विहरन्ति। तेषाञ्च भगवतामियमेतद्रूपा यात्रामात्रावृत्तिरभवत् तद्यथा—चतुर्थं भक्तं षष्ठं भक्तम् अष्टमं भक्तं दशमं भक्तं द्वादशं भक्तं चतुर्दशं भक्तम् अर्धमासिकं भक्तं मासिकं भक्तं द्विमासिकं

अन्वयार्थ—उन भाग्यशाली महात्माओं के लिए किसी भी जगह प्रतिबन्ध (रुकावट) नहीं है (से पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा अंडएइ वा पोयएइ वा उग्गहेइ वा पग्गहेइ वा) वह प्रतिबन्ध (रुकावट) चार प्रकार से होता है जैसे कि—अण्डा से उत्पन्न होने वाले हंस और मयूर आदि पक्षियों से तथा बच्चे के रूप में उत्पन्न होने वाले हाथी आदि के बच्चों से एवं निवास स्थान तथा पीठ फलक और उपकरण आदि से विहार में प्रतिबन्ध होता है परन्तु उनके विहार में ये चारों ही प्रतिबन्ध नहीं हैं। (जं जं दिसं इच्छंति तं तं दिसं अपडिबद्धा) वे जिस जिस दिशा में जाना चाहते हैं उसमें प्रतिबन्ध रहित चले जाते हैं (सुइभूया लहुभूया अप्पगंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति) वे निर्मल हृदय परिग्रह रहित और सज्जन ऐसे महात्मा संयम और तपस्या से अपने आत्मा को पवित्र करते हुए विचरते हैं। (तेसिं भगवंताणं इमा एतारूवा जायामायावित्ती होत्था) उन भाग्यशाली महात्माओं की संयम के निर्वाहार्थ ऐसी वृत्ति होती है (तंजहा—चउत्थे भत्ते छट्ठे भत्ते अट्ठमे भत्ते दसमे भत्ते दुवालसमे भत्ते चउद्दसमे भत्ते) जैसे कि—एक दिन का उपवास, दो दिन का उपवास, तीन, चार पांच तथा छः दिन का उपवास (अद्धमासिए भत्ते मासिए भत्ते

सिए पंचमासिए छम्मासिए अदुत्तरं च णं उक्खित्तचरगा णिक्खित्तचरगा उक्खित्तणिक्खित्तचरगा अंतचरगा पंतचरगा लूहचरगा समुदाणचरगा संसट्ठचरगा असंसट्ठचरगा तज्जातसंसट्ठचरगा दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया पुट्ठलाभिया अपुट्ठलाभिया भिक्खलाभिया अभिक्खलाभिया अन्नायचरगा उवनिहिया संखादत्तिया

छाया--भक्तं त्रैमासिकं भक्तं चातुर्मासिकं भक्तं पाञ्चमासिकं षाण्मासिकम् अतउत्तरम् उत्क्षिप्तचरकाः निक्षिप्तचरकाः उत्क्षिप्तनिक्षिप्तचरकाः अन्तचरकाः प्रान्तचरकाः रुक्षचरकाः समुदानचरकाः संसृष्टचरकाः असंसृष्टचरकाः तज्जातसंसृष्टचरकाः दृष्टलाभिकाः अदृष्टलाभिकाः पृष्टलाभिकाः अपृष्टलाभिकाः भिक्षालाभिकाः अभिक्षालाभिकाः अज्ञातचरकाः उपनिहितकाः संख्यादत्तयः परिमितपिण्डपातिकाः

अन्वयार्थ—दो मासिए भत्ते) एक पक्ष का उपवास, एक मास का उपवास, दो मास का उपवास (तिमासिए चउम्मासिए पचमासिए छम्मासिए) तीन मास का चार मास का, पाच मास का एव छ मास का उपवास ये करते हैं (अदुत्तर उक्खित्तचरगा) इसके सिवाय किसी का अभिग्रह होता है कि—"वे हण्डिका मे से निकाला हुआ ही अन्न लेते है" । (णिक्खित्तचरगा) कोई महात्मा परोसने के लिए हण्डिका में से निकाल कर फिर उसमें रखा हुआ ही अन्न लेते हैं (उक्खित्तणिक्खित्तचरगा) कोई हण्डिका में से निकाले हुए तथा हण्डिका में से निकाल कर फिर उसमें रखे हुए इन दोनों प्रकार के आहारों को ही ग्रहण करते है (अतचरगा पतचरगा) कोई अन्त प्रान्त आहार लेने का अभिग्रह रखते है (लूहचरगा) कोई रूक्ष आहार ही ग्रहण करते है (समुदाणचरगा) कोई छोटे बडे अनेक घरों से ही भिक्षा ग्रहण करते हैं (ससट्ठचरगा) कोई भरे हुए हाथ से दिए हुए आहार ही ग्रहण करते है (असंसट्ठचरगा) कोई बिना भरे हुए हाथ से ही दिए हुए आहार को ग्रहण करते हैं (तज्जातससट्ठचरगा) कोई जिस अन्न या शाक आदि से चम्मच या हाथ भरा हो उस हाथ या चम्मच से उसी वस्तु को लेने का अभिग्रह धारण करते है (दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया) कोई देखे हुए आहार को ही लेते हैं और कोई न देखे हुए आहार तथा न देखे हुए दाता की ही गवेषणा करते है (पुट्ठलाभिया अपुट्ठलाभिया) कोई पूछ कर ही आहार लेते है और कोई बिना पूछे ही आहार ग्रहण करते हैं । (भिक्खलाभिया अभिक्खलाभिया) कोई तुच्छ आहार ही लेते हैं और कोई अतुच्छ आहार लेते हैं (अन्नायचरगा) कोई अज्ञात आहार ही

परिमितपिंडवाइया सुद्धेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लूहाहारा तुच्छाहारा अंतजीवी पंतजीवी आयंबिलिया पुरिमड्ढिया निव्विगइया अमज्जमंसासिणो णो णियामरसभोई ठाणाइया पडिमाठाणाइया उक्कडुआसणिया णेसज्जिया वीरासणिया दंडायतिया लगंडसाइणो अप्पाउडा अगत्तया अकंडुया अणिट्ठुहा] (एवं जहोववाइए) धुतकेसमंसुरोमनहा सव्वगायपडिक

छाया—शुद्धैषणाः अन्ताहाराः प्रान्ताहाराः अरसाहाराः विरसाहाराः रूक्षाहाराः तुच्छाहाराः अन्तजीविनः प्रान्तजीविनः आचाम्लिकाः पुरिमर्द्धिकाः निर्विकृतिकाः अमद्यमांसाशिनः नो निकामरसभोजिनः स्थानान्विताः प्रतिमास्थानान्विताः उत्कटासनिकाः नैषद्यिकाः वीरासनिकाः दण्डायतिकाः लगण्डशायिनः अप्रावृताः अगात्रकाः अकण्डूयकाः अनिष्ठीवनाः) (एवं यथौपपातिके) धुतकेश

अन्वयार्थ—लेते हैं (अन्नातचरगा) कोई अज्ञातलोगों से ही आहार लेते हैं (उवनिहिया) कोई देने वाले के निकट में स्थित आहार को ही लेते हैं (संखादत्तिया) कोई दत्ति की संख्या करके आहार लेते हैं (परिमितपिण्डवाइया) कोई परिमित आहार ही लेते हैं (सुद्धेसणिया) कोई शुद्ध यानी दोषवर्जित आहार की ही गवेषणा करते हैं (अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लूहाहारा) कोई अन्त आहार यानी भूँजे हुए चना आदि ही लेते हैं कोई बचा हुआ आहार ही लेते हैं कोई रसवर्जित आहार लेते हैं कोई विरस आहार लेते हैं कोई रूक्ष आहार लेते हैं (तुच्छाहारा) कोई तुच्छ आहार लेते हैं (अंतजीवी पंतजीवी आयंबिलिया पुरिमड्ढिया णिव्विगइया) कोई अन्त प्रान्त आहार से ही जीवन निर्वाह करते हैं, कोई सदा आयंबिल करते हैं कोई सदा दोपहर के बाद ही आहार करते हैं कोई सदा घृतादि रहित ही आहार करते हैं (अमज्जमंसासिणो) वे सभी महात्मा मद्य और मांस नहीं खाते हैं (णो णियामरसभोई) तथा वे सर्वदा सरस आहार नहीं करते हैं (ठाणाइया पडिमाठाणाइया उक्कुडुआसणिया) वे सदा कायोत्सर्ग करते हैं तथा प्रतिमा का पालन करते हैं उत्कट आसन से बैठते हैं (णेसज्जिया वीरासणिया दंडायतिया लगंडसाइणो) वे आसन युक्त भूमि पर ही बैठते हैं वे वीरासन लगाकर बैठते हैं वे डण्डे की तरह लम्बा होकर रहते हैं वे टेढ़े काठ की तरह सोते हैं (अप्पाउडा अगत्तया) वे बाहर के आवरण से रहित और ध्यानस्थ रहते हैं (अकंडुया अणिट्ठुहा एवं जहोववाइए) वे शरीर को नहीं खुजलाते

म्मविप्पमुक्का चिट्ठंति । ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति २ बहु बहु आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खन्ति पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदिंति अणसणाए छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणभावे अदंतवणगे अछत्तए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे

छाया—श्मश्रुरोमनखाः सर्वगात्रपरिकर्मविप्रमुक्तास्तिष्ठन्ति । ते एतेन विहारेण विहरन्तः वहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्य्यायं पालयन्ति आवाधायामुत्पन्नायामनुत्पन्नायां वा वहूनि भक्तानि प्रत्याख्यान्ति प्रत्याख्याय वहूनि भक्तानि अनशनेन छेदयन्ति, अनशनेन छेदयित्वा यदर्थाय क्रियते नग्नभावः मुण्डभावः अस्नानभावः अदन्तवर्णकः अच्छत्रकः अनुपानत्कः भूमिशय्या, फलकशय्या काष्ठशय्या केशलोचः ब्रह्मचर्य्यवासः परगृहप्रवेशः लब्धापलब्धानि

अन्वयार्थ—थूक वाहर नहीं फेंकते हैं इस प्रकार औपपातिक सूत्र में जो गुण कहे हैं वे सब यहाँ भी जानने चाहिए। (धुतकेसमंसुरोमनहा) वे अपने सिर के वाल, मूछ, दाढी, रोम और नख को सजाते नहीं हैं। (सव्वगायपरिकम्मविप्पमुक्का) वे अपने समस्त शरीर का परिकर्म (धोना पोछना आदि) नहीं करते हैं (तेण एतेण विहारेणं विहरमाणा वहुइं वासाइं सामन्नपरियाग पाउणति) वे महात्मा इस प्रकार उग्र विहार करते हुए वहुत वर्षों तक अपनी दीक्षा का पालन करते हैं (वहु वहु आवाहंसि उप्पन्नंसि अणुप्पन्नंसि वा) अनेक रोगों की वाधा उत्पन्न होने या न होने पर वे (वहुइ भत्ताइं पच्चक्खंति) वहुत काल तक अनशन यानी संथारा करते हैं (पच्चक्खाइत्ता वहुइ भत्ताइं आणसणाए छेदिंति) वे वहुत काल का अनशन करके संथारा को पूर्ण करते हैं (अणसणाए छेदित्ता जस्सट्ठाए नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणभावे अदंतवणगे अच्छत्तए अणोवाहणए) अनशन का पालन करने के पश्चात् वे महात्मा जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए नग्न रहना, मुण्ड मुंडाना, स्नान न करना, दांत साफ न करना, छत्ता न लगाना, जूता न पहिनना, (भूमिसेज्जा फलग सेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरपवेसे कीरति) एवं भूमि पर सोना, फलक के ऊपर सोना, काठ पर सोना, केश का लुञ्चन करना, ब्रह्मचर्य्य धारण करना, भिक्षार्थ दूसरे के घर में जाना आदि कार्य किए जाते हैं (माणावमाणणाओ हीलणा।

परघरपवेसे लद्धावलद्धे माणावमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीस परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहंति, तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाणदंसणं समुप्पाडेंति, समुप्पाडित्ता ततो पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति ।

छाया—मानापमानानि हीलना निन्दनाः खिंसनानि गर्हणा तर्जनानि ताडनानि उच्चावचा ग्रामकण्टका द्वाविंशतिपरीषहोपसर्गाः सह्यन्ते तमर्थम् आराधयन्ति तमर्थमाराध्य चरमोच्छ्वासनिःश्वासैः अनन्तमनुत्तरं निर्व्याघातं निरावरणं कृत्स्नं परिपूर्णं केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पादयन्ति समुत्पाद्य तस्मात् सिध्यन्ति बुध्यन्ते मुच्यन्ते परिनिर्वान्ति सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति ।

अन्वयार्थ—(जो निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति) तथा जिसके लिए मान अपमान हीलना निन्दा खिंसना ताडन और कानों को अप्रिय लगने वाले अनेक प्रकार के कुवचन एवं बाईस प्रकार के परीषह और उपसर्ग सहन किए जाते हैं (तमट्ठं आराहंति) उस वस्तु की आराधना करते हैं। (तमट्ठं आराहेत्ता चरमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाणदंसणं समुप्पाडेंति) वे उस वस्तु की आराधना करके अन्तिम उच्छ्वास और निश्वास में केवल ज्ञान और केवल दर्शन को उत्पन्न करते हैं जो ज्ञान और दर्शन अन्तरहित सर्वोत्तम बाधा-रहित आवरणरहित सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण है (समुप्पाडित्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति) तब ज्ञान और दर्शन को उत्पन्न करके वे सिद्धि को प्राप्त करते हैं तथा चतुर्दश लोक के स्वरूप को जान लेते हैं संसार से मुक्त तथा शान्त हो जाते हैं एवं वे समस्त दुःखों का नाश करते हैं।

भावार्थ स्पष्ट है ।

एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति, अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तंजहा—महड्ढिएसु महज्जुतिएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महाबलेसु महाणुभावेसु महासुक्खेसु ते णं तत्थ देवा भवंति महड्ढिया महज्जुतिया जाव महासुक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडयलकन्नपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगंधपवरवत्थपरि-

छाया—एकार्चया पुनरेके भयत्रातारो भवन्ति अपरे पुनः पूर्वकर्मावशेषेण कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवत्वाय उपपत्तारो भवन्ति तद्यथा—महर्द्धिकेषु महाद्युतिकेषु महापराक्रमेषु महायशस्विषु महाबलेषु महानुभावेषु महासुखेषु ते तत्र देवाः भवन्ति महर्द्धिकाः महाद्युतिकाः यावन्महासुखाः हारविराजितवक्षसः कटकत्रुटितस्तम्भितभुजाः अङ्गदकुण्डलमृष्टगण्डतलकर्णपीठधराः विचित्रहस्ताभरणाः विचित्रमालामौलिमुकुटाः कल्याणगन्धप्रवरवस्त्र-

अन्वयार्थ—(एगे पुण एगच्चाए भयंतारो भवंति) कोई महात्मा एक ही भव में मुक्ति को प्राप्त करते हैं (अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेण कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति) दूसरे पुरुष पूर्व कर्मों के शेष रहने से मृत्यु के समय मृत्यु को प्राप्त करके देवलोक में देवता होते हैं। (तंजहा महड्ढिएसु महज्जुतिएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महाबलेसु महाणुभावेसु महासुखेसु) महा ऋद्धिशाली महाद्युतिवाले महापराक्रमयुक्त महायशस्वी महाबलसे युक्त महाप्रभाववाले और महासुखदायी जो देवलोक हैं (ते तत्थ देवा भवंति) उन में वे देवता होते हैं (महड्ढिया) वे वहां महा ऋद्धिवाले (महज्जुतिया) महाद्युतिवाले (जाव महासुखा) महान् सुखवाले (हारविराइयवच्छा) तथा हार से सुशोभित छाती वाले (कडगतुडियथंभियभुया) कटक और केयूर आदि भूषणों से युक्त हाथ वाले (अंगयकुण्डलमट्ठगंडयलकन्नपीढधारी) अङ्गद और कुण्डलों से युक्त कपोलवाले तथा कर्णभूषण को धारण करने वाले (विचित्तहत्थाभरणा) विचित्र भूषणों से युक्त हाथ वाले (विचित्तमालामउलिमउडा) विचित्र मालाओं से सुशोभित मुकुटवाले (कल्लाणगंधपवरवत्थपरिहिया) कल्याणकारी तथा सुगन्धित वस्त्र धारण करने वाले (कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा) कल्याणकारी उत्तममाला और अङ्गलेपन को धारण करने वाले [भासुरबोंदी]

हिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमाल धरा दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुत्तीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चाए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसिभद्दया यावि भवंति, एस ठाणे आयरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे सुसाहू। दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सूत्र १८ ॥

छाया—परिहिताः कल्याणप्रवरमाल्यानुलेपनधराः भास्वरशरीराः प्रलम्बवन मालाधराः दिव्येन रूपेण दिव्येन वर्णेन दिव्येन गन्धेन दिव्येन स्पर्शेन दिव्येन संघातेन दिव्येन संस्थानेन दिव्यया ऋद्ध्या दिव्यया द्युत्या दिव्यया प्रभया दिव्यया अर्चया दिव्येन तेजसा दिव्यया लेश्यया दश दिशः उद्योतयन्तः प्रभासयन्तः गतिकल्याणाः स्थितिकल्याणाः आगामिभद्रकाःऽपि भविष्यन्ति। एतत् स्थानम् आर्य्यं यावत् सर्वदुःखप्रहीणमार्गम् एकान्तसम्यक् सुसाधु द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभङ्गः एवमाख्यातः।

अन्वयार्थ—प्रकाशित शरीर वाले [पलंबवणमालधरा] लम्बी वन मालाओं को धारण करने वाले देवता होते हैं [दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुत्तीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चाए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेस्साए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा] वे अपने दिव्य रूप वर्ण गन्ध, स्पर्श शरीर, शरीर का संगठन आदि, द्युति, प्रभा कान्ति, अर्चा, तेज, और लेश्याओं से दश दिशाओं को प्रकाशित करते हुए [गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसिभद्दयावि भवंति] कल्याणगति और स्थिति वाले भविष्य में भद्रक होने वाले देवता होते हैं। [एस ठाणे आयरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे] यह स्थान आर्य्य है और यह समस्त दुःखों का नाश करने वाला है। [एगंतसम्मे सुसाहू] यह स्थान एकान्त उत्तम और अच्छा है। [दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए] दूसरा स्थान जो धर्मपक्ष है उसका विभाग इस प्रकार कहा गया है।

भावार्थ स्पष्ट है।

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा--अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति सुसीला सुव्वया सुपडियाणंदा साहू एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरता जावजीवाए एगच्चाओ अप्पडिविरया जाव जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया

छाया—अथापर स्तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभङ्ग एवमाख्यायते। इह खलु प्राच्यांवा ४ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति तद्यथा—अल्पेच्छाः अल्पारम्भाः अल्पपरिग्रहाः धार्मिकाः धर्मानुज्ञाः यावद् धर्मेण चैव वृत्तिं कल्पयन्तः विहरन्ति सुशीलाः सुप्रत्यानन्दाः साधवः एकस्मात् प्राणातिपातात् प्रतिविरताः यावज्जीवनम् एकस्माद् अप्रतिविरताः यावद् ये चान्ये तथाप्रकाराः सावद्याः अबो-

अन्वयार्थ—[अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ] इसके पश्चात् तीसरा स्थान जो मिश्र स्थान है उसका भेद बताया जाता है [इह खलु पाईणंवा संते गतिया मणुस्सा तंजहा] इस मनुष्य लोक में पूर्व आदि दिशाओं में कोई मनुष्य ऐसे होते हैं [अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा) जो अल्प इच्छावाले अल्प आरम्भ करनेवाले और अल्पपरिग्रह रखने वाले हैं (धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरति] वे धर्माचरण करनेवाले धर्म की अनुज्ञा देने वाले और धर्म से ही जीवन निर्वाह करते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं सुसीला सुव्वया सुपडियाणंदा साहू] वे सुशील सुन्दरव्रतधारी तथा सुख से प्रसन्न करने योग्य और सज्जन होते हैं (एगच्चाओ पाणाइवायाओ जाव जीवाए पडिविरया एगच्चाओ अपडिविरया) वे किसी [स्थूल] प्राणातिपात से जीवनभर निवृत्त रहते हैं और किसी [सूक्ष्म] से निवृत्त नहीं रहते हैं [जे यावण्णे तहप्प-

भावार्थ—अब तीसरा स्थान जो मिश्र स्थान है उसका विचार किया जाता है इस स्थान मे धर्म और अधर्म दोनों ही मिश्रित हैं इसलिए इसे मिश्र कहते हैं यद्यपि यह अधर्म से भी युक्त है तथापि अधर्म की अपेक्षा इसमे धर्म का अंश इतना अधिक है कि उसमें अधर्म बिलकुल छिपा हुआ सा है। जैसे चन्द्रमा की हजार किरणो मे कलंक छिप जाता है इसी तरह

कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति ततोवि एगच्चाओ अप्प-डिविरिया ।

छाया—चित्राः कर्मसमारम्भाः परप्राणपरितापनकराः क्रियन्ते ततो ऽप्येकस्मात् अप्रतिविरता ।

अन्वयार्थ—[परा सावज्जा अबोहिया परपाणपरितावणकरा कम्मंता कज्जंति ततोवि एगच्चाओ अप्पडिविरिया] दूसरे जो कर्म सावद्य और अज्ञान को उत्पन्न करने वाले अन्य प्राणियों को ताप देने वाले जगत् में किए जाते हैं उनमें से कई कर्मों से वे निवृत्त नहीं होते हैं ।

भावार्थ—इस स्थान में धर्म से अधर्म किया हुआ है अतः इस स्थान की धर्म पक्ष में ही गणना की जाती है । जो पुरुष अल्प इच्छा वाले अल्प आरम्भ करने वाले अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्म की अनुज्ञा देने वाले, सुशील और उत्तमव्रतधारी हैं वे इस स्थान में माने जाते हैं । वे पुरुष स्थूल प्राणाति-पात आदि से निवृत्त और सूक्ष्म से अनिवृत्त होते हैं । वे यन्त्रपीडन और निर्लाञ्छन आदि कर्मों से भी निवृत्त होते हैं ।

से जहाणामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरवेयणाणिज्जराकिरियाहिगरणबंध-मोक्खकुसला असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिंनरकिंपु

छाया—तद्यथा नाम श्रमणोपासका भवन्ति अभिगतजीवाजीवाः उपलब्ध पुण्यपापाः आस्रवसंवरवेदनानिर्जराक्रियाधिकरणबन्धमोक्षकुशलाः असहाया अपि देवासुरनागसुवर्णयक्षराक्षसकिन्नरकिं

अन्वयार्थ—(से जहाणामए समणोवासगा भवंति) इस मिश्र स्थान में रहने वाले श्रमणोपासक यानी श्रावक होते हैं (अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरवेयणा णिज्जराकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसला) वे श्रावक जीव, अजीव, पुण्य पाप आस्रव संवर वेदना, निर्जरा क्रिया, अधिकरण बन्ध और मोक्ष के ज्ञाता होते हैं (असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगा

रिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा इणमेव निग्गंथे पावयणे णिस्संकिया णिक्कंखिया निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा अट्ठिमिंजापेम्माणुरागरत्ता अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे उसियफलिहा अवंगुयदुवारा अचियत्तंतेउरपरघरपवेसा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु

छाया—पुरुषगरुडगन्धर्वमहोरगादिभिःदेवगणैः निग्रन्थात् प्रवचनादनतिक्रमणीयाः अस्मिन्नैग्रन्थे प्रवचने निःशङ्किताः निष्काङ्क्षिताः निर्विचिकित्साः लब्धार्थाः गृहीतार्थाः पृष्टार्थाः निश्चितार्थाः अभिगतार्थाः अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्ताः इदमायुष्मन् नैग्रन्थं प्रवचनम् अयं परमार्थः शेषोऽनर्थः उच्छ्रितस्फाटिकाः असंवृतद्वाराः असंमतान्तःपुरपरगृहप्रवेशाः चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपूर्णिमासु प्रति

अन्वयार्थ—इएहिं देवगणेहिं णिग्गथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा) वे श्रावक असहाय होने पर भी देव असुर नाग सुवर्ण यक्ष राक्षस किन्नर किंपुरुष गन्धर्व गरुड़ और महासर्प आदि देवगणों के द्वारा भी निग्रन्थ प्रवचन से अलग करने योग्य नहीं होते। (इणमेव णिग्गथे पावयणे णिस्सकिया णिक्कखिया णिवितिगिच्छा) वे श्रावक निग्रथ प्रवचन में शङ्का रहित और दूसरे दर्शन की आकांक्षा से रहित होते हैं (णिवितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा) वे इस प्रवचन के फल में सन्देहरहित होते हैं । वे सूत्रार्थ के ज्ञाता तथा उसे ग्रहण किये हुए और गुरु से पूछे हुवे होते हैं । (विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा अट्ठिमिज्जापेमाणुरागरत्ता) वे सूत्रार्थ को निश्चय किए हुए और समझे हुए एव उसके प्रति हड्डी और मज्जा में भी अनुराग से रञ्जित होते हैं (अयमाउसो णिग्गथे पावयणे अट्ठे अय परमट्ठे सेसे अणट्ठे) वे श्रावक कहते हैं कि—"यह निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य है शेप सब अनर्थ हैं" (उसियफलिहा) वे विशाल और निर्मल मन वाले होते हैं (अवंगुयदुवारा) उनके घर के द्वार खुले रहते हैं (अचियत्त तेउरपरघरपवेसा) वे श्रावक राजा के अन्त पुर के समान दूसरे के घर में प्रवेश करना अच्छा नहीं मानते हैं (चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अनुपालेमाणा) वे चतुर्दशी, अष्टमी और पूर्णिमा आदि तिथियों में पूर्णरूप से पौषध और उपवास

पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकम्बलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीठफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खायंति बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाएत्ता बहूइं भत्ताइं अण

छाया—पूर्णं पौषधं सम्यगनुपालयन्तः श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्रासुकैषणीयेन अशनपानखाद्यस्वाद्येन वस्त्रपरिग्रहकम्बलपादप्रोञ्छनेन औषधभैषज्येन पीठफलकशय्यासंस्तारकेण प्रतिलाभयन्तः बहुभिः शीलव्रतगुणविरमणप्रत्याख्यानपौषधोपवासैः यथापरिगृहीतैः तपः कर्मभिः आत्मानं भावयन्तो विहरन्ति । ते एतद्रूपेण विहारेण विहरन्तः बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासकपर्य्यायां पालयन्ति पालयित्वा आबाधायामुत्पन्नायां वा अनुत्पन्नायां वा बहूनि भक्तानि प्रत्याख्यान्ति, बहूनि भक्तानि प्रत्याख्याय बहूनि भक्तानि अनशनया

अन्वयार्थ—करते हुए (समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकम्बलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीठफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा) श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक एषणीय अशन पान खाद्य स्वाद्य वस्त्र पात्र कम्बल पादप्रोञ्छन औषध भैषज्य पीठ फलक शय्या और तृण आदि देते हुए (अहापरिग्गहिएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति) एवं इच्छानुसार ग्रहण किए हुए शील गुणव्रत त्याग प्रत्याख्यान पौषध और उपवास के द्वारा अपने आत्मा को पवित्र करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं (तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति) वे इस प्रकार आचरण करते हुए बहुत वर्षों तक श्रावक के व्रत का पालन करते हैं (पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खायंति) श्रावक के व्रत का पालन करके वे रोग आदि की बाधा उत्पन्न होने पर या न होने पर बहुत काल तक अनशन यानी संथारा ग्रहण करते हैं (बहूइं

सणाए छेदेन्ति बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेइत्ता अलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तंजहा—महड्डिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्खेसु सेसं तहेव जाव एस ठाणे आयरिए जाव एगंतसम्मे साहू । तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवं आहिए । अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ

छाया—छेदयन्ति बहूनि भक्तानि अनशनया छेदयित्वा आलोचितप्रतिक्रान्ताः समाधिमाप्ताः कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवत्वाय उपपत्तारो भवन्ति । तद्यथा महर्द्धिकेषु महाद्युतिकेषु यावन्महासुखेषु शेषं तथैव यावत् इदं स्थानम् आर्य्यम् यावदेकान्त सम्यक् साधु तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभङ्गः एवमाख्यातः अविरतिं प्रतीत्य बाल आख्यायते विरतिं प्रतीत्य पण्डित आख्या-

अन्वयार्थ—भत्ताइ पच्चक्खाएत्ता बहूइ भत्ताइ अणसणाए छेदिंति) वे बहुत काल का अनशन करके संथारे को पूर्ण करते हैं (बहूइं भत्ताइ अणसणाए छेइत्ता आलोइयपडिक्कता समाहिपत्ता कालमासे काल किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति) वे संथारे को पूर्ण करके अपने पाप की आलोचना तथा प्रतिक्रमण कर समाधि को प्राप्त होते हैं इस प्रकार वे काल के अवसर में मृत्यु को प्राप्त कर विशिष्ट देवलोक में देवता होते हैं (महड्डिएसु महज्जुइएसु जाव महासुखेसु सेसं तहेव जाव) वे महाऋद्धि वाले महा द्युति वाले तथा महासुख वाले देवलोक में देवता होते हैं शेष पूर्वपाठ के अनुसार जानना चाहिए । (एस ठाणे आरिए जाव एगंतसम्मे साहू) यह स्थान आर्य्य तथा एकान्त सम्यक् और उत्तम है । (तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स निभगे एव माहिए) तृतीय स्थान जो मिश्र स्थान है उसका विभाग इस प्रकार कहा गया । (अविरइं पडुच्च बाले विरइं पडुच्च पडिए विरयाविरइ पडुच्च बाल पडिए आहिज्जइ) इस मिश्र स्थान का स्वामी अविरति के हिसाब से बाल और विरति की अपेक्षा से पण्डित तथा अविरति और विरति दोनों की अपेक्षा से बाल पण्डित कहलाता है । (तत्थ जा सा सव्वतो अविरई एस ठाणे आरभठाणे अणारिए जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगतमिच्छे असाहू) इनमें जो स्थान सभी पापों से निवृत्त न होना है वह आरम्भ स्थान है, वह अनार्य्य तथा समस्त दुःखों का

विरयाविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ, तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरई एस ठाणे आरम्भट्ठाणे अणारिए जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, तत्थ णं जा सा सव्वतो विरई एस ठाणे अणारम्भट्ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ठाणे आरम्भणोआरम्भट्ठाणे एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू ॥ सूत्र ३६ ॥

छाया—यते विरत्यविरती प्रतीत्य बालपण्डित आख्यायते तत्र या सा अविरतिः इदं स्थानमारम्भस्थानमनार्य्यं यावदसर्वदुःखप्रहीण मार्गम् एकान्तमिथ्या असाधु । तत्र या सा सर्वतो विरतिः इद स्थानमनारम्भस्थानमार्य्यं यावत् सर्वदुःखप्रहीणमार्गमेकान्तसम्यक् साधु । तत्र ये ते सर्वतो विरताविरती इदं स्थानमारम्भनोआरम्भस्थानम् इदं स्थानमार्य्यं यावत् सर्वदुःखप्रहीणमार्गमेकान्तसम्यक् साधु ।

अन्वयार्थ—पाप न करने वाला एकान्त मिथ्या और बुरा है (तत्थ णं जा सा सव्वओ विरई एस ठाणे अणारंभट्ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू) यह दूसरा स्थान जो सब पापों से निवृत्ति है वह अनारम्भ स्थान है वह आर्य्य तथा समस्त दुःखों को नाश करने वाला एकान्त सम्यक् और उत्तम है। (तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू) तथा तीसरा स्थान जो कुछ पापों से निवृत्ति और कुछ से अनिवृत्ति है वह आरम्भ नो आरम्भ स्थान कहलाता है वह भी आर्य्य तथा समस्त दुःखों का नाशक एकान्त सम्यक् और उत्तम है।

भावार्थ—स्पष्ट है।



एवमेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समो-अरंति, तंजहा–धम्मे चेव अधम्मे चेव उवसंते चेव अणुवसंते चेव, तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए, तत्थ णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुयसयाइं

छाया—एवमेव समनुगम्यमानाः अनयोरेव द्वयोः स्थानयोः सम्पतन्ति तद्यथा धर्मे चैव अधर्मे चैव उपशान्ते चैव अनुपशान्ते चैव तत्र योऽसौ प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभङ्ग एवमाख्यातः तत्रा-मूनि त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि प्रावादुकशतानि भवन्ति इत्याख्या

अन्वयार्थ—(एवमेव समणुगम्ममाणा इमेहिं दोहिं ठाणेहिं समोअरंति) संक्षेप से विचार करने पर सभी मार्ग इन दो स्थानों में ही आ जाते हैं (तंजहा धम्मे चेव अधम्मे चेव उवसंते चेव अणुवसंते चेव) धर्म में और अधर्म में तथा उपशान्त में और अनुपशान्त में (तत्थणं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए तत्थणं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुयसयाइं भवंतीति मक्खायाइं) पहले जो अधर्म स्थान का विचार पूर्वोक्त प्रकार से किया गया है उसमें तीन सौ तिरसठ ३६३ प्रावादुक

भावार्थ—वस्तुतः धर्म और अधर्म ये दो ही पक्ष हैं क्योंकि मिश्रपक्ष भी धर्म और अधर्म से मिश्रित होने के कारण इन्हीं के अन्तर्गत है। दूसरे मतमतान्तर जो क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के ३६३ भेद वाले पाये जाते हैं वे भी धर्म तत्त्व से रहित और मिथ्या होने के कारण अधर्म पक्ष के ही अन्तर्गत हैं। उक्त मत मतान्तर यद्यपि मोक्ष भी मानते हैं तथापि उनकी मान्यता विवेक रहित और मिथ्या होने के कारण संसार का ही वर्धक है, मोक्षप्रद नहीं है। बौद्धों की मान्यता है कि—"ज्ञान सन्तति का आधार कोई आत्मा नहीं है किन्तु ज्ञान सन्तति ही आत्मा है। उस ज्ञान सन्तति का कर्म सन्तति के प्रभाव से अस्तित्व है जो संसार कहलाता है और उस कर्मसन्तति के नाश होने से ज्ञान-सन्तति का नाश हो जाता है इसी को मोक्ष कहते हैं।" इस प्रकार का सिद्धान्त मानने वाले बौद्ध यद्यपि मोक्ष का नाम अवश्य लेते हैं और उसके लिए प्रयत्न भी करते हैं परन्तु यह सब इनका अज्ञान है क्योंकि ज्ञान सन्तति से कथञ्चित् अतिरिक्त और उनका आधार एक आत्मा अवश्य है अन्यथा जिसको मैंने देखा है उसी को स्पर्श करता हूँ इत्यादि

भवतीति मक्खायाइं (य), तंजहा—किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं, तेऽवि परिनिव्वाणमाहंसु, तेऽवि मोक्खमाहंसु तेऽवि लवंति, सावगा ! तेऽवि लवंति सावइत्तारो ॥ सूत्रम् ४० ॥

छाया—यानि तद्यथा क्रियावादिनामक्रियावादिनामज्ञानवादिनां विनयवादिनाम् । तेऽपि मोक्षमाचख्युः । तेऽपि लपन्ति श्रावकान् तेऽपि लपन्ति श्रावयितारः ।

अन्वयार्थ—भ्रष्ट हो जाते हैं यह धर्मशास्त्रों ने कहा है। (तंजहा किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं) वे मतवादी ये हैं—क्रियावादी अक्रियावादी अज्ञानवादी और विनयवादी (तेऽवि परिनिव्वाणमाहंसु तेऽवि मोक्खमाहंसु) वे भी मोक्ष का कथन करते हैं (तेऽवि लवंति सावगा तेऽवि लवंति सावइत्तारो) वे भी अपने धर्म का उपदेश अपने श्रावकों से करते हैं तथा अपने धर्म के वक्ता होते हैं ।

भावार्थ—संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है अतः ज्ञान सन्तति से अतिरिक्त उसका आधार एक आत्मा अवश्य मानना चाहिये । वह आत्मा अविनाशी है इसलिए मोक्षावस्था में उसके अस्तित्व का नाश मानना भी बौद्धों का अज्ञान है । मोक्ष में यदि आत्मा का अस्तित्व ही न रहे तो उसकी इच्छा मूर्ख भी नहीं कर सकता फिर विद्वानों की तो बात ही क्या है ? अतः बौद्धमत एकान्त मिथ्या और अधर्म पक्ष में ही मानने योग्य है ।

इसी तरह सांख्यवाद भी अधर्म पक्ष में ही गिनने योग्य है । वह आत्मा को कूटस्थ नित्य कहता है परन्तु आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने पर संसार और मोक्ष दोनों ही नहीं बन सकते । आत्मा जो चतुर्विध गतियों में परिभ्रमण करता रहता है वही उसका संसार है और अपने स्वाभाविक गुणों में जो सदा परिणत होता रहता है वह उसका मोक्ष है ये दोनों बातें कूटस्थ नित्य में सम्भव नहीं हैं अतः यह मत भी त्यागने योग्य ही है । इसी प्रकार नैयायिक और वैशेषिकों के मत भी युक्ति रहित होने के कारण अधर्म पक्ष में ही गिनने योग्य हैं । इन मतों का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है इसलिए यहाँ विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।

ते सव्वे पावाउया आदिकरा धम्माणं णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठंति ॥ पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आइगरे धम्माणं णाणापन्ने जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी–हंभो पावाउया !

छाया—ते प्रावादुकाः आदिकराः धर्माणां नानाप्रज्ञाः नानाच्छन्दसो नानाशीलाः नानादृष्टयो नानारुचयः नानारम्भाः नानाऽध्यवसानसंयुक्ताः एकं महान्तं मण्डलिबन्धं कृत्वा सर्वे एकतस्तिष्ठन्ति पुरुषश्चैकः साग्निकानामङ्गाराणां पात्रीं प्रतिपूर्णामयोमयेन संदंशकेन गृहीत्वा तान् सर्वान् प्रावादुकान् आदिकरान् धर्माणां नानाप्रज्ञान् यावद् नानाऽध्यवसानसंयुक्तान् एवमवादीत् हंहो प्रावादुकाः

अन्वयार्थ—(णाणापण्णा णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता धम्माणं आदिकरा सव्वे पावाउया मंडलिबंधं किच्चा चिट्ठंति) नाना प्रकार की बुद्धि, अभिप्राय स्वभाव, दृष्टि, रुचि आरम्भ और निश्चय रखने वाले धर्म के आदि प्रवर्तक सभी प्रावादुक किसी एक स्थान में मण्डल बांध कर बैठे हों, (पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं बहुपडिपुन्नं पाइं अओमएणं संडासएणं गहाय) वहां कोई पुरुष अग्नि के अंगारों से भरी हुई किसी पात्री को लोह की संडासी से पकड़ कर लावे (णाणापन्ने जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते धम्माणं आइगरे ते सव्वे पावाउए एवं वयासी) और वह नाना प्रकार की बुद्धि वाले एवं अनेक प्रकार के निश्चय वाले धर्म के आदि प्रवर्तक उन प्रावादुकों से कहे कि—(हंभो णाणापन्ना

भावार्थ—जो लोग सर्वज्ञ के आगम को न मान कर किसी दूसरे मत के प्रवर्तक हैं वे अन्य तीर्थी या प्रावादुक कहलाते हैं। इनकी संख्या शास्त्रकार ने ३६३ बताई है। ये प्रावादुकगण अपने आगम से पहले किसी दूसरे सर्वज्ञप्रणीत आगम का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं। इनका कहना है कि—मैं ही पहले पहल जगत् को कल्याण का मार्ग बताने वाला हूँ। मेरे पहले कोई दूसरा पुरुष सत्पथ का प्रदर्शक नहीं था। अतएव यहां शास्त्रकार ने इन प्रावादुकों को अपने अपने मतों का आदिकर कह कर

भवतीति मक्खायाइं (य), तंजहा–किरियावाईणं अकिरियावा ईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं, तेऽवि परिनिव्वाणमाहंसु, तेऽवि मोक्खमाहंसु तेऽवि लवंति, सावगा ! तेऽवि लवंति साव इत्तारो ॥ सूत्रम् ४० ॥

छाया—तानि यथा क्रियावादिनामक्रियावादिनामज्ञानवादिनां विनय वादिनाम् । तेऽपि मोक्षमाचख्युः । तेऽपि लपन्ति श्रावकान् तेऽपि लपन्ति श्रावयितारः ।

अन्वयार्थ—अन्तर्भूत हो जाते हैं यह सर्वज्ञों ने कहा है। (तंजहा किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं) वे प्रावादुक ये हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी अज्ञानवादी और विनयवादी (तेऽवि परिनिव्वाणमाहंसु तेऽवि मोक्खमाहंसु) वे भी मोक्ष का कथन करते हैं (तेऽवि लवंति सावगा तेऽवि लवंति सावइत्तारो) वे भी अपने धर्म का उपदेश अपने श्रावकों से करते हैं तथा अपने धर्म के श्रावक होते हैं ।

भावार्थ—संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है अतः ज्ञान सन्तति से अतिरिक्त उनका आधार एक आत्मा अवश्य मानना चाहिये। वह आत्मा अविनाशी है इसलिए मोक्षावस्था में उसके अस्तित्व का नाश मानना भी बौद्धों का अज्ञान है। मोक्ष में यदि आत्मा का अस्तित्व ही न रहे तो उसकी इच्छा मूर्ख भी नहीं कर सकता फिर विद्वानों की तो बात ही क्या है ? अतः बौद्धमत एकान्त मिथ्या और अधर्म पक्ष में ही मानने योग्य है।

इसी तरह सांख्यवाद भी अधर्म पक्ष में ही गिनने योग्य है। वह आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है परन्तु आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने पर संसार और मोक्ष दोनों ही नहीं बन सकते। आत्मा जो चतुर्विध गतियों में परिणत होता रहता है यही उसका संसार है और अपने स्वाभाविक गुणों में जो सदा परिणत होता रहता है वह उसका मोक्ष है ये दोनों बातें कूटस्थ नित्य में सम्भव नहीं हैं अतः यह मत भी त्यागने योग्य ही है। इसी प्रकार नैयायिक और वैशेषिकों के मत भी युक्ति रहित होने के कारण अधर्म पक्ष में ही गिनने योग्य हैं। इन मतों का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है इसलिए यहाँ विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय पाणिंसु णिसिरति, तए णं ते पावादुया आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति, तए णं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माणं जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी-हंभो पावादुया!

छाया—पाणिं प्रसारयत। इत्युक्त्वा स पुरुषः तेषां प्रावादुकानां तां साग्निकानामङ्गाराणां पात्रीं प्रतिपूर्णामयोमयेन सन्दंशकेन गृहीत्वा पाणिषु निसृजति, तदनु ते प्रावादुकाः आदिकराः धर्माणां नानाप्रज्ञाः यावन्नानाध्यवसानसंयुक्ताः पाणिं प्रतिसंहरन्ति। तदनु स पुरुषः तान् सर्वान् प्रावादुकान् आदिकरान् धर्माणां यावद् नानाध्यवसानसंयुक्तान् एवमवादीत्, हं हो प्रावादुकाः आदिकराः

अन्वयार्थ—कुव्वमाणा पाणिं पसारेह) किन्तु सरल, मोक्षाराधक और माया न करते हुए अपने हाथ को पसारो। (इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं त सागणियाण इंगालाण पाइ बहुपडिपुन्न अओमएणं सडासएण गहाय पाणिंसु णिसिरति) यह कह कर वह पुरुष अग्नि के अङ्गारों से भरी हुई उस पात्री को लोह की सडासी से पकड़ कर उन प्रावादुकों के हाथ पर रखे (तएणं ते पावादुया णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसजुत्ता धम्माणं आदिगरा पाणि पडिसाहरति) उस समय नाना बुद्धि तथा नाना प्रकार के निश्चय वाले धर्म के आदि प्रवर्तक वे प्रावादुक अपने हाथ को अवश्य हटालेंगे (तएण से पुरिसे धम्माण आदिगरे जाव णाणाज्झवसाण संजुत्ते ते सव्वे पावाउए एव वयासी) यह देखकर वह पुरुष नाना प्रकार की प्रज्ञा और निश्चयवाले धर्म के आदि प्रवर्तक उन प्रावादुकों से इस प्रकार कहे कि—(हंभो

भावार्थ—मानते। वे असत् की उत्पत्ति और सत् का नाश मानते हुए घट पट आदि कार्यसमूह को एकान्त, अनित्य और काल, आकाश, दिशा और आत्मा आदि को एकान्त नित्य कहते हैं। बौद्धगण निरन्वय क्षणभङ्ग-वाद को स्वीकार करके सभी पदार्थों को क्षणिक बतलाते हैं। इनके मत में पूर्व क्षण के घट के साथ उत्तर क्षण के घट का एकान्त भेद है और

आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाअज्झवसाणसंजुत्ता ! इमं ताव तुब्भे सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुण्णं गहाय मुहुत्तयं मुहुत्तगं पाणिणा धरेह, णो बहुसंडासगं संसारियं कुज्जा णो बहुअग्गिथंभणियं कुज्जा णो बहु साहम्मियवेयावडियं कुज्जा णो बहुपरधम्मियवेयावडियं कुज्जा उज्जुया णियागपडिवन्ना

छाया—आदिकराः धर्माणां नानाप्रज्ञा यावन्नानाध्यवसानसंयुक्ताः ! इमां तावद् यूयं साग्निकानामङ्गाराणां पात्रीं प्रतिपूर्णां गृहीत्वा मुहूर्तकं मुहूर्तकं पाणिना धरत नो संदंशकं सांसारिकं कुरुत नो अग्निस्तम्भनं कुरुत नो साधर्मिकवैयावृत्यं कुरुत नो परधर्मिकवैयावृत्यं कुरुत ऋजुकाः नियागप्रतिपन्नाः अमायां कुर्वाणाः

अन्वयार्थ—(जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता धम्माणं आइगरा पावाउया), हे नाना प्रकार की बुद्धि और अभिप्राय वाले, धर्मों के आदि प्रवर्तक प्रावादुको ! (तुब्भे इमं ताव सागणियाणं इंगालाणं बहुपडिपुण्णं पाइं गहाय मुहुत्तयं मुहुत्तगं पाणिणा धरेह) तुम लोग अग्नि के अङ्गारों से भरी हुई इस पात्री को थोड़ी देर तक हाथ से पकड़ कर धारण करो (णो बहु संडासगं संसारियं कुज्जा) संडासी की सहायता न लो (णो बहुअग्गिथंभणियं कुज्जा) तथा अग्नि का स्तम्भन भी न करो (णो बहुसाहम्मियवेयावडियं कुज्जा) अपने साधर्मिक की वैयावृत्य न करो (णो बहु परधम्मियवेयावडियं कुज्जा) तथा अन्य धर्म वालों का भी वैयावृत्य न करो (उज्जुया णियागपडिवण्णा अमायं

भावार्थ—बताया है। आर्हत मत का कोई भी धर्मोपदेशक इनके समान धर्म का आदिकर नहीं कहा जा सकता है क्योंकि पूर्व केवलियों के द्वारा कहे हुए अर्थों की ही व्याख्या करने वाले उत्तर केवली होते हैं यह आर्हतों की मान्यता है। एक केवली ने जिस अर्थ को जैसा देखा है दूसरे भी उस अर्थ को उसी तरह कहते हैं इसलिए केवलियों के आगमों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है परन्तु अन्य तीर्थियों के आगमों में यह बात नहीं है। वे एक ही पदार्थ को भिन्न भिन्न दृष्टि से देखते हैं और भिन्न भिन्न रूपों से उसकी व्याख्या करते हैं। सांख्यवादी असत् की उत्पत्ति न मान कर सत् का ही आविर्भाव मानता है और सत् का नाश न मान कर उसका तिरोभाव बतलाता है परन्तु नैयायिक और वैशेषिक ऐसा नहीं

अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय पाणिसु णिसिरति, तए णं ते पावादुया आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति, तए णं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माणं जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी-हंभो पावादुया !

छाया—पाणिं प्रसारयत। इत्युक्त्वा स पुरुषः तेषां प्रावादुकानां तां साग्निकानामङ्गाराणां पात्रीं प्रतिपूर्णामयोमयेन सन्दंशकेन गृहीत्वा पाणिषु निसृजति, तदनु ते प्रावादुकाः आदिकराः धर्माणां नानाप्रज्ञाः यावन्नानाध्यवसानसंयुक्ताः पाणिं प्रतिसंहरन्ति। तदनु स पुरुषः तान् सर्वान् प्रावादुकान् आदिकरान् धर्माणां यावद् नानाध्यवसानसंयुक्तान् एवमवादीत्, हं हो प्रावादुकाः आदिकराः

अन्वयार्थ—कुव्वमाणा पाणिं पसारेह) किन्तु सरल, मोक्षाराधक और माया न करते हुए अपने हाथ को पसारो। (इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाण तं सागणियाण इंगालाण पाइं बहुपडिपुन्न अओमएणं संडासएणं गहाय पाणिसु णिसिरति) यह कह कर वह पुरुष अग्नि के अङ्गारों से भरी हुई उस पात्री को लोह की सडासी से पकड कर उन प्रावादुकों के हाथ पर रखे (तएणं ते पावादुया णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता धम्माणं आदिगरा पाणिं पडिसाहरति) उस समय नाना बुद्धि तथा नाना प्रकार के निश्चय वाले धर्म के आदि प्रवर्तक वे प्रावादुक अपने हाथ को अवश्य हटालेंगे (तएण से पुरिसे धम्माणं आदिगरे जाव णाणाज्झवसाण संजुत्ते ते सव्वे पावाउए एव वयासी) यह देखकर वह पुरुष नाना प्रकार की प्रज्ञा और निश्चयवाले धर्म के आदि प्रवर्तक उन प्रावादुकों से इस प्रकार कहे कि—(हंभो

भावार्थ—मानते। वे असत् की उत्पत्ति और सत् का नाश मानते हुए घट पट आदि कार्यसमूह को एकान्त, अनित्य और काल, आकाश, दिशा और आत्मा आदि को एकान्त नित्य कहते हैं। बौद्धगण निरन्वय क्षणभङ्गवाद को स्वीकार करके सभी पदार्थों को क्षणिक बतलाते हैं। इनके मत मे पूर्व क्षण के घट के साथ उत्तर क्षण के घट का एकान्त भेद है और

आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ?, पाणिं नो डहिज्जा दड्ढे किं भविस्सइ ?, दुक्खं दुक्खंति मन्नमाणा पडिसाहरह, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे, पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमातिक्खंति

छाया—धर्माणां नानाप्रज्ञा यावन्नानाध्यवसानसंयुक्ताः कस्मात् यूयं पाणिं प्रतिसंहरथ ? पाणिं नो दहेदिति, दग्धे किं भविष्यति ? दुःखं दुःखमिति मन्यमानाः पाणिं प्रतिसंहरथ एषा तुला एतत् प्रमाणं एतत् समवसरणम् प्रत्येकं तुला प्रत्येकं प्रमाणं प्रत्येकं समवसरणम्। तत्र ये ते श्रमणाः माहनाः एवमाख्यान्ति यावत्

अन्वयार्थ—(नानापन्ना जाव णाणाज्झवसाण संजुत्ता धम्माणं आइगरा कम्हाणं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ?) हे नाना बुद्धि और निश्चय वाले धर्म के आदि प्रवर्तक प्रावादुको ! तुम अपने हाथ को क्यों हटा रहे हो ? (पाणिं नो डहिज्जा) इसीलिए कि हाथ न जले (दड्ढे किं भविस्सइ ?) हाथ जल जाने से क्या होगा ? (दुक्खं) यदि दुःख होगा (दुक्खंति मन्नमाणा पडिसाहरह) और दुःख के भय से हाथ को तुम हटा रहे हो तो (एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे) यही बात सब के लिये तुला समझो यही सबके लिए प्रमाण मानो यही धर्म का समुच्चय समझो (पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे) यह प्रत्येक के लिए तुला मानो प्रत्येक के लिए प्रमाण समझो और प्रत्येक के लिए धर्म का समुच्चय जानो। (तत्थणं जे ते समणा

भावार्थ—अन्वयी द्रव्य कोई है ही नहीं। इसी तरह मीमांसक और तापसों के शास्त्रों में भी पदार्थों की व्यवस्था भिन्न भिन्न रीति से पाई जाती है। किसी के साथ किसी का मतैक्य नहीं है। वस्तुतः सभी पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त हैं, तथा सभी कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य हैं एवं कोई भी एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य नहीं हैं तथा कोई भी निरन्वय क्षणिक नहीं हैं तथापि महा मोह के उदय से अन्य तीर्थियों को इन उन भिन्न भिन्न रूपों में वे पदार्थ प्रतीत होते हैं। वस्तुतः समस्त कल्याणों की जननी स्वर्गापवर्गदात्री अहिंसा है परन्तु अन्यतीर्थी उसे

जाव परूवेंति-सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उद्दवेतव्वा, ते आगंतुछेयाए ते आगंतुभेयाए जाव ते आगंतुजाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं

छाया—प्ररूपयन्ति सर्वे प्राणाः यावत् सर्वे सत्त्वाः हन्तव्या आज्ञापयितव्याः परिग्रहीतव्याः परितापयितव्याः क्लेशयितव्याः उपद्रावयितव्याः ते आगामिनि छेदाय ते आगामिनि भेदाय यावद् आगामिनि जातिजरामरणयोनिजन्मसंसारपुनर्भवगर्भवासभवप्रपञ्चकलंकलीभागिनो भविष्यन्ति। ते वहूनां दण्डनानां वहूनां मुण्ड-

अन्वयार्थ—माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परिवेयव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उद्दवेयव्वा ते आगंतुछेयाय आगतुभेयाय) धर्म के प्रसङ्ग में जो श्रमण और माहन ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि—सब प्राणियों को हनन करना चाहिये, आज्ञा देनी चाहिये, दासी दास आदि के रूप में रखना चाहिये, परिताप देना चाहिये तथा उन्हें क्लेश और उपद्रव देना चाहिये " वे भविष्य में अपने शरीर को छेदन और भेदन आदि पीड़ाओं के भागी बनाते हैं (जाव ते आगतुजाइजरामरणजोणिजम्मणससारपुव्वभवगब्भवासभवपवचकलकलीभागिणो भविस्सति) वे भविष्य में उत्पत्ति, जरा, मरण, जन्म, बार बार ससार में उत्पन्न होना गर्भवास और सासारिक प्रपञ्च में पडकर महाकष्ट के भागी होंगे (ते बहूण दडणाणं वहूण मुंडणाणं तज्जणाणं ताडणाण अंदुबंधणाण जाव

भावार्थ—प्रधान धर्म का अङ्ग नहीं मानते हैं। उन्हें समझाने के लिये शास्त्रकार एक कल्पित दृष्टान्त देकर अहिंसा की प्रधानता सिद्ध करते हैं। मान लीजिये कि किसी जगह सभी प्रावादुक एकत्रित होकर मण्डलाकार बैठे हों, वहां कोई सम्यग्दृष्टि पुरुष अग्नि के अगारों से भरी हुई एक पात्री को संडासी से पकड कर लावे और कहे कि—"हे प्रावादुकों! आप लोग अगार से भरी हुई इस पात्री को अपने अपने हाथों में थोडी देर तक रखें। आप सडासी की सहायता न लें तथा एक दूसरे की सहायता भी न करें" यह सुनकर वे प्रावादुक उस पात्री को हाथ में लेने के लिए हाथ फैला

अदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइमरणाणं पिइमरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूतसुण्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं आभागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति,

छाया—नानां तर्जनानां ताडनानामन्दुबन्धनानां यावत् घोलनानां मातृमरणानां पितृमरणानां भ्रातृमरणानां भगिनीमरणानां भार्य्यापुत्रदुहितृस्नुषामरणानां दारिद्र्याणां दौर्भाग्यानामप्रियसंवासानां प्रियवियोगानां बहूनां दुःखदौर्मनस्यानामाभागिनो भविष्यन्ति अनादिकञ्च अनवदग्रं दीर्घमध्वं चतुरन्तसंसारकान्तारं

अन्वयार्थ—घोलणाणं) वे बहुत दण्ड बहुत मुण्डन, तर्जन ताडन अंदु बन्धन और घोलन आदि (माइमरणाणं पिइमरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूतसुण्हामरणाणं) एवं माता, पिता भाई, बहिन, भार्य्या पुत्र, कन्या और पुत्र वधू के मरण (दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोमणस्साणं आभागिणो भविस्संति) दरिद्रता, दौर्भाग्य, अप्रिय के साथ निवास, प्रियवियोग तथा बहुत से दुःख और दौर्मनस्य के भागी होंगे । (अणादियं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति) वे अनादि अनन्त तथा दीर्घमध्य वाले चतुर्गतिक संसार रूप घोर जङ्गल में बार बार भ्रमण करते रहेंगे ।

भावार्थ—फिर भी उसे अङ्गारों से पूर्ण बरतन हाथ जल जाने के भय से अवश्य ही अपने हाथों को हटा लेंगे । उस समय यह सम्यग्दृष्टि उनसे पूछे कि—आप लोग अपने हाथ को क्यों हटा रहे हैं ? तो वे यही उत्तर देंगे कि हाथ जल जाने के भय से हम लोग हाथ हटा रहे हैं । फिर सम्यग्दृष्टि उनसे पूछे कि—हाथ जल जाने से क्या होगा ? वे उत्तर देंगे कि दुःख होगा । उस समय सम्यग्दृष्टि उनसे यह कहे कि—"जैसे आप दुःख से भय करते हैं इसी तरह सभी प्राणी दुःख से डरते हैं । जैसे आपको दुःख अप्रिय और सुख प्रिय है इसी तरह दूसरे प्राणियों को भी दुःख अप्रिय और सुख प्रिय है । कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता है किन्तु सभी सुख के इच्छुक हैं इसलिए प्राणियों पर दया करना और उन्हें न

ते णो सिज्झिस्संति णो बुज्झिस्संति जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे ॥ तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति-सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघे-

छाया—भूयोभूयः अनुपर्य्यटिष्यन्ति ते नो सेत्स्यन्ति नो भोत्स्यन्ति यावन्नो सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्ति। एषा तुला एतत् प्रमाण मेतत् समवसरणम्, प्रत्येकं तुला प्रत्येकं प्रमाणं प्रत्येकं समवसरणम्। तत्र ये ते श्रमणाः माहनाः एवमाख्यान्ति यावदेवं प्ररूपयन्ति सर्वे प्राणाः सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्याः

अन्वयार्थ—(ते णो सिज्झिस्सति णो बुज्झिस्सति जाव णो सव्वदुक्खाणं अत करिस्सति) वे सिद्धि को प्राप्त नहीं करेंगे, वे बोध को प्राप्त नहीं करेंगे, वे सब दुःखों का नाश नहीं कर सकेंगे (एस तुला एस पमाणे एस समो सरणे पत्तेय तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेय समोसरणे) जैसे सावद्य अनुष्ठान करने वाले अन्ययूथिक सिद्धि लाभ नहीं करते हैं और दुःखों के भाजन होते हैं इसी तरह सावद्य अनुष्ठान करने वाले स्वयूथिकभी सिद्धि को नहीं प्राप्त करते हैं और नानाविध दुःखों के भाजन होते हैं। यह सबके लिए तुल्य है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है कि दूसरे को पीड़ा देने वाले चोर जार आदि प्रत्यक्ष ही दण्ड भोगते हुए देखे जाते हैं, सब आगमों का यही सारभूत विचार है। यह प्रत्येक प्राणी के लिए तुल्य है प्रत्येक के लिये प्रमाण तथा प्रत्येक के लिए आगमो का सार है। (तत्थण जेते समणा माहणा एव माइक्खंति जाव परूवेंति— सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हनव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिवेयव्वा

भावार्थ—न देना ही प्रधान धर्म का अङ्ग है। जो पुरुष सब प्राणियों को अपने समान देखता हुआ अहिंसा का पालन करता है, वस्तुत वही देखने वाला है। जहां अहिंसा है वहीं धर्म का निवास है। इस प्रकार अहिंसा धर्म का प्रधान अङ्ग है यह सिद्ध होने पर भी परमार्थ को न जानने वाले कई अज्ञानी श्रमण माहन हिंसा का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं कि — "देव यज्ञ आदि कार्य्यों मे तथा धर्म के निमित्त प्राणियों का वध करना धर्म है, पाप नहीं है। श्राद्ध के समय रोहित मत्स्य का और देव यज्ञ मे पशुओं का वध धर्म का अङ्ग है। इसी तरह किसी खास समय में

तव्वा ण उद्दवेयव्वा ते णो आगंतुछेयाए ते णो आगंतुभेयाए जाव जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्सति, ते णो बहूणं दंडणाणं जाव णो बहूणं मुंडणाणं जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं णो भागिणो भविस्सति, अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसार

छाया—नाज्ञापयितव्या न परिग्रहीतव्याः नोपद्रावयितव्या ते नो आगामिनि छेदाय ते नो आगामिनि भेदाय यावज्जातिजरामरणयोनिजन्मसंसारपुनर्भवगर्भवासभवप्रपञ्चकलङ्कलीभागिनो भविष्यन्ति । ते नो बहूनां दण्डनानां यावन्नो बहूनां मुण्डनानां यावद् बहूनां दुःखदौर्मनस्यानां नो भागिनो भविष्यन्ति । अनादिकञ्च अन

अन्वयार्थ—न उद्दवेयव्वा ते णो आगंतुछेयाए ते णो आगंतुभेयाए जाव जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति) परन्तु जो सन्त महात्मा यह कहते हैं कि सब प्राणी भूत जीव और सत्त्वों को न मारना चाहिये उन पर आज्ञा न देनी चाहिये एवं बलात्कार से उन्हें दासी दास आदि न बनाना चाहिये तथा उन्हें दुःख न देना चाहिये उन पर उपद्रव न करना चाहिए वे महात्मा भविष्य में अपने अङ्गों का छेदन भेदन आदि कष्टों को नहीं प्राप्त करेंगे वे जाति जरा मरण अनेक योनियों में जन्म धारण, गर्भवास और संसार के अनेक विध दुःखों के भाजन न होंगे (ते णो बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं भागिणो भविस्संति) वे बहुत दण्ड बहुत मुण्डन तथा बहुत दुःख और दौर्मनस्य के भाजन न होंगे (अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत

भावार्थ—प्राणियों को दासी दास आदि बनाना भी धर्म है" इत्यादि । इस प्रकार हिंसामय धर्म का उपदेश करने वाले अन्यदर्शनी महामोह में फँसे हैं वे अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करते रहेंगे। वे जन्म, जरा, मरण रोग शोक आदि दुःखों से कभी मुक्त नहीं होंगे। अतः विवेकी पुरुष को अहिंसा धर्म का आश्रय लेना चाहिये । जो पुरुष तत्त्वदर्शी हैं वे अहिंसा धर्म का ही पालन और उपदेश करते हैं। वे किसी से वैर नहीं करते, किन्तु सभी पर दया करते हैं । उन महापुरुषों का इस जगत् में कोई भी शत्रु नहीं है । वे अपने इस पवित्र धर्म का पालन करके सदा के लिए सब

कंतारं भुज्जो भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति, ते सिज्झिस्संति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति ॥ (सूत्रं ४१) ॥

छाया—यदग्रं च दीर्घमध्यं चतुरन्तसंसारकान्तारं भूयोभूयः नो अनुपर्य्यटिष्यन्ति। ते सेत्स्यन्ति ते भोत्स्यन्ति यावत् सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्ति ।

अन्वयार्थ—संसारकतारं भुज्जो भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्सति) वे आदि अन्त रहित दीर्घमध्य चतुर्गतिक ससार रूप घोर जङ्गल मे बार बार भ्रमण नहीं करेंगे। (ते सिज्झिस्संति जाव सव्व दुक्खाण अत करिस्सति) वे सिद्धि को प्राप्त करेंगे और समस्त दुःखों का अन्त करेंगे।

भावार्थ—दु खों से रहित कैवल्य पद को प्राप्त करते है। अत अहिंसा ही प्रधान धर्म है यह जानकर उसी का आश्रय लेना चाहिये ॥ ४१ ॥



इच्चेतेहिं बारसहिं किरियाठाणेहि वट्टमाणा जीवा णो सिज्झिसु णो बुज्झिसु णो मुच्चिसु णो परिणिव्वाइंसु जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा णो करेंति वा णो करिस्संति वा ॥

छाया—इत्येतेषु द्वादशसु क्रियास्थानेषु वर्तमानाः जीवाः नोऽसिध्यन् नोऽबुध्यन् नोऽमुञ्चन् नो परिनिर्वृत्ताः यावन्नो सर्वदुःखानामन्तमकार्षुः नो कुर्वन्ति वा करिष्यन्ति वा। एतस्मिंस्त्रयोदशे क्रिया-

अन्वयार्थ—(इच्चेतेहिं बारसहि किरियाठाणेहि वट्टमाणा जीवा णो सिज्झसु णो बुज्झिसु णो मुचिसु) पूर्वोक्त बारह क्रिया स्थानों में रहने वाले जीवों ने सिद्धि नही प्राप्त की है एव बोध तथा मुक्ति भी नहीं पाई है (णो परिणिव्वाइसु जाव णो सव्व दुक्खाणं अतं करेंसु वा णो करेंति वा णो करिस्संति वा) उन्होंने निर्वाण प्राप्त

भावार्थ—इस दूसरे अध्ययन मे तेरह क्रिया स्थानो का सविस्तर वर्णन करके बारह क्रिया स्थानो को ससार का कारण और तेरहवें क्रिया स्थान को कल्याण का कारण कहा है इसलिए जो पुरुष बारह क्रिया स्थानों को छोड कर तेरहवें क्रिया स्थान का सेवन करते हैं वे सब प्रकार के दु खो का नाश करके परमानन्द रूप मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं। परन्तु जो अज्ञानी जीव महामोह के उदय से बारह क्रिया स्थानो का सेवन नहीं छोड़ते हैं वे सदा जन्म मरण के प्रवाह रूप संसार में पड़े

एयसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिसु बुज्झिसु मुच्चिसु परिणिव्वाइसु जाव सव्वदुक्खाणं अंत करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा । एवं से भिक्खु आयट्ठी आयहिते आयगुत्ते आयजोगे आयपरक्कमे आयरक्खिए आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि त्तिबेमि ॥ (सूत्र ४२) ॥ इति बियसुयक्खंधस्स किरियाठाणं नाम बीयमज्झयणं समत्तं ॥

छाया—स्थाने वर्त्तमाना जीवा असिध्यन् अबुध्यन् अमुच्यन् परिनिर्वा यावत् सर्वदुःखानामन्तमकार्षुः कुर्वन्ति वा करिष्यन्ति वा । एवं स भिक्षुः आत्मार्थी आत्महित आत्मगुप्त आत्मयोग' आत्मपराक्रम' आत्मरक्षित' आत्मानुकम्पकः आत्मनि'सारकः आत्मानमेव प्रतिसंहरेदिति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ—नहीं किया है तथा सब दुःखों का नाश नहीं किया है । वर्त्तमान में भी वे सब दुःखों का नाश नहीं कर रहे हैं और भविष्य में भी नहीं करेंगे । (एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिंसु बुज्झिंसु मुच्चिंसु परिणिव्वाइंसु जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा) परन्तु इस तेरहवें क्रिया स्थान का जिन जीवों ने सेवन किया है उन्होंने सिद्धि, बोध मुक्ति और निर्वाण को प्राप्त करके समस्त दुःखों का नाश किया है और करते हैं तथा भविष्य में भी करेंगे । (एवं से भिक्खू आयट्ठी आयहिते आयगुत्ते आयजोगे आयपरक्कमे आयरक्खिए आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासित्ति बेमि) इस प्रकार बारह क्रिया स्थानों को वर्जित करने वाला आत्मार्थी, आत्मा का कल्याण करने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला मन की शुभ प्रवृत्ति करने वाला, संयम के आचरण में पराक्रम प्रकट करने वाला आत्मा को संसाराग्नि से बचाने वाला, आत्मा पर दया करने वाला आत्मा का जगत् से उद्धार करने वाला साधु अपने आत्मा को सब पापों से निवृत्त करे यह मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—हुए अनन्त काल तक दुःख के भाजन होते हैं । पूर्व समय में जिन भव्य जीवों ने तेरहवें क्रिया स्थान का आश्रय किया है वे मुक्त हो गये हैं और बारह क्रिया स्थानों का आश्रय लेने वाले नहीं । इसलिए आत्मार्थी पुरुषों को चाहिये कि—वे तेरहवें क्रिया स्थान का आश्रय लेकर अपने आत्मा को संसार सागर से उद्धार करने का प्रयत्न करें ।

॥ दूसरा अध्ययन समाप्त ॥

॥ ओ३म् ॥

श्री सूत्र कृताङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का

तृतीय अध्ययन

अब तीसरा अध्ययन आरम्भ किया जाता है। इसके पूर्व अध्ययन में कहा है कि जो साधु बारह क्रिया स्थानों को छोड़ कर तेरहवे क्रिया स्थान का आराधन करता हुआ सब सावद्य कर्मों से निवृत्त हो जाता है वह अपने कर्मों का नाश करके मोक्ष गति को प्राप्त करता है। परन्तु आहार की शुद्धि रखे बिना सब सावद्य कर्मों से निवृत्ति नहीं हो सकती है इसलिए आहार का विचार करने के लिए इस तीसरे अध्ययन का आरम्भ किया जाता है। इस अध्ययन में कहा है कि जीव को प्राय प्रतिदिन आहार ग्रहण करने की आवश्यकता होती है क्योंकि इसके बिना शरीर की स्थिति सम्भव नहीं है अत साधु भी आहार ग्रहण किए बिना नहीं रह सकते हैं परन्तु वे शुद्ध आहार से ही अपने शरीर की रक्षा करें अशुद्ध से नहीं यह शिक्षा देना इस अध्ययन का प्रयोजन है। यह अध्ययन आहार की शिक्षा देता है इसलिए इसे आहारपरिज्ञा अध्ययन कहते हैं।

आहार के निक्षेप पाँच हैं नाम स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव। नाम और स्थापना सुगम हैं इसलिए उन्हें छोड कर शेष तीन भेदों की व्याख्या की जाती है। किसी द्रव्य को आहार करना द्रव्याहार है, वह सचित्त अचित्त और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है। सचित्त द्रव्य का आहार करना सचित्त द्रव्याहार है वह पृथिवीकाय आदि भेदों से छ प्रकार का है। सचित्त पृथिवीकाय जो नमक आदि हैं उनका आहार करना सचित्त पृथिवी का आहार है इसी तरह सचित्त आप्-काय आदि के आहार के विषय मे भी जानना चाहिये। सचित्त द्रव्याहार के समान ही अचित्त द्रव्य और मिश्र द्रव्य के आहार की भी व्याख्या है अत उन्हें लिखने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य सचित्त अग्निकाय का आहार नहीं करते किन्तु

एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिंसु बुज्झिंसु मुच्चिंसु परिणिव्वाइंसु जाव सव्वदुक्खाणं अंत करेंसु वा करंति वा करिस्संति वा । एवं से भिक्खू आयट्ठी आयहिते आयगुत्ते आयजोगे आयपरक्कमे आयरक्खिए आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि त्तिबेमि ॥ (सूत्र ४२) ॥ इति बियसुयक्खंधस्स किरियाठाणं नाम बीयमज्झयणं समत्तं ॥

छाया—स्थाने वर्तमानाः जीवा असिध्यन् अबुध्यन् अमुच्यन् परिनिर्वृता यावत् सर्वदुःखानामन्तमकार्षुः कुर्वन्ति वा करिष्यन्ति वा । एवं स भिक्षुः आत्मार्थी आत्महितः आत्मगुप्तः आत्मयोगः आत्मपराक्रमः आत्मरक्षितः आत्मानुकम्पकः आत्मनिःसारकः आत्मानमेव प्रतिसंहरेदिति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ—नहीं किया है तथा सब दुःखों का नाश नहीं किया है । वर्तमान में भी वे सब दुःखों का नाश नहीं कर रहे हैं और भविष्य में भी नहीं करेंगे । (एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिंसु बुज्झिंसु मुच्चिंसु परिनिव्वाइंसु जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा) परन्तु उक्त तेरहवें क्रिया स्थान का जिन जीवों ने सेवन किया है उन्होंने सिद्धि, बोध, मुक्ति और निर्वाण को प्राप्त करके समस्त दुःखों का नाश किया है और करते हैं तथा भविष्य में भी करेंगे । (एवं से भिक्खू आयट्ठी आयहिते आयगुत्ते आयजोगी आयपरक्कमे आयरक्खिए आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासित्ति बेमि) इस प्रकार बारह क्रिया स्थानों को वर्जित करने वाला आत्मार्थी, आत्मा का कल्याण करने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला मन की शुभ प्रवृत्ति करने वाला, संयम के आचरण में पराक्रम प्रकट करने वाला आत्मा को संसाराग्नि से बचाने वाला, आत्मा पर दया करने वाला, आत्मा का जगत् से उद्धार करने वाला साधु अपने आत्मा को सब पापों से निवृत्त करे यह मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—जीव अनन्त काल तक दुःख के भाजन होते हैं । पूर्व समय में जिन भव्य जीवों ने तेरहवें क्रिया स्थान का आश्रय लिया है वे मुक्त हो गये हैं और बारह क्रिया स्थानों का आश्रय लेने वाले नहीं । इसलिए आत्मार्थी पुरुषों को चाहिये कि—वे तेरहवें क्रिया स्थान का आश्रय लेकर अपने आत्मा को संसार सागर से उद्धार करने का प्रयत्न करें ।

॥ दूसरा अध्ययन समाप्त ॥

॥ ओ३म् ॥

श्री सूत्र कृताङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का

तृतीय अध्ययन



अब तीसरा अध्ययन आरम्भ किया जाता है। इसके पूर्व अध्ययन में कहा है कि जो साधु बारह क्रिया स्थानों को छोड़ कर तेरहवें क्रिया स्थान का आराधन करता हुआ सब सावद्य कर्मों से निवृत्त हो जाता है वह अपने कर्मों का नाश करके मोक्ष गति को प्राप्त करता है। परन्तु आहार की शुद्धि रखे बिना सब सावद्य कर्मों से निवृत्ति नहीं हो सकती है इसलिए आहार का विचार करने के लिए इस तीसरे अध्ययन का आरम्भ किया जाता है। इस अध्ययन मे कहा है कि जीव को प्राय प्रतिदिन आहार ग्रहण करने की आवश्यकता होती है क्योंकि इसके विना शरीर की स्थिति सम्भव नहीं है अत साधु भी आहार ग्रहण किए विना नहीं रह सकते हैं परन्तु वे शुद्ध आहार से ही अपने शरीर की रक्षा करें अशुद्ध से नहीं यह शिक्षा देना इस अध्ययन का प्रयोजन है। यह अध्ययन आहार की शिक्षा देता है इसलिए इसे आहारपरिज्ञा अध्ययन कहते हैं।

आहार के निक्षेप पाँच हैं नाम स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव। नाम और स्थापना सुगम हैं इसलिए उन्हें छोड कर शेष तीन भेदों की व्याख्या की जाती है। किसी द्रव्य को आहार करना द्रव्याहार है, वह सचित्त अचित्त और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है। सचित्त द्रव्य का आहार करना सचित्त द्रव्याहार है वह पृथिवीकाय आदि भेदों से छ. प्रकार का है। सचित्त पृथिवीकाय जो नमक आदि हैं उनका आहार करना सचित्त पृथिवी का आहार है इसी तरह सचित्त आप्-काय आदि के आहार के विषय मे भी जानना चाहिये। सचित्त द्रव्याहार के समान ही अचित्त द्रव्य और मिश्र द्रव्य के आहार की भी व्याख्या है अत उन्हें लिखने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य सचित्त अग्निकाय का आहार नहीं करते किन्तु

अचित्त का ही आहार किया करते हैं। गर्म भात या दाल आदि पदार्थों में अचित्त अग्निकाय के जो पुद्गल होते हैं वे ही प्रायः मनुष्यों के द्वारा आहार किये जाते हैं परन्तु अङ्गार आदि सचित्त अग्नि नहीं। यह द्रव्याहार का विचार हुआ अब क्षेत्रा हार का विचार इस प्रकार समझना चाहिये ।

जिस क्षेत्र में, आहार बनाया जाता है अथवा ग्रहण किया जाता है अथवा उसकी व्याख्या की जाती है उसे क्षेत्राहार कहते हैं। अथवा जो नगर आदि जिस क्षेत्र से अन्न और लकड़ी आदि सामग्री को लेकर उन से अपना भरण पोषण करता है वह क्षेत्र उस नगर आदि का क्षेत्राहार कहलाता है जैसे मथुरा नगर, अपने निकटवर्ती प्रदेशों से धान्य और लकड़ी आदि लेकर उनसे अपना भरण पोषण करता है इसलिए मथुरा नगर के निकटवर्ती प्रदेश मथुरा नगर के क्षेत्राहार हैं। यह क्षेत्राहार की व्याख्या हुई इसी तरह कालाहार की व्याख्या भी करनी चाहिये ।

भावाहार की व्याख्या यह है प्राणिवर्ग, क्षुधावेदनीय के उदय से जिस वस्तु का आहार ग्रहण करता है वह 'भावाहार' है। भावाहार सभी प्रायः जिह्वा के द्वारा स्पर्श किये जाते हैं इसलिये उनके रस भी जिह्वा के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। जो आहार कर्कश और स्वच्छ होता है उसे भक्ष्य कहते हैं। जिस चावल के भात में खूब बाष्प निकलता हो वह उत्तम भक्ष्य माना जाता है परन्तु जो ठंडा हो गया है वह नहीं ।

जल का प्रधान गुण शीतलता है इसलिए जल ठंडा ही प्रायः अच्छा माना जाता है। इस प्रकार वस्तुओं के हिसाब से भावाहार की व्याख्या की गई अब आहार ग्रहण करने वाले प्राणियों के हिसाब से भावाहार की व्याख्या की जाती है। भावाहार को ग्रहण करने वाले प्राणी तीन प्रकार से भावाहारको ग्रहण करते हैं इसलिए भावाहार तीन प्रकार का है। आगम कहता है कि "तेएणं कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवे तेणं परं मिस्सेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती" अर्थात् जब तक औदारिक शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है तबतक जीव तैजस और कार्मण और मिश्र शरीर के द्वारा आहार ग्रहण करता है। तथा यह भी कहा है कि "ओज आहारा सव्व जीवा

आहारगा अपज्जत्ता" अर्थात् सभी अपर्याप्त जीव ओज आहार को ही ग्रहण करते हैं। शरीर की रचना पूरी होने के बाद प्राणी बाहर की त्वचा से आहार ग्रहण करते हैं वह आहार रोमाहार कहलाता है। मुख मे ग्रास डालकर जो आहार ग्रहण किया जाता है वह प्रक्षेपाहार तथा कवलाहार कहलाता है। वह कवलाहार आहारसंज्ञा की उत्पत्ति होने पर ग्रहण किया जाता है। आहारसंज्ञा की उत्पत्ति चार कारणों से होती है, (१) जाठराग्नि के दीप्त होने से (२) क्षुधा वेदनीय के उदय होने से (३) आहार के ज्ञान से (४) और आहार की चिन्ता करने से। औदारिक शरीर की उत्पत्ति के पूर्व प्राणी तैजस कार्मण और मिश्र शरीरों के द्वारा जिस आहार को ग्रहण करते हैं उसे ओज आहार कहते हैं। किसी का सिद्धान्त है कि—औदारिक शरीर की उत्पत्ति होने के बाद भी इन्द्रिय, प्राण, भाषा, और मन की उत्पत्ति जब तक नहीं होती तब तक प्राणी ओज आहार को ही ग्रहण करते हैं। इन्द्रिय प्राण भाषा और मन की पर्य्याप्ति होने के बाद प्राणी स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा आहार ग्रहण करते हैं वह आहार रोमाहार कहलाता है। आहार ग्रहण करने वाले प्राणियो की भिन्नता के कारण आहार की भिन्नता होती है। जिन प्राणियों की सम्पूर्ण पर्य्याप्ति पूर्णता को प्राप्त नहीं हुई है वे ही प्राणी ओज आहार को ग्रहण करते हैं यह पहले कहा जा चुका है। पूर्व शरीर को छोड़ कर पुनर्जन्म धारण करने के लिये प्राणी जिस प्रदेश में जाता है उसके पुद्गलों को वह गर्म तेल मे डाले हुए पुए या घेवर की तरह ग्रहण करता है। इस प्रकार वह पर्य्याप्त अवस्था को प्राप्त करने के पूर्व तैजस और कार्मण तथा मिश्र शरीर के द्वारा ओज आहार को ग्रहण करता रहता है।

पर्य्याप्त अवस्था के विषय में आचार्यों का मतभेद है, किन्हीं का मत है कि इन्द्रियों की पर्य्याप्ति ही पर्य्याप्त अवस्था है और कोई समस्त शरीर की पर्य्याप्ति को पर्य्याप्त अवस्था कहते हैं, अस्तु, उस पर्य्याप्त अवस्था को प्राप्त कर जीव स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा रोमाहार को ग्रहण करता है। गर्भ में स्थित बालक, गर्मी, शीतल पवन, और जल के द्वारा प्रसन्नता अनुभव करता है इसका कारण यही है कि वह स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा रोमाहार को ग्रहण करता है। वायु आदि के स्पर्शमात्र से रोमाहार होता है इसलिए वह सदा होता रहता है परन्तु प्रक्षेपाहार सदा नहीं

अचित्त का ही आहार किया करते हैं। गर्म भात या दाल आदि पदार्थों में अचित्त अग्निकाय के जो पुद्गल होते हैं वे ही प्रायः मनुष्यों के द्वारा आहार किये जाते हैं परन्तु अङ्गार आदि सचित्त अग्नि नहीं। यह द्रव्याहार का विचार हुआ अब क्षेत्राहार का विचार इस प्रकार समझना चाहिये ।

जिस क्षेत्र में, आहार बनाया जाता है अथवा ग्रहण किया जाता है अथवा उसकी व्याख्या की जाती है उसे क्षेत्राहार कहते हैं। अथवा जो नगर आदि जिस क्षेत्र से अन्न और लकड़ी आदि सामग्री को लेकर उन से अपना भरण पोषण करता है वह क्षेत्र उस नगर आदि का क्षेत्राहार कहलाता है जैसे मथुरा नगर, अपने निकटवर्ती प्रदेशों से धान्य और लकड़ी आदि लेकर उनसे अपना भरण पोषण करता है इसलिए मथुरा नगर के निकटवर्ती प्रदेश मथुरा नगर के क्षेत्राहार हैं। यह क्षेत्राहार की व्याख्या हुई इसी तरह कालाहार की व्याख्या भी करनी चाहिये ।

भावाहार की व्याख्या यह है प्राणिवर्ग, क्षुधावेदनीय के उदय से जिस वस्तु का आहार ग्रहण करता है वह 'भावाहार' है। भावाहार सभी प्रायः जिह्वा के द्वारा स्पर्श किये जाते हैं इसलिये उनके रस भी जिह्वा के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। जो आहार कर्कश और स्वच्छ होता है उसे भक्ष्य कहते हैं। जिस चावल के भात में खूब वाष्प निकलता हो वह उत्तम भक्ष्य माना जाता है परन्तु जो ठंडा हो गया है वह नहीं ।

जल का प्रधान गुण शीतलता है इसलिए जल ठंडा ही प्रायः अच्छा माना जाता है। इस प्रकार वस्तुओं के हिसाब से भावाहार की व्याख्या की गई अब आहार ग्रहण करने वाले प्राणियों के हिसाब से भावाहार की व्याख्या की जाती है। भावाहार को ग्रहण करने वाले प्राणी तीन प्रकार से भावाहारको ग्रहण करते हैं इसलिए भावाहार तीन प्रकार का है। आगम कहता है कि "तेयए कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवे तेणं परं मिस्सेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती" अर्थात् जब तक औदारिक शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है तबतक जीव तैजस और कार्मण और मिश्र शरीर के द्वारा आहार ग्रहण करता है। तथा यह भी कहा है कि "ओय आहारा सव्वे जीवा

करता है (२) लोक को पूर्ण करने के लिए केवल समुद्घात करते हुए केवली भगवान् आहार ग्रहण नहीं करते हैं। (३) शैलेशी अवस्था को प्राप्त अयोगी पुरुष आहार ग्रहण नहीं करते हैं । (४) सिद्धि को प्राप्त जीव आहार ग्रहण नहीं करते है ।

उक्त चार अवस्थाओ को छोड़कर शेष सभी अवस्थाओ मे जीव आहार ग्रहण करता है यह जानना चाहिये ।

उत्पत्ति के समय वक्रगति को प्राप्त जीव आहार ग्रहण नहीं करता है यह पहले कहा गया है इसलिए जो जीव वक्रगति न करता हुआ समश्रेणि के द्वारा एकभव से दूसरे भव मे जाता है वह आहार ग्रहण करता है यह जानना चाहिये। एवं वक्रगति के द्वारा दूसरे भव को ग्रहण करने वाले जीवो मे से जो जीव एक वक्रगति के द्वारा विषमश्रेणी मे उत्पन्न होता है वह प्रथम समय मे पूर्व शरीर के द्वारा और दूसरे समय मे आश्रित शरीर के द्वारा आहार ग्रहण करता है इसलिए वह भी आहारक है, अनाहारक नहीं है ।

जो जीव दो वक्रगति के द्वारा तीन समय मे दूसरे भव को ग्रहण करता है वह वीच के एक समय मे आहार ग्रहण नहीं करता है परन्तु शेष दो समयो मे आहार ग्रहण करता ही है । जो जीव तीन वक्रगति के द्वारा चौथे समय मे दूसरा भव ग्रहण करता है वह वीच के दो समयों मे आहार ग्रहण नहीं करता है किन्तु आदि और अन्त के समयों मे आहार ग्रहण करता ही है। चार समय मे उत्पत्ति का विचार इस प्रकार समझना चाहिये —त्रस नाडी के वाहर ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर जाकर दिशा से विदिशा मे और विदिशा से दिशा मे उत्पन्न होने वाला जीव चार समय मे दूसरे भव को ग्रहण करता है। वह एक समय में त्रस नाड़ी के अन्दर प्रवेश करके दूसरे समय में ऊपर या नीचे जाकर तीसरे समय में उससे वाहर निकलता है पश्चात् चौथे समय में उत्पत्ति देश मे जाकर वहाँ दूसरा भव ग्रहण करता है। किसी जीव की उत्पत्ति पाँच समय मे भी होती है। वह उस दशा में मानी गई है जव जीव, त्रस नाड़ी के वाहर विदिशा से विदिशा मे उत्पन्न होता है। इस प्रकार पांच समय मे दूसरा भव ग्रहण करने वाला जीव वीच के तीन समयों मे आहार ग्रहण नहीं करता है परन्तु शेष दो समयो मे आहार

होता यह उसी समय होता है जब प्राणी अपने मुख में कवल का प्रक्षेप करते हैं। वह प्रक्षेपाहार सब को प्रत्यक्ष है परन्तु रोमाहार सर्वप्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि—अल्पदृष्टि जीवों को वह प्रत्यक्ष नहीं होता है। रोमाहार सदा ग्रहण किया जाता है परन्तु कवलाहार नियत समय पर ही किया जाता है। देवकुरु और उत्तरकुरु में उत्पन्न युगल जीव अष्टम भक्त को ग्रहण करते हैं परन्तु जिन जीवों की आयु संख्येय वर्ष की है उनके आहार ग्रहण करने का कोई काल नियम नहीं है।

अब आहार ग्रहण करने वाले प्राणियों को अलग अलग बता कर प्रक्षेपाहारका दिग्दर्शन कराया जाता है—जिन प्राणियों को एक स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रिय नहीं होती वे एकेन्द्रिय कहलाते हैं। पृथिवीकाय और अप्काय आदि के जीव एकेन्द्रिय जीव हैं। वे एकेन्द्रिय जीव, देवता तथा नरक के प्राणी कवलाहार नहीं लेते हैं।

देवताओं के मानसिक संकल्प से शुभ पुद्गल उनके आहार के रूप में परिणत होते हैं और नारकी जीवों के मानसिक संकल्प से अशुभ पुद्गल उनके आहार के रूप में परिणत होते हैं। एकेन्द्रिय, देवता और नारकी जीवों को छोड़ कर शेष द्वीन्द्रिय, तिर्य्यञ्च और मनुष्य कवलाहार ग्रहण करते हैं। इनकी शरीर की स्थिति कवलाहार के बिना नहीं हो सकती है और इनमें जिह्वा इन्द्रिय भी विद्यमान है। अतः ये कवलाहार को ग्रहण करते हैं।

कई आचार्य्य आहारों की व्याख्या और तरह से करते हैं। वे कहते हैं कि—जो स्थूल आहार जिह्वा की सहायता से गले के नीचे उतारा जाता है उसे प्रक्षेपाहार कहते हैं और जो मात्र दर्शन और श्रवण के द्वारा ग्रहण किया जाकर धातु रूप में परिणत किया जाता है वह आहार ओज आहार कहलाता है। तथा जो स्पर्शेन्द्रिय मात्र से ग्रहण होकर धातु रूप में परिणत होता है वह आहार रोमाहार है।

जिस अवस्था में स्थित जीव आहार को ग्रहण नहीं करता है वह अवस्था बताई जाती है—(१) उत्पत्ति के समय वक्रगति में स्थित जीव आहार ग्रहण नहीं

करता है (२) लोक को पूर्ण करने के लिए केवल समुद्घात करते हुए केवली भगवान् आहार ग्रहण नहीं करते हैं। (३) शैलेशी अवस्था को प्राप्त अयोगी पुरुष आहार ग्रहण नहीं करते हैं । (४) सिद्धि को प्राप्त जीव आहार ग्रहण नहीं करते हैं ।

उक्त चार अवस्थाओ को छोड़कर शेष सभी अवस्थाओं में जीव आहार ग्रहण करता है यह जानना चाहिये ।

उत्पत्ति के समय वक्रगति को प्राप्त जीव आहार ग्रहण नहीं करता है यह पहले कहा गया है इसलिए जो जीव वक्रगति न करता हुआ समश्रेणि के द्वारा एकभव से दूसरे भव में जाता है वह आहार ग्रहण करता है यह जानना चाहिये। एवं वक्रगति के द्वारा दूसरे भव को ग्रहण करने वाले जीवो मे से जो जीव एक वक्रगति के द्वारा विषमश्रेणी मे उत्पन्न होता है वह प्रथम समय में पूर्व शरीर के द्वारा और दूसरे समय में आश्रित शरीर के द्वारा आहार ग्रहण करता है इसलिए वह भी आहारक है, अनाहारक नहीं है ।

जो जीव दो वक्रगति के द्वारा तीन समय मे दूसरे भव को ग्रहण करता है वह बीच के एक समय मे आहार ग्रहण नहीं करता है परन्तु शेष दो समयो मे आहार ग्रहण करता ही है । जो जीव तीन वक्रगति के द्वारा चौथे समय में दूसरा भव ग्रहण करता है वह बीच के दो समयों मे आहार ग्रहण नहीं करता है किन्तु आदि और अन्त के समयों मे आहार ग्रहण करता ही है। चार समय मे उत्पत्ति का विचार इस प्रकार समझना चाहिये —त्रस नाड़ी के बाहर ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर जाकर दिशा से विदिशा मे और विदिशा से दिशा मे उत्पन्न होने वाला जीव चार समय मे दूसरे भव को ग्रहण करता है। वह एक समय में त्रस नाड़ी के अन्दर प्रवेश करके दूसरे समय में ऊपर या नीचे जाकर तीसरे समय में उससे बाहर निकलता है पश्चात् चौथे समय मे उत्पत्ति देश में जाकर वहाँ दूसरा भव ग्रहण करता है । किसी जीव की उत्पत्ति पाँच समय में भी होती है। वह उस दशा में मानी गई है जब जीव, त्रस नाड़ी के बाहर विदिशा से विदिशा मे उत्पन्न होता है । इस प्रकार पांच समय मे दूसरा भव ग्रहण करने वाला जीव बीच के तीन समयों में आहार ग्रहण नहीं करता है परन्तु शेष दो समयों मे आहार

ग्रहण करता है। केवल समुद्घात के समय केवली में कार्मण शरीर विद्यमान होता है। इसलिए वह तीसरे चौथे और पाँचवें समय में आहार ग्रहण नहीं करते हैं परन्तु शेष समय में औदारिक तथा मिश्र शरीर के सद्भाव होने से वे आहार ग्रहण करते ही हैं। आयु क्षीण होने पर केवली जब सब योगों का निरोध कर लेते हैं उस समय वे पाँच ह्रस्व वर्णों के उच्चारण काल तक आहार ग्रहण नहीं करते हैं। सिद्ध जीव शैलेशी अवस्था से लेकर अनन्त काल तक आहार ग्रहण नहीं करते हैं। संसारी जीव एक या दो समय तक आहार नहीं लेते हैं। ऐसे जीव वे ही हैं जो दो वक्रगति के द्वारा तीसरे समय में और तीन वक्रगति के द्वारा चौथे समय में दूसरा भव ग्रहण करते हैं। चार वक्रगति के द्वारा पाँच समय में दूसरा भव ग्रहण करने वाले जीव बहुत कम होते हैं इसलिए उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गई है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी यही कहा है—"एकं द्वौ वा अनाहारका" अर्थात् संसारी जीव एक या दो समय तक आहार ग्रहण नहीं करते हैं शेष समयों में करते हैं।

सिद्ध जीव शैलेशी अवस्था से लेकर अनन्तकाल पर्यन्त आहार ग्रहण नहीं करते हैं परन्तु इससे पूर्व वे प्रति समय आहार ग्रहण करते हैं परन्तु कवलाहार का ग्रहण कभी कभी करते हैं। सदा नहीं करते।

किन्हीं का कहना है कि केवली आहार ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि अल्पवीर्य्यवाले प्राणी को ही आहार ग्रहण करने की आवश्यकता होती है केवली तो अनन्तवीर्य्य होते हैं अतः उनको आहार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह है कि—वेदना आदि छः कारणों से आहार ग्रहण किया जाना शास्त्र में कहा है परन्तु केवली में वे छः कारण नहीं होते। अतः बहुविध दोषपूर्ण आहार को केवली क्यों ग्रहण करें ?

आहार ग्रहण करने के छः कारण जो शास्त्र में कहे गये हैं वे ये हैं— पहला कारण वेदना का उदय है वह वेदना केवली में जली हुई रस्सी के समान निस्सार होती है इसलिए वह केवली को आहार ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती।

दूसरा कारण व्यावच है यहभी केवली मे सम्भव नहीं है क्योंकि केवली सुर, असुर, नरपति और नाग आदि सभी प्राणियों के पूज्य होते हैं, वे किसी के व्यावच के लिए आहार ग्रहण करे यह भी सम्भव नही है। तीसरा कारण ईर्य्यापथ का परिशोधन माना गया है। यहभी केवली में सम्भव नहीं है क्योंकि केवली केवलज्ञानावरणीय कर्म के क्षय हो जाने से ईर्य्यापथ को अच्छी तरह से देख लेते हैं अत इसके लिएभी उन्हे आहार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। चौथा कारण सयम का पालन है। इसके लिएभी केवली को आहार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि केवली यथाख्यातचारित्री और निष्ठितार्थ होते हैं अत आहार ग्रहण के विना उनके चारित्र मे दोष आना सम्भव नहीं है।

पाँचवाँ कारण प्राणों की रक्षा है। केवली अनन्तवीर्य्य होते हैं इसलिए कवलाहार के विना उनके प्राणों का नाश सम्भव नहीं है इस कारण वे प्राणरक्षार्थ कवलाहार को ग्रहण करते हैं यहभी नहीं है। छठा कारण धर्म की चिन्ता है परन्तु वह धर्म चिन्ता केवली की समाप्त हो चुकी है क्योंकि वह निष्ठितार्थ हो चुके हैं अत धर्म चिन्ता के लिए भी केवली का कवलाहार ग्रहण करना सम्भव नहीं है।

परन्तु यह मत ठीक नही है क्योकि वेदनीय कर्म के उदय से आहार ग्रहण किया जाता है यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। वह वेदनीय कर्म केवलज्ञान की प्राप्ति के पहले जैसे विद्यमान था उसी तरह केवल ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी विद्यमान है फिर उसके होते हुए भी केवली आहार ग्रहण न करे इसका कोई कारण नहीं है। कवलाहार ग्रहण करने के जितने कारण हैं वे सभी केवल ज्ञान हो जाने के बाद-भी विद्यमान रहते हैं उनके विद्यमान होने पर भी कवलाहार ग्रहण न करने का कोई कारण नहीं है। कवलाहार ग्रहण करने के कारण ये हैं —

(१) पर्य्याप्तपना (२) वेदनीयोदय (३) आहार को पचाने वाला तैजस शरीर (४) दीर्घायुष्कता। ये चारों ही कारण केवलज्ञान होने के पश्चात् भी रहते हैं अत केवली कवलाहार ग्रहण नहीं करते इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

ग्रहण करता है। केवल समुद्घात के समय केवली में कार्मण शरीर विद्यमान होता है। इसलिए वह तीसरे चौथे और पांचवें समय में आहार ग्रहण नहीं करते हैं परन्तु शेष समय में औदारिक तथा मिश्र शरीर के सद्भाव होने से वे आहार ग्रहण करते ही हैं। आयु क्षीण होने पर केवली जब सब योगों का निरोध कर लेते हैं उस समय वे पांच ह्रस्व वर्णों के उच्चारण काल तक आहार ग्रहण नहीं करते हैं। सिद्ध जीव शैलेशी अवस्था से लेकर अनन्त काल तक आहार ग्रहण नहीं करते हैं। संसारी जीव एक या दो समय तक आहार नहीं लेते हैं। ऐसे जीव वे ही हैं जो दो वक्रगति के द्वारा तीसरे समय में और तीन वक्रगति के द्वारा चौथे समय में दूसरा भव ग्रहण करते हैं। चार वक्रगति के द्वारा पांच समय में दूसरा भव ग्रहण करने वाले जीव बहुत कम होते हैं इसलिए उनकी चर्चा यहां नहीं की गई है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी यही कहा है—"एकं द्वौ वा अनाहारकाः" अर्थात् संसारी जीव एक या दो समय तक आहार ग्रहण नहीं करते हैं शेष समयों में करते हैं।

सिद्ध जीव शैलेशी अवस्था से लेकर अनन्तकाल पर्यन्त आहार ग्रहण नहीं करते हैं परन्तु इससे पूर्व वे प्रति समय आहार ग्रहण करते हैं परन्तु कवलाहार का ग्रहण कभी कभी करते हैं। सदा नहीं करते।

किन्हीं का कहना है कि केवली आहार ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि अल्पवीर्य्यवाले प्राणी को ही आहार ग्रहण करने की आवश्यकता होती है केवली तो अनन्तवीर्य्य होते हैं अतः उनको आहार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह है कि—वेदना आदि छः कारणों से आहार ग्रहण किया जाना शास्त्र में कहा है परन्तु केवली में वे छः कारण नहीं होते। अतः बहुविध दोषपूर्ण आहार को केवली क्यों ग्रहण करें ?

आहार ग्रहण करने के छः कारण जो शास्त्र में कहे गये हैं वे ये हैं— पहला कारण वेदना का उदय है वह वेदना केवली में जली हुई रस्सी के समान निस्सार होती है इसलिए वह केवली को आहार ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती।

कहते हैं कि—आहार ग्रहण करने की इच्छा को क्षुधा कहते हैं वह इच्छा मोहनीय कर्म का विकार है, केवली में मोहनीय कर्म नहीं होता है इसलिये केवली को आहार ग्रहण करने की इच्छा होना सम्भव नहीं है। यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि—क्षुधा मोहनीय कर्म का विकार नहीं है क्योंकि मोहनीय कर्म प्रतिपक्ष भावना से निवृत्त किये जा सकते हैं परन्तु क्षुधा प्रतिपक्ष भावना से निवृत्त नहीं की जा सकती है वह तो कवलाहार ग्रहण करने से ही निवृत्त की जाती है। शास्त्रकार ने प्रतिपक्षभावना से कषायों की निवृत्ति होना कहा है वह गाथा यह है :—

"उवसमेण हणे कोहं, माण मद्दवया जिणे।
माय चज्जवभावेणं, लोभं संतुट्ठिए जिणे ॥"

अर्थात्—क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को सरलता से, और लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिये। तथा सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की निवृत्ति भी प्रतिपक्ष भावना से की जाती है एवं हास्य आदि चित्त के छः विकार भी प्रतिपक्ष भावना से निवृत्त किये जा सकते हैं क्योंकि—वे चित्त के विकार मात्र हैं परन्तु क्षुधा प्रतिपक्ष भावना से निवृत्त नहीं की जा सकती है क्योंकि वह शीत, उष्ण और रोग आदि की तरह पुद्गलों का विकार है अतः प्रतिपक्ष भावना से क्षुधा की निवृत्ति बताना मिथ्या है।

कोई कहतेहैं कि—कवलाहार के बिना भी केवली की आयु और ज्ञान आदि क्षीण नहीं हो सकते हैं तथा जगत् का उपकार करने के लिये उनमें अनन्त वीर्य्य विद्यमान हैं एवं वे कवलाहार की तृष्णा से सर्वथा रहित भी हैं अतः वे कवलाहार को ग्रहण नहीं करते हैं यही बात सत्य है।

इन लोगों से पूछना चाहिये कि—केवली केवल ज्ञान होने के बाद यदि आहार नहीं लेते हैं तो वे छद्मस्थ दशा मे आहार क्यों लेते हैं ? क्योंकि—जैसे केवल ज्ञान होने के बाद आहार न लेने से उनकी आयु और ज्ञान आदि क्षीण नहीं हो सकते इसी तरह छद्मस्थ दशा में भी वे नष्ट नहीं हो सकते हैं फिर छद्मस्थावस्था मे वे कवलाहार ग्रहण करें और केवलज्ञान की दशा में न करें इसका

केवली का वेदनीय जली हुई रस्सी के समान होता है यह कहना भी असंगत है क्योंकि शास्त्र केवली में साता का अत्यन्त उदय बतलाता है और यह युक्ति से भी सिद्ध होता है तथा घाति कर्मों के क्षय हो जाने पर उत्पन्न होने वाले केवलज्ञान से वेदनीय कर्म का कुछ भी नहीं बिगड़ता है फिर वह जली हुई रस्सी के समान क्यों कर हो सकता है ? छाया और आतप तथा भाव और अभाव की तरह केवल ज्ञान के साथ वेदनीय कर्म का परस्पर विरोध भी नहीं है इस कारण केवलज्ञान के उत्पन्न होजाने पर वेदनीय के हट जाने का कोई कारण नहीं है। साता और असाता की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है इसलिए जैसे केवली में साता का उदय होता है इसी तरह असाता का उदय भी होता है अतः केवली में वेदनीय का उदय न मानना मिथ्या है। केवली अनन्तवीर्य्य होते हैं यह सत्य है फिरभी उनके शारीरिक बल का अपचय और क्षुधा वेदनीय की पीड़ा तो होती ही है। आहारग्रहण करने से केवली की कोई क्षति नहीं होती है अतः केवली आहार ग्रहण नहीं करते, यह मान्यता मिथ्या है।

यदि कहो कि—केवली में वेदनीय कर्म की उदीरणा नहीं होती है इस कारण उनमें अशुभ पुद्गलों का उदय नहीं होता है और अशुभ पुद्गलों के उदय न होने से उनको क्षुधावेदनीय की पीड़ा नहीं होती है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि गुण स्थान से लेकर चौदहवें गुण स्थान तक वेदनीय गुणश्रेणि वर्त्तमान रहती है और वेदनीय गुणश्रेणि के वर्त्तमान रहने से अशुभ पुद्गलों का उदय भी वर्त्तमान रहता है इसलिए उक्त गुण स्थान के जीवों में वेदनीयजनित पीड़ा भी अवश्य है।

यदि केवली में अशुभ पुद्गलों का उदय न माना जाय तो उनमें तीव्र साता का उदय भी न मानना चाहिये। क्योंकि—जैसे अशुभ पुद्गलों के उदय से असाता की उत्पत्ति होती है इसी तरह शुभ पुद्गलों के उदय से साता की भी उत्पत्ति होती है। अतः केवली में साता की उत्पत्ति के लिए यदि शुभ पुद्गलों का उदय मानते हो तो तुम्हारी इस मान्यता से उनमें असाता की सिद्धि भी हो जाती है। अतः केवली में असाता का उदय न मानना युक्तिविरुद्ध समझना चाहिये। कोई

कहते हैं कि—आहार ग्रहण करने की इच्छा को क्षुधा कहते हैं वह इच्छा मोहनीय कर्म का विकार है, केवली मे मोहनीय कर्म नहीं होता है इसलिये केवली को आहार ग्रहण करने की इच्छा होना सम्भव नहीं है। यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि—क्षुधा मोहनीय कर्म का विकार नहीं है क्योंकि मोहनीय कर्म प्रतिपक्ष भावना से निवृत्त किये जा सकते हैं परन्तु क्षुधा प्रतिपक्ष भावना से निवृत्त नहीं की जा सकती है वह तो कवलाहार ग्रहण करने से ही निवृत्त की जाती है। शास्त्रकार ने प्रतिपक्षभावना से कषायों की निवृत्ति होना कहा है वह गाथा यह है :—

"उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
माय चज्जवभावेणं, लोभं संतुट्ठिए जिणे ॥"

अर्थात्—क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को सरलता से, और लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिये। तथा सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की निवृत्ति भी प्रतिपक्ष भावना से की जाती है एवं हास्य आदि चित्त के छः विकार भी प्रतिपक्ष भावना से निवृत्त किये जा सकते हैं क्योंकि—वे चित्त के विकार मात्र हैं परन्तु क्षुधा प्रतिपक्ष भावना से निवृत्त नहीं की जा सकती है क्योंकि वह शीत, उष्ण और रोग आदि की तरह पुद्गलों का विकार है अत प्रतिपक्ष भावना से क्षुधा की निवृत्ति बताना मिथ्या है।

कोई कहतेहैं कि—कवलाहार के विना भी केवली की आयु और ज्ञान आदि क्षीण नहीं हो सकते हैं तथा जगत् का उपकार करने के लिये उनमें अनन्त वीर्य्य विद्यमान हैं एव वे कवलाहार की तृष्णा से सर्वथा रहित भी हैं अत वे कवलाहार को ग्रहण नहीं करते हैं यही बात सत्य है।

इन लोगों से पूछना चाहिये कि—केवली केवल ज्ञान होने के बाद यदि आहार नहीं लेते हैं तो वे छद्मस्थ दशा मे आहार क्यों लेते हैं ? क्योंकि—जैसे केवल ज्ञान होने के बाद आहार न लेने से उनकी आयु और ज्ञान आदि क्षीण नहीं हो सकते इसी तरह छद्मस्थ दशा में भी वे नष्ट नहीं हो सकते हैं फिर छद्मस्थावस्था मे वे कवलाहार ग्रहण करें और केवलज्ञान की दशा में न करें इसका

कोई कारण नहीं है। वस्तुतः दीर्घ काल तक शरीर की स्थिति का कारण जैसे आयु है उसी तरह कवलाहार भी है। तथा कवलाहार के साथ अनन्तवीर्य्यता का कोई विरोध भी नहीं है जिससे अनन्तवीर्य्यधारी पुरुष कवलाहार न ले। केवली अनन्तवीर्य्य होते हुए भी जैसे चलते फिरते और उठते बैठते हैं उसी तरह व कवलाहार भी ग्रहण करते हैं। जो पुरुष अधिक वीर्य्यवान् होता है उसमें क्षुधा की न्यूनता हो यह नहीं देखा जाता है अतः अनन्तवीर्य्यता को आगे रखकर केवली के कवलाहार का निषेध करना भूल है। केवली में वेदनीय के प्रभाव से ११ परीषहों की उत्पत्ति मानी जाती है उनमें क्षुधा परीषह भी विद्यमान है। वे ११ परीषह ये हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश मशक, चर्य्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। इन ११ परीषहों का कारण वेदनीय है उसके होते हुए उक्त ११ परीषहों के न होने का कोई कारण नहीं है। क्षुधा कष्ट के सहन करने का भी कोई प्रयोजन केवली को नहीं है इसलिए वे निरर्थक क्षुधा कष्ट को सहें इसका भी कोई कारण नहीं। केवलज्ञान की उत्पत्ति के पहले आहार से पोषण पाने वाला ही शरीर केवल ज्ञान होने के बाद भी रहता है अतः केवल ज्ञान होने पर केवली के कवलाहार का निषेध करना अज्ञान है। केवल ज्ञान होने के बाद केवली के शरीर का परिवर्तन यदि कोई कहे तो यह उसकी कल्पना मात्र है क्योंकि इस में कोई प्रमाण नहीं है।

संसारी जीव पहले पहल तैजस शरीर के द्वारा आहार ग्रहण करता है वह तैजस शरीर तेजोमय होता है। यह तैजस शरीर और कार्मण शरीर जीव की संसार स्थिति पर्य्यन्त रहते हैं इन्हीं के द्वारा जीव पहले पहल आहार ग्रहण करता है। इसके पश्चात् शरीर निष्पत्ति के पूर्व जीव औदारिक मिश्र या वैक्रिय मिश्र के द्वारा आहार ग्रहण करता है। जब औदारिक शरीर की निष्पत्ति हो जाती है तब वह औदारिक अथवा वैक्रिय के द्वारा आहार ग्रहण करता है।



सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु आहार-परिण्णाणामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु पाईणं वा ४ सव्वतो सव्वावंति च णं लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति, तंजहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया, तेसिं च णं

छाया—श्रुतं मया आयुष्मता तेन भगवता एवमाख्यातम् इह खलु आहार परिज्ञानामाध्ययनं तस्य चायमर्थः, इह खलु प्राच्यां वा ४ सर्वतः सर्वस्मिन्नपि लोके चत्वारो बीजकायाः एवमाख्यायन्ते, तद्यथा अग्रबीजाः मूलबीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजाः। तेषाञ्च यथाबीजेन

अन्वयार्थ—(आउसतेणं भगवया एव मक्खायं सुयं मे) आयुष्मान् भगवान् श्री महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था, मैंने सुना है। (इह खलु आहारपरिण्णाणामज्झयणे तस्स णं अयमट्ठे) इस सर्वज्ञ के शासन में 'आहारपरिज्ञा' नामक एक अध्ययन है उसका अर्थ यह है—(इह खलु पाईणं वा सव्वतो सव्वावति च ण लोगंसि चत्तारि बीयकाया एव माहिज्जंति) इस लोक में पूर्व आदि दिशाओं तथा विदिशाओं में एव चारों तर्फ सब लोक में चार प्रकार के बीजकाय वाले जीव होते हैं उनके नाम ये हैं—(अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया) अग्रबीज, मूलबीज पर्वबीज

भावार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि—श्रीमहावीर भगवान् ने आहार परिज्ञानामक एक अध्ययन वर्णन किया है उसका अभिप्राय यह है—इस जगत् मे एक बीजकाय नामक जीव होते हैं उनका शरीर बीज है इसलिये वे बीजकाय कहलाते हैं। वे बीजकाय वाले जीव चार प्रकार के होते हैं जैसे कि—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज और स्कन्धबीज। जिनके बीज अग्रभाग मे उत्पन्न होते हैं वे अग्रबीज हैं जैसे—तिल ताल, आम और शालि आदि। जो मूल से उत्पन्न होते हैं वे मूलबीज कहलाते है जैसे—आदा (आर्द्रक) आदि। जो पर्व से उत्पन्न होते है वे पर्वबीज कहलाते है जैसे—इक्षु आदि। जो स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं वे स्कन्धबीज कहलाते हैं जैसे मल्लकी आदि।

ये चारों प्रकार के जीव वनस्पति काय के जीव हैं वे अपने-अपने बीजों से ही उत्पन्न होते हैं दूसरे के बीज से दूसरे उत्पन्न नहीं होते हैं। जिस वृक्ष की उत्पत्ति के योग्य जो प्रदेश होता है उसी प्रदेश में वह वृक्ष उत्पन्न होता है अन्यत्र नहीं होता है। तथा जिनकी उत्पत्ति के लिये जो

कोई कारण नहीं है। वस्तुतः दीर्घ काल तक शरीर की स्थिति का कारण जैसे आयु है उसी तरह कवलाहार भी है। तथा कवलाहार के साथ अनन्तवीर्य्यता का कोई विरोध भी नहीं है जिससे अनन्तवीर्य्यधारी पुरुष कवलाहार न ले। केवली अनन्तवीर्य्य होते हुए भी जैसे चलते फिरते और उठते बैठते हैं उसी तरह व कवलाहार भी ग्रहण करते हैं। जो पुरुष अधिक वीर्य्यवान् होता है उसमें क्षुधा की न्यूनता हो यह नहीं देखा जाता है अतः अनन्तवीर्य्यता को आगे रखकर केवली के कवलाहार का निषेध करना भूल है। केवली में वेदनीय के प्रभाव से ११ परीषहों की उत्पत्ति मानी जाती है उनमें क्षुधा परीषह भी विद्यमान है। वे ११ परीषह ये हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश मशक, चर्य्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। इन ११ परीषहों का कारण वेदनीय है उसके होते हुए उन ११ परीषहों के न होने का कोई कारण नहीं है। क्षुधा कष्ट के सहन करने का भी कोई प्रयोजन केवली को नहीं है इसलिए वे निरर्थक क्षुधा कष्ट को सहें इसका भी कोई कारण नहीं। केवलज्ञान की उत्पत्ति के पहले आहार से पोषण पाने वाला ही शरीर केवल ज्ञान होने के बाद भी रहता है अतः केवल ज्ञान होने पर केवली के कवलाहार का निषेध करना अज्ञान है। केवल ज्ञान होने के बाद केवली के शरीर का परिवर्तन यदि कोई कहे तो यह उसकी कल्पना मात्र है क्योंकि इस में कोई प्रमाण नहीं है।

संसारी जीव पहले पहल तैजस शरीर के द्वारा आहार ग्रहण करता है वह तैजस शरीर तेजोमय होता है। वह तैजस शरीर और कार्मण शरीर जीव की संसार स्थिति पर्यन्त रहते हैं इन्हीं के द्वारा जीव पहले पहल आहार ग्रहण करता है। इसके पश्चात् शरीर निष्पत्ति के पूर्व जीव औदारिक मिश्र या वैक्रिय मिश्र के द्वारा आहार ग्रहण करता है। जब औदारिक शरीर की निष्पत्ति हो जाती है तब वह औदारिक अथवा वैक्रिय के द्वारा आहार ग्रहण करता है।



सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु आहार-परिण्णाणामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु पाईणं वा ४ सव्वतो सव्वावंति च णं लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति, तंजहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया, तेसिं च णं

छाया—श्रुतं मया आयुष्मता तेन भगवता एवमाख्यातम् इह खलु आहार परिज्ञानामाध्ययनं तस्य चायमर्थः, इह खलु प्राच्यां वा ४ सर्वतः सर्वस्मिन्नपि लोके चत्वारो बीजकायाः एवमाख्यायन्ते, तद्यथा अग्रबीजाः मूलबीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजाः। तेषाञ्च यथाबीजेन

अन्वयार्थ—(आउसतेणं भगवया एव मक्खायं सुय मे) आयुष्मान् भगवान् श्री महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था, मैंने सुना है। (इह खलु आहारपरिण्णाणामज्झयणे तस्स णं अयमट्ठे) इस सर्वज्ञ के शासन में 'आहारपरिज्ञा' नामक एक अध्ययन है उसका अर्थ यह है—(इह खलु पाईण वा सव्वतो सव्वावंति च ण लोगसि चत्तारि बीयकाया एव माहिज्जंति) इस लोक में पूर्व आदि दिशाओं तथा विदिशाओं में एव चारों तर्फ सब लोक मे चार प्रकार के बीजकाय वाले जीव होते हैं उनके नाम ये हैं—(अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खधबीया) अग्रबीज, मूलबीज पर्वबीज

भावार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि—श्रीमहावीर भगवान् ने आहार परिज्ञानामक एक अध्ययन वर्णन किया है उसका अभिप्राय यह है—इस जगत् मे एक बीजकाय नामक जीव होते हैं उनका शरीर बीज है इसलिये वे बीजकाय कहलाते हैं। वे बीजकाय वाले जीव चार प्रकार के होते हैं जैसे कि—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज और स्कन्धबीज। जिनके बीज अग्रभाग मे उत्पन्न होते हैं वे अग्रबीज हैं जैसे—तिल ताल, आम और शालि आदि। जो मूल से उत्पन्न होते हैं वे मूलबीज कहलाते हैं जैसे—आदा (आर्द्रक) आदि। जो पर्व से उत्पन्न होते है वे पर्वबीज कहलाते है जैसे—इक्षु आदि। जो स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं वे स्कन्धबीज कहलाते हैं जैसे मल्लकी आदि।

ये चारों प्रकार के जीव वनस्पति काय के जीव हैं वे अपने-अपने बीजों से ही उत्पन्न होते हैं दूसरे के बीज से दूसरे उत्पन्न नहीं होते हैं। जिस वृक्ष की उत्पत्ति के योग्य जो प्रदेश होता है उसी प्रदेश मे वह वृक्ष उत्पन्न होता है अन्यत्र नहीं होता है। तथा जिनकी उत्पत्ति के लिये जो

अहावीएणं अहावगासेणं इहेगतिया सत्ता पुढवीजोणिया पुढवीसंभवा पुढवीवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति ॥ ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढ

छाया—यथाऽवकाशेन इहैकतये सत्त्वाः पृथिवीयोनिकाः पृथिवीसम्भवाः पृथिवीव्युत्क्रमाः कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्रव्युत्क्रान्ताः नानाविधयोनिकासु पृथिवीषु वृक्षतया विवर्तन्ते । ते जीवा नानाविधयोनिकानां तासां पृथिवीनां स्नेहमाहारयन्ति । ते जीवाः आहारयन्ति

अन्वयार्थ—और सर्वज्ञोक्त । (तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इहेगतिया सत्ता पुढवीजोणिया पुढवीसंभवा पुढवीवुक्कमा) इस जीवलोक में कोई जीवों में जो जिस बीज से और जिस प्रदेश में उत्पन्न होने की योग्यता रखते हैं वे उस बीज और उस प्रदेश में पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं । और उसी पर स्थित रहते हैं और वे पृथिवी पर ही वृद्धि को प्राप्त करते हैं (तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा) पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले और उसी पर स्थिति तथा वृद्धि को प्राप्त करने वाले वे जीव (कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति) कर्मवशीभूत होकर तथा कर्म से आकर्षित होकर नाना प्रकार की योनिवाली पृथिवी में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं । (ते जीवा तेसिं णाणाविह

भावार्थ—जो काल, भूमि, जल, आकाश प्रदेश और बीज अपेक्षित हैं उनमें से एक के न होने पर भी वे उत्पन्न नहीं होते हैं । इस प्रकार वनस्पति काय के जीव की उत्पत्ति में भिन्न-भिन्न काल, भूमि, जल और बीज आदि तो कारण हैं ही, साथ ही कर्म भी कारण है क्योंकि कर्म से प्रेरित होकर ही जीव नानाविध योनियों में उत्पन्न होता है इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि—"कम्मोवगा" अर्थात् कर्म से प्रेरित होकर प्राणी वनस्पति काय में उत्पन्न होते हैं । ये वनस्पति काय के जीव यद्यपि अपने-अपने बीज और अपने-अपने सहकारी कारण काल आदि से ही उत्पन्न होते हैं तथापि वे पृथिवीयोनिक कहलाते हैं क्योंकि—उनकी उत्पत्ति के कारण जैसे बीज आदि हैं उसी तरह पृथिवी भी है, पृथिवी के बिना उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । पृथिवी ही इनका आधार है अतः ये वृक्ष पृथिवीयोनिक हैं । ये जीव पृथिवी पर उत्पन्न होकर पृथिवी पर

वीणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं ॥ णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूवियकडं संतं ॥ अवरेऽवि य णं तेसिं

छाया—पृथिवीशरीरमप्शरीरं तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरम्। नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरमचित्तं कुर्वन्ति परिविध्वस्तं तच्छरीरं पूर्वाहारितं त्वचाहारितं विपरिणतं स्वरूपतः कृतं स्यात्। अपराण्यपि च तेषां पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां

अन्वयार्थ—जोणियाणं पुढवीणं सिणेह माहारेंति) वे जीव नाना जाति वाली पृथिवी के स्नेह का आहार करते हैं। (ते जीवा पुढवीसरीरं आउसरीर तेउसरीर वाउसरीर वणस्स इसरीर आहारेंति) वे जीव पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय का आहार करते हैं (णाणाविहाण तसथावराण पाणाणं सरीर अचित्तं कुव्वंति) वे जीव, नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर देते हैं (परिविद्धत्थ त सरीर पुव्वाहारिय तयाहारिय विपरिणय सारूवियकड सत) वे पृथिवी शरीर को कुछ प्रासुक करते हैं तथा पहले आहार किये हुए और उत्पत्ति के बाद त्वचा के द्वारा आहार किये हुए पृथिवीकाय आदि शरीरों को वे अपने शरीर के रूप में परिणत

भावार्थ—ही स्थित रहते हैं और वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वे अपने कर्म से प्रेरित होकर उसी वनस्पति काय से आकर फिर उसी मे उत्पन्न होते हैं। वे जिस पृथिवी मे उत्पन्न होते हैं उसके स्नेह का आहार करते हैं तथा जल, तेज, वायु और वनस्पति का भी आहार करते हैं। जैसे माता के पेट मे रहने वाला बालक माता के पेट मे स्थित पदार्थों का आहार करता हुआ भी माता को पीड़ित नहीं करता है इसी तरह वे वृक्ष पृथिवी के स्नेह का आहार करते हुए भी पृथिवी को पीड़ित नहीं करते हैं। उत्पत्ति के बाद पृथिवी से भिन्न वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि से युक्त होने के कारण ये पृथिवी को चाहे कष्ट भी देते हों परन्तु उत्पत्ति के समय कष्ट नहीं देते हैं। वे वनस्पति काय के जीव अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों को अपने शरीर से दबा कर मार डालते हैं ये जीव, पहले आहार किये हुए पृथिवी आदि के

पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतित्तिमक्खायं ॥ (सूत्र ४२) ॥

छाया—शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकारितानि । ते जीवाः कर्मोपपन्ना भवन्तीत्याख्यातम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—कर लेते हैं । (पुढवीजोणियाणं तेसिं रुक्खाणं अवरेवि य सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहपुग्गलविउव्विया) उन पृथिवीयोनिक वृक्षों के दूसरे शरीर भी नाना प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और नानाविध अवयव रचनाओं से युक्त तथा अनेक विध पुद्गलों से बने हुए होते हैं । (ते जीवा कम्मोववण्णा भवंतीतिमक्खायं) और वे जीव कर्म वशीभूत होकर वृक्ष योनि में उत्पन्न होते हैं यह तीर्थंकरों ने कहा है ॥ ४२ ॥

भावार्थ—शरीर को अपने रूप में परिणत कर डालते हैं । इनके पत्र, पुष्प, फल, मूल शाखा और प्रशाखा आदि नाना वर्ण वाले नाना रस वाले और नाना रचना वाले और भिन्न भिन्न गुण वाले होते हैं । यद्यपि शाक्य लोग इन स्थावरों को जीव का शरीर नहीं मानते हैं तथापि जीव का लक्षण जो उपयोग है उसकी सत्ता का वृक्षों में भी अनुभव की जाती है अतः इनके जीव होने की सिद्धि होती है । यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि— जिधर आश्रय होता है उसी ओर लता जाती है । तथा विशिष्ट आहार मिलने पर वनस्पति की वृद्धि और आहार न मिलने पर उसकी कृशता देखी जाती है । वृक्ष की शाखा काट लेने पर फिर वहाँ कोंपल निकल आता है तथा सब त्वचा उतार लेने पर वह सूख जाता है । इन सब कार्यों को देखकर वनस्पति जीव है यह स्पष्ट सिद्ध होता है अतः वनस्पति को जीव न मानना भूल है । जीव अपने किये हुए कर्म से प्रेरित होकर वनस्पति काय में उत्पन्न होते हैं किसी काल या ईश्वर आदि से प्रेरित होकर नहीं यह तीर्थङ्कर और गणधरों का सिद्धान्त है ॥ ४२ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्ख-संभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहा-रेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परि-

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः वृक्षयोनिकाः वृक्षसम्भवाः वृक्षव्युत्क्रमाः तद्योनिकाः तत्सम्भवाः तद्व्युत्क्रमाः कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः पृथिवीयोनिकेषु वृक्षेषु वृक्षतया विव-र्त्तन्ते । ते जीवास्तेषां पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरमप्तेजोवनस्पतिशरीरं, नाना विधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरमचित्तं कुर्वन्ति । परि-

अन्वयार्थ—(अहावर पुरक्खाय) इसके पश्चात श्री तीर्थङ्करदेव ने वनस्पतिकाय का दूसरा भेद कहा है (इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया) कोई वनस्पति वृक्ष में ही उत्पन्न होती है. इसलिये उसे वृक्षयोनिक कहते है (रुक्खसंभवा) वह वृक्ष मे ही स्थित रहती है (रुक्खवुक्कमा) और वृक्ष मे ही वृद्धि को प्राप्त होती है (तज्जोणिया तस्सभवा तदुवक्कमा कम्मोववन्नगा कम्मणियाणेण तत्थवुक्कमा पुढवीजोणिएहि रुक्खेहि रुक्खत्ताए विउट्टति) पूर्वोक्त प्रकार से वृक्ष मे उत्पन्न और उसी मे स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करने वाले कर्मवशीभूत वे वनस्पतिकाय के जीव अपने कर्म से आकर्षित होकर पृथिवीयोनिक वृक्षों में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते है । (ते जीवा तेसि पुढवी-जोणियाण सिणेह माहारेंति) वे जीव उन पृथिवीयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते है (ते जीवा पुढवीसरीर आउतेउवाउवणस्सइसरीर आहारेंति) वे जीव पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं । (णाणाविहाणं तस थावराण पाणाण सरीर अचित्त कुव्वति) वे नानाप्रकार के त्रस और स्थावर

भावार्थ—इस पाठ के पूर्व पाठ मे पृथिवी मे उत्पन्न होने वाले वृक्षो का वर्णन किया है अब इस पाठ के द्वारा उन वृक्षों का वर्णन किया जाता है जो उन पृथिवी योनिक वृक्षों मे वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं । जो वृक्ष, वृक्ष मे ही उत्पन्न होते हैं उन्हे वृक्षयोनिक वृक्ष कहते हैं । ये वृक्षयोनिक

पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवतित्तिमक्खायं ॥ (सूत्र ४२) ॥

छाया—शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकारितानि । ते जीवाः कर्मोपपन्नाः भवन्तीत्याख्यातम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—कर लेते हैं । (पुढवीजोणियाणं तेसिं रुक्खाणं अवरेवि य सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहपुग्गलविउव्विया) उन पृथिवीयोनिक वृक्षों के दूसरे शरीर भी नाना प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और नानाविध अवयव रचनाओं से युक्त तथा अनेक विध पुद्गलों से बने हुए होते हैं । (ते जीवा कम्मोववन्ना भवन्तीतिमक्खायं) और वे जीव कर्म वशीभूत होकर स्थावर योनि में उत्पन्न होते हैं यह तीर्थंकरों ने कहा है ॥ ४२ ॥

भावार्थ—शरीर को अपने रूप में परिणत कर डालते हैं । इनके पत्र, पुष्प, फल, मूल शाखा और प्रशाखा आदि नाना वर्ण वाले नाना रस वाले और नाना रचना वाले और भिन्न-भिन्न गुण वाले होते हैं । यद्यपि शाक्य लोग इन स्थावरों को जीव का शरीर नहीं मानते हैं तथापि जीव का लक्षण जो उपयोग है उसकी सत्ता इन वृक्षों में भी अनुभव की जाती है अतः इनके जीव होने की सिद्धि होती है । यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि—जिधर आश्रय होता है उसी ओर लता जाती है । तथा विशिष्ट आहार मिलने पर वनस्पति की वृद्धि और आहार न मिलने पर उसकी कृशता देखी जाती है । वृक्ष की शाखा काट लेने पर फिर वहाँ कोंपल निकल आता है तथा सब त्वचा उखाड़ लेने पर वह सूख जाता है । इन सब कार्यों को देखकर वनस्पति जीव है यह स्पष्ट सिद्ध होता है अतः वनस्पति को जीव न मानना भूल है । जीव अपने किये हुए कर्म से प्रेरित होकर वनस्पति काय में उत्पन्न होते हैं किसी काल या ईश्वर आदि से प्रेरित होकर नहीं यह तीर्थङ्कर और गणधरों का सिद्धान्त है ॥ ४२ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणामियं सारूविकडं संतं

छाया—अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः वृक्षयोनिकाः वृक्षसम्भवाः वृक्षव्युत्क्रमाः। तद्योनिकाः तत्सम्भवाः तदुपक्रमाः कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः वृक्षयोनिकेषु वृक्षतया विवर्तन्ते। ते जीवाः तेषां वृक्षयोनिकानां वृक्षाणां स्नेहमाहारयन्ति ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरमप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरम्। त्रस स्थावराणां प्राणानां शरीरमचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तच्छरीरं पूर्वाहारितं त्वचाहारितं विपरिणामितं सरूपीकृतं स्यात्। अप-

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खाय) श्री तीर्थङ्कर देव ने वनस्पति काय के जीवों का अन्य भेद भी कहा है (इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा) कोई जीव वृक्ष में उत्पन्न होते हैं और उसी में रहते हैं तथा वृद्धि को प्राप्त होते हैं (तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा) वे वृक्ष से उत्पन्न और वृक्ष में ही स्थिति तथा वृद्धि को प्राप्त होने वाले जीव हैं (कम्मोवगा कम्मणियाणेण तत्थ वुक्कमा) (वे कर्मवशीभूत होकर तथा कर्म के कारण उन वृक्षों में आकर) रुक्खत्ताए विउट्टंति) वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाण रुक्खाणं सिणेह माहारेंति) वे जीव उन वृक्ष से उत्पन्न वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं (ते जीवा पुढवीसरीर आउतेउवणस्सइसरीरं आहारेंति) वे जीव पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं (तसथावराणं पाणाणं सरीर अचित्तं कुव्वति) वे त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर डालते हैं। (परिविद्धत्थ पुव्वाहारियं तयाहारियं तं शरीर विपरिणामिय सारूवियकड) वे प्रासुक किये हुए तथा पहले खाये हुए और पीछे त्वचा के द्वारा खाये हुए पृथिवी आदि शरीरों को पचाकर अपने

विद्धत्थ त सरीर पुव्वाहारिय तयाहारिय विप्परिणामिय सारूविकड सत अवरेवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासठाणसठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवतीतिमक्खाय ॥ (सूत्र ४४) ॥

छाया—विध्वस्तं तच्छरीरं पूर्वाहारितं त्वगाहारितं विपरिणामितं सरूपीकृतं स्यात् । अपराण्यपि तेषां वृक्षयोनिकानां वृक्षाणां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकारितानि । ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीत्याख्यातम् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—प्राणियों के शरीर को अचित्त कर देते हैं। (परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणामियं सारूविकडं संतं) वे प्रासुक किये हुए तथा पहले आहार किये हुए एवं त्वचा द्वारा आहार किये हुए पृथिवी आदि शरीरों को पचाकर अपने रूप में मिला लेते हैं (तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं अवरेवि य सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहपुग्गलविउव्विया) उन वृक्षयोनिक वृक्षों के नाना वर्ण गन्ध रस स्पर्श और अवयव रचना से युक्त दूसरे भी शरीर होते हैं। वे नानाप्रकार के शरीर वाले पुद्गलों से बने हुए होते हैं। (ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं) वे जीव कर्म वशीभूत होकर पृथिवीयोनिक वृक्षों में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं यह श्री तीर्थंकर देव ने कहा है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—वृक्ष, वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं और उसी में स्थित रहते हुए वृद्धि को प्राप्त होते हैं। ये जीव भी अपने किये हुए कर्म से प्रेरित होकर ही इस गति को प्राप्त होते हैं किसी काल या ईश्वर आदि से प्रेरित होकर नहीं। इन वृक्षों का वर्णन भी पृथिवीयोनिक वृक्षों के समान ही किया गया है इसलिये वही वर्णन यहां भी जानना चाहिये ॥ ४४ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणामियं सारूविकडं संतं

छाया—अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः वृक्षयोनिकाः वृक्षसम्भवाः वृक्षव्युत्क्रमाः। तद्योनिकाः तत्सम्भवाः तदुपक्रमाः कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः वृक्षयोनिकेषु वृक्षतया विवर्तन्ते। ते जीवाः तेषां वृक्षयोनिकानां वृक्षाणां स्नेहमाहारयन्ति ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरमप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरम्। त्रस स्थावराणां प्राणानां शरीरमचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तच्छरीरं पूर्वाहारितं त्वचाहारितं विपरिणामितं सरूपीकृतं स्यात्। अप-

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खाय) श्री तीर्थंङ्कर देव ने वनस्पति काय के जीवों का अन्य भेद भी कहा है (इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसमवा रुक्खवुक्कमा) कोई जीव वृक्ष में उत्पन्न होते हैं और उसी में रहते हैं तथा वृद्धि को प्राप्त होते हैं (तज्जोणिया तस्समवा तदुवक्कमा) वे वृक्ष से उत्पन्न और वृक्ष में ही स्थिति तथा वृद्धि को प्राप्त होने वाले जीव हैं (कम्मोवगा कम्मणियाणेण तत्थ वुक्कमा) (वे कर्मवशीभूत होकर तथा कर्म के कारण उन वृक्षों में आकर) रुक्खत्ताए विउट्टति) वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाण रुक्खाणं सिणेह माहारेंति) वे जीव उन वृक्ष से उत्पन्न वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं (ते जीवा पुढवीसरीर आउतेउवणस्सइसरीरं आहारेंति) वे जीव पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं (तसथावराण पाणाणं सरीर अचित्तं कुव्वति) वे त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर डालते हैं। (परिविद्धत्थ पुव्वाहारियं तयाहारियं त शरीर विपरिणामियं सरूवियकड) वे प्रासुक किये हुए तथा पहले खाये हुए और पीछे त्वचा के द्वारा खाये हुए पृथिवी आदि शरीरों को पचाकर अपने

अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणा- वण्णा जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥ (सूत्र ४५) ॥

छाया—राण्यपि तेषां वृक्षयोनिकानां वृक्षाणां शरीराणि नानावर्णानि, यावत्ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीत्याख्यातम् ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—रूप में भिन्न होते हैं। (तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं अवरेऽवि य सरीरा णाणावण्णा) उन वृक्ष योनिक वृक्षों के नाना वर्ण गन्ध रस और स्पर्श वाले दूसरे भी शरीर होते हैं (ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं) वे जीव कर्मों के वशीभूत होकर वृक्ष योनि वाले वृक्षों में उत्पन्न होते हैं यह श्री तीर्थंकर देव ने कहा है ॥ ४५ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ ४५ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्ख सम्भवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्सम्भवा तदुवक्कमा कम्मो

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातम् इहैकतये सत्त्वा वृक्षयोनिकाः वृक्षसम्भवाः वृक्ष व्युत्क्रमा तद्योनिकाः तत्सम्भवाः तदुपक्रमाः वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खायं) श्री तीर्थंकर देव ने वनस्पति जीवों का और भेद भी कहा है। (इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा) इस जगत् में कोई जीव वृक्ष से उत्पन्न होते हैं और वृक्ष में ही स्थित रहते हैं और वृक्ष में ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। (तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु) वे वृक्ष से उत्पन्न तथा वृक्ष में ही स्थिति और वृद्धि को प्राप्त होने वाले जीव कर्मों के वशीभूत तथा कर्म से प्रेरित होकर वृक्ष में

भावार्थ—इस सूत्र के द्वारा यह उपदेश किया गया है कि—वृक्ष के अवयव जो मूल, कन्द स्कन्ध त्वक् शाखा, प्रवाल पत्र फल, फूल और बीज हैं इन दस वस्तुओं के जीव भिन्न-भिन्न हैं और वृक्ष का सर्वाङ्ग व्यापक जो जीव है वह इन से भिन्न है। तथा पृथिवी योनिक वृक्ष जैसे पृथिवी से

वग्गा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइ० णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरगं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं

छाया—मूलतया कन्दतया स्कन्धतया त्वक्तया सालतया प्रवालतया पत्रतया पुष्पतया फलतया बीजतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां वृक्षयोनिकानां वृक्षाणां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरमप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरं नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरमचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तच्छरीरं यावत् सरूपीकृतं स्यात्। अपराण्यपि च तेषां वृक्षयोनिकानां मूलानां कन्दानां स्कन्धानां त्वचां शालानां प्रवालानां यावद् बीजा

अन्वयार्थ—आते हैं और वृक्षयोनिक वृक्षों में वे (मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति) मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्ता, फूल, फल और बीजरूप से उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाण सिणेहमाहारेंति) वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। ते जीवा पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं आहारेंति) तथा वे जीव पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं। (णाणाविहाणं तसथावराण सरीरं अचित्त कुव्वंति) वे जीव नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर देते हैं। (परिविद्धत्थ त सरीर जाव सरुविकडं सत) वे उनके, शरीरों को प्रासुक करके अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (अवरेविय ण तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाण कंदाणं

भावार्थ—उत्पन्न होकर पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का आहार करते हैं। जैसे पृथिवीयोनिक वृक्षों के नाना प्रकार के रूप, रस, वर्ण गन्ध और स्पर्श होते हैं इसी तरह इनके भी होते हैं। तथा ये जीव अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से ही इन योनियों में

तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥ (सूत्र ४६) ॥

छाया—तां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि यावन्नानाविधशरीरपुद्गलविकारितानि भवन्ति । ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीत्याख्यातम् ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ—(तयाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया) उस वृक्ष से उत्पन्न मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल और बीजरूप जीवों के नानावर्ण और नानागन्ध आदि गुण तथा अनेक प्रकार के पुद्गलों से बने हुए शरीर होते हैं। (ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं) वे जीव कर्मवशीभूत होकर वहां उत्पन्न होते हैं यह श्री तीर्थंकर देव ने कहा है ॥४६॥

भावार्थ—उत्पन्न होते हैं, किसी काल या ईश्वर आदि के प्रभाव से नहीं। शेष बातें पूर्ववत् जाननी चाहिये ॥ ४६ ॥



अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोव

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातम् मिहैकतये सत्त्वाः वृक्षयोनिकाः वृक्षसम्भवाः वृक्षव्युत्क्रमाः तद्योनिकाः तत्संभवाः तदुपक्रमाः कर्मोपपन्नकाः कर्म

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खायं) श्री तीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के जीवों का और भी भेद बतलाया है। (इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा) इस जगत में कोई जीव वृक्ष से उत्पन्न होते हैं और वृक्ष में ही स्थित रहते हैं तथा वृक्ष में ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। (तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोव-

भावार्थ—पूर्व सूत्रों के द्वारा वृक्ष से उत्पन्न होकर वृक्ष में ही स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करने वाले जिन वृक्षों का वर्णन किया गया है उन वृक्षयोनिक वृक्षों में एक अध्यारुह नामक वनस्पतिविशेष उत्पन्न होती है। वह वनस्पति, वृक्ष के ऊपर ही तथा उसके आश्रय से ही उत्पन्न होती है

वन्नगा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारोहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारुहाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥ (सूत्रं ४७) ॥

छाया—निदानेन तत्रव्युत्क्रमाः वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु अध्यारुहतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां वृक्षयोनिकानां वृक्षाणां स्नेहमाहारयन्ति । ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् सरूपीकृतं स्याद् । अपराण्यपि तेषां वृक्षयोनिकानामध्यारुहाणां शरीराणि नाना वर्णानि यावद् भवन्तीत्याख्यातम् ॥४७॥

अन्वयार्थ—वन्नगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारोहत्ताए विउट्टंति) इस प्रकार वृक्ष से उत्पन्न और उसी में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करने वाले वे जीव कर्म के आधीन और कर्म से प्रेरित होकर वनस्पतिकाय में आकर वृक्ष से उत्पन्न वृक्षों में अध्यारुह नामक वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं । (ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाण सिणेह माहारेंति वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं (ते जीवा आहारेंति पुढवी सरीर जाव सरूवी कड सत) वे जीव पृथिवी शरीर से लेकर वनस्पति के शरीर पर्यन्त पूर्वोक्त सभी शरीरों का आहार करते हैं और उन्हें अपने रूप में मिला लेते हैं (तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारुहाण अवरेवि य सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खाय) उन वृक्षयोनिक अध्यारुह वृक्षों के नाना प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श तथा अनेक विध रचना वाले दूसरे शरीर भी होते हैं । इन शरीरों को अपने पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव से जीव प्राप्त करता है यह भी तीर्थङ्कर देव ने कहा है ॥४७॥

भावार्थ—इसलिये इसे 'अध्यारुह' कहते हैं वह वनस्पति जिस वृक्ष मे उत्पन्न होती है उसी के स्नेह का आहार करती है तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों को भी आहार करती है । वह उक्त शरीरों को आहार करके अपने रूप मे परिणत कर लेती है तथा नाना प्रकार के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, और आकार वाली अनेक विध होती है इस वनस्पति मे अपने किये हुए कर्मों से प्रेरित होकर जीव उत्पन्न होते हैं यह जानना चाहिये ॥ ४७ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा पुढवीसरीरं जाव

छाया—अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम् इहैकतये सत्त्वा अध्यारुहयोनिकाः अध्यारुहसंभवा यावत् कर्मनिदानेन तत्रोपक्रमाः वृक्षयोनिकेषु अध्यारुहेषु अध्यारुहतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां वृक्षयोनिकानामध्यारुहाणां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खायं) श्री तीर्थङ्करदेव ने वनस्पतिकायके और भी भेद कहे हैं (इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा) कोई प्राणी पूर्वोक्त अध्यारुह वृक्षों में उत्पन्न होते हैं और उन्हीं में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे जीव कर्म से प्रेरित होकर वहां आकर (रुक्खजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति) वृक्ष से उत्पन्न अध्यारुह वृक्षों में अध्यारुह रूप से उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति) वे जीव वृक्षयोनिक अध्यारुहों के स्नेह का आहार करते हैं (ते जीवा पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं) वे जीव पृथिवी जल, तेज, वायु और वनस्पति शरीरों का भी आहार करते हैं और आहार करके उन्हें अपने शरीर में परिणत कर लेते हैं (तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावण्णा

भावार्थ—वृक्ष से उत्पन्न होने वाले वृक्षों में जो अध्यारुहसंज्ञक वृक्ष उत्पन्न होते हैं उनके प्रदेशों की वृद्धि करने वाले दूसरे अध्यारुह वृक्ष उनमें भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अध्यारुह वृक्षों में ही अध्यारुह रूप से उत्पन्न होने वाले व वृक्ष अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्ष कहलाते हैं। वे अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्ष जिस अध्यारुह में उत्पन्न होते हैं उसी के स्नेह का आहार करते हैं तथा वे पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं। इनके भी नाना प्रकार के वर्ण

सारूविकडं संतं, अवरेवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥ (सूत्रं ४८) ॥

छाया—यावत् सरूपीकृतम् अपराण्यपि तेषामध्यारुहयोनिकानामध्यारुहाणां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—सरीरा जावमक्खाय) उन अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले दूसरे भी बहुत प्रकार के शरीर कहे गये हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थ—गन्ध, रस, स्पर्श और आकार वाले अनेक विध शरीर होते हैं यह जानना चाहिये ॥ ४८ ॥



अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातम् इहैकतये सत्वाः अध्यारुहयोनिकाः अध्यारुहसंभवा यावत् कर्मनिदानेन तत्रव्युत्क्रमाः अध्यारुहयोनिकेषु अध्यारुहतया विवर्तन्ते । ते जीवास्तेषामध्यारुहयोनिकानामध्यारुहाणां स्नेह माहारयन्ति ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवी

अन्वयार्थ—(अहावर पुरक्खाय) श्री तीर्थंकर देवने वनस्पतिकाय के दूसरे और भेद भी कहे हैं (इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थ वुकमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहत्ताए विउट्टति) इस जगत् में कोई जीव अध्यारुह वृक्षों से उत्पन्न होते हैं और उन्हीं में स्थिति तथा वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे प्राणी कर्म से प्रेरित होकर वहा आते हैं और अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों में अध्यारुह रूप में उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं अज्झारुहजोणियाणं अज्झारुहाण सिहेण माहारेंति) वे जीव अध्यारुह योनिक अध्यारुह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं (ते जीवा पुढवीसरीर जाव आहारेंति सरूपीकडं सतं) वे जीव

पुढविसरीर आउसरीर जाव सारूविकडं संत, अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ॥ (सूत्र ४९) ॥

छाया—शरीरं यावत् सरूपीकृतम्। अपराण्यपि तेषामध्यारुहयोनिकानामध्यारुहाणां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—पृथिवी जल, तेज वायु और वनस्पति शरीरों का भी आहार करते हैं और आहार करके उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं अवरेऽवि णाणावण्णा सरीरा जाव मक्खायं) उन अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के दूसरे भी नानावर्ण आदि से युक्त शरीर होते हैं यह भी तीर्थङ्कर देव ने कहा है ॥ ४९ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ ४९ ॥



अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः अध्यारुहयोनिका अध्यारुहसम्भवा यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः अध्यारुहयोनिकेषु अध्यारुहेषु मूलतया यावद् बीजतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषामध्यारुहयोनिकानामध्यारुहाणां स्नेहमाहारयन्ति यावदपराण्यपि

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खायं) श्री तीर्थङ्कर देव ने अध्यारुह वृक्षों के भेद और भी बताये हैं। (इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति) इस जगत् में कोई जीव अध्यारुह वृक्षों से उत्पन्न होकर उन्हीं में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे अपने पूर्वकृत कर्म से प्रेरित होकर वहाँ आते हैं और अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के मूल तथा कन्द आदि से लेकर बीज तक के रूपों में उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा अज्झारोहजोणियाणं तेसिं अज्झारोहाणं सिणेह

जाव अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं मूलाणं जाव वीयाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं (सूत्रं ५०) ॥

छाया—च तेषामध्यारुहयोनिकानां मूलानां यावद् बीजानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥५०॥

अन्वयार्थ—माहारेंति) वे जीव उन अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। (अज्झारोहजोणियाण तेसिं मूलाणं वीयाणं सरीरा अवरेवि य णाणावण्णा जाव मक्खाय) उन अध्यारुहयोनिक मूल और बीज आदि के नाना वर्ण, गन्ध और रस स्पर्श वाले दूसरे शरीर भी तीर्थङ्करों ने कहे हैं ॥ ५० ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ ५० ॥



अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव णाणाविहजोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति जाव ते जीवा कम्मोववंन्ना भवंतीतिमक्खायं ॥ (सूत्रं ५१) ॥

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्वाः पृथिवीयोनिकाः पृथिवी संभवाः यावन्नानाविधयोनिकासु पृथिवीषु तृणतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तासां नानाविधयोनिकानां पृथिवीनां स्नेहमहारयन्ति यावत्ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीत्याख्यातम् ॥५१॥

अन्वयार्थ—(अहावर पुरक्खाय इहेगतिया सत्ता पुढवीजोणिया पुढवीसंभवा जाव णाणाविह जोणियासु पढवीसु तणत्ताए विउट्टंति) श्री तीर्थंङ्कर देव ने वनस्पति काय के जीवों का और भेद भी कहा है। कोई प्राणी पृथिवी से उत्पन्न और पृथिवी पर ही स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हुए नाना प्रकार की जातिवाली पृथिवी के ऊपर तृण रूप से उत्पन्न होते हैं (ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीण सिणेह माहारेंति) वे जीव नाना प्रकार की जाति वाली पृथिवी के स्नेह का आहार करते हैं (जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवतीतिमक्खाय) वे जीव कर्म से प्रेरित होकर तृणयोनि में उत्पन्न होते हैं यह श्रीतीर्थङ्कर देव ने कहा है ॥५१॥



एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जावमक्खायं ॥ (सूत्र ५२) ॥

छाया—एवं पृथिवीयोनिकेषु तृणेषु तृणतया विवर्तन्ते यावदाख्यातम् ॥५२॥

अन्वयार्थ—(एवं पुढवीजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जाव मक्खायं) इसी तरह कोई प्राणी पृथिवीयोनिक तृणों में तृणरूप से उत्पन्न होते हैं यह सब पूर्ववत् जानना चाहिये ॥५२॥



एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति, तणजोणियं तणसरीरं च आहारेंति जावमक्खायं ॥ एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा जाव एवमक्खायं ॥ एवं ओसहीणवि चत्तारि आलावगा ॥ एवं हरियाणवि चत्तारि आलावगा ॥ (सूत्र ५३) ॥

छाया—एवं तृणयोनिकेषु तृणेषु तृणतया विवर्तन्ते तृणयोनिकं तृणशरीरमाहारयन्ति यावदाख्यातम् । एवं तृणयोनिकेषु तृणेषु मूलतया यावद् बीजतया विवर्तन्ते तेजीवाः यावद् आख्यातम् । एवम् औषधीष्वपि चत्वारः आलापकाः एवं हरितेष्वपि चत्वारः आलापकाः ॥५३॥

अन्वयार्थ—(एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति तणजोणियं तणसरीरं च आहारेंति जाव मक्खायं) इसी तरह कोई जीव तृणों में तृणरूप से उत्पन्न होते हैं और वे तृणयोनिक तृणों के शरीर का आहार करते हैं यह सब बातें पूर्ववत् जाननी चाहिये । (एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति) इसी तरह कोई जीव, तृणयोनिक तृणों में मूल तथा बीज रूप से उत्पन्न होते हैं (ते जीवा जाव मक्खायं) इनका वर्णन भी पूर्ववत् ही करना चाहिये । (एवं ओसहीणवि चत्तारि आलावगा एवं हरियाणवि चत्तारि आलावगा) इसी तरह औषधि और हरित कायों के भी पूर्ववत् चार प्रकार से वर्णन करना चाहिये ॥ ५३

भावार्थ—स्पष्ट है । ५१ । ५२ । ५३ ।



अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कूहणत्ताए कंदुकत्ताए उव्वेहणियत्ताए निव्वेहणियत्ताए सछत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमहारेंति, तेवि जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः पृथिवीयोनिकाः पृथवी सम्भवाः यावत् कर्मनिदानेन तत्रव्युत्क्रमाः नानाविधयोनिकासु पृथिवीषु आर्य्यतया वायतया कायतया कूहणतया कन्दुकतया उपनिहिकतया निर्वेहणिकतया सच्छत्रतया छत्रकतया वासानिकतया क्रूरतया विवर्तन्ते । ते जीवास्तासां नानाविधयोनिकानां पृथिवीनां स्नेहमाहारयन्ति तेऽपि जीवाः

अन्वयार्थ—(अहावर पुरक्खाय) श्रीतीर्थङ्करदेव ने वनस्पतिकाय का भेद और भी कहा है। (इहेगतिया सत्ता पुढवीजोणिया पुढवीसंभवा जाव कम्मणियाणेण तत्थ वुक्कमा) इस जगत में कोई जीव पृथिवी से उत्पन्न और पृथिवी में स्थित तथा पृथिवी में वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे कर्म से प्रेरित होकर वहा उत्पन्न होते हैं। (णाणाविह जोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कूहणत्ताए कंदुकत्ताए उव्वेहणियत्ताए सच्छत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति) वे नाना प्रकार की योनि वाली पृथिवी में आर्य नामक वनस्पति और काय, वाय, कूहण, कन्दूक, उपेहणी निर्वेहणी सच्छत्र छत्रक वासणी और कूरनामक वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाण पुढवीण सिणेहमाहारेंति) वे जीव अनेक योनि वाले पृथिवी कायों का आहार करते हैं (ते जीवा अहारेंति पुढवी सरीरं जाव सत) तथा वे जीव पृथिवी काय आदि छ ही काय के जीवों का आहार करके उन्हें अपने रूप में मिला लेते हैं। (तेसिं पुढवीजोणियाणं आयत्ताणं जाव

भावार्थ—यहां मूल पाठ में आर्य्य, वाय, काय तथा कुहण आदि वनस्पतियों की उत्पत्ति बताई गई है। इनका आकार कैसा होता है और लोक मे इन्हे क्या कहते हैं यह यहा नहीं कहा है फिर भी लोक व्यवहार से इनके नाम और आकार जानने का प्रयत्न करना चाहिये। यद्यपि सभी

सत, अवरेऽवि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खाय एगो चेव आलावगो सेसा तिण्णि णत्थि ॥

छाया— आहारयन्ति पृथिवी शरीरं यावत् । अपराण्यपि च तेषां पृथिवी योनिकानामार्याणां यावत् क्रूराणां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि एकश्चैवालापकः शेषास्त्रयो न सन्ति ।

अन्वयार्थ—(कूराणं अवरेवि य णाणावण्णा सरीरा जाव मक्खायं एगो चेव आलावगो सेसा तिण्णि णत्थि) इस पृथिवी से उत्पन्न आर्य्य से लेकर कूर पर्य्यन्त वनस्पतियों के नानावर्ण वाले दूसरे शरीर भी होते हैं इनमें एक ही आलाप है शेष तीन नहीं हैं।

भावार्थ—स्थावर प्राणी चेतन हैं तथापि वनस्पतियों का चैतन्य स्पष्ट अनुभव किया जाता है इसलिये पहले उन्हीं का वर्णन किया है।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातम् इहैकतये सत्त्वा उदकयोनिकाः उदकसम्भवाः यावत् कर्मनिदानेन तत्रव्युत्क्रमाः नानाविधयोनिकेषु उदकेषु वृक्षतया विवर्तन्ते । ते जीवास्तेषां नानाविधयोनिकानामुदकानां स्नेह

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खायं) श्री तीर्थंकर देव ने वनस्पतिकाय का भेद और भी कहा है। (इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति) इस जगत में कोई प्राणी जल में उत्पन्न होते हैं और उसी में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे जीव अपने पूर्वकृत कर्म से प्रेरित होकर वहाँ उत्पन्न होते हैं। वे अनेक प्रकार की जाति वाले जल में आकर वृक्षरूप से उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा णाणाविहजोणियाणं उदगाणं

भावार्थ—अपने पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित होकर कोई प्राणी जल में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं वे उदकयोनिक वृक्ष कहलाते हैं वे जल से उत्पन्न होकर जल

उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽपि य णं तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। जहा पुढविजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि गमा अज्झारुहाणवि तहेव, तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा भाणियव्वा एक्केक्के ॥

छाया—माहारयन्ति, ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् । अपराण्यपि तेषामुदकयोनिकानां वृक्षाणां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि । यथा पृथिवीयोनिकानां चत्वारो गमाः अध्यारुहाणामपि तथैव तृणानामोषधीनां हरितानां चत्वार आलापकाः भणितव्या एकैकम् ।

अन्वयार्थ—सिणेहमाहारेंति) वे जीव नाना प्रकार की जाति वाले जल के स्नेह का आहार करते हैं । (ते जीवा पुढवीसरीर जाव आहारेंति) वे जीव पृथिवी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं । (तेसिं उदगजोणियाण रुक्खाण अवरेवि य ण णाणावण्णा जाव मक्खाय) उन जलयोनिक वृक्षों के नानाविध वर्णों से युक्त दूसरे शरीर भी होते हैं । (जहा पुढवीजोणियाणं चत्तारि गमा अज्झारुहाणवि तहेव तणाण ओसहीण हरियाणं चत्तारि अलावगा भणियव्वा एक्केके) जैसे पृथिवी योनिक वृक्ष, के चार भेद हैं उसी तरह अध्यारुह वृक्ष तृण और हरित के विषय में चार अलाप कहे गये हैं ।

भावार्थ—मे ही स्थित रहते हुए उसी मे वृद्धि को प्राप्त होते हैं । वे जल के स्नेह का तथा पृथिवी आदि कायो का आहार करते हैं शेष पृथिवीयोनिक वृक्षों के समान समझना चाहिये । जैसे पृथिवीयोनिक वृक्षों मे चार अलाप कहे गये हैं उसी तरह उदकयोनिक वृक्षों मे भी चार ... कहने चाहिये परन्तु जल योनिक वृक्ष से जो वृक्ष उत्पन्न ... एक ही विकल्प होता है शेष तीन विकल्प नहीं होते हैं

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदग सम्भवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए कच्छभाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुयत्ताए नलिणत्ताए सुभगत्ताए सोगंधियत्ताए पोंडरियम हापोंडरियत्ताए सयपत्तत्ताए सहस्सपत्तत्ताए एवं कल्हारकोंकण

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः उदकयोनिका उदकसम्भवा यावत् कर्मनिदानेन तत्रव्युत्क्रमा नानाविधयोनिकेषु उदकेषु उदकतया अवकतया पनकतया शैवालतया कलम्बुकतया हडतया कसेरुकतया कच्छभाणिकतया उत्पलतया पद्मतया कुमुदतया नलिनतया सुभगतया सुगन्धिकतया पुण्डरीकमहापुण्डरीकतया शतपत्रतया सहस्रपत्रतया एवं कल्हारकोकनदतया अरविन्दतया

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खायं) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेद कहे हैं (इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसम्भवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु) इस जगत में कोई जीव जल से उत्पन्न होते हैं और जल में ही स्थिति तथा वृद्धि को प्राप्त करते हैं वे अपने पूर्वकृत कर्म से प्रेरित होकर वनस्पतिकाय में आते हैं और वहां वे अनेक प्रकार की जाति वाले जल में (उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए कच्छभाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुयत्ताए नलिणत्ताए सुभगत्ताए) उदक, अवक, पनक, शैवाल, कलम्बुक, हड, कसेरुक, कच्छभाणिक, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग (सोगंधियत्ताए पोंडरीयमहापोंडरीयत्ताए सयपत्तत्ताए सहस्सपत्तत्ताए एवं कल्हार कोंकणयत्ताए अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसभिसमुणालपुक्खलत्ताए पुक्खलच्छिभगत्ताए विउट्टंति) सौगन्धिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र

भावार्थ—इस पाठ में जल में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों का वर्णन किया है। इनमें कमल, तामरस, शतपत्र, सहस्रपत्र, आदि प्रायः कमल के ही जाति विशेष हैं परन्तु अवक, पनक, और सेवाल आदि अन्य जाति की वन-

यत्ताए अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसभिसमुणालपुक्खल-त्ताए पुक्खलच्छिभगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविह-जोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवी-सरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं, एगो चेव आलावगो ॥ (सूत्रं ५४) ॥

छाया—तामरसतया बिसबिसमृणालतया पुष्करतया पुष्कराक्षतया विवर्तन्ते ते जीवास्तेषां नानाविधयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति । ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् अपराण्यपि च तेषा मुदकयोनिकानामुदकानां यावत् पुष्कराक्षकाणां शरीराणि नाना-वर्णानि यावदाख्यातानि । एकश्चैव आलापकः ॥५४॥

अन्वयार्थ—एवं कल्हार कोकनद, अरविन्द, तामरस, बिस, मृणाल, पुष्कर और पुष्कराक्षरूप में उत्पन्न होते हैं । (ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाण उदगाण सिणेहमाहारेंति ते जीवा पुढवीसरीर जाव आहारेंति) वे जीव उन नाना प्रकार की जाति वाले जलों के स्नेह का आहार करते हैं । तथा वे पृथिवी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं । (तेसिं उदजोणियाण उदगाण जाव पुक्खलच्छिभगाण अवरेऽवि य णाणावण्णा सरीरा एगो चेव आलावगो) जल से उत्पन्न उदक से लेकर जो पुष्कराक्षभग पर्य्यन्त वनस्पति काय के जीव कहे गये हैं उनके नाना वर्ण वाले दूसरे शरीर भी होते हैं किन्तु इनमें अलाप एक ही है ॥५४॥

भावार्थ—स्पतियां हैं । इनका आकार और व्यावहारिक नाम लोक व्यवहार से जान लेना चाहिये ॥५४॥



अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता तेसिं चेव पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं रुक्खजोणिएहिं अज्झारोहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं अज्झारुहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं पुढवि जोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं ओसहीहिंवि तिन्नि आलावगा, एवं हरिएहिंवि तिन्नि आलावगा, पुढविजोणिएहिंवि आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणि

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः तेष्वेव पृथिवीयोनिकेषु वृक्षेषु वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु वृक्षयोनिकेषु मूलेषु यावद् बीजेषु, वृक्षयोनिकेष्वध्यारुहेषु अध्यारुहयोनिकेष्वध्यारुहेषु अध्यारुहयोनिकेषु मूलेषु यावद् बीजेषु, पृथिवीयोनिकेषु तृणेषु तृणयोनिकेषु तृणेषु तृणयोनिकेषु मूलेषु यावद् बीजेषु, एवमोषधीष्वपि त्रयः आलापकाः, एवं हरितेष्वपि त्रय आलापकाः पृथिवीयोनिकेषु आर्येषु यावत् कूरेषु उदकयोनिकेषु वृक्षेषु, वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु, वृक्षयोनिकेषु

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खायं) श्री तीर्थंकर देव ने वनस्पति काय के भेद और भी कहे हैं। (इहेगतिया सत्ता तेसिं चेव पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं) इस जगत् में कोई जीव उन पृथिवीयोनिक वृक्षों में (रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं) वृक्षयोनिक वृक्षों में (रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं) वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीज पर्य्यन्त अवयवों में (रुक्खजोणिएहिं अज्झारोहेहिं) वृक्षयोनिक अध्यारुह वृक्षों में (अज्झारोहजोणिएहिं अज्झारोहेहिं) अध्यारुहयोनिक अध्यारुहों में (अज्झारोह जोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं) अध्यारुहयोनिक मूल से लेकर बीज तक अवयवों में (पुढवीजोणिएहिं तणेहिं) पृथिवीयोनिक तृणों में (तणजोणिएहिं तणेहिं) तृणयोनिक तृणों में (तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं) तृणयोनिक मूल से लेकर बीज पर्य्यन्त अवयवों में (एवं ओसहीहिंवि तिन्नि आलावगा एवं हरिएहिंवि तिन्नि आलावगा) इसी तरह औषधी तथा हरितों के विषय में भी तीन तीन आलापक कहने चाहिए (पुढवी जोणिएहिं आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं) पृथिवीयोनिक आर्य्य काय तथा कूर वृक्षों में (उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्ख-

एहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं अज्झारुहेहिवि तिरिण तणेहिंपि तिरिण आलावगा, ओसहीहिपि तिरिण, हरिएहिंपि तिरिण, उदगजोणिएहि उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलच्छिभएहिं तसपाणत्ताए विउट्टंति ॥ ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहीजोणियाणं हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झारुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव कुरवा (कूरा) णं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीस-

छाया—वृक्षेषु, वृक्षयोनिकेषु मूलेषु यावद् बीजेषु एवमध्योरुहेष्वपि त्रयः आलापकाः तृणेष्वपि त्रयः। हरितेष्वपि त्रयः उदकयोनिकेषु उदकेषु अवकेषु यावद् पुष्कराक्षभगेषु त्रसप्राणतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां पृथिवीयोनिकाना मुदकयोनिकानां वृक्षयोनिकाना मध्यारुहयोनिकानां तृणयोनिकानामोषधियोनिकानां हरितयोनिकानां वृक्षाणामध्यारुहाणां तृणानामोषधीनां हरितानां मूलानां यावद् बीजानाम् आर्य्याणां कायानां यावद् कूराणामुदकानामवकानां यावद् पुष्कराक्षभगानां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवाः आहारयन्ति

अन्वयार्थ—जोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं) उदकयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक मूल और बीजों में (एव अज्झारोहेहिंवि तिण्णि तणेहिंवि तिण्णि आलावागा ओसहिंवि तिण्णि हरिएहिंवि तिण्णि) इसी तरह अध्यारुहों में, तृणों में और औषधि तथा हरितों में भी तीन तीन बोल कहने चाहिए (उदगजोणिएहिं उदएहि अवएहि जाव पुक्खलच्छिभएहिं तसपाणत्ताए विउट्टंति) उदकयोनिक उदक अवक और पुष्कराक्षों में त्रस प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं उदगजोणियाण रुक्खजोणियाण अज्झारोहजोणियाण तणजोणियाण ओसहीजोणियाण हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झारोहाणं तणाणं ओसहीण हरियाण मूलाण जाव बीयाणं आयाणं कायाण जाव कूराण उदगाण अवगाण जाव पुक्खलच्छिभगाण सिणेह माहारेंति) वे जीव उन पृथवीयोनिक वृक्षों के, उदकयोनिक वृक्षों के, वृक्षयोनिक वृक्षों के, अध्यारुहयोनिक वृक्षों के, एव

रीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलच्छिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ॥ (सूत्र ५५) ॥

छाया—पृथिवीशरीरं यावत्। अपराण्यपि तेषां वृक्षयोनिकानामध्यारुहयोनिकानां तृणयोनिकानामोषधियोनिकानां हरितयोनिकानां मूलयोनिकानां कन्दयोनिकानां यावद् बीजयोनिकानामाययोनिकानामवकयोनिकानां यावद् पुष्कराक्षिभगयोनिकानां त्रसप्राणानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥५५॥

अन्वयार्थ—तृणयोनिक औषधियोनिक हरितयोनिक वृक्षों के तथा वृक्ष अध्यारुह तृण औषधि हरित मूल बीज आर्यवृक्ष कायवृक्ष कूरवृक्ष एवं उदक, अवक, तथा पुष्कराक्ष वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। (ते जीवा पुढवी सरीरं जाव आहारेंति) वे जीव पृथिवी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं। (तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलच्छिभगजोणियाणं तसपाणाणं अवरेऽवि सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं) उन वृक्षों से उत्पन्न तथा अध्यारुहों से उत्पन्न और तृणों से उत्पन्न एवं औषधियों से उत्पन्न हरितों से उत्पन्न, मूलों से उत्पन्न कन्दों से उत्पन्न बीजों से उत्पन्न, आर्य्य वृक्षों से उत्पन्न कायवृक्षों से उत्पन्न कूर वृक्ष से उत्पन्न उदक से उत्पन्न, अवक से उत्पन्न और पुष्कराक्ष से उत्पन्न त्रस प्राणियों के नाना वर्ण वाले दूसरे शरीर भी कहे गये हैं ॥५५॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ ५५ ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं मणुस्साणं तंजहा—कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खुयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणिए एत्थ णं मेहुणवत्तियाए [व]

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातं नानाविधानां मनुष्याणां तद्यथा—कर्मभूमिगानामकर्मभूमिगानामन्तर्द्वीपगानाम् आर्य्याणां म्लेच्छानां तेषाञ्च यथाबीजेन यथावकाशेन स्त्रियाः पुरुषस्य च कर्मकृतयोनौ

अन्वयार्थ—(अह णाणाविहाण मणुस्साण अवर पुरक्खाय) इसके पश्चात् श्री तीर्थङ्कर देव ने नाना प्रकार के मनुष्यों का स्वरूप बतलाया है। (तजहा—कम्मभूमगाण अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाण आरियाण मिलक्खूयाण) जैसे कि—कोई मनुष्य कर्मभूमि में और कोई अकर्मभूमि में तथा कोई अन्तर्द्वीप में उत्पन्न है एव कोई आर्य्य हैं और कोई म्लेच्छ यानी अनार्य्य हैं (तेसि च ण अहाबीजेण अहावकासेणं) उन जीवों की अपने बीज तथा अपने अवकाश के अनुसार उत्पत्ति होती है (इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणिए एत्थण मेहुणवत्तियाए णाम सजोगे समुवज्जइ)

भावार्थ—वनस्पतिकाय के जीवों का वर्णन करके अब त्रसकाय के जीवों का वर्णन किया जाता है। त्रसकाय के जीव, नारक, तिर्य्यक्, मनुष्य और देवता इन भेदों के कारण चार प्रकार के होते हैं। इनमें नारक जीव प्रत्यक्ष नहीं देखे जाते हैं फिर भी वे अनुमान से जाने जाते हैं। वे अपने पाप कर्म का फल भोगने वाले कोई जीव विशेष हैं। उन जीवों का आहार एकान्त अशुभ पुद्गलों का बना हुआ होता है वे ओज आहार को ग्रहण करते हैं कवलाहार को नहीं। वर्तमान समय में देवता भी प्राय' अनुमान से ही जाने जाते हैं। वे भी कवलाहार नहीं लेते किन्तु वे एकान्त शुभ पुद्गलों का बना हुआ ओज आहार ही लेते हैं।

ओज आहार दो प्रकार का है, एक आभोगकृत और दूसरा अनाभोगकृत। अनाभोगकृत आहार तो प्रति समय होता रहता है परन्तु आभोगकृत आहार जघन्य चतुर्थभक्त और उत्कृष्ट ३३ हजार वर्षकृत होता है।

नारक और देवता से भिन्न त्रस जीव तिर्य्यक् और मनुष्य हैं। तिर्य्यक् जीवों से मनुष्य श्रेष्ठ होता है अत पहले उसी का वर्णन किया

णाम संजोगे समुप्पज्जइ, ते दुहओवि सिणेहं संचिणंति, तत्थ णं जीवा इत्थिवेयत्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तं पढमत्ताए

छाया—अत्र मैथुनप्रत्ययिको नाम संयोगः समुत्पद्यते । ते द्वयोरपि स्नेहं संचिन्वन्ति तत्र जीवाः स्त्रीतया पुंस्तया नपुंसकतया विवर्तन्ते । ते जीवा मातुरार्तवं पितुः शुक्रं तदुभयं संसृष्टं कलुषं किल्बिषं

अन्वयार्थ—इस उत्पत्ति के कारणरूप स्त्री और पुरुष का पूर्वकर्मनिर्मित योनि में मैथुनरूप संयोग उत्पन्न होता है । (ते दुहओवि सिणेहं संचिणंति) उस संयोग के होने पर उत्पन्न होने वाले जीव, (तैजस और कार्मण शरीर के द्वारा) दोनों के स्नेह का आहार करते हैं । (तत्थ जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए नपुंसगत्ताए विउट्टंति) वहाँ वे जीव स्त्री पुरुष और नपुंसकरूप में उत्पन्न होते हैं । (ते जीवा माओउयं पिउ सुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तं पढमत्ताए आहारमाहारेंति) वे जीव

भावार्थ—जाता है । मनुष्य जाति के जीव कर्मभूमि, अकर्मभूमि और अन्तर्द्वीप में निवास करते हैं । इनमें कोई वीतराग के धर्म में श्रद्धा रखने वाले आर्य्य होते हैं और कोई पाप कर्म में आसक्त अनार्य्य होते हैं । इनकी उत्पत्ति के विषय में संक्षेप से यह जानना चाहिये कि—स्त्री पुरुष या नपुंसक की उत्पत्ति के बीज भिन्न भिन्न होते हैं एक नहीं । स्त्री का शोणित और पुरुष का वीर्य्य दोनों ही दोष रहित हों, और शोणित की अपेक्षा शुक्र की मात्रा अधिक हो तो पुरुष की उत्पत्ति होती है परन्तु यदि शोणित अधिक और शुक्र कम हो तो स्त्री की उत्पत्ति होती है । यदि स्त्री का शोणित और पुरुष का शुक्र दोनों ही समान मात्रा में हों, तो नपुंसक की उत्पत्ति होती है इसी तरह माता की दक्षिण कुक्षि से पुरुष की और वाम कुक्षि से स्त्री की तथा दोनों ही कुक्षि से नपुंसक की उत्पत्ति होती है ।

जब किसी जीव की अपने कर्मानुसार मनुष्ययोनि में उत्पत्ति होने वाली होती है तो उसके कर्म के अनुरूप स्त्री और पुरुष का सुरत सुख की इच्छा से संयोग होता है । यह संयोग उस जीव की उत्पत्ति का कारण उसी तरह होता है जैसे दो अरणि काष्ठों का संयोग अग्नि के

आहारमाहारेंति, ततो पच्छा जं से माया णाणाविहाओ रस-
विहीओ आहारमाहारेति ततो एगदेसेण ओयमाहारेंति, आणु-
पुव्वेण वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना ततो कायातो अभिनिवट्टमाणा
इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति णपुंसगं वेगया

छाया—प्रथमतया आहारमाहारयन्ति । तत्पश्चात् सा माता नानाविधान् रसान्वितान् आहारान् आहारयति तत एकदेशेन ओज आहारयन्ति । आनुपूर्व्येण वृद्धाः परिपाकमनुप्राप्ताः ततः कायतः अभिनिवर्तमानाः स्त्रीभावमेके जनयन्ति । पुरुषभावमेके जनयन्ति नपुंसकभाव

अन्वयार्थ—माता का ऋतु और पिता का शुक्र जो परस्पर मिले हुए मलिन और घृणित हैं पहले पहल उन्हीं का आहार करते हैं। (ततो पच्छा माया जं से णाणाविहाओ रसविहीओ आहार माहारेति ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति) इसके पश्चात् वे जीव, माता जिन अनेकविध सरस वस्तुओं का आहार करती है उनके एक देश का ओज आहार करते हैं। (आणुपुव्वेण वुड्ढा पलिपागमणुववण्णा ततो कायातो अभि-निवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयति पुरिस वेगया जणयंति णपुंसग वेगया जणयंति)

भावार्थ—उत्पत्ति का कारण होता है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष के परस्पर संयोग होने पर उत्पन्न होने वाला जीव कर्म से प्रेरित होकर तैजस और कार्मण शरीर के द्वारा शुक्र और शोणित का आश्रय लेकर वहाँ उत्पन्न होता है। वह जीव पहले पहल उस शुक्र और शोणित के स्नेह का आहार करता है। जब स्त्री ५५ वर्ष की और पुरुष ७० वर्ष का हो जाता है तब उनमें सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता नहीं रहती इसलिये उनके संयोग को विध्वस्तयोनि कहते हैं। इससे भिन्न जो अविध्वस्त योनि है यानी ५५ वर्ष से कम उम्र की स्त्री का ७० वर्ष से कम उम्र के पुरुष के साथ जो संयोग है वही सन्तान की उत्पत्ति का कारण है। एवं शुक्र और शोणित भी बारह मुहूर्त तक ही सन्तानोत्पत्ति की शक्ति रखते हैं इसके पश्चात् वे शक्तिहीन और विध्वस्तयोनि कहलाते हैं। इस प्रकार स्त्री की कुक्षि में प्रविष्ट वह जीव, उस स्त्री के द्वारा आहार किये हुए पदार्थों के स्नेह का आहार करता है इस प्रकार वह प्राणी माता के आहारांश को ओज, मिश्र तथा लोम के द्वारा क्रमशः आहार करता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता

जणयति, ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्सगाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं

छाया—मेके जनयन्ति ते जीवा बाला मातुः क्षीरं सर्पिराहारयन्ति आनुपूर्व्येण वृद्धा ओदनं कुल्माषं त्रसस्थावरांश्च प्राणान् ते आहारयन्ति। पृथिवीशरीरं यावत् सरूपीकृतं कुर्वन्ति। अपराण्यपि च तेषां नानाविधानां मनुष्याणां कर्मभूमिगानां अकर्म

अन्वयार्थ—क्रमशः वृद्धि को तथा परिपाक को प्राप्त वे जीव माता के शरीर से निकलते हुए कोई स्त्री रूप में कोई पुरुष रूप में और कोई नपुंसकरूप में उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा डहरासमाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति) वे जीव, बालक होकर माता के दूध और घृत का आहार करते हैं। (आणुपुव्वेणं वुड्ढा ते जीवा ओयणं कुम्मासं तसथावरे पाणे आहारेंति) क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होकर वे जीव भात कुल्माष तथा त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। (ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं) वे जीव पृथिवी आदि कायों का आहार करके उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं

भावार्थ—है। पश्चात् प्राणी माता के उदर से बाहर निकल कर पृथिवी पर अवतार ग्रहण करता है। प्राणी वर्ग अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्त्री, पुरुष और नपुंसक रूप में उत्पन्न होते हैं किसी अन्य कारण से नहीं यह जानना चाहिये। कोई कहते हैं कि "जो जीव पूर्वभव में स्त्री होता है वह परभव में भी स्त्री ही होता है तथा जो पूर्वभव में पुरुष या नपुंसक होते हैं वे पुरुष और नपुंसक ही होते हैं। इनके वेद का परिवर्तन कभी नहीं होता है"। वस्तुतः यह मत अज्ञानमूलक है क्योंकि कर्म की विचित्रता के कारण वेद का परिवर्तन होना स्वाभाविक है अतः जीव अपने कर्म के प्रभाव से कभी स्त्री और कभी पुरुष तथा कभी नपुंसक वेद को प्राप्त करता है यही सत्य समझना चाहिये।

गर्भ से निकलकर बालक पूर्व जन्म के अभ्यास के अनुसार आहार स्तन की इच्छा करता है और वह माता के स्तन को पीकर अप

अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावएणा भवंतीतिमक्खायं ॥ सूत्रं ५६ ॥

छाया—भूमिगानामन्तर्द्वीपगानामार्य्याणां म्लेच्छानां शरीराणि नानावर्णानि भवन्तीत्याख्यातम् ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—मिलक्खूण सरीरा णाणावण्णा भवतीति मक्खाय) कर्मभूमि में और अकर्मभूमि में एव अन्तर्द्वीप में रहने वाले आर्य्य तथा म्लेच्छ मनुष्यों के शरीर नाना वर्णवाले होते हैं यह श्री तीर्थङ्कर देव ने कहा है ॥ ५६ ॥

भावार्थ—वृद्धि को प्राप्त होता है तब नवनीत, दधि, भात आदि पदार्थों को खाता है। इसके पश्चात् वह अपने आहार के योग्य त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करता है। आहार किये हुए पदार्थों को पचाकर वह अपने रूप मे मिला लेता है। प्राणियों के शरीर मे जो रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा, और शुक्र पाये जाते हैं ये सप्त धातु कहलाते हैं इन सप्त धातुओं की उत्पत्ति प्राणियो के द्वारा किये हुए आहारो से ही होती है ॥ ५६ ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलचराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं, तेसिं च

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातं नानाविधानां जलचराणां पञ्चेन्द्रियतिर्य्यग्योनिकानां, तद्यथा मत्स्याणां यावत् सुंसुमाराणां; तेषाञ्च यथाबीजेन

अन्वयार्थ—(अह, णाणाविहाणं पचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जलचराण पुरक्खाय) इसके बाद श्रीतीर्थङ्कर देव ने अनेक प्रकार के जो पाँच इन्द्रियवाले जलचर तिर्य्यञ्च होते हैं उनका वर्णन पहले इस प्रकार किया है (तंजहा—मच्छाणं जाव सुंसुमाराण) मछली से लेकर सुसुमार पर्य्यन्त जीव पाँच इन्द्रियवाले जलचर तिर्य्यञ्च हैं

भावार्थ—अब तिर्य्यञ्च जीवों का स्वरूप बताया जाता है। उनमे इस सूत्र के द्वारा जलचर प्राणी बताये जाते हैं। मत्स्य, कच्छप, मकर और ग्राह

य महावीएण महावगासेण इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडा तहेव जाव ततो एगदेसेण ओयमाहारेंति, आणुपुव्वेण वुड्ढा पलिपा गमणुपवन्ना ततो कायाओ अभिनिवट्टमाणा अंड वेगया जणयंति पोयं वेगया जणयंति, ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेह

छाया—यथाऽवकाशेन स्त्रियाः पुरुषस्य च कर्मकृतस्तथैव यावत् तत एकदेशेन ओजमाहारयन्ति । आनुपूर्व्या वृद्धाः परिपाकमनु प्राप्ताः ततः कायादभिनिवर्तमाना अण्डमेके जनयन्ति पोतमेके जनयन्ति तस्मिन् अण्डे उद्भिद्यमाने स्त्रियमेके जनयन्ति पुरुषमेके जनयन्ति, नपुंसकमेके जनयन्ति । ते जीवाः दहराः सन्तः अपां

अन्वयार्थ—(तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडा तहेव जाव) वे जीव अपने अपने बीज और अवकाश के अनुसार स्त्री और पुरुष के संयोग होने पर अपने कर्मानुसार पूर्ववत् गर्भ में उत्पन्न होते हैं। (ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति) वे जीव गर्भ में माता के ओज आहार का ग्रहण करते हैं। (आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना ततो कायाओ अभिनिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति पोयं वेगया जणयंति) इस प्रकार क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होकर वे गर्भ की परिपाक अवस्था में गर्भ से बाहर होकर कोई अण्डरूप से और कोई पोतरूप से उत्पन्न होते हैं। (से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति णपुंसगं वेगया जणयंति) जब वह अण्डा फट जाता है तो कोई स्त्री, कोई पुरुष और कोई नपुंसक रूप में उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति) वे

भावार्थ—जलचर पञ्चेन्द्रिय जीव हैं। ये जीव अपने पूर्वकृत कर्म का फल भोगने के लिये जलचर तिर्य्यग्योनि में जन्म धारण करते हैं। जैसे मनुष्य अपने बीज और अवकाश के अनुसार जन्म धारण करते हैं इसी तरह जलचर प्राणी भी अपने अपने उपयुक्त बीज और अवकाश के अनुसार ही जन्म धारण करते हैं। ये प्राणी गर्भ में आकर अपनी माता के आहारांश का आहार करते हैं। ये गर्भ से निकल कर पहले जल के स्नेह का आहार करते हैं और बड़े होने पर वनस्पतिकाय का तथा अन्य त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। ये जल

माहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं सुंसुमाराणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ॥

छाया—स्नेहमाहारयन्ति आनुपूर्व्या वृद्धाः वनस्पतिकायं त्रसस्थावरांश्च प्राणान् ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावद्। अपराण्यपि च तेषां नानाविधानां जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्य्यग्योनिकानां मत्स्यानां सुंसुमाराणां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि।

अन्वयार्थ—जीव बालावस्था में जल के स्नेह का आहार करते हैं (आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे) क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होकर वे जीव वनस्पति काय का तथा त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं (ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं) वे जीव पृथिवी आदि कायों का भी आहार करते हैं औ उन्हें पचाकर अपने रूप में मिला लेते हैं (तेसिं णाणाविहाण जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं सुंसुमाराणं अवरेवि य सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं) उन नाना प्रकार वाले जलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च मछली आदि सुंसुमार पर्य्यन्त जीवों के दूसरे भी नाना प्रकार के शरीर होते हैं यह श्री तीर्थंङ्कर देव ने कहा है।

भावार्थ—चर जीव पञ्चेन्द्रिय प्राणियों का भी आहार करते हैं। वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि—"अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तर तिमिंगिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघव !"। अर्थात् हे रामचन्द्र ! सौ योजन तक का लम्बा एक 'तिमि' नामक मत्स्य होता है और उसको निगल जाने वाला एक और मत्स्य होता है उसको 'मिमिंगिल' कहते हैं। उस तिमिंगिल को भी निगल जाने वाला एक दूसरा मत्स्य होता है जिसे 'तिमिंगिलगिल' कहते हैं। उसको भी निगल जाने वाला एक सब से बड़ा मत्स्य भी होता है। जैसे मनुष्य योनि में स्त्री पुरुष और नपुंसक ये तीन भेद होते हैं इसी तरह जलचरों मे भी होते हैं। जलचर जीव कीचड़ का भी आहार करते हैं और उसे पचाकर अपने शरीर में परिणत करलेते हैं। ये जीव अपने पूर्वकृत कर्म का फल भोगने के लिये जलचर योनि में उत्पन्न होते हैं यह जानना चाहिये।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—एगखुराणं दुखुराणं गंडीपयाणं सणप्फयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थिए पुरिसस्स य कम्म जाव मेहुणवत्तिए णामं संजोगे समुप्पज्जइ, ते दुहओ सिणेहं संचिणंति, तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति, ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं एवं जहा मणुस्साणं

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातं नानाविधानां चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां तद्यथा—एकखुराणां द्विखुराणां गण्डीपदानां सनखपदानां, तेषाञ्च यथाबीजेन यथावकाशेन स्त्रियाः पुरुषस्य च कर्मकृतः यावन्मैथुनप्रत्ययिकः संयोगः समुत्पद्यते ते द्वयोरपि स्नेहं संचिन्वन्ति, तत्र जीवाः स्त्रीतया पुरुषतया यावत् विवर्त्तन्ते ते जीवाः मातुरार्त्तवं पितुः शुक्रमेवं यथा मनुष्याणां स्त्रियमप्येके

अन्वयार्थ—(अथ नानाविधानां चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अवरं पुरक्खायं) इसके बाद श्री तीर्थंकर देव ने अनेक जाति वाले स्थलचर चौपाये जानवरों के सम्बन्ध में पहले कहा है। (तंजहा—एगखुराणं दुखुराणं गंडीपयाणं सणप्फयाणं) स्थलचर चौपाये जानवर कोई एक खुर वाले कोई दो खुर वाले कोई गण्डी पद (हाथी आदि) और कोई नखयुक्त पैर वाले होते हैं (तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थिपुरिसस्स य कम्म जाव मेहुणवत्तिए णाम संजोगे समुप्पज्जइ) वे जीव अपने अपने बीज और अवकाश के अनुसार उत्पन्न होते हैं तथा इनमें भी स्त्री पुरुष का परस्पर सुरत संयोग कर्मानुसार होता है। उस संयोग के होने पर वे जीव चतुष्पद प्राणी के गर्भ में आते हैं (ते दुहओ सिणेहं संचिणंति) वे माता और पिता दोनों के स्नेह का पहले आहार करते हैं (तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति) उस गर्भ में वे जीव स्त्री पुरुष अथवा नपुंसक रूप से उत्पन्न होते हैं (ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं एवं जहा मणुस्साणं) वे जीव गर्भ

भावार्थ—पृथिवी के ऊपर विचरने वाले पाँच ही इन्द्रियों से युक्त चौपाये जानवरों का वर्णन इस पाठ में किया है। ये चौपाये जानवर कोई एक खुर वाले होते हैं, जैसे घोड़े और गदहे आदि जानवर। तथा कोई दो

इत्थिंपि वेगया जणयंति पुरिसंपि नपुंसगंपि, ते जाव डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पि आहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचेंदिय-

छाया—जनयन्ति पुरुषमपि नपुंसकमपि। ते जीवाः दहराः सन्तः मातुः क्षीरं सर्पिराहरयन्ति। आनुपूर्व्या वृद्धाः वनस्पतिकायं त्रसस्थावरांश्च प्राणान्। ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत्। अपराण्यपि च तेषां नानाविधानां चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्य्य-

अन्वयार्थ—में माता की ऋतु का और पिता के शुक्र का आहार करते है। शेष बातें मनुष्य के पाठ के समान समझनी चाहिये (इत्थिंपि वेगया जणयति पुरिसपि नपुसगंपि) इनमें कोई स्त्रीरूप से कोई पुरुषरूप से और कोई नपुंसकरूप से उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीर सप्पि आहारेंति) ये जीव बालावस्था में माता का दूध और घृत का आहार करते हैं (आणुपुव्वेण वुड्ढा वणस्सइकाय तसथावरे य पाणे) क्रमश बडे होकर वे वनस्पतिकाय को तथा दूसरे त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। (ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सत) वे प्राणी पृथिवी आदि कायों का भी आहार करते हैं और आहार किये हुए पदार्थों को पचाकर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं (तेसिं णाणाविहाण

भावार्थ—खुर वाले होते हैं जैसे गाय भैंस आदि। कोई गण्डीपद यानी फलक के समान पैर वाले होते हैं जैसे हाथी और गेंडा आदि। कोई नखयुक्त पैर वाले होते हैं जैसे बाघ और सिंह आदि। ये जीव अपने अपने बीज और अवकाश के अनुसार ही जन्म धारण करते हैं अन्यथा नहीं। गर्भधारण से लेकर गर्भ से बाहर आने तक का इनका वृत्तान्त मनुष्य के पाठ में उक्त वर्णन के समान ही जानना चाहिये। सब पर्य्याप्ति से पूर्ण होकर जब ये प्राणी माता के गर्भ से बाहर आते हैं तब माता के दूध को पीकर ये अपना जीवन धारण करते हैं। जब ये बढ़कर बड़े हो जाते हैं तब वनस्पति और त्रस तथा स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। शेष पूर्व पाठ के समान ही समझना चाहिये। ये प्राणी अपने किये

तिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा णाणा वण्णा जावमक्खायं ॥

छाया—योनिकानाम् एकखुराणां यावत् सनखपदानां शरीराणि नाना-वर्णानि यावदाख्यातानि ।

अन्वयार्थ—चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा य णाणावण्णा जाव मक्खायं) उन नाना जाति वाले स्थलचर जीवों के नानावर्ण वाले दूसरे शरीर भी होते हैं यह श्री तीर्थंकर देव ने कहा है ।

भावार्थ—हुए कर्मों का फल भोगने के लिये इन योनियों में जन्म धारण करते हैं यह भी तीर्थंकर ने कहा है ।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदिय तिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातं नानाविधानामुरःपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रिय तिर्य्यग्योनिकानां, तद्यथा—अहीनामजगराणामाशालिकानां महोरगाणाम् । तेषाञ्च यथाबीजेन यथाऽवकाशेन च स्त्रियाः पुरुषस्य

अन्वयार्थ—(अह णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अवरं पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकर देव ने नाना प्रकार की जाति वाले तिर्य्यञ्च प्राणी जो पृथिवी पर छाती को घसीटते हुए चलने वाले और पांच इन्द्रियों से युक्त हैं उनका वृत्तान्त बताया है (तंजहा—अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणं) जैसे प्राणी सर्प अजगर आशालिक और महोरग ये पृथिवी पर छाती को घसीटते हुए चलते हैं अतः ये उरःपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्य्यञ्च हैं । (तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं) ये प्राणी भी अपने अपने उत्पत्ति योग्य बीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं । (इत्थीए पुरिसस्स जाव एत्थणं मेहुणे एव

भावार्थ—सर्प और अजगर आदि प्राणी पृथवी के ऊपर छाती को घसीटते हुए चलते हैं इसलिए ये उरःपरिसर्प कहलाते हैं । ये प्राणी भी अपनी उत्पत्ति

जाव एत्थ णं मेहुणे एवं तं चेव, नाणत्तं अंडं वेगइया जणयंति पोयं वेगइया जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगइया जणयंति पुरिसंपि णपुंसगंपि, ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरपाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं

छाया—यावद् अत्र मैथुनमेवं तच्चैवाज्ञसम् । अण्डमेके जनयन्ति पोतमेके जनयन्ति । तस्मिन्नण्डे उद्भिद्यमाने स्त्रियमेके जनयन्ति पुरुषमपि नपुंसकमपि । ते जीवा दहराः सन्तः वायुकायमाहारयन्ति, आनुपूर्व्या वृद्धाः वनस्पतिकायं त्रसस्थावरमाणान् । ते जीवा आहारयन्ति पृथ्वीशरीरं यावद् । अपराण्यपि च तेषां नानाविधानामुरःपरिसर्प-

अन्वयार्थ—तंचेव नाणत्तं) इन प्राणियों में भी स्त्री और पुरुष का परस्पर मैथुन नामक सयोग होता है और उस सयोग के होने पर कर्म प्रेरित प्राणी इनकी योनि में उत्पन्न होते हैं । शेष बातें पूर्ववत् कही गई हैं । (अड वेगया जणयति पोय वेगया जणयति) इनमें कोई अण्ड को उत्पन्न करते हैं और कोई बच्चा उत्पन्न करते हैं (से अडे उब्भिज्जमाणे इत्थि वेगया जणयति पोय वेगया जणयति पुरिसपि णपुसगपि) उस अण्डे के फट जाने पर कोई स्त्री और कोई पुरुष तथा कोई नपुसक को उत्पन्न करते है । (ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारति) वे जीव बालावस्था में वायु काय का आहार करते हैं (आणुपुव्वेण वुड्ढा वणस्सइकाय तसथावरपाणे) क्रमश बढ़ कर जब वे बड़े हो जाते हैं तब वनस्पति और त्रस तथा स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं । (ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीर जाव सत) वे जीव पृथिवी आदि कायों का भी आहार करते हैं और उन्हें पचाकर अपने शरीर के रूप में परि-

भावार्थ—के योग्य बीज और अवकाश को पाकर ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं होते हैं । इनमे कोई अण्डा उत्पन्न करते हैं और कोई बच्चा पैदा करते हैं । ये प्राणी माता के गर्भ से निकल कर वायुकाय का आहार करते हैं जैसे मनुष्य आदि के बच्चे माता का दूध पीकर पुष्ट होते हैं इसी तरह

णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्ख० अहीणं जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जावमक्खायं ॥

छाया—स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्य्यग्योनिकानामहीनां यावन्महोरगाणां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि यावदाख्यातानि ।

अन्वयार्थ—मत कर लेते हैं। (तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अहीणं जाव महोरगाणं अवरेवि य सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जावमक्खायं) पृथिवी के ऊपर छाती के बलसे चलने वाले जो स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्य्यंच सर्प से लेकर महोरग पर्य्यन्त कहे गये हैं उनके अनेक वर्ण और गन्ध वाले दूसरे शरीर भी होते हैं यह भी तीर्थंकर देव ने कहा है।

भावार्थ—ये प्राणी अपनी जाति के स्वभावानुसार वायु को पीकर पुष्टि का काम करते हैं।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—गोहाणं नउलाणं सिहाणं सरडाणं सल्लाणं सरवाणं खराणं घरकोइलियाणं विस्संभराणं मुस

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातं नानाविधानां भुजपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्य्यग्योनिकानां, तद्यथा गोधानां, नकुलानां, सिंहानां, सरटानां सल्लकानां सरघानां खराणां गृहकोकिलानां विश्वम्भराणां

अन्वयार्थ—(अह णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अवरं पुरक्खायं) इसके पश्चात् अनेक जाति वाले भुजा की सहायता से पृथिवी पर चलने वाले जो पञ्चेन्द्रिय तिर्य्यञ्च हैं उनके विषय में भी तीर्थंकर देव ने पहले कहा है। (तंजहा—) भुजा के बल से पृथिवी पर चलने वाले पञ्चेन्द्रिय तिर्य्यञ्च इस प्रकार हैं—(गोहाणं नउलाणं सिहाणं सरडाणं सल्लाणं सरघाणं खराणं घरकोइलियाणं विस्संभराणं मुसगाणं मंगुसाणं पयलाइयाणं बिरालियाणं जोहाणं

भावार्थ—जो प्राणी भुजा के बल से पृथिवी पर चलते हैं वे 'भुजपरिसर्प' कहलाते हैं। इनमें कई प्राणियों के नाम यहां शास्त्रकार ने बताये हैं। ये प्राणी पञ्चेन्द्रिय तिर्य्यञ्च हैं। इनमें कोई अण्डा देते हैं और कोई बच्चा

गाणं मंगुसाणं पइलाइयाणं बिरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिंदियथलयरतिरिक्खाणं तं० गोहाणं जावमक्खायं ॥

छाया—मूपकानां मंगुसानां पदललितानां विडालानां गोधानां चपुष्पदानां, तेषाञ्च यथाबीजेन यथावकाशेन स्त्रियाः पुरुषस्य च यथा उरः परिसर्पाणां तथा भणितव्यं यावत् सरूपीकृतं स्यात् । अपराण्यपि च तेषां नानाविधाना भुजपरिसर्पपञ्चेन्द्रियस्थलचरतिरश्चां गोधानां यावदाख्यातानि ।

अन्वयार्थ—चउप्पाइयाण) गोह, नकुल, सिह, सरट सल्लक, सरथ, खर, गृहकोकिल, विश्वम्भर, मूपक, मगुस पदलालित बिडाल, जोध, और चतुष्पद । (तेसिं च ण अहाबीएण अहावगासेण इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाण तहा भणियव्व) ये जीव भी अपने अपने बीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं और छाती से सरक कर चलने वाले जीव के समान ही ये जीव भी स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होते हैं ये सब बातें पूर्ववत ही जाननी चाहिये । (जाव सारूविकडं संत) ये जीव भी अपने खाये हुए आहार को पचा कर अपने शरीर में परिणत कर लेते हैं । (तेसिं णाणाविहाण भुयपरिसप्पपंचिंदियथलयरतिरिक्खाण तं गोहाण जाव मक्खाय) इन अनेक जाति वाले, भुजा के द्वारा पृथिवी पर चलने वाले पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के दूसरे भी नानावर्ण वाले शरीर होते हैं यह भी तीर्थंकर देव ने कहा है ।

भावार्थ—पैदा करते हैं इनमें नकुल चूहा, गोह आदि जानवर प्रसिद्ध हैं । ये जीव अपने कर्म से प्रेरित होकर इन योनियों में जन्म धारण करते हैं ये प्राणी नाना प्रकार के वर्ण गन्ध वाले और अनेक प्रकार के शरीर वाले होते हैं । शेष बातें पूर्ववत् जाननी चाहिये ।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं खचरपंचिंदियतिरिक्ख जोणियाणं, तंजहा—चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं, णाणत्तं ते जाव वुड्ढा समाणा माउगाय

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातं नानाविधानां खचरपञ्चेन्द्रियतिर्य्यग्योनिकानां, तद्यथा—चर्मपक्षिणां रोमपक्षिणां समुद्गपक्षिणां विततपक्षिणां, तेषाञ्च यथाबीजेन यथाऽवकाशेन स्त्रिया यथा उरःपरिसर्पाणामाख्यातम्। ते जीवा दहराः सन्तः मातृगात्रस्नेहमाहा-

अन्वयार्थ—(अह णाणाविहाणं खचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अवरं पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर देव ने अनेक प्रकार की जाति वाले आकाशचारी पञ्चेन्द्रिय तिर्य्यञ्चों के विषय में कहा है (तंजहा—चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं) जैसे कि—चर्मपक्षी रोमपक्षी समुद्गपक्षी और विततपक्षी (इनकी उत्पत्ति और आहार के विषय में भगवान् ने यह कहा है) (तेसिंचणं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं) ये प्राणी अपनी उत्पत्ति के योग्य बीज और अवकाश के द्वारा उत्पन्न होते हैं और स्त्री पुरुष के संयोग से ही इनकी भी

भावार्थ—इस पाठ में आकाशचारी पक्षियों के सम्बन्ध में उपदेश किया है। चर्मकीट और वल्गुली आदि पक्षी, चर्मपक्षी कहलाते हैं और राजहंस, सारस, तथा काक और बक आदि रोम पक्षी कहे जाते हैं एवं अढ़ाई द्वीप से बाहर के पक्षी समुद्ग पक्षी और वितत पक्षी कहलाते हैं। ये पक्षी अपनी उत्पत्ति योग्य बीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं। पक्षी जाति की स्त्री अपने अण्डे को अपने पंखों से ढक कर बैठती है और ऐसा कर के वह अपने शरीर की गर्मी को उस अण्डे में प्रवेश करती है, उस गर्मी का आहार करके वह अण्डा वृद्धि को प्राप्त होता है और वह कलल अवस्था को छोड़कर चोंच आदि अवयवों में परिणत हो जाता है। जब सब अङ्ग पूरे हो जाते हैं तब वह अण्डा फट कर दो भागों में हो जाता है। इसके पश्चात् उसमें से निकला हुआ बच्चा माता के द्वारा दिये हुए आहार को खाकर वृद्धि को प्राप्त करता है शेष बातें पूर्ववत् जान लेनी चाहिये। यहां तक

सिणेहमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं खचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं जावमक्खायं (सूत्रं ५७) ॥

छाया—रयन्ति, आनुपूर्व्या वृद्धाः वनस्पतिकायं त्रसस्थावरांश्च प्राणान् । ते जीवा आहारयन्ति पृथवीशरीरं यावत् अपराण्यपि च तेषां नानाविधानां खचरपञ्चेन्द्रियतिरश्चां चर्मपक्षिणां यावदाख्यातानि॥५७॥

अन्वयार्थ—उत्पत्ति होती है शेष बातें सर्प जाति के पाठ के समान ही जाननी चाहिये । (वुड्ढा समाणा माउगायसिणेह माहारयंति) ये प्राणी गर्भ से निकलकर बालावस्था में माता के शरीर के स्नेह का आहार करते हैं । (आणुपुव्वेण वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे) और ये क्रमश बडे होकर वनस्पतिकाय तथा त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं । (ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीर जाव) ये प्राणी पृथिवी आदि कायों का भी आहार करते हैं और उन्हें पचाकर अपने रूप में मिला लेते हैं । (तेसिं णाणाविहाणं खचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं जाव अवरेवि अक्खाय) इन अनेक प्रकार की जाति वाले चर्मपक्षी आदि आकाशचारी पञ्चेन्द्रिय तिर्य्यञ्चों के दूसरे भी नाना प्रकार के शरीर होते हैं यह श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है॥५७॥

भावार्थ—पञ्चेन्द्रिय मनुष्य और तिर्य्यञ्चों के आहार की व्याख्या की गई है। विशेष बात यह है कि—इनका आहार दो प्रकार का होता है एक आभोग से और दूसरा अनाभोग से । अनाभोग से होने वाला आहार तो प्रतिक्षण होता रहता है परन्तु आभोग से होने वाला आहार क्षुधावेदनीय के उदय होने पर ही होता है अन्य समय में नहीं ॥५७॥



अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातमिहैके सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः नानाविधसंभवाः नानाविधव्युत्क्रमाः। तद्योनिकाः तत्संभवाः तदुपक्रमाः कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधानां त्रसस्थावराणां पुद्गलानां शरीरेषु सचित्तेषु अचित्तेषु वा अनुस्यूततया विवर्तन्ते

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकर देव ने अन्य जीवों के विषय में वर्णन किया है। (इह एगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया) इस जगत् में कोई प्राणी अनेक प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं (णाणाविहसंभवा) और वे अनेक प्रकार की योनियों में स्थित रहते हैं। (णाणाविहवुक्कमा) तथा वे अनेक प्रकार की योनियों में वृद्धि को प्राप्त करते हैं। (तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा) नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न और उन्हीं में स्थिति तथा वृद्धि को प्राप्त करने वाले वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मों का अनुगामी होकर उन कर्मों के प्रभाव से ही नानाविध गतियों में उत्पन्न हुए हैं। (णाणाविहाणं तसथावराणं पोग्गलाणं सचित्तेसु अचित्तेसु वा सरीरेसु अणुसूयत्ताए विउट्टंति)

भावार्थ—पंचेन्द्रिय प्राणियों को बताकर अब विकलेन्द्रियों का वर्णन किया जाता है। जो प्राणी त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में उत्पन्न होते हैं और उन शरीरों के आश्रय से ही स्थिति एवं वृद्धि को प्राप्त करते हैं उनका वर्णन इस पाठ में किया गया है। मनुष्य के शरीर में जूं (यूका) और लिख आदि तथा खाट में खटमल आदि उत्पन्न होते हैं एवं मनुष्य के अचित्त शरीर में तथा विकलेन्द्रिय प्राणियों के शरीर में कृमि आदि उत्पन्न होते हैं। ये प्राणी दूसरे प्राणियों के समान अन्यत्र जाने आने में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु वे जिस शरीर में उत्पन्न होते हैं उसी के आश्रय से रहते हैं। सचित्त तेज काय और वायु से भी विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है। वर्षा ऋतु में गर्मी के कारण पृथिवी से कुन्थु आदि संस्वेदज प्राणियों की उत्पत्ति होती है इसी तरह काष्ठ से भी अनेकों विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं। वनस्पति

विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयगाणं सरीरा

छाया— ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावद् अपराण्यपि च तेषां त्रसस्थावरयोनिकानामनुस्यूतकानां शरीराणि नानावर्णानि

अन्वयार्थ—वे प्राणी नाना प्रकार के त्रस और स्थावर पुद्गलोंके सचित्त और अचित्त शरीर में उनके आश्रित होकर उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराण सिणेह माहारेंति) वे जीव अनेक प्रकार वाले त्रस और स्थावरों के स्नेहका आहार करते हैं। (ते जीवा पुढवीसरीर जाव आहारेंति) वे प्राणी पृथिवीकाय आदि शरीरों का भी आहार करते हैं। (तेसिं तसथावरजोणियाण अणुसूयगाणं सरीरा अवरेवि य णाणावण्णा जाव मक्खायं) उन त्रस और स्थावर योनि से उत्पन्न और उन्हीं के आश्रय से रहने वाले प्राणियों के नाना वर्णवाले दूसरे शरीर भी होते हैं यह श्री तीर्थंकर देव

भावार्थ—काय से पनक और भ्रमर आदि विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। ये प्राणी जिस शरीर से उत्पन्न होते हैं उसी का आहार करके जीते हैं। जैसे सचित्त और अचित्त शरीर से विकलेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है उसी तरह पंचेन्द्रिय प्राणियों के मूत्र और मल से भी दूसरे विकलेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। वे प्राणी शरीर से बाहर निकले हुए और नहीं निकले हुए दोनों ही प्रकार के मल मूत्रों से उत्पन्न होते हैं। इन प्राणियों की आकृति कुत्सित होती है और ये अपने उत्पत्ति स्थान मूत्र और पुरीष का ही आहार करते हैं। जैसे पचेन्द्रिय प्राणियों के मूत्र और पुरीष से विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं उसी तरह वे तिर्य्यञ्च प्राणियों के शरीर मे चर्म कीट रूप से उत्पन्न होते हैं। जीवित गाय और भैंस के शरीर में बहुत से चर्मकीट उत्पन्न होते हैं और वे गाय तथा भैंस के चमड़े को खाकर वहा गड्ढा कर देते हैं उस गड्ढे में से जब रक्त निकलने लगता है तब वे उस गड्ढे मे स्थिर होकर उसके रक्त का आहार करते हैं। गाय और भैंस के अचित्त शरीर में भी विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं। सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार की वनस्पतियों में घुण

णाणाविहाणं जावमक्खायं ॥ एवं दुरूवसंभवत्ताए ॥ एवं खुरदुगत्ताए ॥ (सूत्र ५८) ॥

छाया—यावदाख्यातानि । एवं दूरूपसम्भवतया एवं चर्मकीटतया ॥५८॥

अन्वयार्थ—गये कहा है। (एवं दुरूवसंभवत्ताए एवं खुरदुगत्ताए) इसी तरह शरीर और मूत्र आदि से विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं और गाय भैंस आदि के शरीर में चर्मकीट उत्पन्न होते हैं ॥५८॥

भावार्थ—और कीट आदि विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं और वे अपने आश्रित उस वनस्पति का ही आहार करके जीते हैं ॥ ५८ ॥



अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां

अन्वयार्थ—(अह अवरं पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर देव ने प्राणियों का वर्णन दूसरा किया है (इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा) इस जगत् में कोई जीव नानाविध योनियों में उत्पन्न होकर कर्म की प्रेरणा से वायुयोनिक अप्काय में आते हैं। (णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सचित्तेसु

भावार्थ—इस जगत् में अपने पूर्वकृत कर्म के आधीन होकर कई प्राणी वायुयोनिक अप्काय में उत्पन्न होते हैं। वे मेंढक आदि त्रस तथा लवण और हरित आदि स्थावर प्राणियों के सचित्त और अचित्त नानाविध शरीरों में वायुयोनिक अप्काय के रूप में जन्म धारण करते हैं। यह अप्काय वायुजनित है इसलिये उसका उपादान कारण वायु ही है तथा उसको संग्रह और धारण करने वाला भी वायु ही है। मेघमण्डल के अन्तर्गत जो जल होता है उसे परस्पर मिलाकर चारों ओर से वायु ही धारण

पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वायसंसिद्धं वा वायसंगहियं वा वायपरिग्गहियं उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवति अहेवाएसु अहेभागी भवति तिरियवाएसु तिरियभागी भवति, तंजहा—ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति

छाया—शरीरेषु सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा तच्छरीरं वायुसंसिद्धं वा वायुसंगृहीतं वा वायुपरिगृहीतं वा ऊर्ध्ववातेषु ऊर्ध्वभागी भवति अधोवातेषु अधोभागी भवति, तिर्य्यग्वातेषु तिर्य्यग्भागी भवति तद्यथा—अवश्यायः हिमकः मिहिका करकः हरतनुकाः शुद्धोदकं, ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवा

अन्वयार्थ—अचित्तेसु वा सरीरेसु तं सरीरगं वायसंसिद्धं वायसंगहियं वायपरिग्गहियं) वे अप्काय में आकर नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में अप्काय रूप से उत्पन्न होते हैं। वह अप्काय वायु से बना हुआ और वायु के द्वारा संग्रह किया हुआ और वायु के द्वारा धारण किया हुआ होता है (उड्ढवाएसु उड्ढभागी अहेवाएसु अहेभागी तिरियवाएसु तिरियभागी भवति) अत वह ऊपर का वायु होने पर ऊपर और नीचे का वायु होने पर नीचे तथा तिरछा वायु होने पर तिरछा जाने वाला होता है। (तंजहा—) उस अप्काय के नाम ये हैं— (ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए) अवश्याय, हिम, महिका, करका, हरतनु और शुद्ध जल। (ते जीवा णाणाविहाण तसथावराणं पाणाणं सिणेह माहारेंति) वे जीव नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के

भावार्थ—किये रहता है। वायु जब ऊपर का होता है तब वह अप्काय ऊपर जाता है और नीचे के वायु होने पर नीचे तथा तिरछा वायु होने पर तिरछा जाता है। आशय यह है कि—अप्काय वायुयोनिक है इसलिए वायु जैसा होता है अप्काय भी वैसा ही होता है। उसके कुछ भेद नीचे लिखे अनुसार हैं—सरदी के दिनों में जो तुषार गिरता है उसे 'अवश्याय' कहते हैं वह जल का ही भेद है। तथा हिम और सरदी के समय जो हिमबिन्दु गिरता है वह जल का ही भेद है। कभी कभी सरदी के दिनों में धूम्र के समान सूक्ष्म जलबिन्दु इतने गिरते हैं कि—वे पृथिवी को

ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संत, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणा-वण्णा जावमक्खायं ॥

छाया—आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् स्यात् । अपराण्यपि च तेषां त्रस-स्थावरयोनिकानामवश्यायानां यावच्छुद्धोदकानां शरीराणि नाना-वर्णानि यावदाख्यातानि ।

अन्वयार्थ—स्नेह का आहार करते हैं । (पुढवी सरीरं जाव संतं) वे पृथिवी काय आदि का भी आहार करते हैं । अवरेऽवि य तेसिं तसथावरजोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं) उन त्रस स्थावरयोनि से उत्पन्न अवश्याय तथा शुद्धोदक पर्य्यन्त जीव के नानावर्ण वाले दूसरे शरीर भी कहे गये हैं ।

भावार्थ—अन्धकार से परिपूर्ण कर देते हैं उन्हें मिहिका कहते हैं यह जल का ही भेद है एवं पत्थर के समान जमा हुआ जो पानी आकाश से गिरता है उसे करका कहते हैं यह भी जल का भेद है तथा शुद्ध जल भी अपूकाय का ही भेद है । ये पूर्वोक्त अपूकाय के जीव, अपनी उत्पत्ति के स्थान पर नानाविध त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं ये आहार करने वाले हैं अनाहारक नहीं हैं ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदग समवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा तसथावरजोणिएसु

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातम् इहैकतये सत्त्वा उदकयोनिका उदकसम्भवा यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः त्रसस्थावरयोनिकेषु उदकेषु

अन्वयार्थ—(अहावरं पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्री तीर्थङ्कर देव ने अपकाय से उत्पन्न होने वाले अपूकायों का स्वरूप बतलाया है । (इह एगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउ-

भावार्थ—वायु से उत्पन्न अपूकाय के वर्णन के पश्चात् अपूकाय से ही उत्पन्न अपू-काय का वर्णन आरम्भ किया जाता है । इस जगत् में कितने एक जीव

उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ॥

छाया—उदकतया विवर्तन्ते । ते जीवास्तेषां त्रसस्थावरयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावद् अपराण्यपि च तेषां त्रसस्थावरयोनिकानामुदकानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ।

अन्वयार्थ—इति) इस जगत् में कितने एक प्राणी जल से उत्पन्न होते है और जल में ही स्थित रहते हैं वे अपने पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से जल में आते हैं, वे त्रस और स्थावरयोनिक जल में जलरूप से उत्पन्न होते हैं (ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाण उदगाण सिणेहमाहारेंति) वे प्राणी उन त्रस और स्थावरयोनिक जल के स्नेह का आहार करते है (पुढवीसरीरं जाव संत) वे पृथिवी आदि कायों का भी आहार करते हैं और उन्हें पचाकर अपने शरीर में परिणत कर लेते है । (तेसिं तसथावर जोणियाण उदगाण अवरेवि य णाणावण्णा सरीरा जावमक्खाय) उन त्रस और स्थावरयोनिक उदकों के दूसरे भी नानावर्णवाले शरीर कहे गये हैं ।

भावार्थ—अपने पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से अप्काय मे ही दूसरे अप्काय रूप से उत्पन्न होते हैं । वे प्राणी जिन त्रस और स्थावरयोनिक उदकों से उत्पन्न होते हैं उन्हीं के स्नेह का आहार करते हैं तथा वे पृथिवीकाय आदि का भी आहार करते हैं । इनके नाना वर्ण वाले दूसरे शरीर भी कहे गये है।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः उदकयोनिकानां यावत् कर्मनिदानेन तत्रव्युत्क्रमाः उदकयोनिकेषूदकेषु उदकतया

अन्वयार्थ—(अह अवर पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्री तीर्थंङ्कर देव ने अप्योनिक अप्कायका स्वरूप पहले वर्णन किया था । (इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्म णियाणेणं तत्थ वुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टति) इस जगत्

विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि

छाया—विवर्त्तन्ते। ते जीवास्तेषामुदकयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत्। अपराण्यपि च तेषामुदकयोनिकानामुदकानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि। अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः उदकयोनिकानां यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः उदकयोनिकेषूदकेषु त्रसप्राणतया विवर्त्तन्ते। ते जीवास्तेषामुदकयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् अपराण्यपि

अन्वयार्थ—वे कितने एक जीव उदकयोनिक उदक में अपने पूर्वकृत कर्म के अधीन होकर आते हैं। वे उदक योनिक उदक रूप से उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेह माहारेंति) वे जीव उन उदकयोनिक उदकों के स्नेह का आहार करते हैं (ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं) वे जीव पृथिवी काय आदि का भी आहार करते हैं और उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं अवरेवि य सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं) उन उदक योनि वाले उदकों के दूसरे भी नाना वर्ण वाले शरीर कहे गये हैं। (अहावरं पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकर देव ने उदकयोनिक त्रस काय का वर्णन पहले किया था। (इह एगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति) इस जगत् में कितने एक जीव अपने पूर्व कृत कर्म से प्रेरित होकर उदकयोनिक उदक में आते हैं और वे उदक योनिक उदक में त्रस प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेह माहारेंति) वे जीव उन उदयोनि वाले उदकों के स्नेह का आहार करते हैं। (ते जीवा पुढवीसरीरं जाव आहारेंति) वे जीव पृथिवीकाय

य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ॥ (सूत्रं ५६) ॥

छाया—च तेषामुदकयोनिकानां त्रसप्राणानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥५९॥

अन्वयार्थ—आदि शरीरों का भी आहार करते हैं। (तेसिं उदगजोणियाण तसपाणाण अन्नरेवि य सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं) उन उदकयोनिक त्रस जीवों के दूसरे भी नानावर्ण वाले शरीर कहे गये हैं ॥५९॥

भावार्थ—सुगम है ॥ ५९ ॥



अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसि णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्वाः नानाविधयोनिकाः यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरेषु सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा अग्निकायतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसथावराणां प्राणानां स्नेह माहार-

अन्वयार्थ—(अह अवर पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्री तीर्थङ्कर देव ने दूसरी बात बताई थी (इह एगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेण तत्थवुक्कमा णाणाविहाण तसथावराण पाणाण सरीरेसु सचित्तेसु अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति) इस जगत् में कितने एक जीव पूर्व जन्म में नाना विधयोनियों में उत्पन्न होकर वहां किये हुए कर्म के वशीभूत होकर नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीरों में अग्निकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। (ते जीवा तेसिं णाणाविहाण तसथावराण पाणाणं सिणेह माहारेंति) वे जीव, उन नाना

भावार्थ—कोई प्राणी ऐसे होते हैं जो पूर्व कृत कर्म के प्रभाव से नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीरों में अग्निकाय के

सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं, सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं ॥ अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउकायत्ताए

छाया—यन्ति । ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् । अपराण्यपि च तेषां त्रसस्थावरयोनिकानां अग्नीनां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि । शेषास्त्रयः आलापकाः यथोदकानाम् । अथापरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः नानाविधयोनिकानां यावत् कर्मनिदानेन तत्रव्युत्क्रमा नानाविधानां त्रसस्थावराणां शरीरेषु

अन्वयार्थ—प्रकार करके त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। (ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव) वे जीव पृथिवी काय आदि का भी आहार करते हैं। (तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं) उन त्रस और स्थावर योनिक अग्निकायों के दूसरे नानावर्णवाले शरीर भी कहे गये हैं। (सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं) शेष तीन आलापक उदक के समान समझने चाहिये। (अह अवरं पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर देव ने दूसरी बात बताई है (इह एगतिया सत्ता णाणाविहजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु अचित्तेसु वा वाउकायत्ताए

भावार्थ—रूप में उत्पन्न होते हैं। त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त और अचित्त शरीरों में जो अग्नि होती है उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है क्योंकि—पञ्चेन्द्रिय प्राणी हाथी और भैंस आदि जब परस्पर युद्ध करते हैं तब उनके विषाणों के संघर्ष से अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती है तथा अचित्त हड्डियों के संघर्ष से भी अग्नि की उत्पत्ति होती है इसी तरह द्वीन्द्रिय आदि शरीरों में भी अग्नि का सद्भाव समझना चाहिये। सचित्त तथा अचित्त वनस्पतिकाय एवं पत्थर आदि से भी अग्निकी उत्पत्ति देखी जाती है। वे अग्निकाय के जीव उन शरीरों में उत्पन्न होकर उनके स्नेह का

विउट्टंति, जहा अगणीणं तहा भाणियव्वा, चत्तारि गमा ॥ (सूत्रं ६०) ॥

छाया—सचित्तेषु अचित्तेषु वा वायुकायतया विवर्तन्ते यथाऽग्नीनां तथा भणितव्याश्चात्वारो गमाः ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ—विउट्टति) इस जगत् में कितने एक प्राणी पूर्व जन्म में नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होकर वहां किये हुए अपने कर्म के प्रभाव से त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में वायुकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं (जहा अगणीण तहा चत्तारि गमा भणियव्वा) यहां भी चार आलाप अग्नि के समान कहने चाहिये ॥ ६० ॥

भावार्थ—आहार करते हैं। शेष तीन आलाप पूर्ववत् जानना चाहिये। अब वायुकाय के विषय मे बताया जाता है। कितने एक जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव से नानाविध योनिवाले त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीरों में वायु के रूप मे उत्पन्न होते हैं शेष पूर्ववत् जानना चाहिये ॥ ६० ॥



अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराण

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां

अन्वयार्थ—(अह अवर पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर देव ने और बात कही थी। (इह एगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेण तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं

भावार्थ—अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से कितने एक जीव, त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त और अचित्त शरीरों में पृथिवी रूप में और हाथी के

पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए इमाओ गाहाओ अणुगतव्वाओ—'पुढवी या सक्करा वालुया य उवले सिला या लोणुसे। अय तउय तंब सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥ १ ॥ हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणपवाले। अब्भपडलब्भवालुय बायरकाए मणिविहाणा

छाया—सचित्तेषु अचित्तेषु वा शरीरेषु पृथिवीतया शर्करतया वालुकतया इमा गाथा अनुगन्तव्या —"पृथिवी च शर्करा वालुका च उपल शिला च लवणम्। अयस्त्रपुताम्रशीसकरुप्यसुवर्णानि च वज्राणि च। हरितालं हिंगुलकं मनःशिला सस्यकाञ्जनप्रवालाः अभ्रपटलाभ्रवालुका बादरकाये मणिविधाना"। गोमेधकञ्च रुचकमङ्कं स्फाटिकञ्च

अन्वयार्थ—(तसथावराणं पाणाणं सचित्तेसुवा अचित्तेसुवा सरीरेसु पुढवीत्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए) इस जगत् में कितने एक जीव नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होकर उनमें अपने किये हुए कर्म के प्रभाव से पृथिवीकाय में आकर अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त और अचित्त शरीरों में पृथिवी शर्करा तथा वालुका के रूप में उत्पन्न होते हैं। (इमाओ गाहाओ अणुगतव्वाओ) इस विषय में इन गाथाओं के अनुसार इनका भेद जानना चाहिये (पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणुसे। अय तउय तंब सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य) पृथिवी शर्करा, वालुका, पत्थर, शिला, नमक, लोहा, राँगा, ताँबा, सीसा, रुप्पा, सोना, वज्र (हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणपवाले अब्भपडलब्भवालुय बायरकाए मणिविहाणा) हरिताल हिंगूल मैनशिल, सासक अञ्जन, प्रवाल अभ्रपटल अभ्रवालुका, ये सब पृथिवी काय के भेद हैं। अब मणियों के भेद बताये जाते हैं

भावार्थ—प्राणियों में मुक्तारूप में, स्थावर प्राणी बाँस आदि में मुक्ताफल रूप में एवं अचित्त पत्थर आदि में नमक रूप में तथा नाना प्रकार की पृथिवी में शर्करा वालुका मिश्री और लवण आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं। एवं

॥ २ ॥ गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य। मरगयमसारगल्ले भुयमोयगइंदणीले य ॥ ३ ॥ चंदणगेरुय हंसगब्भपुलएसोगंधिए य बोद्धव्वे। चंदप्पभवेरुलिए जल-कंते सूरकंते य ॥ ४ ॥ एयाओ एएसु भाणियव्वाओ गाहाओ जाव सूरकंतत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविस-रीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं

छाया—लोहिताख्यञ्च । मरकतमसारगल्लं भुजमोचकमिन्द्रनीलञ्च। चन्दनगेरुकहंसगर्भपुलाकं सौगन्धिकञ्च बोद्धव्यम्। चन्द्रप्रभ-वैदुर्यं जलकान्तं सूर्यकान्तञ्च। एता एतेषु भणितव्याः गाथाः यावत् सूर्य्यकान्ततया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रस-स्थावराणां प्राणानां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत्। अपराण्यपि च तासां त्रसस्थावरयोनिकानां

अन्वयार्थ—(गोम्मेजएय रुयए अंके फलिहेय लोहियक्खेय मरगयमसारगल्ले भुयमोयग इंदनीलेय) गोमेदक रत्न, रजत रत्न, अङ्क, स्फटिक, लोहित मरकत, मसारगल्ल, भुजपरिमोचक, इन्द्रनील, (चदणगुरुकहंस्सगब्भपुलएसोगधिएयबोद्धवे) चन्दन, गेरुक, हसगर्भ, पुलक सौगन्धिक, (चंदप्पभवेरुलिएजलकंतेयसूरकतेय) चद्रप्रभ, वैदुर्य्य, जलकान्त और सूर्य्यकान्त ये मणियों के भेद है। (एयाओ गाहाओ एएसु भणियव्वाओ जाव सूरकताए विउट्टति) इन उपर्युक्त गाथाओं में कही हुई जो वस्तु है उन पृथिवी से लेकर सूर्य्यकान्त तक की योनियों में वे जीव उत्पन्न होते है। (ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराण पाणाणं सिणेह माहारेंति) वे जीव उन नाना प्रकार वाले त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते है। वे जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव) वे जीव पृथिवी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं। (तेसि तसथावरजोणियाण पुढवीण जाव सूरकताण अवरेवि य णाणा

भावार्थ—वे गोमेदक आदि रत्नों के रूप मे उत्पन्न होते हैं यह जानना चाहिये ॥६१॥

पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं, सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं ॥ (सूत्र ६१) ॥

छाया—पृथिवीनां यावत् सूर्य्यकान्तानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि शेषास्त्रय आलापकाः यथोदकानाम् ॥६१॥

अन्वयार्थ—(जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं) त्रस और स्थावरों से अन्यत्र पृथिवी से लेकर सूर्यकान्त पर्यन्त प्राणियों के दूसरे भी नाना वर्ण वाले शरीर कहे गये हैं शेष तीन आलाप उदक के समान ही जानने चाहिये ॥६१॥



अहावरं पुरक्खायं सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा

छाया—अथाऽपरं पुराख्यातं, सर्वे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः नानाविधव्युत्क्रमाः शरीरयोनिकाः शरीरसंभवाः

अन्वयार्थ—(अह अवरं पुरक्खायं) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर देव ने और बात कही थी। (सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा) सब प्राणी सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व, नाना प्रकार की

भावार्थ—शास्त्रकार इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए सामान्य रूप से समस्त प्राणियों की अवस्था को बता कर साधु को संयम पालन में सदा प्रयत्नशील बने रहने का उपदेश करते हैं। इस जगत् में समस्त प्राणी अपने अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म धारण करते हैं। कोई देवता कोई नारक कोई मनुष्य और कोई तिर्य्यंच योनि में कर्म से प्रेरित होकर उत्पन्न होते हैं किसी काल आदि की प्रेरणा से नहीं। कोई कहते हैं कि "जो जीव इस भव में जैसा होता है वह पर भव में भी वैसा ही होता है" परन्तु यह मत इस पाठ से विरुद्ध होने से असङ्गत

सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया कम्मठिइया कम्मणा चेव विप्परिया-समुवेंति ॥ से एवमायाणह से एवमायाणित्ता आहारगुत्ते

छाया—शरीरव्युत्क्रमाः शरीराहाराः कर्मोपगाः कर्मनिदानाः कर्मगतिकाः कर्मस्थितिकाः कर्मणाचैव विपर्य्यासमुपयन्ति तदेवं

अन्वयार्थ—योनियों में उत्पन्न होते हैं और वे वहीं स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। (सरीर जोणिया सरीरसभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा) वे शरीर से ही उत्पन्न होते है और शरीर में ही रहते हैं तथा शरीर में ही वृद्धि को प्राप्त करते है एव वे शरीर का ही आहार करते है। (कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया कम्मट्ठितीया) वे अपने कर्म के अनुगामी हैं और कर्म ही उनकी उत्पत्ति आदि का कारण है तथा उनकी गति और स्थिति कर्म के अनुसार ही होती है। (कम्मणा चेव विप्परियास मुवेंति) वे कर्म के प्रभाव से ही सदा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए दु'ख के भागी होते है। (एव मायाणह एवमायाणित्ता आहारगुत्ते

भावार्थ—है। इस पाठ मे स्पष्ट कहा है कि—जीव अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों मे जन्म धारण करता है अत जो जैसा है वह सदा वैसा ही रहता है यह बात मिथ्या है। ऐसा मानने पर तो जो देवता है वह सदा देवता ही रहेगा और जो नारकी है वह सदा नारकी ही बना रहेगा फिर तो कर्मवाद का सिद्धान्त सर्वथा नष्ट हो जायगा और ससार की विभिन्नता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होगी अत' प्राणी अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न गति को प्राप्त करते हैं यह शास्त्रोक्त सिद्धान्त ही ध्रुव सत्य जानना चाहिये। यद्यपि सम्पूर्ण प्राणी सुख के अभिलाषी और दु'ख के द्वेषी होते हैं तथापि अपने पूर्व कृत कर्म के प्रभाव से उन्हें दु ख सहन करना ही पड़ता है वे विना भोगे मुक्त नहीं होते हैं। जो प्राणी जहां उत्पन्न होते हैं वे वहीं आहार करते हैं। वे आहार के विषय में सावद्य निरवद्य का कुछ विचार नहीं रखते हैं अत सावद्य आहार का सेवन करके वे कर्मों का सचय करते हैं और कर्मों का संचय करके वे उनका फल भोगने के लिए अनन्त काल तक ससार चक्र मे भ्रमण करते है इसलिए विवेकी पुरुषों को सदा शुद्ध आहार ग्रहण करने का नियम पूर्ण

सहिए समिए सया जए त्तियेमि ॥ (सूत्र १२) ॥
बियसुयक्खधस्स आहारपरिएणा णाम तईयमज्झयण समत्त ॥

छाया—जानीत एवं ज्ञात्वा आहारगुप्तः सहितः समितः सदा यत इति ब्रवीमि ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—सहिए समिए सया जए त्ति बेमि) हे शिष्यों ! ऐसा ही जानो और जान कर आहारगुप्त ज्ञानादि सहित समितियुक्त और संयम पालन में सदा प्रयत्नशील बनो ॥ १२ ॥

भावार्थ—रूप से पालन करना चाहिये । साथ ही इन्द्रिय और मन को वश में करके सांसारिक विषयों का चिन्तन छोड़कर ज्ञान और संयम के आराधन में प्रयत्नशील बनना चाहिये । जो मनुष्य ऐसा करता है वही संसार सागर को पार करके अक्षय सुख को प्राप्त करता है क्योंकि अक्षय सुख को प्राप्त करने के लिये शुद्ध संयम पालन के सिवाय जगत् में कोई दूसरा मार्ग नहीं है ॥ ६२ ॥

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥



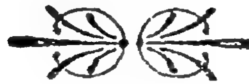
॥ ओ३म् ॥

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का

चौथा अध्ययन



तृतीय अध्ययन के अन्त में आहार की गुप्ति रखने की शिक्षा दी गई है और आहार की गुप्ति से कल्याण की प्राप्ति और अगुप्ति से अनर्थ की प्राप्ति कही है इसलिए विवेकी पुरुष को आहार की गुप्ति रखनी चाहिये यह निश्चित हुआ परन्तु आहार की गुप्ति प्रत्याख्यान के विना होती ही नहीं अतः आहार गुप्ति के लिये प्रत्याख्यान का होना आवश्यक है यह बता कर प्रत्याख्यान का उपदेश करने के लिये इस चतुर्थ अध्ययन का आरम्भ किया जाता है ।



सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु पच्चक्खाणकिरियाणामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते—आया अपच्चक्खाणीयावि भवति आया अकिरियाकुसले यावि भवति आया मिच्छासंठिए यावि भवति आया एगंतदंडे यावि भवति

छाया—श्रुतं मया आयुष्मता तेन भगवतैवमाख्यातम् इह खलु प्रत्याख्यान क्रियानामाध्ययनं तस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः—आत्मा अप्रत्याख्यान्यपि भवति, आत्मा अक्रियाकुशलोऽपि भवति आत्मा मिथ्यासंस्थित श्चापि भवति आत्मा एकान्तबालश्चाऽपि भवति, आत्मा एकान्त

अन्वयार्थ—(आउसतेणं भगवया एवमक्खायं सुयंमे) आयुष्मान् भगवान् महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था और मैंने सुना था। (इह खलुपच्चक्खाणकिरियाणामज्झयणे तस्सणं अयमट्ठे पण्णत्ते) इस आगम में 'प्रत्याख्यानक्रिया' नाम का अध्ययन है उसका अर्थ यह है—(आया अपच्चक्खाणीयावि भवइ) जीव अप्रत्याख्यानी यानी सावद्य कर्मों का त्याग न करने वाला भी होता है (आया अकिरियाकुसले यावि भवइ) एवं शुभ क्रिया को न करने वाला भी जीव होता है (आया मिच्छासंठिए यावि भवइ) जीव, मिथ्यात्व के उदय में स्थित भी होता है (एगतदंडेयावि भवइ) जीव दूसरे प्राणियों को एकान्त रूप से दण्ड देने वाला भी होता है।

भावार्थ—इस सूत्र में जीव को आत्मा शब्द से कहने का आशय यह है कि—यह जीव सदा से नानाविध योनियों में भ्रमण करता चला आ रहा है। जो निरन्तर भ्रमण करता रहता है उसे आत्मा कहते हैं क्योंकि आत्म शब्द की व्युत्पत्ति—(अतति सततं गच्छतीति आत्मा) यह होती है इसका अर्थ निरन्तर भिन्न-भिन्न गतियों में गमन करना है। इस जीव के साथ अनादि काल से मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योगों का सम्बन्ध लगा हुआ है इसलिये यह अनादिकाल से अप्रत्याख्यानी रहता हुआ चला आ रहा है परन्तु यह शुभ कर्म के उदय से प्रत्याख्यानी भी पीछे से हो जाता है यह भाव दिखाने के लिये ही यहाँ मूल पाठ में 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ आत्म शब्द से जीव के निर्देश करने का अभिप्राय दूसरे दर्शनों के सिद्धान्तों का खण्डन करना भी है, वह इस प्रकार समझना चाहिये सांख्यवादी, जीव को उत्पत्ति विनाश से वर्जित और स्थिर तथा एक स्वभाववाला मानते

आया एगंतबाले यावि भवति आया एगंतसुत्ते यावि भवति, आया अवियारमणवयणकायवक्के यावि भवति आया अप्पडिहयअपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एस खलु भगवता

छाया—सुप्तश्चाऽपि भवति आत्मा अविचारमनोवचन--कायवाक्यश्चाऽपि भवति, आत्मा अप्रतिहताप्रत्याख्यातपापकर्माऽपि भवति । एष खलु भगवता आख्यातः असंयतः अविरतः अप्रतिहतप्रत्याख्यात-

अन्वयार्थ—(एगत वालेयावि आया भवइ) आत्मा एकान्त वाल यानी अज्ञानी भी होता है। (आया एगंतसुत्तेयावि भवइ) आत्मा एकान्त रूप से सोया हुआ भी होता है। (आया अवियारमणवयणकायवक्के यावि भवइ) आत्मा अपने मन वचन काय और वाक्य का विचार न करने वाला भी होता है। (आया अप्पडिहयअपचक्खाय पावकम्मेयापि भवइ) आत्मा, पापों का घात और प्रत्याख्यान नहीं किया हुआ भी होता है (एस खलु भगवया असजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे

भावार्थ—हैं परन्तु ऐसा मानने से जीव की नानाविधयोनियों मे जाना संभव नहीं है एव वह आत्मा जबकि स्थिर है तव एक तृण को भी नम्र करने मे समर्थ नहीं हो सकता है फिर वह प्रत्याख्यान को किस तरह प्राप्त कर सकता है। किन्तु सदा अप्रत्याख्यानी ही बना रहेगा अत सांख्यवाद युक्ति सङ्गत नहीं यह आशय जीव को आत्मपद से निर्देश करने का प्रतीत होता है। इसी तरह बौद्धमत में भी आत्मा मे प्रत्याख्यान सभव नहीं है क्योंकि वे आत्मा को एकान्त क्षणिक मानते हैं। अत उनके मत में स्थितिहीन होने के कारण आत्मा का प्रत्याख्यानी होना सम्भव नहीं है।

शुभ अनुष्ठानों को यहां क्रिया कहा है उस क्रिया मे जो पुरुष कुशल है उसको क्रिया कुशल कहते हैं एव जो शुभ क्रिया मे कुशल नहीं है उसको अक्रिया कुशल कहते हैं आशय यह है कि आत्मा अनादिकाल से अप्रत्याख्यानी और शुभ क्रिया करने मे अकुशल रहता हुआ चला आ रहा है परन्तु पीछे से पुण्य के उदय होने पर प्रत्याख्यानी और क्रियाकुशल भी हो जाता है। एव आत्मा मिथ्यात्व के उदय मे स्थित, प्राणियों को एकान्त दण्ड देने वाला, राग द्वेष से पूर्ण बालक के समान अविवेकी और सोया हुआ भी होता है जैसे द्रव्य से सोया हुआ पुरुष शब्दादि

अक्खाए असंजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियार मणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे य से कम्मे कज्जई ॥ (सूत्र ६२) ॥

छाया—पापकर्मा सक्रियः असंवृतः एकान्तदण्डः एकान्तबालः एकान्तसुप्तः स बालः अविचारमनोवचनकायवाक्यः स्वप्नमपि न पश्यति पापञ्च कर्म करोति ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते अक्खाए) इस जीव को भगवान् ने असंयत (संयमहीन) अविरत (विरतिरहित) पाप कर्म का विनाश और प्रत्याख्यान नहीं किया हुआ क्रिया सहित संवर रहित, प्राणियों को एकान्त दण्ड देने वाला एकान्त बाल और एकान्त सोया हुआ कहा है। (से य बाले अवियार मणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पासइ से य पावे य कम्मे कज्जइ) वह अज्ञानी जो मन वचन काय और वाक्य के विचार से रहित है वह चाहे स्वप्न भी न देखता हो यानी अत्यन्त अव्यक्त विज्ञानवाला हो तो भी पाप कर्म करता है ॥ ६२ ॥

भावार्थ—विषयों को नहीं जानता है इसी तरह भाव से सोया हुआ आत्मा हित और अहित की प्राप्ति तथा परिहार को नहीं जानता है। आत्मा अपने मन वचन काय और वाक्य को प्राणियों की विराधना का विचार न रखता हुआ भी प्रयोग करता है। तथा आत्मा तप के द्वारा अपने पूर्व पाप को नाश और विरति स्वीकार करके भावी पाप का प्रत्याख्यान न करने वाला भी होता है। ऐसे आत्मा को श्री तीर्थङ्करदेव ने संयम रहित, विरतिवर्जित, पाप का नाश और प्रत्याख्यान न करने वाला, सावद्य अनुष्ठान में रत, संवरहीन, मन वचन और काय की गुप्ति से रहित, अपने तथा दूसरे को एकान्त दण्ड देने वाला बालक की तरह हिताहित के ज्ञान से वर्जित कहा है। ये जीव किसी भी क्रिया में प्रवृत्त होते हुए यह नहीं सोचते हैं कि मेरी इस क्रिया के द्वारा दूसरे प्राणियों की क्या दशा होगी ? ऐसे जीव चाहे स्वप्न भी न देखें अर्थात् उनका विज्ञान अव्यक्त हो तो भी वे पाप कर्म करते हैं ॥ ६२ ॥

तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासि—असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावकम्मे णो कज्जइ, कस्स णं तं हेउं ?, चोयए एवं ब्रवीति—अन्नयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरीए वतीए पावियाए वतिवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नय-

छाया—तत्र चोदकः प्रज्ञापकमेव मवादीत् असता मनसा पापकेन असत्या वाचा पापिकया असता कायेन पापकेन अघ्नतोऽमनस्कस्य अविचार मनोवचनकायवाक्यस्य स्वप्नमप्यपश्यतः पापं कर्म न क्रियते। कस्य हेतोः, चोदकः, एवं ब्रवीति—अन्यतरेण मनसा पापकेन मनः प्रत्ययिकं पापं कर्म क्रियते, अन्यतरया वाचा पापिकया वाक्प्रत्ययिकं पापं कर्म क्रियते, अन्यतरेण कायेन पापकेन काय-

अन्वयार्थ—(तत्थ चोयए पन्नवग एव वयासी) इस विषय में प्रश्नकर्ता ने उपदेशक के प्रति ऐसा कहा। (असतएण पावएण मणेण असतियाए पावियाए वतीए असतएण पावएणं काएण) पापयुक्त मन, पापयुक्त वचन और पापयुक्त काय न होने पर (अहणतस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावेकम्मे न कज्जइ) प्राणियों की हिंसा न करते हुए, तथा हिंसा के विचार रहित मन वचन काय और वाक्य वाले एव स्वप्न भी न देखने वाले यानी अव्यक्त विज्ञान वाले प्राणियों द्वारा पाप कर्म नहीं किया जाता है। (कस्सण हेउ) किस कारण से ? (चोयए एव बवीति) प्रश्नकर्ता इस प्रकार कहता है (अन्नयरेण पावएण मणेण मणवत्तिए पावे कम्मे

भावार्थ—प्रश्नकर्त्ता आचार्य्य के अभिप्राय को समझ कर उसका निषेध करता हुआ कहता है कि—जिस प्राणी के मन वचन और काय पाप कर्म मे लगे हुवे नहीं हैं जो प्राणियों की हिंसा नहीं करता है तथा जो मन से हीन और मन वचन काय और वाक्य के विवेक से रहित है तथा जो स्वप्न भी नहीं देखता है यानी अव्यक्त विज्ञान वाला है वह प्राणी पाप-कर्म करने वाला नहीं माना जा सकता है क्योंकि—मन वचन और काय के पापयुक्त होने पर ही मानसिक, वाचिक और कायिक पाप किये जाते हैं परन्तु जिन प्राणियों का विज्ञान अव्यक्त है अतएव जो

रेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, हणंतस्स समणक्खस्स सवियारमणवयकायवक्कस्स सुविणमवि पासओ एवंगुणजातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ। पुणरवि चोयए एवं बवीति तत्थ णं जे ते एवमाहंसु—असंतएणं मणेणं पावएणं असंतीयाए वतिए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमण

छाया—मस्यथिकं पापं कर्म क्रियते, घ्नतः समनस्कस्य सविचारमनोवचनकायवाक्यस्य स्वप्नमपि पश्यतः एवं गुणजातीयस्य पापं कर्म क्रियते। पुनरपि चोदकः एवं ब्रवीति तत्र ये ते एवमाहुः असता मनसा पापकेन असत्या वाचा पापिकया असता कायेन पापकेन

अन्वयार्थ—कज्जइ) पापयुक्त मन होने पर मानसिक पाप कर्म किया जाता है। (असंतीए पावियाए वईए वत्तिवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ) तथा पापयुक्त वचन होने पर ही वचन द्वारा पाप कर्म किया जाता है (असंतेणं पावएणं काएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ) एवं पाप युक्त शरीर होने पर ही शरीर द्वारा पाप कर्म किया जाता है। (हणंतस्स समणक्खस्स सवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि पासओ एवंगुणजातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ) जो प्राणियों की हिंसा करता है और मन से सहित है एवं जो मन वचन काय तथा वाक्य के विचार से युक्त है और स्वप्न भी देखने वाला यानी स्पष्ट विज्ञान वाला प्राणी है ऐसे गुण वाले प्राणियों के द्वारा पाप कर्म किया जाता है। (पुणरवि चोयए एवं बवीति तत्थ णं जे ते एवमाहंसु असंतएणं पावएणं मणेणं असंतीयाए पावियाए वईए असंतएणं पावएणं काएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपासओ

भावार्थ—पापकर्म के साधनों से हीन हैं उनके द्वारा पापकर्म किया जाना संभव नहीं है। अलबत्ता जो प्राणी समनस्क हैं और मन वचन, काय और वाक्य के विचार से युक्त हैं तथा स्वप्न दर्शक यानी स्पष्ट विज्ञान वाले हैं और प्राणियों की हिंसा करते हैं अवश्य वे पापकर्म करने वाले हैं। परन्तु जिन में प्राणियों के घात करने योग्य मन वचन और काय के व्यापार नहीं होते वे पापकर्म करने वाले हैं यह कदापि नहीं हो सकता है। यदि मन वचन और काय का व्यापार के बिना भी पाप कर्म का बन्ध होता हो तब तो सिद्ध पुरुषों को भी पाप कर्म का बन्ध होना

क्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ, तत्थ णं जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु ॥

छाया—अघ्नतोऽमनस्कस्य अविचारमनोवचनकायवाक्यस्य स्वप्नमप्य पश्यतः पापं कर्म क्रियते। तत्र ये ते एव माहुः मिथ्या ते एव माहुः।

अन्वयार्थ—पावे कम्मे कज्जइ तत्थण जे ते एव माहंसु मिच्छा ते एव माहसु) फिर भी प्रश्न कर्ता इस प्रकार कहता है कि—इस विषय में जो लोग यह कहते हैं कि—"पाप युक्त मन वचन और काय न होने पर भी एव प्राणियों की हिंसा न करते हुए मन से रहित तथा मन वचन काय और वाक्य के विचार से हीन और स्वप्न भी न देखते हुए यानी अव्यक्त विज्ञान वाले प्राणियों के द्वारा भी पाप कर्म किया जाता है" यह वे मिथ्या कहते हैं।

भावार्थ—चाहिये अत. अशुभ योग न होने पर भी जो लोग पापकर्म का बन्ध बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं यही प्रश्न कर्त्ता का आशय है।

तत्थ पन्नवए चोयगं एवं वयासी—तं सम्मं जं मए पुव्वं वुत्तं, असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतिए पावियाए

छाया—तत्र प्रज्ञापकः चोदकमेव मवादीत्, तत्सम्यक् यन्मया पूर्वमुक्तम्-असता मनसा पापकेन असत्या वाचा पापिकया असता कायेन पाप-

अन्वयार्थ—(तत्थ पन्नवए चोयग एवं वयासी) इस विषय में उत्तर दाता ने प्रश्नकर्त्ता से इस प्रकार कहा—त सम्म ज मए पुव्व वुत्त) वह यथार्थ है जो मैंने पहले कहा है। (पावएण मणेणं असतएण प विकाए वतिए असतियाए पावएणं काएण

भावार्थ—जो जीव छ काय के जीवों की हिंसा से विरत नहीं हैं किन्तु अवसर साधन और शक्ति आदि कारणों के अभाव से उनकी हिंसा नहीं करते हैं वे उन प्राणियों के अहिंसक नहीं कहे जा सकते हैं। जिस प्राणी ने प्राणातिपात से लेकर परिग्रह पर्य्यन्त के पापो से एव क्रोध से लेकर

असतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारम णवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जति, तं सम्मं, कस्स णं तं हेउं ?, आचार्य आह—तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पण्णत्ता, तंजहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया, इच्चेएहिं छहिं जीवणिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खाय

छाया—केन अघ्नतोऽमनस्कस्य अविचारमनोवचनकायवाक्यस्य स्वप्नमप्य पश्यतः पापं कर्म क्रियते, तत् कस्य हेतोः आचार्य आह—तत्र भगवता षड् जीवनिकायहेतवः प्रज्ञप्ताः तद्यथा पृथिवीकायिकाः यावत् त्रसकायिकाः इत्येतैः षड्भिः जीवनिकायैः आत्मा अप्रतिहत

अन्वयार्थ—असंतएणं) पापयुक्त मन चाहे न हो एवं पापयुक्त वचन और काय भी न हों (अहणंतस्स) वह किसी प्राणी की हिंसा न करता हो (अमणक्खस्स) वह मनोविकल हो (अवियारमणवयणकायवक्कस्स) वह चाहे मन वचन काय और वाक्य के विचार से रहित (सुविणमवि अपस्सओ) और स्वप्न भी न देखता हो यानी अव्यक्त विज्ञान वाला भी क्यों न हो (पावे कम्मे कज्जइ तं सम्मं) उसके द्वारा भी पाप कर्म किया जाता है यह सत्य है। (कस्स णं हेउं ?) कारण क्या है ? (आचार्य आह) आचार्य कहते हैं (तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पण्णत्ता) इस विषय में श्री तीर्थंकरदेव ने छः प्रकार के जीवों को कर्मबन्धन का कारण कहा है (तं जहा पुढवीकाइया जाव तसकाइया) वे जीव पृथिवीकाय से लेकर त्रसकाय पर्यन्त हैं (इच्चेएहिं छहिं जीवणिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे पाणाइवाए जाव परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले) इन छः प्रकार के प्राणियों की हिंसा से उत्पन्न पाप को जिसने तप आदि का आचरण करके नाश नहीं किया है और भावी पाप को प्रत्याख्यान के द्वारा रोका नहीं है किन्तु सदा निष्ठुरता के साथ प्राणियों के घात में चित्त

भावार्थ—मिथ्यादर्शन शल्य तक के पापों से निवृत्ति अङ्गीकार नहीं की है वह चाहे किसी भी अवस्था में हो वह एकेन्द्रिय चाहे विकलेन्द्रिय हो परन्तु पाप के कारणभूत मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय तथा योग से युक्त होने के कारण वह पाप कर्म करता ही है उससे रहित नहीं है। अत

पावकम्मे निच्चं पसढविउवातचित्तदंडे, तंजहा–पाणातिवाए जाव परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥

छाया—प्रत्याख्यातपापकर्मा नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डः तद्यथा प्राणातिपाते यावत् परिग्रहे क्रोधे यावन्मिथ्यादर्शन शल्ये ।

अन्वयार्थ—लगाये रहता है और उनको दण्ड देता है तथा प्राणातिपात से लेकर परिग्रह पर्य्यन्त के पापों से और क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के पापों से निवृत्त नहीं होता है (वह चाहे किसी भी अवस्था में हो अवश्य पापकर्म करता है यह सत्य है)

भावार्थ—अव्यक्त विज्ञान वाले प्राणी भी कर्मबन्ध को प्राप्त होते हैं यह पहले का कथन यथार्थ ही है ।

आचार्य आह–तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठंते पण्णत्ते, से जहाणामए वहए सिया गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा

छाया—तत्र भगवता वधकदृष्टान्तः प्रज्ञप्तः तद्यथा नाम वधकः स्याद् गाथापते र्वा गाथापतिपुत्रस्य वा राज्ञो वा राजपुरुषस्य वा, क्षणं

अन्वयार्थ—(आचार्य आह) आचार्य ने कहा (तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठते पण्णत्ते) इस विषय में भगवान् ने वधक (वध करने वाले) का दृष्टान्त बताया है— (से जहाणामए वहए सिया) जैसे कोई एक वधक है (गाहावइस्स वा गाहवइपुत्तस्सवा

भावार्थ—जो लोग यह कहते हैं कि—"प्राणियों की हिंसा न करने वाले जो प्राणी मनोविकल और अव्यक्त ज्ञान वाले हैं उनको पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है" उनका कथन ठीक नहीं है इस बात को समझाने के लिये शास्त्रकार वधक का दृष्टान्त देकर अपने पक्ष का समर्थन करते हैं । जैसे कोई पुरुष किसी कारण से गाथापति अथवा उसके पुत्र या राजा तथा राज पुरुष के ऊपर क्रोधित होकर उनके वध की इच्छा करता हुआ निरन्तर इस ख्याल में रहता है कि—"अवसर मिलने पर मैं इनका घात करूंगा ।" वह पुरुष जब तक अपने मनोरथ को सफल करने का

रगणो या रायपुरिसस्स वा खणं निहाय पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामि सपहारेमाणे से किं नु हु नाम से वहए तस्स गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रगणो वा रायपुरिसस्स वा खणं निहाय पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामि पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते

छाया—लब्ध्वा प्रवेक्ष्यामि क्षणं लब्ध्वा हनिष्यामि इति सम्प्रधारयन् स किंतु नाम वधक तस्य गाथापते र्वा गाथापतिपुत्रस्य वा राज्ञो वा राजपुरुषस्य वा क्षणं लब्ध्वा प्रवेक्ष्यामि क्षणं लब्ध्वा हनिष्यामीति सम्प्रधारयन् दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद्वा अमित्रभूतः

अन्वयार्थ—रण्णोवा रायपुरिसस्सवा) वह गाथापतिका अथवा गाथापति के पुत्र का, राजा का अथवा राजपुरुषका वध करना चाहता है (खणं लद्धूणं पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामि) वह वधक यह सोचता है कि—अवसर पाकर मैं इस घर में प्रवेश करूँगा और अवसर पाकर इन्हें मारूँगा । (पहारेमाणे से वहए तस्स गाहावइस्सवा गाहावइपुत्तस्सवा रण्णोवा रायपुरिसस्सवा खणं लद्धूणं पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामि) इस प्रकार गाथापति अथवा उसके पुत्र तथा राजा और राजपुरुष को मारने के लिये अवसर पाकर प्रवेश करूँगा और मारूँगा ऐसा निश्चय करने वाला (दिया वा राओवा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए से

भावार्थ—अवसर नहीं पाता है तब तक दूसरे कार्य्य में लगा हुआ उदासीन सा बना रहता है । उस समय वह यद्यपि घात नहीं करता है तथापि उसके हृदय में उनके घात का भाव उस समय भी बना रहता है । वह सदा उनके घात के लिये तत्पर है परन्तु अवसर न मिलने से घात नहीं कर सकता है अतः घात न करने पर भी वैसा भाव होने से वह पुरुष सदा उनका घातक ही है इसी तरह अप्रत्याख्यानी तथा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय प्राणी भी मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योगों से युक्त होने के कारण प्राणातिपात आदि पापों से दूषित ही हैं वे उनसे निवृत्त नहीं हैं । जैसे अवसर न मिलने से गाथापति आदि का घात न करने वाला पूर्वोक्त पुरुष उनका अवैरी नहीं किन्तु वैरी ही है उसी तरह प्राणियों का घात न करने वाले अप्रत्याख्यानी जीव भी प्राणियों के

निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवति ?, एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए-हंता भवति ॥

छाया—मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवति ? एवं व्यागीर्य्यमाणः समेत्य व्यागृणाच्चोदकः हन्त, ! भवति ।

अन्वयार्थ—णिच्चं पसढविउवायचित्तदडेकिंनुनामभवति) वह पुरुष दिन में, रात में, सोते, जागते, सदा उनका अमित्र और उनसे प्रतिकूल व्यवहार करने वाला एवं नित्य उनके वध की इच्छा करने वाला एव उनका वधक कहा जा सकता है या नहीं ? । (एव वियागरमाणे चोयए समियाय वियागरे हंता भवति) इस प्रकार आचार्य्य से कहा हुआ वह शिष्य समभाव से कहता है कि—हां, वह वधक ही है ।

भावार्थ—वैरी ही हैं अवैरी नहीं हैं यहा वध्य और वधक के विपय में चार भङ्ग समझना चाहिये—(१) वधक को घात करने का अवसर है परन्तु वध्य को नहीं है । (२) वधक को घात करने का अवसर नहीं है परन्तु वध्य को है । (३) दोनों को अवसर नहीं है । (४) दोनों को है ।

आचार्य आह-जहा से वहए तस्स गाहावइस्स वा तस्स गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निद्दाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामित्ति पहारेमाणे दिया वा राओ

छाया—आचार्य्य आह यथा स वधकः तस्य गाथापतेर्वा गाथापतिपुत्रस्य वा राज्ञो वा राजपुरुषस्य वा क्षणं लब्ध्वा प्रवेक्ष्यामि क्षणं लब्ध्वा हनिष्यामीति सम्प्रधारयन् दिवा वा रात्रौवा सुप्तोवा जाग्रद् वा अमित्रभूतः

अन्वयार्थ—(जहा से वहए तस्स गाहावइस्स तस्स गाहावइपुत्तस्स वा रण्णोवा रायपुरिसस्सवा खण निद्दाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामित्ति पहारेमाणे) जैसे उस गाथापति, उसके पुत्र तथा राजा और राजपुरुष को वध करने की इच्छा करने वाला वह पुरुष सोचता है कि "अवसर पाकर मैं इनके मकान में प्रवेश करूँगा और अवसर

भावार्थ—शिष्य के प्रश्न का उत्तर देता हुआ आचार्य्य कहता है कि—गाथापति और उसके पुत्र तथा राजा और राजपुरुप के वध की इच्छा करता हुआ

वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्च पसढविउवायचित्तदंडे, एवमेव बालेवि सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्च पसढविउवायचित्तदंडे, तं०—पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे

छाया—मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डः एवमेव बालो ऽपि सर्वेषां प्राणानां यावत् सर्वेषां सत्त्वानां दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद्वा अमित्रभूतः मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डः। तद्यथा प्राणातिपाते यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये, एवं खलु भगवता आख्यातः असंयतः अविरतः अप्रतिहतप्रत्याख्या

अन्वयार्थ—पाकर इसका वध करूँगा वह ऐसा विचार वाला पुरुष (दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे) दिन रात सोते जागते सदा उसका शत्रु बना रहता है और उसे धोखा देना चाहता है तथा उसके घात के लिये निरन्तर शठता एवं चित्त लगाये रहता है (एव मेव बालेवि सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं सत्ताणं दियावा राओवा सुत्तेवा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले) इसी तरह बाल प्राणी अज्ञानी जीव भी सब प्राणी और सब सत्त्वों का दिन रात सोते और जागते सदा वैरी बना रहता है तथा वह उन्हें धोखा देना चाहता है और उनके प्रति वह निरन्तर शठता एवं हिंसा का भाव रखता है क्योंकि वह बाल जीव प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के अठारह ही पापों में विद्यमान रहता है। (एवं खलु भगवया अक्खाए) इसी लिए भगवान ने ऐसे बाल जीवों को कहा है कि (असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे

भावार्थ—वह घातक पुरुष यद्यपि अवसर न मिलने से उनका घात नहीं करता है तथापि वह दिन रात, सोते और जागते हर समय उनके वध का भाव रखता है अतः वह जैसे गाथापति आदि का वैरी है इसी तरह अप्रत्याख्यानी प्राणी भी समस्त प्राणियों के प्रति शठता पूर्ण हिंसामय

एगंतवाले एगंतसुत्ते यावि भवइ, से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ पावे य से कम्मे कज्जइ ॥ जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे

छाया—तपापकर्मा सक्रियः असंवृतः एकान्तदण्डः एकान्तबालः अविचार मनोवचनकायवाक्यः स्वप्नमपि न पश्यति पापञ्च कर्म क्रियते यथा स वधकः तस्य गाथापते यावत् तस्य राजपुरुषस्य वा प्रत्येकं प्रत्येकं चित्तं समादाय दिवावा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूतः मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डः

अन्वयार्थ—सकिरिए असवुडे एगतदडे एगतवाले एगतसुत्ते यावि भवइ) वे संयमहीन विरति वर्जित पापकर्मों का नाश और प्रत्याख्यान न करने वाले पापमय क्रिया करने वाले सवर रहित और एकान्त बाल यानी अज्ञानी है और ऐसे जीव एकान्त सोये हुए भी होते है (से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पासति पावेय से कम्मे कज्जइ) वह अज्ञानी मन, वचन, काय और वाक्य के विचार से हीन एव स्वप्न भी नहीं देखता है तो भी उसके द्वारा पाप कर्म किया जाता है (जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्सवा जाव तस्सवा रायउरिसस्स पत्तेय चित्त समादाए दिया वा सुत्तेवा जागरमाणेवा अमित्तभूए मिच्छासठिए णिच्च पसढविउवात चित्त दडे) जैसे वह वध की इच्छा रखने वाला घातक पुरुष उस गाथापति तथा गाथापति के पुत्र, राजा और राज पुरुष के प्रति सदा हिंसामय चित्त रखता है एव दिन रात सोते और जागते सदा ही उनका वैरी बना रहता है और उन्हें धोखा

भावार्थ—भाव रखते हैं इसलिए वे अधार्मिक या पाप न करने वाले नहीं कहे जा सकते हैं। बात यह है कि—जिन प्राणियो का मन राग द्वेष से पूर्ण और अज्ञान से ढका हुआ है वे सभी दूसरे प्राणियो के प्रति दूषित भाव रखते हैं क्योंकि एक मात्र विरति ही भाव को शुद्ध करने वाली है वह जिनमे नहीं है वे प्राणी सभी प्राणियों के भाव से वैरी हैं। जिनके घात का

भवइ, एवमेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ ॥ (सूत्र ६४) ॥

छाया—भवति एवमेव बालः सर्वेषां प्राणानां यावत् सर्वेषां सत्त्वानां प्रत्येकं चित्तं समादाय दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूतः मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डः भवति ॥६४॥

अन्वयार्थ—देना चाहता है तथा शठतापूर्ण और उनके वध का विचार करता रहता है (एवमेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्तं समादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवति) इसी तरह प्राणातिपात आदि पापों से अविरत जीव सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति निरन्तर हिंसामय भाव रखता हुआ दिन रात सोते और जागते सदा ही उन प्राणियों का अमित्र बना रहता है तथा उन्हें धोखा देने का विचार रखता हुआ वह सदा उनके प्रति शठतापूर्ण हिंसामय चित्त धारण करता है ॥६४॥

भावार्थ—अवसर उन्हें नहीं मिलता है उनका घात उनसे न होने पर भी वे उनके अघातक नहीं हैं। अतः उपर्युक्त साधनों के अभाव से ही अप्रत्याख्यानी तथा विकलेन्द्रिय आदि जीव चाहे दूसरे प्राणियों का घात न करें परन्तु उनमें घात करने का भाव तो बना ही रहता है। इस लिये पहले जो कहा गया है कि—जिस प्राणी ने पाप का प्रतिघात और प्रत्याख्यान नहीं किया है वह चाहे स्पष्ट विज्ञान से हीन भी क्यों न हो पाप कर्म करता ही है सो सर्वथा सत्य है ॥ ६४ ॥



णो इणट्ठे समट्ठे [चोदकः] इह खलु बहवे पाणा० जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं णो दिट्ठा वा सुया वा नाभिमया वा विन्नाया वा जेसि णो पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमायाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चंपसढविउवायचित्तदंडे तं० पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥ (सूत्रं ६५)

छाया—नायमर्थः समर्थः (चोदकः) इह खलु बहवः प्राणाः सन्ति, ये अनेन शरीरसमुच्छ्रयेण न दृष्टाः न श्रुताः वा नाभिमताः वा न विज्ञाताः वा येषां प्रत्येकं प्रत्येकं चित्तसमादाय दिवा वा रात्रौवा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूतः मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डः तद्यथा प्राणातिपाते यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये ।

अन्वयार्थ—(णो इणट्ठे समट्ठे) प्रश्नकर्त्ता कहता है कि—यह पूर्वोक्त बात यथार्थ नहीं है (इह खलु बहवे पाणा जे इमेण सरीरसमुस्सएण णो दिट्ठावा सुयावा नाभिमया वा विन्नाया वा) इस जगत् में बहुत से ऐसे भी प्राणी हैं जिनके शरीर का प्रमाण कभी नहीं देखा गया है और न सुना ही गया है तथा वे न तो अपना इष्ट ही हैं और न ज्ञात ही हैं (जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दियावा राओवा सुत्तेवा जागरमाणेवा अमित्तभूते मिच्छासंठिए निच्चपसढविउवायचित्तदंडे पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले) अतः ऐसे प्राणियों के प्रति हिंसामय चित्त रखते हुए दिन रात सोते जागते उनका अमित्र बना रहना तथा उनको धोखा देने के लिए तत्पर रहना एवं सदा उनके प्रति शठतापूर्ण हिंसामय चित्त रखना सम्भव नहीं है। इसी तरह उनके विषय में प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापों में वर्तमान रहना सम्भव नहीं है।

भावार्थ—प्रश्नकर्त्ता कहता है कि—आपके कथन से सिद्ध होता है कि—सभी प्राणी सभी के शत्रु हैं परन्तु यह बात युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि हिंसा का भाव परिचित व्यक्तियों पर ही होता है अपरिचित व्यक्तियों पर नहीं। संसार में सूक्ष्म, बादर पर्य्याप्त और अपर्य्याप्त अनन्त प्राणी ऐसे हैं जो देश-काल और स्वभाव से अत्यन्त दूरवर्ती हैं। वे इतने सूक्ष्म और दूर हैं कि—हमारे जैसे अर्वाग्दर्शी पुरुषों ने उन्हें न तो कभी देखा है और न सुना है वे किसी के न तो वैरी हैं और न मित्र ही हैं फिर उनके प्रति किसी का हिंसामय भाव होना किस प्रकार सम्भव है ? अतः सम्पूर्ण प्राणी सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति हिंसा का भाव रखते हैं यह कथन युक्ति युक्त नहीं है॥६५॥

आचार्य आह—तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता, तं०—सन्निदिट्ठंते य असन्निदिट्ठंते य, से किं तं सन्निदिट्ठंते ?, जे इमे सन्निपंचिंदिया पज्जत्तगा एतेसि णं छज्जीवनिकाए पडुच्च तं०—पुढवीकायं जाव तसकायं, से एगइओ पुढवीकाएण किच्चं करेइवि कारवेइवि, तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं पुढवीकाएण किच्चं करेमिवि कारवेमिवि, णो चेव णं से एवं भवइ

छाया—तत्र खलु भगवता द्वौ दृष्टान्तौ प्रज्ञप्तौ तद्यथा संज्ञिदृष्टान्तः असंज्ञिदृष्टान्तश्च । स कः संज्ञिदृष्टान्तः ? ये इमे संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः पर्याप्तकाः एतेषां षड्जीवनिकायं प्रतीत्य तद्यथा पृथिवीकायं यावत् त्रसकाय, स एककः पृथिवीकायेन कृत्यं करोत्यपि कारयत्यपि तस्य नैव भवति एवं खलु अहं पृथिवीकायेन कृत्यं करोम्यपि कारयाम्यपि। न चैव तस्य एवं भवति अनेन वा अनेन वा स एतेन पृथिवी

अन्वयार्थ—(तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता तं० सन्निदिट्ठंते य असन्निदिट्ठंते य) आचार्य कहता है कि—इस विषय में भगवान् ने दो दृष्टान्त कहे हैं एक संज्ञी का दृष्टान्त और दूसरा असंज्ञी का दृष्टान्त। (से किं तं सन्निदिट्ठंते ?) वह संज्ञी का दृष्टान्त क्या है ? (जे इमे सन्निपंचिंदिया पज्जत्तगा एतेसिणं छज्जीवनिकाए पडुच्च तं पुढवीकायं जाव तसकायं) जो ये प्रत्यक्ष संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्य्याप्त जीव हैं इनमें से पृथिवी काय से लेकर त्रसकाय पर्य्यन्त छः काय के जीवों के विषय में (से एगइओ पुढवी कायणं किच्चं करेइवि कारवेइवि) कोई पुरुष यदि पृथिवीकाय से ही कार्य्य करता है और कराता है (तस्सणं एवं भवइ अहं पुढवीकाएणं किच्चं करेमिवि कारवेमिवि) तो वह यही कह सकता है कि—मैं पृथिवी काय से कार्य्य करता हूँ और कराता हूँ (णो चेवणं से एवं भवइ इमेण वा इमेण वा से एतेण पुढवीकाएणं

भावार्थ—जो जीव प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान (त्याग) किया हुआ नहीं है वह समस्त प्राणियों का वैरी है वह सभी प्राणियों के घात का पाप करता है क्योंकि उसकी चित्त वृत्ति सब प्राणियों के प्रति सदा हिंसात्मक बनी रहती है। यह जो पहले के सूत्र में उपदेश किया गया है इसको असम्भव बतलाते हुए प्रश्नकर्त्ता ने कहा है कि—'जगत् में बहुत से प्राणी ऐसे हैं जो देश और काल से अत्यन्त दूर हैं इस कारण उनका

इमेण वा इमेण वा, से एतेणं पुढवीकाएणं किच्चं करेइवि कारवेइवि से णं ततो पुढवीकायाओ असंजयअविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवइ, एवं जाव तसकाएत्ति भाणियवं, से एगइओ छजीवनिकाएहिं किच्चं करेइवि कारवेइवि, तस्सणं एवं भवइ—एवं खलु छजीवनिकाएहि किच्चं करेमिवि कारवेमिवि, णो चेव णं से एवं भवइ—इमेहिं वा इमेहिं वा, से य

छाया—कायेन कृत्यं करोत्यपि कारयत्यपि स ततः पृथिवीकायादसंयताविरताप्रतिहताप्रत्याख्यातपापकर्माचापि भवति एवं यावत् त्रसकायेष्वपि भणितव्यम्। स एकतयः षड्जीवनिकायैः कृत्यं करोत्यपि कारयत्यपि तस्य चैवं भवति एवं खलु षड्जीवनिकायैः कृत्यं करोम्यपि कारयाम्यपि न चैव तस्य एवं भवति एभिर्वा एभिर्वा, स च तैः षड्जीवनिकायैः यावत् करोत्यपि कारयत्यपि।

अन्वयार्थ—किच्च करेइ वि कारवेइवि) परन्तु ऐसा उसके विषय में नहीं कहा जा सकता है कि—वह अमुक अमुक पृथिवी से ही कार्य्य करता है तथा कराता है सम्पूर्ण पृथिवी से नहीं (से एतेण पुढवीकाएणं किच्च करेइवि) कारवेइवि किन्तु उसके विषय मे यही कहा जायगा कि—वह पृथिवी काय से कार्य्य करता भी है और कराता भी है। (सेण ततो पुढवीकायाओ असजयअविरयअप्पडिहयपच्चक्खाय पावकम्मे यावि भवइ) अत वह पुरुष पृथिवीकाय का असयमी उससे अविरत और उसकी हिसा का प्रतिघात और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है (एवं जाव तसकाएत्ति भाणियव्व) इसी तरह त्रस काय तक के प्राणियों के विषय में भी कहना चाहिये। (से एगइओ छजीवनिकाएहिं किच्च करेइवि कारवेइवि तस्सण एव भवइ एव खलु छज्जीवनिकाएहिं किच्च करेमिवि कारवेमिवि) जैसे कोई पुरुष छ काय के जीवों से कार्य्य करता है और कराता है तो वह यही कह सकता है कि मैं छ काय के जीवों से कार्य्य करता हूँ और कराता हूँ (णो चेवण से एव भवइ इमेहिंवा इमेहिंवा) परन्तु उसके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि वह अमुक अमुक से ही कार्य्य करता है और कराता है (सब से नहीं)। (सेय तेहिं

भावार्थ—न तो रूप कभी देखने मे आता है और न नाम सुनने मे आता है अत उनके साथ पारस्परिक व्यवहार न रहने से किसी भी प्राणी की चित्तवृत्ति उन प्राणियों के प्रति हिंसात्मक कैसे वनी रह सकती है ? अत

तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेइ वि, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजयअविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे तं० पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले एस खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सओ पावे य से कम्मे कज्जइ, से तं सन्निदिट्ठंते ॥

छाया—स च तेभ्यः षड्जीवनिकायेभ्यः असंयताविरताप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा तद्यथा—प्राणातिपाते यावद् मिथ्यादर्शनशल्ये। एष खलु भगवता आख्यातः असंयतः अविरतः अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा स्वप्नमपि अपश्यन् पापं च स करोति। स संज्ञिदृष्टान्तः।

अन्वयार्थ—(छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेइ वि) क्योंकि वह छः ही जीव समूहों से कार्य करता है और कराता है (से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजयअविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे तं पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले) इस कारण वह पुरुष उन छः काय के जीवों से असंयत अविरत और उनकी हिंसा के पाप का प्रतिघात और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है। वह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य पर्य्यन्त सभी पापों का सेवन करने वाला है (एस खलु भगवया असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अक्खाए) इस पुरुष को भगवान् ने असंयत अविरत तथा पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान नहीं किया हुआ कहा है (सुविणमवि अपस्सओ पावे य कम्मे कज्जइ) वह पुरुष चाहे स्वप्न भी न देखता हो यानी अव्यक्त विज्ञान वाला हो तो भी पापकर्म करता है। (से तं सन्निदिट्ठंते) यह यह संज्ञी का दृष्टान्त है।

भावार्थ—अप्रत्याख्यानी प्राणी समस्त प्राणियों का हिंसक किस तरह माना जा सकता है ?" इस शंका का समाधान करने के लिये आचार्य कहते हैं कि—जो प्राणी जिस प्राणी की हिंसा से निवृत्त नहीं है किन्तु प्रवृत्त है उसकी चित्त वृत्ति उसके प्रति सदा हिंसात्मक ही बनी रहती है इसलिये वह हिंसक ही है अहिंसक नहीं है। जैसे कोई ग्राम का घात करने वाला

से कि तं असन्निदिट्ठंते ?, जे इमे असन्निणो पाणा तं०—पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा वेगइया तसा पाणा, जेसिं णो तक्का इ वा सन्ना ति वा पन्ना ति वा मणा ति वा वई वा सयं वा करणाए अन्नेहिं वा कारावेत्तए करंतं वा समणुजाणित्तए, तेऽवि णं बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा

छाया—स कः असंज्ञिदृष्टान्तः ? ये इमे असंज्ञिनः प्राणाः तद्यथा—पृथिवीकायिकाः यावद् वनस्पतिकायिकाः षष्ठाः एकतये त्रसाः प्राणाः, येषां न तर्क इति वा संज्ञेति वा प्रज्ञेति वा वाग्वा, स्वयंवा कर्तुमन्यैर्वाकारयितुं कुर्वन्तं वा समनुज्ञातुं, तेऽपि बालाः सर्वेषां प्राणानां यावत् सर्वेषां सत्त्वानां दिवा वा रात्रौवा सुप्ताः वा जाग्रतो

अन्वयार्थ—(से किं त असन्निदिट्ठते) प्रश्नकर्ता पूछता है कि—वह असंज्ञी का दृष्टान्त क्या है ? । (जे इमे असन्निणो पाणा तंजहा—पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा वेगइया तसा पाणा) पृथिवी से लेकर वनस्पतिकाय पर्य्यन्त जीव तथा छट्ठा जो त्रस नामक असज्ञी जीव हैं (जेसि णो तक्काइवा सन्नाइवा पन्नाइवा मणाइ वा वईवा सयं वा करणाए अन्नेहि वा कारावेत्तए करत वा समणुजाणित्तए) जिनमें न तर्क है न संज्ञा है न प्रज्ञा (बुद्धि) है न मनन करने की शक्ति है न वाणी है और जो स्वय न तो कर सकते हैं और न दूसरे से करा सकते है और न करते हुए को अच्छा समझ सकते हैं। (तेवि ण बाले सव्वेसिं पाणाण जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूता मिच्छा सठिया णिच्च

भावार्थ—पुरुष जिस समय ग्राम का घात करने मे प्रवृत्त होता है उस समय जो प्राणी उस ग्राम को छोडकर किसी दूसरे स्थान मे चले गये हैं उनका घात उसके द्वारा नहीं होता है तो भी वह घातक पुरुष उन प्राणियों का अघातक या उनके प्रति हिंसात्मक चित्तवृत्ति न रखने वाला नहीं है क्योंकि उसकी इच्छा उन प्राणियों के भी घात की ही है अर्थात् वह उन्हें भी मारना ही चाहता है परन्तु वे उस समय वहाँ उपस्थित नहीं हैं इसलिये नहीं मारे जाते है इसी तरह जो प्राणी देश काल से दूर के

राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूता मिच्छासंठिया निच्च पसढविउवातचित्तदण्डा तं०—पाणाइवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले इच्चेव जाव णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जूरणयाए तिप्पणयाए पिट्टणयाए परितप्पणयाए ते दुक्खणसोयणजावपरितप्पणवहबंधण-

छाया—या अमित्रभूता मिथ्यासंस्थिता नित्यं प्रशठव्यतिपातदण्डा, तद्यथा प्राणातिपाते यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये, इत्येवं यावत् न नैव मनः न नैव वाक् प्राणानां यावत् सत्त्वानां दुःखनतया शोचनतया जूरणतया तेपनतया पिट्टनतया परितापनतया ते दुःखन शोचनयावत्परितापनवधबन्धनपरिक्लेशेभ्योऽप्रतिविरताः भवंति

अन्वयार्थ—पसढविउवातचित्तदंडा) वे अज्ञानी प्राणी भी सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण सत्त्वों का दिन रात सोते और जागते हुए समय शत्रु बने रहते हैं तथा उन्हें धोखा देना चाहते हैं एवं उनके प्रति सदा वे हिंसात्मक चित्त वृत्ति रखते हैं (तंजहा पाणाइवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले) वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य पर्यन्त अठारह ही पापों में सदा आसक्त हैं। (इच्चेव जाव णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जूरणयाए तिप्पणयाए पिट्टणयाए परितप्पणयाए ते दुक्खणसोयणजावपरितप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओअपडि

भावार्थ—प्राणियों के घात का त्यागी नहीं है वह उनका भी हिंसक ही है और उसकी चित्तवृत्ति उनके प्रति भी हिंसात्मक ही है इसलिये पहले जो कहा गया है कि—अप्रत्याख्यानी प्राणी समस्त प्राणियों के हिंसक हैं सो ठीक ही है। इस विषय में दो दृष्टान्त शास्त्रकार ने बताये हैं एक संज्ञी का और दूसरा असंज्ञी का। उनका आशय यह है—जिस पुरुष ने एक मात्र पृथिवीकाय से अपना कार्य करना निश्चय करके शेष प्राणियों के आरम्भ करने का त्याग कर दिया है वह पुरुष देश काल से दूरवर्ती पृथिवीकाय का भी हिंसक ही है अहिंसक नहीं है। वह पुरुष पूछने पर यही कहता है कि मैं पृथिवीकाय का आरम्भ करता हूँ और कराता हूँ

परिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति ॥ इति खलु से असन्निणोऽवि सत्ता अहोनिसि पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति जाव अहोनिसि परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति, (एवं भूतवादी) सव्वजोणियावि खलु सत्ता

छाया—इति ते असंज्ञिनोऽपि सत्त्वाः अहर्निशं प्रणातिपाते उपाख्यायन्ते यावदहर्निशं परिग्रहे उपाख्यायन्ते यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये उपाख्यायन्ते (एवं भूतवादी) सर्वयोनिकाः खलु सत्त्वाः संज्ञिनो

अन्वयार्थ—विरया भवंति)। इस प्रकार यद्यपि उन प्राणियों में मन तथा वाणी आदि नहीं है तथापि वे सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण सत्त्वों को दुःख देना शोकाकुल करना क्षीण करना ताप देना पीडित करना परिताप देना एवं उन्हें एक ही साथ दुःख, शोक, परिताप वध और बन्धन देना आदि पाप कर्मों से निवृत्त नहीं है। (इति खलु से असन्निणो वि सत्ता अहोनिसिं पाणातिवाए उवक्खाइज्जति जाव अहोनिसिं परिग्गहे उवक्खाइज्जति जाव मिच्छादसणसल्ले उवक्खाइज्जति) इस कारण वे प्राणी असञ्ज्ञी होते हुए भी दिन रात प्राणातिपात में, तथा परिग्रह में एवं मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापों में वर्तमान कहे जाते है। (सव्वजोणियावि खलु सत्ता सन्निणो हुच्चा

भावार्थ—और करने वाले का अनुमोदन करता हूँ परन्तु वह यह नहीं कह सकता है कि—मैं श्वेत या नील पृथिवीकाय का आरम्भ करता हूँ शेष का नहीं करता हूँ क्योंकि उसका किसी भी पृथिवी विशेष का त्याग नहीं है इसलिये आवश्यकता न होने से या दूरता आदि के कारण वह जिस पृथिवी का आरम्भ नहीं करता है उसका भी अघातक नहीं कहा जा सकता है एवं उस पृथिवी के प्रति उसकी चित्तवृत्ति हिंसारहित नहीं कही जा सकती है। इसी तरह प्राणियों के घात का प्रत्याख्यान नहीं किये हुए प्राणी को देशकाल से दूरवर्ती प्राणियों का अघातक या उनके प्रति उसकी अहिंसात्मक चित्त वृत्ति नहीं कही जा सकती है। यह सञ्ज्ञी का दृष्टान्त है अब असंज्ञीका दृष्टान्त बताया जाता है जो जीव ज्ञान रहित तथा,मन से हीन हैं वे असञ्ज्ञी कहे जाते हैं। ये जीव सोये हुए, मतवाले तथा मूर्छित आदि के समान होते हैं। पृथिवी से लेकर वनस्पतिकाय तक के

सण्णिणो हुच्चा असण्णिणो होंति असण्णिणो हुच्चा सण्णिणो होंति, होच्चा सण्णी अदुवा असण्णी, तत्थ से अविविंचित्ता अविधूणित्ता असमुच्छित्ता अणणुतावित्ता असण्णिकायाओ वा सण्णिकाए संकमंति सण्णिकायाओ वा असण्णिकाय संकमंति सण्णिकायाओ

छाया—भूत्वा असंज्ञिनो भवन्ति असंज्ञिनो भूत्वा संज्ञिनो भवन्ति। भूत्वा संज्ञिन अथवा असंज्ञिन तत्र ते अविविच्य अविधूय असमुच्छिद्य अननुताप्य असंज्ञिकायाद् संज्ञिकायं संक्रामन्ति संज्ञिकायाद्वा असंज्ञिकायं संक्रामन्ति संज्ञिकायाद्वा संज्ञिकायं

अन्वयार्थ—असण्णिणो होंति) सब योनि के जीव संज्ञी होकर असंज्ञी होते हैं (असण्णिणो हुच्चा सण्णिणो होंति) तथा असंज्ञी होकर संज्ञी होते हैं। (होच्चा सण्णी अदुवा असण्णी तत्थ से अविविंचित्ता अविधूणित्ता असमुच्छित्ता अणणुतावित्ता) वे संज्ञी अथवा असंज्ञी होकर वहाँ पाप कर्मों को अपने से अलग न करके तथा उन्हें न झाड़ कर एवं उनका छेद न करके तथा उनके लिये पश्चात्ताप न करके (असण्णिकायाओ वा सण्णिकायं संकमंति) वे असंज्ञी के शरीर से संज्ञी के शरीर में जाते हैं (सण्णिकायाओ असण्णिकायं संकमंति) तथा असंज्ञी के शरीर से संज्ञी के शरीर में जाते हैं (सण्णि

भावार्थ—प्राणी तथा विकलेन्द्रिय से लेकर सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय तक त्रस प्राणी असंज्ञी हैं। इन असंज्ञी प्राणियों में तर्क, संज्ञा, वस्तु की आलोचना करना, पहिचान करना, मनन करना और शब्द का उच्चारण करना आदि नहीं होता। तो भी वे प्राणी दूसरे प्राणियों के घात की योग्यता रखते हैं यद्यपि इनमें मन वचन और काय का विशिष्ट व्यापार नहीं होता है तथापि ये प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्यपर्यन्त अठारह पापों से युक्त हैं इस कारण ये प्राणियों को दुःख, शोक, और पीड़ा उत्पन्न करने से विरत नहीं हैं और प्राणियों को दुःख, शोक और पीड़ा उत्पन्न करने से विरत न होने के कारण इन असंज्ञी जीवों को भी पाप कर्म का बन्ध होता ही है इसी तरह जो मनुष्य प्रत्याख्यानी नहीं है वह चाहे किसी भी अवस्था में हो उसके प्रति दुष्ट आशय होने

वा सन्निकायं संकमंति, असन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति जे एए सन्नि वा असन्नि वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढविउवायचित्तदंडा, तं०—पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए

छाया—संक्रामन्ति, असंज्ञिकायाद्वा असंज्ञिकायं संक्रामन्ति। ये एते सञ्ज्ञिनो वा असंञ्ज्ञिनो वा सर्वे ते मिथ्याचाराः नित्यं प्रशठव्यतिपातदण्डाः तद्यथा प्राणातिपाते यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये, एवं खलु भगवता आख्यातः असंयतोऽविरतः अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा

अन्वयार्थ—कायाओ वा सन्निकायं संकामति) तथा सञ्ज्ञी के शरीर से सञ्ज्ञी के शरीर में आते हैं (असन्निकायाओवा असन्निकाय संकामति) अथवा असञ्ज्ञी के शरीर से असंज्ञी के शरीर में आते हैं। (जे एए सन्नि वा असन्नि वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढवि उवायचित्तदंडा) ये जो संज्ञी या असञ्ज्ञी प्राणी हैं ये सभी मिथ्याचारी और सदा शठता पूर्ण हिंसात्मक चित्तवृत्ति धारण करने वाले हैं (तजहा पाणाइवाए जाव मिच्छादसणसल्ले) ये प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य पर्य्यन्त अठारह ही पापों का सेवन करने वाले हैं (एव खलु भगवया अक्खाए) इसी कारण

भावार्थ—के कारण उसको पापकर्म का बन्ध होता ही है। जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त के संज्ञी और असंज्ञी जीवों को देश काल से दूरवर्ती प्राणियों के प्रति भी दुष्ट आशय होने से कर्मबन्ध होता है इसी तरह प्रत्याख्यान रहित प्राणी को देशकाल से दूरवर्ती प्राणियों के प्रति भी दुष्ट आशय होने से कर्म बन्ध होता ही है।

इस पाठ मे संज्ञी और असंज्ञी प्राणी जो दृष्टान्त रूप से बताये गये हैं इनके विषय में कई लोगों की मान्यता है कि—"संज्ञी सञ्ज्ञी ही होता है और असंज्ञी असञ्ज्ञी ही होता है" परन्तु यह सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि—ऐसा होने से तो शुभ और अशुभ कर्म का कोई फल ही नहीं होगा और नारकी सदा नारकी ही और देवता सदा देवता ही बने रहेंगे परन्तु यह इष्ट नहीं है अत शास्त्रकार यहां खुलासा करते

अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंत-दंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पासइ पावे य से कम्मे कज्जइ ॥ (सूत्र ६६) ॥

छाया—सक्रियः असंवृतः एकान्तदण्डः एकान्तबालः एकान्तसुप्तः स बालः अविचारमनोवचनकायवाक्यः स्वप्नमपि न पश्यति पापञ्च कर्म स करोति ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—भगवान् ने इन्हें कहा है—(असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतबाले एगंतसुत्ते) असंयत अविरत पापों का प्रतिघात और प्रत्याख्यान न करने वाला क्रिया सहित संवररहित प्राणियों को एकान्त दण्ड देने वाला और एकान्त बाल एकान्त सोया हुआ (से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पासइ पावे य से कम्मे कज्जइ) वह अज्ञानी मन, वचन, काय और वाक्य के विचार से रहित हो तथा स्वप्न भी न देखता हो यानी अत्यन्त अव्यक्त विज्ञान हो तो भी वह पाप कर्म करता है ॥ ६६ ॥

भावार्थ—सूत्र कह रहे हैं कि—कर्म की विचित्रता के कारण कभी संज्ञी, असंज्ञी हो जाते हैं और असंज्ञी कभी संज्ञी हो जाते हैं। क्योंकि जीवों की गति कर्माधीन होती है अतः ऐसा कोई नियम नहीं है कि—जो इस भव में जैसा है दूसरे भव में भी वैसा ही रहेगा ॥ ६६ ॥



चोदकः—से किं कुव्वं किं कारवं कहं संजयविरयप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवइ ?, आचार्य आह—तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पगणत्ता, तंजहा—पुढवीकाइया जाव तसकाइया, से जहाणामए मम अस्सातं डंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उवद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारं

छाया—स किं कुर्वन् किं कारयन् कथं संयतविरतप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति, आचार्य आह—तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकायहेतवः प्रज्ञप्ताः तद्यथा पृथिवीकायिकाः यावत् त्रसकायिकाः । स यथा नाम मम असातं दण्डेन वा, अस्थ्नावा, मुष्टिना वा लोष्टेनवा कपालेनवा आतोद्यमानस्य यावद् उपद्राव्यमाणस्य वा यावद्, रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकृतं दुःखं भयं प्रतिसंवेदयामि, इत्येवं

अन्वयार्थ—(चोदक से किं कुव्व किं कारव कह सजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवइ) प्रश्नकर्ता प्रश्न करता है कि—मनुष्य क्या करता हुआ और क्या कराता हुआ तथा किस तरह संयत, विरत, और पाप का प्रतिघात और प्रत्याख्यान करने वाला होता है। (आचार्य्य आह) आचार्य्य कहता है (तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकाय हेऊ पण्णत्ता तं जहा—पुढवीकाइया जाव तसकाइया) इस विषय में श्री तीर्थङ्कर भगवान ने छ प्रकार के प्राणियों के समूह को कारण बताया है जैसे कि—पृथिवीकाय से लेकर त्रसकाय तक के प्राणियों को कारण कहा है। (से जहाणामए ढंडेनवा अट्ठीणवा लेलूणवा मुट्ठीणवा कवालेणवा आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उवद्दविज्जमाणस्सवा मम जाव लोमोक्खणणमायमवि हिसाकर

भावार्थ—प्रश्नकर्त्ता आचार्य से प्रश्न करता है कि—मनुष्य स्वयं क्या करके और दूसरे से क्या कराकर तथा किस उपाय से सयत विरत और पापकर्म का प्रतिघात और त्याग करने वाला होता है ? इसका उत्तर देता हुआ आचार्य कहता है कि श्री तीर्थंकर देव ने सयम के अनुष्ठान के कारण पृथिवी काय से लेकर त्रस काय तक के प्राणियों को बताया है। जैसे

दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आतोडिज्जमाणे वा हम्ममाणे वा तज्जिज्जमाणे वा तालिज्जमाणे वा जाव उवद्दविज्जमाणे वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता न हंतव्वा जाव णो उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णिइए सासए समिच्च लोगं

छाया—जानीहि सर्वे प्राणाः यावत सर्वे सत्त्वाः दण्डेन वा यावत् कपालेन वा आतोद्यमानाः हन्यमानाः तर्ज्यमानाः ताड्यमानाः वा यावत् उपद्राव्यमाणाः वा यावत् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकरं दुःखं भयं प्रतिसंवेदयन्ति । एवं ज्ञात्वा सर्वे प्राणाः यावत् सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्याः यावन्नोपद्रावयितव्या एष धर्मः ध्रुवः नित्यः शाश्वतः

अन्वयार्थ—(दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि) जैसे डंडा, हड्डी, ढेला, मुक्का तथा कपाल के द्वारा ताड़न किये जाने पर एवं उपद्रव किये जाने पर यहाँ तक कि एक रोम उखाड़ने पर भी जिस प्रकार मैं हिंसाजनित दुःख और भय को प्राप्त करता हूँ (इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आतोडिज्जमाणे वा हम्ममाणे वा तज्जिज्जमाणे वा जाव उवद्दविज्जमाणे वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति) इसी तरह जानना चाहिये कि—सभी प्राणी और सभी सत्त्व डंडा आदि से लेकर कपाल तक के द्वारा मारने पर और उपद्रव करने पर एवं रोम मात्र उखाड़ देने पर हिंसाजनित दुःख और भय का अनुभव करते हैं (एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता न हंतव्वा जाव न उद्दवेयव्वा) ऐसा जान कर सभी प्राणी और सभी सत्त्वों को न मारना चाहिये और उन पर उपद्रव न करना चाहिये (एस धम्मे धुवे णिइए सासए समिच्च

भावार्थ—प्रत्याख्यान रहित प्राणियों के लिये ये उक्त छः काय के जीव संसारगति के कारण होते हैं इसी तरह प्रत्याख्यान करने वाले प्राणियों के लिए ये मोक्ष के कारण कहे गये हैं जैसे अपने को कोई प्राणी किसी प्रकार का दुःख देता है तो जैसे अपने को वह बुरा प्रतीत होता है इसी तरह

खेयन्नेहिं पवेदिए, एवं से भिक्खू विरते पाणाइवायातो जाव मिच्छादंसणसल्लाओ, से भिक्खू णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं णो वमणं णो धूवणित्तं पि आइत्ते, से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे जाव अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे, एस खलु भगवया अक्खाए संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे, एगंतपंडिए भवइ त्तिबेमि

छाया—समित्य लोकं खेदज्ञैः प्रवेदितः। एवं स भिक्षुर्विरतः प्राणातिपाततः यावन्मिथ्यादर्शनशल्यतः स भिक्षुर्नो दन्तप्रक्षालनेन दन्तान् प्रक्षालयेत् नो अञ्जनं नो वमनं वो धूपनमप्याददीत स भिक्षुरक्रियः अलूषकः अक्रोधः यावत् अलोभः उपशान्तः परिनिर्वृत्तः। एष खलु भगवता आख्यातः संयतविरतप्रतिहत

अन्वयार्थ—लोगं खेयन्नेहिं पवेइए) यह धर्म ही ध्रुव है नित्य है और सनातन है तथा लोक के स्वभाव को जानकर यही तीर्थङ्करों द्वारा कहा हुआ है। (एव से भिक्खू विरए पाणातिपाते जाव मिच्छादसणसल्ले) यह जान कर साधु पुरुष प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापों से विरत होता है। (से भिक्खू णो दतपक्खालणेण दते पक्खालेज्जा णो अजण णो वमण णो धूवणित्त पि आदद्दे) वह साधु दाँतों को धोने वाले काष्ट आदि के दातौन अथवा दूसरे साधनों से दाँतों को न धोवें तथा नेत्र में अञ्जन न लगावें एव दवा लेकर वमन न करें एव धूपके द्वारा अपने केश और वस्त्रों के सुगन्धित न करें। (से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे जाव अलोभे उवसते परिनिव्वुडे) वह साधु सावद्य क्रिया रहित हिंसा रहित क्रोध और लोभ से हीन एव उपशान्त तथा पाप रहित होकर रहे। (एस खलु भगवया सजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए सवुडे एगतपडिएत्ति

भावार्थ—अपने भी जब दूसरे को कष्ट देते हैं तो वह भी दुःख अनुभव करता है यह जान कर किसी भी प्राणी को दुःख न देना चाहिये। यह जानकर जो पुरुष किसी प्राणी को कष्ट नहीं देता है सभी को दुःख देने का त्याग कर देता है वही पुरुष अहिंसक तथा अपने पापों का प्रतिघात और त्याग करने वाला है। यह सभी प्राणियों को हिंसा को त्याग

(सूत्र ६७) ॥ इति बीयसुयक्खंधस्स पच्चक्खाणकिरिया णाम चउत्थमज्झयणं समत्तं ॥ २ – ४ ॥

छाया—प्रत्याख्यातपापकर्मा अक्रिय संवृत एकान्तपण्डित भवतीति ब्रवीमि ॥६७॥

अन्वयार्थ—अकिरिए त्ति बेमि) ऐसे संयमी, विरति युक्त तथा पाप कर्मों का प्रतिघात और त्याग करने वाले पुरुष को भगवान् ने अक्रिय (क्रिया रहित) संवर युक्त और एकान्त पण्डित कहा है यह मैं कहता हूँ ॥६७॥

भावार्थ—करुणा रूप धर्म ही सत्य और स्थिर धर्म है और इसी को सर्वज्ञों ने सर्वोत्तम धर्म माना है। जो पुरुष इस धर्म का अनुयायी है वही सावद्य कर्मों का त्यागी, अहिंसक, और एकान्त पण्डित है ॥६७॥

यह चौथा अध्ययन समाप्त हुआ।



॥ ओ३म् ॥

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का

पंचम अध्ययन

चतुर्थ अध्ययन में संसार सागर से पार जाने की इच्छा करने वाले पुरुष को प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता बताई गई है परन्तु जब तक मनुष्य सम्पूर्ण अनाचारों को वर्जित करके सम्यक् आचार में स्थित नहीं होता है तब तक वह पूर्णरूप से प्रत्याख्यान का पालन नहीं कर सकता है इसलिये आचार के पालन और अनाचार के वर्जन का वर्णन करने के लिये यह पाँचवाँ अध्ययन आरम्भ किया जाता है। आचार और अनाचारों का वर्णन करने के कारण इस अध्ययन का नाम आचारश्रुताध्ययन है। इस अध्ययन को जानकर मनुष्य आचार और अनाचार का ज्ञाता होकर आचार के पालन और अनाचार के त्याग में समर्थ हो सकता है। जो पुरुष आचार के पालन और अनाचार के त्याग में निपुण है वह कुमार्ग को वर्जित करके सुमार्ग से जाते हुए पथिक की तरह सब दोषों से रहित होकर अपने अभीष्ट वस्तु को प्राप्ति कर लेता है। जो आचार इस अध्ययन में कहा गया है वह साधुओं का ही आचार है इसलिये इस अध्ययन को कोई "अनगारश्रुत" भी कहते हैं।



आदाय बंभचेरं च, आसुपन्ने इमं वइं ।
अस्सिं धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइवि ॥ (सूत्र १) ॥

छाया—आदाय ब्रह्मचर्य्यञ्च, आशुप्रज्ञ इदं वचः ।
अस्मिन् धर्मे अनाचारं, नाचरेच्च कदापि हि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(आसुपन्न इमं वइं बंभचेरं च आदाय कयाइवि अस्सिं धम्मे अणायारं नायरेज्ज) सत् और असत् का ज्ञाता पुरुष इस अध्ययन के वाक्य को तथा ब्रह्मचर्य्य को धारण करके कभी भी इस धर्म में अनाचार का सेवन न करे ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूत्रकृताङ्ग सूत्र के आदि में श्री तीर्थंकर देव ने प्राणियों को ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता बताई है तथा दूसरे श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन के अन्त में मनुष्य को पण्डित बनने की आवश्यकता कही है अतः इस गाथा के द्वारा यह बताया जाता है कि— मनुष्य ब्रह्मचर्य्य धारण करने से ही ज्ञान को प्राप्त करने में तथा पण्डित बनने में समर्थ हो सकता है अन्यथा नहीं । जिसमें सत्य, तप, जीवदया और इन्द्रियों का निरोध किया जाय ऐसे कार्य्य को ब्रह्मचर्य्य कहते हैं तथा इन विषयों का वर्णन करने वाला जो आगम है वह भी ब्रह्मचर्य्य कहा जाता है इसलिए सत्य, तप, जीवदया और इन्द्रियनिरोध का वर्णन करने वाला यह जैनेन्द्र प्रवचन भी ब्रह्मचर्य्य है इसलिये इस जैनेन्द्र प्रवचनरूप ब्रह्मचर्य्य को स्वीकार करके विवेकी पुरुष कभी भी सावद्य अनुष्ठान न करे यह शास्त्रकार उपदेश देते हैं । यह जैनेन्द्र प्रवचन सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप मोक्षमार्ग का उपदेशक है इसलिये इसमें कहे हुए पदार्थों को सम्यक् और उसके अनुसार आचरण को शुभ आचरण तथा अन्य दर्शनोक्त पदार्थों को मिथ्या तथा उनमें कहे हुए कुमन्तव्यों को मिथ्या अचार जानना चाहिये । इस जैनेन्द्र आगम में कहा हुआ सम्यग्दर्शन तत्त्व अर्थ के श्रद्धान का नाम है और जीव अजीव पुण्य पाप आश्रव बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष का नाम तत्त्व है । एवं धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल का नाम द्रव्य है । द्रव्य, नित्य और अनित्य उभय स्वभाववाले होते हैं । अथवा सामान्यविशेषात्मक अनादिअनन्त यह जो चतुर्दश रज्जुपरूप लोक है इसको तत्त्व कहते हैं और उसमें श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन

भावार्थ—है। ज्ञान, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल भेद से पाँच प्रकार का है। चारित्र, सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात भेद से पाच प्रकार का है। अथवा मूल और उत्तर गुण के भेद से चारित्र अनेक प्रकार का है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र को बताने वाला यह जैनेन्द्र आगम ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य है उसको प्राप्त करके मनुष्य को अनाचार का सेवन न करना चाहिये यह शास्त्रकार उपदेश देते हैं ॥ १ ॥



अणादीयं परिन्नाय, अणवदग्गेति वा पुणो ।
सासयमसासए वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ (सूत्रं २) ॥

छाया—अनादिकं परिज्ञाय अनवदग्रमितिवा पुनः ।
शाश्वतमशाश्वतंवा, इति दृष्टिं न धारयेत् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अणादिय पुणो अणवदग्गेति परिण्णाय सासए असासए वा दिट्ठिं न धारए) विवेकी पुरुष इस जगत को अनादि और अनन्त जानकर इसे एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य न माने ॥ २ ॥

एएहिं दोहिं ठाणेहि, ववहारो ण विज्जई ।
एएहि दोहि ठाणेहि, अणायारं तु जाणए ॥ (सूत्रं ३) ॥

छाया—एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां, व्यवहारो न विद्यते ।
एताभ्यां द्वाभ्या स्थानाभ्यामनाचारन्तु जानीयात् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जई) एकान्त नित्यता और एकान्त अनित्यता इन दोनों पक्षों से जगत् का व्यवहार नहीं चल सकता है (एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारंतु जाणए) इस लिए इन दोनों पक्षों के आश्रय को अनाचार सेवन जानना चाहिए ॥ ३ ॥

भावार्थ—संसार मे जितने भी पदार्थ हैं सभी कथंचित् नित्य और कथञ्चित अनित्य हैं परन्तु ऐसा पदार्थ नहीं है जो एकान्त नित्य अथवा एकान्त

भावार्थ—अनित्य हो। ऐसी दशा में किसी भी पदार्थ को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानना अनाचार का सेवन करना है। इस आर्हत आगम के सिद्धान्तानुसार सभी पदार्थ सामान्य और विशेष उभय स्वरूप आत्मक हैं इसलिए वे सामान्य अंश को लेकर नित्य और विशेष अंश को लेकर अनित्य हैं अतः सभी नित्यानित्यात्मक हैं यह मानना आचार का सेवन समझना चाहिये। ऐसी मान्यता युक्तियुक्त होने पर भी अन्यदर्शनी स्वीकार नहीं करते हैं किन्तु एकान्त पक्ष का आश्रय लेकर वे किसी पदार्थ को एकान्त नित्य तथा किसी को एकान्त अनित्य कहते हैं। सांख्यवादी कहता है कि—"पदार्थों की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश ही होता है अतः आकाश आदि सभी पदार्थ एकान्त नित्य हैं।" एवं बौद्ध समस्त पदार्थों को निरन्वयक्षणभङ्गुर मान कर एकान्त अनित्य कहता है। वस्तुतः ये दोनों ही मिथ्यावादी हैं क्योंकि जगत की कोई भी वस्तु एकान्त नित्य नहीं है पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष देखा जाता है और उनकी नवीनता तथा पुरातनता भी प्रत्यक्ष देखी जाती है। जगत् का व्यवहार भी इसी तरह का है लोग कहते हैं कि यह वस्तु नई है और यह पुरानी है, एवं यह वस्तु नष्ट हो गई अतः लोक में एकान्त नित्यता का व्यवहार भी नहीं देखा जाता है। एवं यह आत्मा यदि उत्पत्ति विनाश रहित तथा एक रूप एक रस रहने वाला कूटस्थ नित्य है तो इसका बन्ध और मोक्ष नहीं हो सकता है फिर दीक्षा ग्रहण करने और शास्त्रोक्त नियमों को पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं हो सकती है अतः पारलौकिक विषयों में भी एकान्त नित्यतावाद सम्भव नहीं है। जिस तरह यह एकान्तनित्यतावाद अयुक्त और लौकिक तथा पारलौकिक व्यवहारों से विरुद्ध है इसी तरह एकान्त अनित्यतावाद भी लोक से विरुद्ध है। यदि आत्मा आदि समस्त पदार्थ एकान्त अनित्य अर्थात् एकान्त क्षणिक हैं तो लोग भविष्य में उपभोग करने के लिये घर द्वारादि तथा धन धान्यादि पदार्थों का संग्रह क्यों करते हैं? तथा बौद्धगण दीक्षा ग्रहण और विहार आदि क्यों करते हैं? क्योंकि जब कोई स्थिर आत्मा है ही नहीं तब फिर बन्ध और मोक्ष किसका हो सकता है? अतः ये दोनों ही मान्यताओं को लौकीक्रमत से विरुद्ध और अनाचार मानना चाहिये। पदार्थ कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य हैं यह पक्ष ही युक्तियुक्त और लोकीय्रसम्मत होने के कारण ग्राह्य है। सामान्य अंश को लेकर सभी पदार्थ नित्य हैं और प्रतिक्षण पलटने वाले विशेषांश को लेकर सभी पदार्थ अनित्य हैं। इस प्रकार

भावार्थ—उत्पादव्यय और ध्रौव्यरूप जो अर्हद्दर्शनसम्मत पदार्थ का स्वरूप है वही ठीक है। अतएव कहा है कि—"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयं शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्" अर्थात् किसी राजकन्या के पास एक सोने का घड़ा था। राजा ने सोनार से उस घड़े को गलवा कर अपने राजकुमार के लिये मुकुट बनवाया। यह जान कर राजकन्या को दुःख हुआ क्योंकि उस बिचारी का घड़ा नष्ट होगया और राजकुमार को बड़ा हर्ष हुआ क्योंकि उसको मुकुट की प्राप्ति हुई परन्तु उस राजा को न तो हर्ष ही हुआ और न शोक ही हुआ क्योंकि उसका सुवर्ण तो ज्यों का त्यों बना ही रह गया वह चाहे घट के रूप मे रहे अथवा मुकुट के रूप मे। यदि पदार्थ एकान्त नित्य हो तो राजकन्या को शोक क्यों होना चाहिये एवं यदि एकान्त अनित्य हो तो राजकुमार को हर्ष भी क्यों हो सकता है? तथा राजा को हर्ष और शोक दोनों ही न हुए ऐसा भी क्यों होता? अतः पदार्थ कथचित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य है यह पक्ष ही सत्य है। ऐसा मानने पर घड़े को नष्ट हुआ जान कर राजकन्या को दुःख होना और नवीन मुकुट होना समझ कर राजकुमार को हर्ष होना तथा सोना का सोना ही रहना जानकर राजा को माध्यस्थ होना ये सब बाते बन जाती हैं अतः एकान्त अनित्यता और एकान्त नित्यता को व्यवहार विरुद्ध तथा अनाचार जानना चाहिये ॥ २-३ ॥

—०—

समुच्छिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा।
गंठिगा वा भविस्संति, सासयंति व णो वए ॥ (सूत्रं ४) ॥

छाया—समुच्छेत्स्यन्ति शास्तारः, सर्वे प्राणा अनीदृशाः।
ग्रन्थिका वा भविष्यन्ति, शाश्वता इति नो वदेत् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(सत्थारो समुच्छिहिंति) सर्वज्ञ तथा उनके मत को जानने वाले सभी भव्य जीव क्षय अथवा सिद्धि को प्राप्त करेंगे (सव्वे पाणा अणेलिसा) सभी प्राणी परस्पर विसदृश है (गंठिगा वा भविस्संति) तथा सभी प्राणी कर्मबन्धन से युक्त रहेंगे (सासयंति व णो वए) एवं तीर्थंकर सदा स्थायी रहते है इत्यादि एकान्त वाक्य नहीं बोलने चाहिये ॥ ४ ॥

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ (सूत्र ५) ॥

छाया—एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते ।
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामनाचारन्तु जानीयात् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जइ) क्योंकि इन दोनों एकान्तमय पक्षों से लोक में व्यवहार नहीं चलता है (एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए) अतः इन दो पक्षों का आश्रय लेना अनाचार सेवन जानना चाहिये ॥ ५ ॥

भावार्थ—तीर्थ के प्रवर्तक सर्वज्ञ तीर्थंकर और उनके शासन को मानने वाले भव्य जीव सब के सब क्षय अथवा सिद्धि को प्राप्त होंगे, उस समय यह जगत् भव्य जीवों से रहित हो जायगा क्योंकि काल अनन्त है और जगत् में नये जीव की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिये मुक्ति होते-होते जब समस्त भव्य जीवों की मुक्ति हो जायगी तो भव्य जीवों का अवश्य इस जगत् से उच्छेद हो जायगा । नये भव्य जीव उत्पन्न नहीं होते और पुराने सभी मोक्ष में चले जायेंगे फिर भव्य जीव इस जगत् में सदा नहीं रह सकते यह एकान्तमय वचन कभी नहीं कहना चाहिये इसी प्रकार सभी प्राणी कर्म बन्धन में ही पड़े रहेंगे यह भी एकान्त वचन नहीं कहना चाहिये तथा तीर्थंकर सदा स्थायी हो रहेंगे उनका क्षय कभी नहीं होगा यह भी नहीं कहना चाहिये ।

इस प्रकार जो यहां एकान्त वचनों के कहने का निषेध किया जाता है इसका कारण यह है कि—जैसे भविष्य काल का अन्त नहीं है उसी तरह भव्य जीवों का भी अन्त नहीं है इसलिये जैसे भविष्य काल का उच्छेद असम्भव है इसी तरह सम्पूर्ण भव्य जीवों का उच्छेद भी असम्भव है । यदि भव्य जीवों का उच्छेद सम्पूर्णरूपेण मान लिया जाय तो वे अनन्त नहीं हो सकते हैं अतः सम्पूर्ण भव्य जीवों की मुक्ति होने पर उनसे जगत् को खाली बताना असंगत है । इसी तरह तीर्थंकरों का क्षय बताना भी अयुक्त है क्योंकि—क्षय का कारण कर्म है वह सिद्धों में नहीं है फिर उनका क्षय किस तरह हो सकता है ? । यदि भवस्थ केवली की अपेक्षा से उच्छेद होना बताते हो तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि—भवस्थ केवली भी प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और अनन्त हैं अतः

भावार्थ—उनका भी सम्पूर्णरूपेण इस जगत् में अभाव सम्भव नहीं है। वस्तुत' भवस्थ केवली सिद्धि को प्राप्त होते हैं इसलिये वे शाश्वत नहीं हैं तथा प्रवाह की अपेक्षा से वे सदा रहते हैं इसलिये शाश्वत भी हैं अत' भवस्थ केवली कथञ्चित् शाश्वत और कथञ्चित् अशाश्वत हैं यह अनेकान्त वचन ही विवेकी को कहना चाहिये। इसी तरह जगत् के समस्त प्राणियों को परस्पर विलक्षण कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि—सभी प्राणिवर्गों का जीव समानरूप से उपयोग वाला और असंख्य प्रदेशी तथा अमूर्त है इसलिये वे कथञ्चित् सदृश भी हैं और वे भिन्न-भिन्न कर्म, गति, जाति, शरीर और अङ्गोपाङ्ग से युक्त हैं इसलिये कथंचित् विलक्षण भी हैं। एव कोई जीव अधिक वीर्य्य वाले होते हैं इस कारण वे कर्म ग्रन्थिका भेदन कर देते हैं और कोई अल्पपराक्रमी भेदन नहीं कर सकते हैं इसलिये एकान्त रूप से सभी को कर्म ग्रन्थि मे पडे रहना नहीं कहा जा सकना है। अत कोई कर्म गन्थिका भेदन करने वाले और कोई न करने वाले होते हैं यही कहना शास्त्रसम्मत समझना चाहिये ॥ ४-५ ॥



जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा संति महालया।
सरिसं तेहि वेरंति, असरिसंती य णो वदे ॥ (सूत्रं ६) ॥

छाया—ये केचित् क्षुद्रकाः प्राणाः, अथवा सन्ति महालयाः ।
सदृशं तेषां वैरमिति असदृशमिति नो वदेत् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(जे केई खुद्दगा पाणा अदुवा महालया सति) इस जगत् में जो एकेन्द्रिय आदि क्षुद्र प्राणी हैं और जो हाथी घोडे आदि महाकाय वाले प्राणी हैं (तेसिं सरिसं असरिसवा वैरत्ति णो वए) उन दोनों की हिंसा से समान ही वैर होता है अथवा समान नहीं होता है यह नहीं कहना चाहिए ॥ ६ ॥

एएहि दोहिं ठाणेहि, ववहारो ण विज्जई।
एएहिं दोहि ठाणेहि, अणायारं तु जाणए ॥ (सूत्रं ७) ॥

छाया—एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते।
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्या मनाचारन्तु जानीयात् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो न विज्जइ) इन दोनों एकान्तमय वचनों से व्यवहार नहीं होता है (एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए) इसलिये इन दोनों एकान्तमय वचनों को बोलना अनाचार सेवन समझना चाहिये ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस जगत् में एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जो क्षुद्र प्राणी हैं तथा क्षुद्र शरीर वाले जो पञ्चेन्द्रिय जीव हैं एवं हाथी घोड़े आदि जो महाकाय वाले प्राणी हैं उन सबों का आत्मा समान प्रदेश वाला है इसलिये उन सबों के मारने से समान ही कर्मबन्ध होता है यह एकान्त वचन नहीं बोलना चाहिये। तथा इन प्राणियों के ज्ञान इन्द्रिय और शरीरों में सदृशता नहीं है इसलिये इनके मारने से समान कर्मबन्ध नहीं होता है यह भी एकान्त वचन नहीं कहना चाहिये। इस प्रकार इन एकान्त वचनों के निषेध का अभिप्राय यह है कि—उन मारे जाने वाले प्राणी की क्षुद्रता और महत्ता ही कर्मबन्ध की क्षुद्रता और महत्ता के कारण नहीं हैं किन्तु मारने वाले का तीव्र भाव, मन्दभाव, ज्ञानभाव, अज्ञानभाव, महावीर्य्यता और अल्पवीर्य्यतामी कारण हैं। अतः मारे जाने वाले प्राणी और मारने वाले प्राणी इन दोनों की विशिष्टता से कर्मबन्ध की विशिष्टता होती है अतः एक मात्र मारे जाने वाले प्राणी के हिसाब से ही कर्मबन्ध के न्यूनाधिक्य की व्यवस्था करना ठीक नहीं है अतः यह अनाचार है। बात यह है कि—जीव नित्य है इसलिये उसकी हिंसा सम्भव नहीं है इसलिये इन्द्रिय आदि के घात को हिंसा कहते हैं जैसा कि—"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलञ्च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणन्तु हिंसा"। ५ इन्द्रियाँ। तीन प्रकार के बल उच्छ्वास निश्वास और आयु ये दश प्राण भगवान् द्वारा कहे गये हैं इसलिये इनको शरीर से अलग कर देना हिंसा है यह हिंसा भावकी अपेक्षा से कर्मबन्ध को उत्पन्न करती है यही कारण है कि रोगी के रोग की निवृत्ति के लिये भली भाँति चिकित्सा करते हुए वैद्य के हाथ से यदि रोगी की मृत्यु हो जाती है तो उस वैद्य को उस रोगी के साथ वैर का बन्ध नहीं होता है। तथा दूसरा मनुष्य जो रस्सी को सर्प मान कर उसे पीटता है उसको कर्मबन्ध अवश्य होता है क्योंकि उसका भाव दूषित है अतः शास्त्रकार कहते हैं कि—विवेकी पुरुष को कर्मबन्ध के विषय में एकान्त बात न कह कर यही कहना चाहिये कि—वध्य और वध करने वाले प्राणियों के भाव की अपेक्षा से कर्मबन्ध में कथञ्चित् सादृश्य होता भी है और नहीं भी होता है ॥६-७॥

अहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा ।
उवलित्तेति जाणिज्जा, अणुवलित्तेति वा पुणो ॥ (सूत्रं ८) ॥

छाया—आधाकर्माणि भुञ्जते, अन्योऽन्यं स्वकर्मणा ।
उपलिप्तानिति जानीयादनुपलिप्तानिति वा पुनः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(आहाकम्माणि भुंजंति अण्णमण्णे सकम्मुणा उवलित्तेति वा पुणो अणुवलित्तेति णो वए) जो साधु आधाकर्मी आहार खाते है वे परस्पर पाप कर्म से उपलिप्त नहीं होते हैं अथवा उपलिप्त होते हैं ये दोनों एकान्त वचन न कहे ॥ ८ ॥

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।
एएहि दोहि ठाणेहि, अणायारं तु जाणए ॥ (सूत्रं ९) ॥

छाया—आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां, व्यवहारो न विद्यते ।
आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्या मनाचारन्तु जानीयात् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जई) क्योंकि इन दोनों एकान्त वचनों से व्यवहार नहीं होता है (एएहि दोहि ठाणेहि अणायारं तु जाणये) इसलिये इन दोनों एकान्त वचनों को कहना अनाचार सेवन जानना चाहिये ॥ ९ ॥

भावार्थ—भोजन, वस्त्र, तथा मकान आदि जो कुछ पदार्थ साधु को दान देने के उद्देश्य से बनाये जाते हैं वे आधाकर्म कहलाते हैं ऐसे आधाकर्म आहार आदि का उपभोग करने वाला साधु कर्म से उपलिप्त होता ही है ऐसा एकान्त वचन न कहना चाहिये क्योंकि—आधाकर्मी आहार आदि भी शास्त्र विधि के अनुसार अपवाद मार्ग मे कर्मबन्ध के कारण नहीं होते हैं किन्तु शास्त्रीय विधि का उल्लंघन करके आहार की गृद्धि से जो आधाकर्मी आहार लिया जाता है वही कर्मबन्ध का कारण होता है। अतएव विद्वानों की उक्ति है कि—"किञ्चिच्छुद्ध कल्प्यमकल्प्य वा स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम। पिण्ड शय्या वस्त्र पात्र वा भेषजाद्य वा" अर्थात् किसी अवस्था विशेष मे शुद्ध और कल्पनीय भी पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र और भेषज आदि अशुद्ध तथा अकल्पनीय हो जाते हैं एव यह भी कहा है कि—"उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान प्रति। यस्यामकार्य्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्य्यञ्च वर्जयेत्।" अर्थात् मनुष्य की

भावार्थ—कभी ऐसी भी अवस्था हो जाती है जिसमें न करने योग्य कार्य्य भी कर्त्तव्य और करने योग्य कार्य्य अकर्त्तव्य हो जाता है। अत: किसी देश विशेष या काल विशेष में तथा किसी अवस्थाविशेष में शुद्ध आहार न मिलने पर आहार के अभाव से अनर्थ की उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि उस दशा में क्षुधा से पीड़ित साधु भली भांति ईर्य्यापथ का परिशोधन नहीं कर सकता है। उस साधु से चलते समय जीवों का उपमर्द भी सम्भव है। तथा वह क्षुधा की पीड़ा से मूर्च्छित होकर गिर पड़े तो त्रस जीवों की विराधना अवश्यंभावी है तथा वह यदि अकाल में ही काल का ग्रास बन जाय तो उसकी विरति का नाश हो सकता है एवं आर्तध्यान होने पर उसकी नीच गति हो सकती है अतएव आगम में लिखा है कि—"सव्वत्थ संजम संजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा।" साधु को हर हालत में संयम की रक्षा करनी चाहिये और संयम से भी अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिये अतः आधाकर्म का सेवन पाप का ही कारण है यह एकान्त वचन नहीं कहना चाहिये। तथा आधाकर्म के सेवन से पाप बन्ध होता ही नहीं यह एकान्त वचन भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि आधाकर्म आहार आदि के बनाने में प्रत्यक्ष ही छः काय के जीवों की विराधना होती है अतः छः काय के जीवों की विराधना से पापबन्ध होना आवश्यक है इसलिये आधाकर्म के सेवन से पाप न होने का कथन भी अनाचार है वस्तुतः आधाकर्म के सेवन से कथञ्चित् पापबन्ध होता है यह अनेकान्तात्मक वचन ही आचारसम्मत समझना चाहिये ॥ ८९ ॥



जमिदं ओरालमाहारं, कम्मगं च तहेव य (तमेव तं)।
सव्वत्थ वीरियं अत्थि, णत्थि सव्वत्थ वीरियं ॥ (सूत्र १०) ॥

छाया—यदिदमौदारिकमाहारकं कर्मगञ्च तथैव च।
सर्वत्र वीर्य्यमस्ति नास्ति सर्वत्र वीर्य्यम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(जमिदं ओरालं आहारं तहेव कम्मगंच) ये जो औदारिक आहारक और कार्मण शरीर हैं वे सब एक ही हैं अथवा वे एकान्त रूप से भिन्न भिन्न हैं ये दोनों एकान्त मत वचन नहीं कहने चाहिये। (सव्वत्थ वीरियं अत्थि सव्वत्थ वीरियं

अन्वयार्थ—णत्थि) एवं सब पदार्थों में सब पदार्थों की शक्ति मौजूद है अथवा सब में सब की शक्ति नहीं है ये वचन भी नहीं कहने चाहिये। ॥१०॥

एएहिं दोहिं ठाणेहि, ववहारो ण विज्जई।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारंतु जाणए ॥ (सूत्रं ११) ॥

छाया—एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते।
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामनाचारन्तु जानीयात् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो न विज्जती) क्योंकि इन दोनों स्थानों के द्वारा व्यवहार नहीं होता है (एएहिं दोहिं ठाणेहि अणायारंतु जाणए) इस लिये इन दोनों स्थानों से व्यवहार करना अनाचार सेवन जानना चाहिये ॥ ११ ॥

भावार्थ—पूर्वगाथा मे आहार के सम्बन्ध मे अनाचार का वर्णन किया है। इस लिये इस गाथा मे आहार करने वाले शरीर के सम्बन्ध मे अनाचार वर्णन किया जाता है। शरीर पाँच प्रकार का होता है, औदारिक, आहारक, कार्मण, तैजस, और वैक्रिय। जो शरीर सर्व प्रत्यक्ष है और उदार पुद्गलों के द्वारा बना हुआ है वह औदारिक कहलाता है। यह औदारिक शरीर निःसार है इस लिये इसे उराल भी कहते हैं। यह औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्य्यञ्चों का ही होता है। आहारक शरीर वह है जो चौदह पूर्वधारी पुरुष के द्वारा किसी विषय मे संशय होने पर बनाया जाता है। इस आहारक शरीर का इस गाथा मे ग्रहण है इसलिये इससे वैक्रिय शरीर का भी ग्रहण समझना चाहिये। कर्मण शरीर वह है जो कर्मों से बना हुआ है इसके ग्रहण से इसके सहचारी तैजस शरीर का भी ग्रहण करना चाहिये। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों मे से प्रत्येक शरीर तैजस और कार्मण शरीर के साथ ही पाये जाते हैं अत इनमे परस्पर एकता की आशका किसी को न हो इसलिए शास्त्रकार ने यहा इनके एकत्व का कथन अनाचार बताया है। आशय यह है कि—औदारिक शरीर ही तैजस और कार्मण शरीर है एव वैक्रिय शरीर ही आहारक शरीर है ऐसा एकान्त अभेदमय वचन नहीं कहना चाहिये। तथा इन शरीरों मे एकान्त भेद है यह भी नहीं कहना चाहिये। इस प्रकार एकान्त अभेद और एकान्त भेद के निषेध का कारण यह है कि—इन शरीरों के कारण मे भेद है इसलिये एकान्त अभेद इनमें नहीं है, जैसे

भावार्थ—कि—औदारिक शरीर के कारण उदार पुद्गल हैं और कार्मण शरीर के कारण कर्म हैं तथा तैजस शरीर के कारण तेज है इसलिये कारण भेद होने से इनमें एकान्त अभेद सम्भव नहीं है। इसी तरह इनमें एकान्त भेद भी सम्भव नहीं है क्योंकि ये सब के सब एक ही काल और एक ही देश में उपलब्ध होते हैं घट पटादि की तरह भिन्न-भिन्न देश और काल में उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः इन दोनों बातों को देखते हुए इनके विषय में यही कहना चाहिये कि—इन शरीरों में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है।

सांख्यवादी कहते हैं कि—जगत् में जितने पदार्थ हैं सभी प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं इसलिये प्रकृति ही समस्त पदार्थों का कारण है। वह प्रकृति एक ही है इसलिये सभी पदार्थ सर्वात्मक हैं और सब पदार्थों में सब की शक्ति विद्यमान है" परन्तु विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं कहना चाहिये। एवं सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में ही स्थित हैं तथा उनकी शक्ति भी परस्पर विलक्षण है इसलिये सब पदार्थों में सब की शक्ति नहीं है यह भी नहीं कहना चाहिये।

यहाँ,इन दोनों एकान्तमय वचनों के कथन का निषेध इसलिये किया जाता है कि—ये दोनों ही बातें व्यवहार से विरुद्ध हैं, पदार्थों की परस्पर भिन्न भिन्न शक्ति प्रत्यक्ष अनुभव की जाती है एवं सुख, दुःख, जीवन, मरण, दूरता, निकटता, सुरूपता और कुरूपता आदि विचित्रता भी पृथक्-पृथक् देखने में आती है। तथा कोई पापी है तो कोई पुण्यात्मा है कोई पुण्य का फल भोगता है तो कोई पाप का फल भोगता है इसलिये सभी पदार्थों को सब स्वरूप और सभी में सब की शक्ति का सद्भाव नहीं माना जा सकता है। सांख्यवादी स्वयं सत्त्व रज और तम को भिन्न-भिन्न मानते हैं एक स्वरूप नहीं मानते हैं परन्तु सभी यदि सर्वात्मक हैं तो सत्त्व, रज और तम भी परस्पर अभिन्न ही होने चाहिये। परन्तु सांख्यवादी ऐसा नहीं मानते हैं इसलिए दूसरे पदार्थों के विषय में भी सांख्यवादियों को ऐसा ही मानना चाहिये सब को सर्वात्मक मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार सभी पदार्थ सत्त्व रज और तम रूप प्रकृति के कार्य्य हैं यह सिद्धान्त भी अप्रमाणिक है क्योंकि इसका साधक कोई सबल युक्ति सांख्यवादी के पास नहीं है। तथा सांख्यवादी उत्पत्ति से पहले जो कार्य्य को कारण में सर्वथा सत्ता मानते हैं वह भी ठीक नहीं है क्योंकि पिण्डावस्था में घट के कार्य्य और गुण नहीं पाये जाते

भावार्थ—हैं तथा सर्वथा विद्यमान कार्य्य की कारण से उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है क्योंकि सर्वथा विद्यमान घटकी उत्पत्ति नहीं होती है अतः कारण में कार्य्य का सर्वथा सद्भाव मानना भी अयुक्त है। कारण में कार्य्य का सर्वथा अभाव मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर जैसे मृत् पिण्ड से घट होता है इसी तरह व्योमारविन्द भी होना चाहिये अत कारण मे कार्य्य का सर्वथा अभाव मानना भी ठीक नहीं है। वस्तुत सभी पदार्थ सत्ता रखते हैं, सभी ज्ञेय हैं सभी प्रमेय हैं इसलिये सत्ता ज्ञेयत्व और प्रमेयत्व रूप सामान्य धर्म की दृष्टि से सभी पदार्थ कथञ्चित एक भी हैं और सबके कार्य्य, गुण स्वभाव और नाम आदि भिन्न-भिन्न हैं इसलिये सभी पदार्थ परस्पर कथ चित् भिन्न भी हैं। एवं उत्पत्ति से पूर्व कारण मे कार्य्य की काथञ्चित् सत्ता भी है और कथञ्चित् नही भी है। कारण मे कार्य्य की कथञ्चित् सत्ता है इसीलिये मोर के अण्डे से मोर ही उत्पन्न होता है परन्तु काक आदि नही होते हैं तथा शालि के अकुर की इच्छा करने वाला पुरुष शालि के ही बीज को ग्रहण करता है यव आदि के बीज को नही। तथा कारण में कार्य्य के गुण, क्रिया और नाम नही पाये जाते हैं इसलिये वह कारण में कथञ्चित नहीं भी रहता है। यदि वह सर्वथा वर्तमान होता तो फिर उसे उत्पन्न करने के लिये कर्ता आदि कारण कलापों की प्रवृत्ति कैसे होती ? अत कारण मे कार्य्य का कथञ्चित् सद्भाव और कथञ्चित् असद्भाव मानना ही विवेकी पुरुष का कर्तव्य जानना चाहिये ॥१०-११॥



णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्रं १२) ॥

छाया—नास्ति लोकोऽलोकश्च, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति लोकोऽ- लोकश्चैवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(लोए अलोए वा णत्थि एव सन्न न निवेसए) लोक या अलोक नहीं है ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये (लोए अलोए वा अत्थि एव सन्न निवेसए) किन्तु लोक और अलोक हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ॥ १२ ॥

णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्रं १२) ॥

छाया—नास्ति जीवोऽजीवो वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति जीवोऽजीवो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जीवा अजीवा वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए) जीव और अजीव पदार्थ नहीं हैं ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये । (जीवे अजीवे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु जीव और अजीव हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ॥ १२ ॥

भावार्थ—सर्वशून्यतावादी लोक अलोक और जीव तथा अजीव आदि पदार्थों को मिथ्या मानते हैं वे कहते हैं कि—स्वप्न, इन्द्रजाल और माया में प्रतीत होने वाले पदार्थ जैसे मिथ्या हैं इसी तरह अस्वप्नावस्था में प्रतीत होने वाले भी जगत् के सभी दृश्य मिथ्या हैं । इसकी सिद्धि इस प्रकार जाननी चाहिये—जगत् में जितने भी दृश्य पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं वे सभी अपने-अपने अवयवों के द्वारा ही प्रकाशित हो रहे हैं इसलिये उनके अवयवों की सत्ता जब तक सिद्ध न की जाय तब तक उनकी सत्ता सिद्ध होना सम्भव नहीं है परन्तु अवयवों की सत्ता सिद्ध होना शक्य नहीं है क्योंकि अन्तिम अवयव परमाणु है अर्थात् अवयवों की धारा परमाणु में जाकर समाप्त होती है और वह परमाणु इन्द्रियातीत यानी इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है इसलिये उसकी सत्ता सिद्ध होना संभव नहीं और उसकी सत्ता सिद्ध न होने से दृश्य पदार्थ की सत्ता भी सिद्ध नहीं हो सकती है ।

यदि जगत् के दृश्य पदार्थों को अपने अपने अवयवों के द्वारा प्रकाशित न मानकर अवयवी के द्वारा प्रकाशित माना जावे तो भी उनकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि वह अवयवी अपने प्रत्येक अवयवों में सम्पूर्ण रूप से स्थित माना जायगा अथवा देश से ? यदि वह प्रत्येक अवयवों में सम्पूर्णतः स्थित माना जाय तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी भी मानने पड़ेंगे जो किसी को भी इष्ट नहीं है क्योंकि सभी एक ही अवयवी मानते हैं अतः प्रत्येक अवयवों में अवयवी की पूर्णरूप से स्थिति नहीं मानी जा सकती है ।

यदि वह अवयवी अपने प्रत्येक अवयवों में अंशतः रहता है यह माना जावे तो भी नहीं बनता है क्योंकि वह अंश क्या है ? यदि अव

भावार्थ—यव ही है तव तो फिर वही वात आती है जो अवयव पक्ष में कही गई है। यदि वह अश अवयवों से जुदा है तव फिर उस अश में वह अवयवी सम्पूर्णरूपसे रहता है अथवा अशत. रहता है यह पूर्व की शंका सामने ही खडी है। इस शंका का निवारण करने के लिये यदि फिर वही उत्तर दिया जाय कि वह अवयवी अपने अश मे अंशत. रहता है तो पहला प्रश्न फिर खडा हो जाता है अत इस उत्तर में अनवस्थादोप है। इस प्रकार विचार के साथ देखने से किसी भी दृश्य पदार्थ का कोई नियतस्वरूप सिद्ध नहीं होता है अत. स्वप्न इन्द्रजाल और माया में प्रतीत होने वाले पदार्थों के समान ही जगत् के सभी प्रतीयमान पदार्थ मिथ्या हैं यह वात सिद्ध होती है। अतएव अनुभवी विद्वानो की उक्ति है कि—"यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा। यद्येतत् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्" अर्थात् ज्यों ज्यों गम्भीर दृष्टि से पदार्थों का विचार किया जाता है त्यों त्यों वे अपने स्वरूप को वदलते चले जाते हैं अर्थात् वे कभी किसी रूप मे और कभी किसी रूप मे प्रतीत होते हैं—परन्तु नियत रूप उनका प्रतीत नहीं होता है अत. जव पदार्थों का तत्त्व ही ऐसा है तो उनको नियत रूप देने वाले हम कौन हैं ?। आशय यह है कि—दृश्य पदार्थ का प्रतीयमान रूप मिथ्या है अत जव वस्तु का ही सद्भाव सिद्ध नहीं होता तव लोक और अलोक आदि का सद्भाव किस तरह सिद्ध हो सकता है ?। यह सर्वशून्यतावादी नास्तिकों का सिद्धान्त है। परन्तु यह सिद्धान्त भ्रममूलक है क्योंकि माया इन्द्रजाल और स्वप्न मे प्रतीत होने वाले पदार्थ सत्य पदार्थ की अपेक्षा से मिथ्या माने जाते हैं स्वत नहीं। यदि समस्त पदार्थ ही मिथ्या है तव फिर माया इन्द्रजाल और स्वप्न की व्यवस्था ही कैसे की जा सकती है ?। तथा सर्वशून्यतावादी युक्ति के आधार पर ही सर्व पदार्थों को मिथ्या सिद्ध कर सकता है अन्यथा नहीं। वह युक्ति यदि सच्ची है तव तो उसी युक्ति की तरह जगत् के समस्त दृश्य पदार्थ भी सच्चे क्यों नहीं माने जावें ? और यदि वह युक्ति मिथ्या है तो फिर उस मिथ्या युक्ति से वस्तु तत्त्व की सिद्धि किस प्रकार की जा सकती है ? यह नास्तिक को सोचना चाहिये।

जगत् के दृश्य पदार्थ अपने-अपने अवयवों के द्वारा प्रकाशित होते हैं अथवा अवयवी के द्वारा प्रकाशित होते हैं इस प्रकार दो पक्षों की कल्पना करके नास्तिक ने जो दोनों पक्षों को दूषित करने की चेष्टा की है वह

णत्थि जीवा अजीवा वा, णेव सन्नं निवेसए ।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्रं १२) ॥

छाया—नास्ति जीवोऽजीवो वा नैव संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति जीवोऽजीवो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जीवा अजीवा वा णत्थि णेव सन्नं निवेसए) जीव और अजीव पदार्थ नहीं हैं ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये। (जीवे अजीवे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु जीव और अजीव हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ॥ १२ ॥

भावार्थ—सर्वशून्यतावादी लोक अलोक और जीव तथा अजीव आदि पदार्थों को मिथ्या मानते हैं वे कहते हैं कि—स्वप्न, इन्द्रजाल और माया में प्रतीत होने वाले पदार्थ जैसे मिथ्या हैं इसी तरह अस्वप्नावस्था में प्रतीत होने वाले भी जगत् के सभी दृश्य मिथ्या हैं। इसकी सिद्धि इस प्रकार जाननी चाहिये—जगत् में जितने भी दृश्य पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं वे सभी अपने-अपने अवयवों के द्वारा ही प्रकाशित हो रहे हैं इसलिये उनके अवयवों की सत्ता जब तक सिद्ध न की जाय तब तक उनकी सत्ता सिद्ध होना सम्भव नहीं है परन्तु अवयवों की सत्ता सिद्ध होना शक्य नहीं है क्योंकि अन्तिम अवयव परमाणु है अर्थात् अवयवों की धारा परमाणु में जाकर समाप्त होती है और वह परमाणु इन्द्रियातीत यानी इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है इसलिये उसकी सत्ता सिद्ध होना संभव नहीं और उसकी सत्ता सिद्ध न होने से दृश्य पदार्थ की सत्ता भी सिद्ध नहीं हो सकती है।

यदि जगत् के दृश्य पदार्थों को अपने अपने अवयवों के द्वारा प्रकाशित न मानकर अवयवी के द्वारा प्रकाशित माना जावे तो भी उनकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि वह अवयवी अपने प्रत्येक अवयवों में सम्पूर्ण रूप से स्थित माना जायगा अथवा देश से ? यदि वह प्रत्येक अवयवों में सम्पूर्णतः स्थित माना जाय तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी भी मानने पड़ेंगे जो किसी को भी इष्ट नहीं है क्योंकि सभी एक ही अवयवी मानते हैं अतः प्रत्येक अवयवों में अवयवी की पूर्णरूप से स्थिति नहीं मानी जा सकती है।

यदि वह अवयवी अपने प्रत्येक अवयवों में अंशतः रहता है यह माना जावे तो भी नहीं बनता है क्योंकि वह अंश क्या है ? यदि अव

भावार्थ—ही है अत' आत्मा से भिन्न जीव और अजीव आदि पदार्थों को मानना भूल है यह आत्माऽद्वैतवादियों का मन्तव्य है।

परन्तु यह आर्हत दर्शन इन दोनों मतों को अयुक्त बतलाता हुआ यह उपदेश करता है कि—"जीव, अजीव आदि पदार्थ नहीं हैं" ऐसी स्थापना विवेकी को कदापि नहीं करनी चाहिये किन्तु ये दोनों ही पदार्थ हैं यही बात माननी और कहनी चाहिये। जीव एक स्वतन्त्र और अनादि पदार्थ है वह पाँच महाभूतों का कार्य्य नहीं है क्योंकि पाँच महाभूत जड़ हैं अत' उनसे चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है तथा वे पाँच महाभूत जड़ होने के कारण बिना किसी की प्रेरणा के शरीर के आकार मे परिणत भी नहीं हो सकते हैं एवं वे पाँच महाभूत यदि अपने मे अविद्यमान चैतन्य की उत्पत्ति करते हैं तो वे नित्य नहीं कहे जा सकते क्योंकि जो वस्तु सदा एक स्वभाव में रहती है वही नित्य कहलाती है। अत' पहले से विद्यमान चैतन्य की उत्पत्ति यदि पांच महाभूतों से मानें तब तो यह एक प्रकार से जीव को ही मान लेना है क्योंकि वह चैतन्य पहले से ही विद्यमान होने के कारण नवीन उत्पन्न नहीं हुआ। यह चैतन्य गुण पाँच महाभूतों का नहीं है क्योंकि पांच भूतों से उत्पन्न घटपटादि पदार्थों मे चैतन्य अनुभव नहीं किया जाता है अत' नास्तिकों का सिद्धान्त मानने योग्य नहीं है। जगत् मे जितने प्राणी हैं सभी अपने-अपने जीव का अस्तित्व अनुभव करते हैं। सभी कहते हैं कि—"मैं हूँ"। कोई भी "मैं नहीं हूँ" ऐसा नहीं कहता है अत सभी प्राणियों को जीव मानस प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष सबसे श्रेष्ठ प्रमाण है इसलिये प्रत्यक्ष सिद्ध जीव के साधन के लिये अनुमान आदि प्रमाणों का सचार करके ग्रन्थ का कलेवर बढाना ठीक नहीं है। वह जीव सिद्ध और ससारी भेद से दो प्रकार का है। और सभी जीव अलग-अलग स्वतन्त्र हैं किसी के साथ किसी जीव का कार्य्यकारणभाव नहीं है तथा ये जीव किसी ब्रह्म या आत्मा के परिणाम भी नहीं हैं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है तथा अनुभव से भी विरोध पडता है। एव एक आत्मा को ही समस्त चराचर प्राणियों का आत्मा मानने से जगत् की विचित्रता हो नहीं सकती है इस जगत् मे घट पट आदि अचेतन पदार्थ भी अनन्त है वे चेतनरूप आत्मा या ब्रह्म के परिणाम हों यह सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर वे जड़ नहीं किन्तु चेतन होते। तथा एक आत्मा होने पर एक के सुख से दूसरा सुखी औ दूसरे के दु:ख से दूसरे दु:खी हो जाते

भावार्थ—भी उसका प्रलाप मात्र है क्योंकि अवयव के साथ अवयवी का कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है तथा वे अपनी सत्ता से स्वतः प्रकाशित हैं एवं उनके द्वारा जगत् की समस्त क्रियायें की जाती हैं, आग प्रत्यक्ष जलाती हुई जल ठण्डा करता हुआ वायु स्पर्श उत्पन्न करता हुआ प्रत्यक्ष ही अनुभव किया जाता है एवं जगत् के सभी घटपटादि पदार्थ अपना-अपना कार्य्य करते हुए अनुभव किये जाते हैं अतः उन्हें मिथ्या मानना सर्वथा भ्रम और पागलपन है। यद्यपि पदार्थों का अन्तिम अवयव परमाणु है तथापि वह अज्ञेय नहीं है क्योंकि—घटपटादि रूप कार्य्य के द्वारा वे अनुमान से ग्रहण किये जाते हैं तथा अवयवी का ग्रहण तो प्रत्यक्ष ही होता है उसके लिये अन्य प्रमाण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वह अवयवी प्रत्येक अवयवों में व्याप्त है इसीलिये किसी वस्तु के एक अंश को देखकर भी उसे जान लेते हैं कि—यह अमुक वस्तु है परन्तु वह अवयवी अपने अवयवों से एकान्त भिन्न है अथवा वह एकान्त अभिन्न है यह नहीं मानना चाहिये किन्तु वह अवयव से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है यह अनेकान्त सिद्धान्त ही सब दोषों से रहित और मानने योग्य है। इस प्रकार लोक और अलोक की सत्ता मान कर वे अवश्य हैं यही सिद्धान्तों को मानना चाहिये परन्तु वे नहीं हैं यह नहीं मानना चाहिये यही बारहवीं गाथा का आशय है।

तेरहवीं गाथा के द्वारा जीव और अजीव पदार्थों का अस्तित्व साधन किया गया है। पञ्चमहाभूतवादी कहते हैं कि—जीव नामक कोई पदार्थ नहीं है वह अविवेकियों द्वारा मूर्खतावश माना गया है। चलना, फिरना, सोना, जागना, उठना, बैठना, सुनना आदि सभी कार्य्य, शरीर के रूप में परिणत पाँच महाभूतों के द्वारा ही किये जाते हैं क्योंकि चैतन्य रूप गुण शरीर के रूप में परिणत पाँच महाभूतों का ही गुण है अतः शरीर में चैतन्य गुण को देखकर उसके गुणी अप्रत्यक्ष आत्मा की कल्पना करना मूर्ख है यह नास्तिकों का मत है।

तथा आत्माद्वैतवादी कहते हैं कि—यह समस्त जगत् एक आत्मा (ब्रह्म) का परिणाम है। जो पदार्थ हो चुके हैं, जो हैं और जो होंगे वे सभी एक आत्मा के कार्य्य हैं इस कारण सभी एक आत्मस्वरूप हैं एक आत्मा से भिन्न दूसरा कोई भी पदार्थ जगत् में नहीं है। चेतन और अचेतन जो कुछ भी पदार्थ दिखाई देते हैं सभी आत्मस्वरूप

भावार्थ—ही है अत' आत्मा से भिन्न जीव और अजीव आदि पदार्थों को मानना भूल है यह आत्माऽद्वैतवादियों का मन्तव्य है।

परन्तु यह आर्हत दर्शन इन दोनों मतों को अयुक्त बतलाता हुआ यह उपदेश करता है कि—"जीव, अजीव आदि पदार्थ नहीं हैं" ऐसी स्थापना विवेकी को कदापि नहीं करनी चाहिये किन्तु ये दोनों ही पदार्थ हैं यही बात माननी और कहनी चाहिये। जीव एक स्वतन्त्र और अनादि पदार्थ है वह पाँच महाभूतो का कार्य्य नहीं है क्योंकि पाँच महाभूत जड़ हैं अत' उनसे चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव नही है तथा वे पाँच महाभूत जड़ होने के कारण विना किसी की प्रेरणा के शरीर के आकार मे परिणत भी नहीं हो सकते हैं एवं वे पाँच महाभूत यदि अपने में अविद्यमान चैतन्य की उत्पत्ति करते हैं तो वे नित्य नहीं कहे जा सकते क्योंकि जो वस्तु सदा एक स्वभाव में रहती है वही नित्य कहलाती है। अत' पहले से विद्यमान चैतन्य की उत्पत्ति यदि पाच महाभूतों से मानें तब तो यह एक प्रकार से जीव को ही मान लेना है क्योंकि वह चैतन्य पहले से ही विद्यमान होने के कारण नवीन उत्पन्न नहीं हुआ। यह चैतन्य गुण पाँच महाभूतों का नहीं है क्योंकि पांच भूतों से उत्पन्न घटपटादि पदार्थों मे चैतन्य अनुभव नहीं किया जाता है अत' नास्तिकों का सिद्धान्त मानने योग्य नहीं है। जगत् मे जितने प्राणी हैं सभी अपने-अपने जीव का अस्तित्व अनुभव करते हैं। सभी कहते हैं कि—"मैं हूँ"। कोई भी "मैं नहीं हूँ" ऐसा नहीं कहता है अत सभी प्राणियों को जीव मानस प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष सबसे श्रेष्ठ प्रमाण है इसलिये प्रत्यक्ष सिद्ध जीव के साधन के लिये अनुमान आदि प्रमाणों का सचार करके ग्रन्थ का कलेवर बढाना ठीक नहीं है। वह जीव सिद्ध और ससारी भेद से दो प्रकार का है। और सभी जीव अलग-अलग स्वतन्त्र हैं किसी के साथ किसी जीव का कार्य्यकारणभाव नहीं है तथा ये जीव किसी ब्रह्म या आत्मा के परिणाम भी नहीं हैं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है तथा अनुभव से भी विरोध पड़ता है। एव एक आत्मा को ही समस्त चराचर प्राणियों का आत्मा मानने से जगत् की विचित्रता हो नहीं सकती है इस जगत् में घट पट आदि अचेतन पदार्थ भी अनन्त हैं वे चेतनरूप आत्मा या ब्रह्म के परिणाम हों यह सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर वे जड़ नहीं किन्तु चेतन होते। तथा एक आत्मा होने पर एक के सुख से दूसरा सुखी औ दूसरे के दु'ख से दूसरे दु'खी हो जाते

भावार्थ—परन्तु ऐसा है नहीं अतः एक आत्मा को ही परमार्थ सत् मानकर शेष समस्त पदार्थों को मिथ्या मानना आत्माद्वैतवादियों का भ्रम है इसलिये आर्हत दर्शन की यह तेरहवी गाथा उपदेश करती है कि—"जीव और अजीव नही हैं यह बात नही माननी चाहिये किन्तु जीव और अजीव हैं यही मानना चाहिये ॥ १२ १३ ॥



णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेव सन्न निवेसए ।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सन्न निवेसए ॥ (सूत्र १४) ॥

छाया—नास्ति धर्मोऽधर्मोवा, नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति धर्मोऽधर्मोवेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(धम्मे अधम्मे वा णत्थि एवं सन्नं ण णिवेसए) धर्म या अधर्म नहीं है यह नहीं मानना चाहिये (धम्मे अधम्मे वा अत्थि एवं सन्नं णिवेसए) धर्म और अधर्म हैं यही बात माननी चाहिये ॥ १४ ॥

णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेव सन्न निवेसए ।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सन्न निवेसए ॥ (सूत्र १५) ॥

छाया—नास्ति बन्धोवा मोक्षोवा, नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति बन्धो मोक्षो वेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(बंधे मोक्खेवा णत्थि एवं सन्नं ण णिवेसए) बन्ध अथवा मोक्ष नहीं है यह नहीं मानना चाहिये (बंधे मोक्खे वा अत्थि एवं सन्नं णिवेसए) किन्तु बन्ध और मोक्ष है यही बात माननी चाहिये ॥ १५ ॥

भावार्थ—श्रुत और चारित्र धर्म कहलाते हैं और वे आत्मा के अपने परिणाम हैं एवं व कर्मक्षय के कारण हैं । तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग अधर्म कहलाते हैं ये भी आत्मा के ही परिणाम हैं । ये दोनों ही धर्म और अधर्म सत्य हैं अतः इनका निषेध नही करना चाहिये । ऊपर कही हुई बात सत्य होने पर भी कई लोग काल, स्वभाव, नियति

भावार्थ—और ईश्वर आदि को समस्त जगत् की विचित्रता का कारण मानकर धर्म और अधर्म को नहीं मानते हैं परन्तु इनकी यह मान्यता यथार्थ नहीं है क्योंकि धर्म अधर्म के विना वस्तुओं की विचित्रता सम्भव नही है। काल स्वभाव और नियति आदि भी कारण अवश्य हैं परन्तु वे धर्म और अधर्म के साथ ही कारण होते हैं इन्हे छोडकर नहीं क्योंकि एक ही काल में जन्म धारण करने वाला कोई काला कोई गोरा कोई सुन्दर कोई वीभत्स, कोई हृष्ट पुष्टाङ्ग कोई अङ्गहीन तथा कोई दुर्वल आदि होता है काल आदि की समानता होने पर भी धर्म और अधर्म की भिन्नता के कारण ही उक्त विचित्रता होती है अत धर्म और अधर्म को न मानना भूल है। अतएव विद्वानों ने कहा है कि—"नहि कालादिहिंतो केवलएहिंतो जायए किंचि। इह मुग्गरंधणाइवि ता सव्वे समुदिया हेऊ" अर्थात् संसार का कोई भी कार्य्य केवल काल आदि के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता किंतु धर्म और अधर्म आदि भी वहाँ कारणरूप से रहते हैं अत धर्म और अधर्म के साथ मिले हुए ही काल आदि सबके कारण हैं अकेले नहीं हैं। इस कारण धर्म और अधर्म नही हैं यह विवेकी पुरुषों को नहीं मानना चाहिये यह चौदहवीं गाथा का आशय है।

वन्ध और मोक्ष नहीं हैं यह कई लोगों की मान्यता है। वे कहते हैं कि—आत्मा अमूर्त्त है इसलिये कर्म पुद्गलों का उसमें वन्ध होना सम्भव नहीं है। जैसे अमूर्त्त आकाश मे पुद्गलों का लेप नहीं होता है इसी तरह आत्मा मे भी नहीं हो सकता है इसलिये आत्मा मे वन्ध नहीं मानना चाहिये। एव मोक्ष भी नहीं मानना चाहिये क्योंकि आत्मा को जव वन्ध ही नहीं है तव मोक्ष किस वात से होगा अत वन्ध और मोक्ष दोनों ही मिथ्या हैं यह किसी की मान्यता है। वस्तुत. यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि अमूर्त्त के साथ मूर्त्त का सम्वन्ध देखा जाता है जैसे कि—विज्ञान अमूर्त्त पदार्थ है मूर्त्त नहीं है फिर भी मद्य आदि के पान से उसमें विकृति प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह विकृति, अमूर्त्त विज्ञान के साथ मूर्त्त मद्य का सम्वन्ध माने विना सम्भव नही है। अत जैसे अमूर्त्त विज्ञान के साथ मूर्त्त मद्य आदि का सम्वन्ध होता है इसी तरह अमूर्त्त जीव के साथ मूर्त्त कर्मपुद्गलों का वन्ध भी होता है। तथा यह ससारी जीव अनादिकाल से तैजस और कार्मण शरीर के साथ सम्वद्ध हुआ ही चला आ रहा है इनसे रहित अकेला कभी नहीं हुआ इसलिये यह कथञ्चित् मूर्त्त भी है इस कारण कर्म-

भावार्थ—पुद्गलों का बन्ध इसमें असंभव नहीं है। अतः बन्ध है यही मानना चाहिये तथा बन्ध है इसलिये मोक्ष भी है यह भी मानना चाहिये, यह १५ वीं गाथा का आशय है ॥ १४ १५ ॥



णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि पुण्णे व पावे वा एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र १६) ॥

छाया—नास्ति पुण्यं वा पापं वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति पुण्यं वा पापं वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(पुण्णे वा पावे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए) पुण्य और पाप नहीं हैं ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये। (पुण्णे वा पावे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु पुण्य और पाप हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ॥ १६ ॥

णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र १७) ॥

छाया—नास्त्यास्रवः संवरो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्त्यास्रवः संवरो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(आसवे वा संवरे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए) आस्रव और संवर नहीं हैं यह ज्ञान नहीं रखना चाहिये (आसवे संवरे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु आस्रव और संवर हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ॥ १७ ॥

भावार्थ—किसी अन्यतीर्थी का सिद्धान्त है कि इस जगत में पुण्य नाम का कोई पदार्थ नहीं है किन्तु एक मात्र पाप ही है। वह पाप जब अल्प होता है तब सुख उत्पन्न करता है और जब अधिक हो जाता है तब दुःख उत्पन्न करता है। दूसरे लोग इसे न मान कर कहते हैं कि—जगत् में पाप नाम का कोई पदार्थ नहीं है एक मात्र पुण्य ही है। वह पुण्य जब घट जाता है तब दुःख को उत्पन्न करता है और वह बढ़ता हुआ सुख की उत्पत्ति करता है। एवं तीसरे लोग यह कहते हैं कि—पाप या पुण्य

भावार्थ—दोनों ही पदार्थ मिथ्या हैं क्योंकि जगत् की विचित्रता नियति और स्वभाव आदि के कारण से होती है। अत पाप और पुण्य के द्वारा जगत् की विचित्रता मानना मिथ्या है। इन ऊपर कहे हुए समस्त मतों को मिथ्या सिद्ध करते हुए शास्त्रकार कहते है कि—"पाप और पुण्य नहीं हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु ये दोनो ही हैं यही मानना चाहिये।" जो पाप को मान कर पुण्य का खण्डन करते हैं और जो पुण्य को मान कर पाप का निषेध करते हैं वे दोनों ही वस्तुतत्त्व को नहीं जानते है क्योंकि पाप मानने पर पुण्य अपने आप सिद्ध हो जाता है, क्योंकि – ये दोनों ही परस्पर नियत सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं अत' पाप के होने पर पुण्य और पुण्य के होने पर पाप अपने आप सिद्ध हो जाता है अतः दोनों को ही मानना चाहिये। जो लोग जगत् की विचित्रता नियति या स्वभाव से मान कर पाप और पुण्य दोनों का खण्डन करते हैं वे भूल करते हैं क्योंकि स्वभाव या नियति से जगत् की विचित्रता मानने पर तो जगत् की समस्त क्रियायें निरर्थक ठहरेंगी, सब कुछ नियति और स्वभाव से ही हो तो फिर क्रिया करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है अत. पुण्य पाप को न मानना भूल है। यहाँ प्रसङ्गवश संक्षेप से पुण्य और पाप का स्वरूप बतला दिया जाता है। "पुद्गलकर्म शुभं यत्, तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्। यदशुभमथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्देशात्।" इस जिन शासन में सर्वज्ञ की उक्ति के अनुसार शुभ जो कर्मपुद्गल हैं उन्हें पुण्य और अशुभ कर्म पुद्गल को पाप कहते हैं। यही १६ वीं गाथा का आशय है।

जिसके द्वारा आत्मा में कर्म प्रवेश करता है उसे 'आश्रव' कहते हैं वह प्राणातिपात आदि है और उस आश्रव को रोकना संवर कहलाता है। ये दोनों ही पदार्थ अवश्य हैं यही मानना चाहिये परन्तु ये नहीं हैं यह नहीं।

कोई कहते हैं कि—जिसके द्वारा आत्मा में कर्म प्रवेश करते हैं वह आश्रव आत्मा से भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो वह आश्रव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जैसे आत्मा से भिन्न घट पट आदि पदार्थ हैं उसी तरह वह आश्रव भी है फिर उसके द्वारा आत्मा में कर्म किस तरह प्रवेश कर सकता है क्योंकि घटपटादि पदार्थों के द्वारा आत्मा में कर्म का प्रवेश तुम भी नहीं मान सकते। यदि

भावार्थ—पुद्गलों का बन्ध इसमें असंभव नहीं है। अतः बन्ध है यही मानना चाहिये तथा बन्ध है इसलिये मोक्ष भी है यह भी मानना चाहिये, यह १५ वीं गाथा का आशय है ॥ १४ १५ ॥



णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेव सन्नं निवेसए ।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र १६) ॥

छाया—नास्ति पुण्यं वा पापं वा नैव संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति पुण्यं वा पापं वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(पुण्णे वा पावे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए) पुण्य और पाप नहीं हैं ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये। (पुण्णे वा पावे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु पुण्य और पाप हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ॥ १६ ॥

णत्थि आसवे संवरे वा, णेव सन्नं निवेसए ।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र १७) ॥

छाया—नास्त्यास्रवः संवरो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्त्यास्रवः संवरो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(आसवे वा संवरे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए) आस्रव और संवर नहीं हैं यह ज्ञान नहीं रखना चाहिये (आसवे संवरे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु आस्रव और संवर हैं यही ज्ञान रखना चाहिये ॥ १७ ॥

भावार्थ—किसी अन्यतीर्थी का सिद्धान्त है कि इस जगत में पुण्य नाम का कोई पदार्थ नहीं है किन्तु एक मात्र पाप ही है। वह पाप जब अल्प होता है तब सुख उत्पन्न करता है और जब अधिक हो जाता है तब दुःख उत्पन्न करता है। दूसरे लोग इसे न मान कर कहते हैं कि—जगत् में पाप नाम का कोई पदार्थ नहीं है एक मात्र पुण्य ही है। वह पुण्य जब घट जाता है तब दुःख को उत्पन्न करता है और वह बढ़ता हुआ सुख की उत्पत्ति करता है। एवं तीसरे लोग यह कहते हैं कि—पाप या पुण्य

भावार्थ—दोनों ही पदार्थ मिथ्या हैं क्योंकि जगत् की विचित्रता नियति और स्वभाव आदि के कारण से होती है। अत. पाप और पुण्य के द्वारा जगत् की विचित्रता मानना मिथ्या है। इन ऊपर कहे हुए समस्त मतों को मिथ्या सिद्ध करते हुए शास्त्रकार कहते है कि—"पाप और पुण्य नहीं है ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु ये दोनों ही हैं यही मानना चाहिये।" जो पाप को मान कर पुण्य का खण्डन करते हैं और जो पुण्य को मान कर पाप का निषेध करते हैं वे दोनों ही वस्तुतत्त्व को नहीं जानते है क्योंकि पाप मानने पर पुण्य अपने आप सिद्ध हो जाता है, क्योंकि – ये दोनों ही परस्पर नियत सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं अत पाप के होने पर पुण्य और पुण्य के होने पर पाप अपने आप सिद्ध हो जाता है अत दोनों को ही मानना चाहिये। जो लोग जगत् की विचित्रता नियति या स्वभाव से मान कर पाप और पुण्य दोनों का खण्डन करते हैं वे भूल करते हैं क्योंकि स्वभाव या नियति से जगत् की विचित्रता मानने पर तो जगत् की समस्त क्रियायें निरर्थक ठहरेंगी सव कुछ नियति और स्वभाव से ही हो तो फिर क्रिया करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है अतः पुण्य पाप को न मानना भूल है। यहाँ प्रसङ्गवश संक्षेप से पुण्य और पाप का स्वरूप बतला दिया जाता है। "पुद्गलकर्म शुभं यत्, तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्। यदशुभमथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दे-शात्।" इस जिन शासन में सर्वज्ञ की उक्ति के अनुसार शुभ जो कर्मपुद्गल हैं उन्हें पुण्य और अशुभ कर्म पुद्गल को पाप कहते हैं। यही १६ वीं गाथा का आशय है।

जिसके द्वारा आत्मा में कर्म प्रवेश करता है उसे 'आश्रव' कहते हैं वह प्राणातिपात आदि है और उस आश्रव को रोकना संवर कहलाता है। ये दोनों ही पदार्थ अवश्य हैं यही मानना चाहिये परन्तु ये नहीं हैं यह नहीं।

कोई कहते हैं कि—जिसके द्वारा आत्मा में कर्म प्रवेश करते हैं वह आश्रव आत्मा से भिन्न है अथवा अभिन्न है? यदि भिन्न है तो वह आश्रव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जैसे आत्मा से भिन्न घट पट आदि पदार्थ हैं उसी तरह वह आश्रव भी है फिर उसके द्वारा आत्मा में कर्म किस तरह प्रवेश कर सकता है क्योंकि घटपटादि पदार्थों के द्वारा आत्मा में कर्म का प्रवेश तुम भी नहीं मान सकते। यदि

भावार्थ—आत्मा से आस्रव को अभिन्न कहो तब तो मुक्तात्माओंमें भी आस्रव मानना पड़ेगा अतः आस्रव कोई वस्तु नहीं है और आस्रव कोई वस्तु नहीं है इसलिये उस आस्रव का निरोध रूप संवर भी कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है इस प्रकार आस्रव और संवर दोनों ही नहीं हैं यह किसी का सिद्धान्त है। इस भाव को मिथ्या सिद्ध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि आस्रव और संवर दोनों ही हैं यही बुद्धिमान को मानना चाहिये परन्तु वे नहीं हैं यह नहीं। क्योंकि—संसारी आत्मा के साथ आस्रव का न तो सर्वथा भेद ही है और न सर्वथा अभेद ही है किन्तु कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है इसलिये एक पक्ष को लेकर जो आस्रव का खण्डन किया गया है वह मिथ्या है। काय, वाणी और मन का जो शुभ योग है वह पुण्यास्रव तथा उनका अशुभयोग पापास्रव है। तथा काय वाणी और मनकी गुप्ति संवर है। जब तक इस जीव का शरीर में अहंभाव है तब तक कायिक वाचिक और मानसिक योगों के साथ उसका सम्बन्ध अवश्य है इसलिये आस्रव और संवर को न मानना अज्ञान है ॥ १६ १७ ॥



णत्थि वेयणा णिज्जरा वा, णेव सन्नं निवेसए ।
अत्थि वेयणा णिज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र १८) ॥

छाया—नास्ति वेदना निर्जरा वा नैव संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति वेदना निर्जरा वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(वेयणा णिज्जरा वा णत्थि एवं सन्नं ण णिवेसए) वेदना और निर्जरा नहीं है ऐसा विचार नहीं रखना चाहिये (वेयणा णिज्जरा वा अत्थि एवं सन्नं णिवेसए) किन्तु वेदना और निर्जरा हैं यही निश्चय रखना चाहिये ॥ १८ ॥

णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेव सन्नं निवेसए ।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र १९) ॥

छाया—नास्ति क्रिया अक्रिया वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति क्रिया अक्रिया वा एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(किरिया अकिरिया वा णत्थि एव सन्नं न निवेसए) क्रिया और अक्रिया नहीं हैं यह नहीं मानना चाहिये (किरिया अकिरिया वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु क्रिया और अक्रिया हैं यह निश्चय करना चाहिये ॥ १९ ॥

भावार्थ—कर्म के फल को भोगना वेदना है और आत्मप्रदेशों से कर्मपुद्गलों का झड़ना निर्जरा है। ये दोनो ही पदार्थ नहीं हैं ऐसी मान्यता कई लोगों की है। वे कहते हैं कि—सैकड़ों पल्योपम और सागरोपम समय में भोगने योग्य कर्मों का भी अन्तर्मुहूर्त्त में ही क्षय हो जाता है क्योंकि—अज्ञानी जीव अनेक कोटि वर्षों मे जिन कर्मों का क्षपण करता है उन्हें तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी पुरुष एक उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देता है यह शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है तथा क्षपक श्रेणि मे प्रविष्ट साधु शीघ्र ही अपने कर्मों का क्षय कर डालता है अत. क्रमशः वद्ध कर्मों का अनुभव न होने के कारण वेदना का अभाव सिद्ध होता है और वेदना के अभाव होने से निर्जरा का अभाव स्वत' सिद्ध है परन्तु विवेकी पुरुष को ऐसा निश्चय नही करना चाहिये क्योंकि—तपस्या और प्रदेशानुभव के द्वारा कतिपय कर्मों का ही क्षपण होता है शेष कर्मों का नहीं उनको तो उदीरणा और उदय के द्वारा अनुभव करना ही पड़ता है अत वेदना का सद्भाव अवश्य है अभाव नहीं है अतएव आगम कहता है कि—"पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताण कम्माण वे इत्ता मोक्खो, णत्थि अवेइत्ता।" अर्थात् पहले अपने किए हुए पाप कर्मों का फल भोग कर ही मोक्ष होता है अन्यथा नहीं होता। इस प्रकार वेदना की सिद्धि होने पर निर्जरा की सिद्धि अपने आप ही हो जाती है अत' विवेकी पुरुष को वेदना और निर्जरा नही हैं यह नही मानना चाहिये।

चलना फिरना आदि क्रिया है और इनका अभाव अक्रिया है। इन दोनों की सत्ता अवश्य है तथापि सांख्यवादी आत्मा को आकाश की तरह व्यापक मान कर उसे क्रिया रहित कहते हैं। एव बौद्ध लोग समस्त पदार्थों को क्षणिक कहते हैं। इस लिये बौद्ध के मत में एक उत्पत्ति के सिवाय पदार्थों मे दूसरी कोई क्रिया ही सम्भव नही है। उनका यह पद्य भी इस बात का द्योतक है जैसे कि—"भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।" अर्थात् पदार्थों की जो उत्पत्ति है वही उनकी क्रिया है और वही उनका कर्तृत्व है। एव इस मत मे सभी पदार्थ प्रतिक्षण अवस्थान्तरित

भावार्थ—आत्मा से आस्रव को अभिन्न कहो तब तो मुक्तात्माओं में भी आस्रव मानना पड़ेगा अतः आस्रव कोई वस्तु नहीं है और आस्रव कोई वस्तु नहीं है इसलिये उस आस्रव का निरोध रूप संवर भी कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है इस प्रकार आस्रव और संवर दोनों ही नहीं हैं यह किसी का सिद्धान्त है। इस बात को मिथ्या सिद्ध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि आस्रव और संवर दोनों ही हैं यही बुद्धिमान को मानना चाहिये परन्तु ये नहीं हैं यह नहीं। क्योंकि—संसारी आत्मा के साथ आस्रव का न तो सर्वथा भेद ही है और न सर्वथा अभेद ही है किन्तु कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है इसलिये एक पक्ष को लेकर जो आस्रव का खण्डन किया गया है वह मिथ्या है। काय, वाणी और मन का जो शुभ योग है वह पुण्यास्रव तथा उनका अशुभयोग पापास्रव है। तथा काय वाणी और मनकी गुप्ति संवर है। जब तक इस जीव का शरीर में अहंभाव है तब तक कायिक वाचिक और मानसिक योगों के साथ उसका सम्बन्ध अवश्य है इसलिये आस्रव और संवर को न मानना अज्ञान है॥ १६ १७॥



णत्थि वेयणा णिज्जरा वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि वेयणा णिज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र १८)॥

छाया—नास्ति वेदना निर्जरा वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति वेदना निर्जरा वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(वेयणा णिज्जरा वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए) वेदना और निर्जरा नहीं है ऐसा विचार नहीं रखना चाहिये (वेयणा णिज्जरा वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु वेदना और निर्जरा है यही विचार रखना चाहिये ॥ १८ ॥

णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र १९)॥

छाया—नास्ति क्रिया अक्रिया वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति क्रिया अक्रिया वा एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १९ ॥

णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र २२)॥

छाया—नास्ति प्रेम च द्वेषो वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति प्रेम च द्वेषो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(पेज्जे वा दोसे वा णत्थि एव सन्नं न निवेसए) राग और द्वेष नहीं हैं ऐसा विचार नहीं रखना चाहिये (पेज्जे वा दोसे वा अत्थि एव सन्नं निवेसए) किन्तु राग और द्वेष हैं यही विचार रखना चाहिये ॥ २२ ॥

भावार्थ—अपने या दूसरे पर अप्रीति करना क्रोध है । वह क्रोध अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और संज्वलन भेद से चार प्रकार का है । तथा मान के भी येही चार भेद हैं । गर्व करना मान कहलाता है । कोई कहते हैं कि—क्रोध, मान से भिन्न नहीं है किन्तु मान का ही अंश है इसीलिये अभिमानी पुरुषों में ही क्रोध का उदय देखा जाता है एवं क्षपक श्रेणि मे क्रोध का अलग क्षपण करना भी नहीं माना जाता है । तथा क्रोध आत्मा का धर्म नहीं है क्योंकि वह सिद्ध पुरुषों में नहीं है एवं वह कर्म का भी धर्म नहीं है क्योंकि कर्म का धर्म होने पर दूसरे कषायों के उदय के साथ इसका भी उदय होना चाहिये और कर्म घट के समान मूर्त्त है इसलिये कर्मस्वरूप क्रोध की भी स्वतत्र आकार मे उपलब्धि होनी चाहिये परन्तु ये सब नहीं होते हैं अतः क्रोध न तो आत्मा का धर्म है और न कर्म का ही धर्म है । आत्मा और कर्म का धर्म न होकर क्रोध यदि दूसरे किसी पदार्थ का धर्म हो तब तो उससे आत्मा की कोई हानि नहीं है अत क्रोध कोई पदार्थ नहीं है यह कोई कहते हैं परन्तु इनका यह मन्तव्य ठीक नहीं है क्योंकि— कषाय कर्म के उदय होने पर मनुष्य अपने दांतों के द्वारा अपने ओठों को काटने लगता है और भ्रुकुटि को टेढ़ी करके भयंकर मुख बना लेता है उसका मुख रक्तवर्ण हो जाता है और उसमें से पसीने के विन्दु टपकने लगते हैं यह क्रोध का प्रत्यक्ष लक्षण देखा जाता है अत' क्रोध को न मानना प्रत्यक्ष से विरुद्ध है । वह क्रोध मान का अश नहीं है क्योंकि वह मान का कार्य्य नहीं करता है एव वह दूसरे कारण से उत्पन्न होता है । वह क्रोध जीव और कर्म दोनों का ही धर्म है किसी

भावार्थ—होते रहते हैं इसलिये उनमें अक्रिया यानी क्रिया रहित होना भी सम्भव नहीं है वस्तुतः ये दोनों ही मत ठीक नहीं हैं क्योंकि आत्मा को आकाश की तरह सर्व व्यापक और निष्क्रिय मानने पर बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती है। एवं वह सुख दुःख का भोक्ता भी नहीं सिद्ध हो सकता है इसलिये आत्मा को आकाशवत् सर्वव्यापक मान कर उसमें क्रिया का अभाव मानना अयुक्त है इसी तरह समस्त पदार्थों को नित्य अक्षुर मान कर उत्पत्ति के सिवाय उनमें दूसरी क्रियाओं का अभाव मानना भी अयुक्त है क्योंकि—ऐसा मानने पर जगत की दूसरी क्रियायें जो प्रत्यक्ष अनुभव की जा रही हैं उनका कर्ता कौन होगा ? तथा आत्मा में सर्वथा क्रिया का अभाव मानने पर बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं होगी अतः बुद्धिमान पुरुष को क्रिया और अक्रिया दोनों का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये ॥ १८ १९ ॥

णत्थि कोहे व माणे वा, णेव सन्न निवेसए ।
अत्थि कोहे व माणे वा, एव सन्न निवेसए ॥ (सूत्र २०) ॥

छाया—नास्ति क्रोधश्च मानो वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति क्रोधश्च मानश्चैवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(कोहे माणे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए) क्रोध या मान नहीं है यह नहीं मानना चाहिये (कोहे वा माणे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु क्रोध और मान हैं यही बात माननी चाहिये ॥ २० ॥

णत्थि माया व लोभे वा, णेव सन्न निवेसए ।
अत्थि माया व लोभे वा, एव सन्न निवेसए ॥ (सूत्र २१) ॥

छाया—नास्ति माया वा लोभो वा,नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति माया वा लोभो वा,एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(माया वा लोभे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए) माया और लोभ नहीं हैं ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये (माया वा लोभे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु माया और लोभ हैं ऐसा ही ज्ञान रखना चाहिये ॥ २१ ॥

णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र २२)॥

छाया—नास्ति प्रेम च द्वेषो वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति प्रेम च द्वेषो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(पेज्जे वा दोसे वा णत्थि एव सन्नं न निवेसए) राग और द्वेष नहीं हैं ऐसा विचार नहीं रखना चाहिये (पेज्जे वा दोसे वा अत्थि एवं सन्न निवेसए) किन्तु राग और द्वेष हैं यही विचार रखना चाहिये ॥ २२ ॥

भावार्थ—अपने या दूसरे पर अप्रीति करना क्रोध है। वह क्रोध अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और संज्वलन भेद से चार प्रकार का है। तथा मान के भी येही चार भेद हैं। गर्व करना मान कहलाता है। कोई कहते हैं कि—क्रोध, मान से भिन्न नहीं है किन्तु मान का ही अंश है इसीलिये अभिमानी पुरुषों में ही क्रोध का उदय देखा जाता है एवं क्षपक श्रेणि मे क्रोध का अलग क्षपण करना भी नहीं माना जाता है। तथा क्रोध आत्मा का धर्म नहीं है क्योंकि वह सिद्ध पुरुषों में नहीं है एव वह कर्म का भी धर्म नहीं है क्योंकि कर्म का धर्म होने पर दूसरे कषायों के उदय के साथ इसका भी उदय होना चाहिये और कर्म घट के समान मूर्त्त है इसलिये कर्मस्वरूप क्रोध की भी स्वतत्र आकार में उपलब्धि होनी चाहिये परन्तु ये सब नहीं होते हैं अत. क्रोध न तो आत्मा का धर्म है और न कर्म का ही धर्म है। आत्मा और कर्म का धर्म न होकर क्रोध यदि दूसरे किसी पदार्थ का धर्म हो तब तो उससे आत्मा की कोई हानि नहीं है अत क्रोध कोई पदार्थ नहीं है यह कोई कहते हैं परन्तु इनका यह मन्तव्य ठीक नहीं है क्योंकि—कषाय कर्म के उदय होने पर मनुष्य अपने दांतों के द्वारा अपने ओठों को काटने लगता है और भ्रुकुटि को टेढ़ी करके भयकर मुख बना लेता है उसका मुख रक्तवर्ण हो जाता है और उसमे से पसीने के बिन्दु टपकने लगते हैं यह क्रोध का प्रत्यक्ष लक्षण देखा जाता है अत' क्रोध को न मानना प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। वह क्रोध मान का अश नहीं है क्योंकि वह मान का कार्य्य नहीं करता है एव वह दूसरे कारण से उत्पन्न होता है। वह क्रोध जीव और कर्म दोनों का ही धर्म है किसी

भावार्थ—एक का नहीं है इसलिए एक का धर्म मान कर जो दोष बताते हैं वे ठीक नहीं हैं। इस प्रकार क्रोध की सत्ता स्पष्ट सिद्ध होने पर भी उसे नहीं मानना अज्ञान का फल है। तथा मान भी प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है इसलिये उसे भी न मानना मूढ़ है किन्तु दोनो को मानना ही विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य है।

अपने धन, स्त्री, पुत्र, आदि पदार्थों में जो मनुष्य की प्रीति रहती है उसे राग या प्रेम कहते हैं उसके दो अवयव हैं एक माया और दूसरा लोभ। तथा अपने इष्टवस्तु के ऊपर आघात पहुँचाने वाले पुरुष के प्रति जो चित्त में अप्रीति उत्पन्न होती है उसको द्वेष कहते हैं। इसके भी दो अवयव हैं एक क्रोध और दूसरा मान। इस प्रकार माया और लोभ इन दोनों के समुदाय को राग कहते हैं और क्रोध और मान के समुदाय को द्वेष कहते हैं। इस विषय में किसी का सिद्धान्त है कि—माया और लोभ तो अवश्य हैं परन्तु इनका समुदाय जो राग है वह कोई वस्तु नहीं है। तथा मान और क्रोध भी अवश्य हैं परन्तु इनका समुदाय रूप जो द्वेष है वह कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि—समुदाय अवयवों से अलग कोई पदार्थ नहीं है। यदि अलग माना जाय तो घटपटादि की तरह अवयवों से अलग उसकी उपलब्धि भी होनी चाहिये परन्तु उपलब्धि होती नहीं है इसलिये समुदाय या अवयवी कोई वस्तु नहीं है अतः राग (प्रीति) और द्वेष कोई पदार्थ नहीं है यह कोई कहते हैं। वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है क्योंकि अवयवी या समुदाय अवयवों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है, उसको नहीं मानने से घटपटादि पदार्थों में जो एकत्व का व्यवहार होता है वह किसी तरह भी नहीं हो सकता है क्योंकि अवयव अनेक हैं एक नहीं हैं अतः विवेकी पुरुष को राग और द्वेष तथा क्रोध और मान एवं माया और लोभ का अस्तित्व अवश्य मानना चाहिये यह इन गाथाओं का आशय है ॥२०-२१-२२॥



णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्रं २३) ॥

छाया —नास्ति चतुरन्तः संसारो नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति चतुरन्तः संसार एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(चउरन्ते ससारे णत्थि एव सन्न ण णिवेसए) चार गति वाला ससार नहीं है ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये (चउरते संसारे अत्थि एव सन्न निवेसए) किन्तु चार गति वाला ससार है यही विचार रखना चाहिये ॥ २३ ॥

णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्रं २४) ॥

छाया—नास्ति देवो वा देवी वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
आस्ति देवो वा देवी वा एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(देवे वा देवी वा णत्थि एव सन्न न निवेसए) देवता और देवी नहीं हैं ऐसा विचार नहीं रखना चाहिये (अत्थि देवे वा देवी वा एवं सन्न निवेसए) किन्तु देवता और देवी हैं यही बात सत्य माननी चाहिये ॥ २४ ॥

भावार्थ—यह ससार चार गति वाला है इसलिये नारक गति, तिर्य्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतियां इसकी मानी गई हैं। परन्तु कोई कहते हैं कि—इस जगत् की एक ही गति है। यह जगत् कर्म-बन्धनरूप है तथा सब जीवों को एक मात्र दु:ख देने वाला है इसलिये यह एक ही प्रकार का है। तथा कोई कहते हैं कि—इस जगत् मे मनुष्य और तिर्य्यञ्च दो ही पाये जाते हैं देवता और नारकि नहीं पाये जाते हैं इसलिये इस संसार की दो ही गति हैं और इन दो गतियों में ही सुख दु:ख की उत्कृष्टता पाई जाती है अत ससार की दो ही गति माननी चाहिये चार नहीं। यदि पर्य्यायनय का आश्रय लेवें तो भी यह संसार अनेक विध है चतुर्विध नहीं है इस ससार को चतुर्विध मानना भूल है यह किसी का मत है इस मत को निराकरण करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं कि—संसार चार गति वाला नहीं है ऐसा नहीं मानना चाहिये

भावार्थ—एक का नहीं है इसलिए एक का धर्म मान कर जो दोष बताते हैं वे ठीक नहीं हैं। इस प्रकार क्रोध की सत्ता स्पष्ट सिद्ध होने पर भी उसे नहीं मानना अज्ञान का फल है। तथा मान भी प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है इसलिये उसे भी न मानना मूढ है किन्तु दोनों को मानना ही विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य है।

अपने धन, स्त्री, पुत्र, आदि पदार्थों में जो मनुष्य की प्रीति रहती है उसे राग या प्रेम कहते हैं उसके दो अवयव हैं एक माया और दूसरा लोभ। तथा अपने इष्टवस्तु के ऊपर आघात पहुँचाने वाले पुरुष के प्रति जो चित्त में अप्रीति उत्पन्न होती है उसको द्वेष कहते हैं। इसके भी दो अवयव हैं एक क्रोध और दूसरा मान। इस प्रकार माया और लोभ इन दोनों के समुदाय को राग कहते हैं और क्रोध और मान के समुदाय को द्वेष कहते हैं। इस विषय में किसी का सिद्धान्त है कि—माया और लोभ तो अवश्य हैं परन्तु इनका समुदाय जो राग है वह कोई वस्तु नहीं है। तथा मान और क्रोध भी अवश्य हैं परन्तु इनका समुदाय रूप जो द्वेष है वह कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि—समुदाय अवयवों से अलग कोई पदार्थ नहीं है। यदि अलग माना जाय तो घटपटादि की तरह अवयवों से अलग उसकी उपलब्धि भी होनी चाहिये परन्तु उपलब्धि होती नहीं है इसलिये समुदाय या अवयवी कोई वस्तु नहीं है अतः राग (प्रीति) और द्वेष कोई पदार्थ नहीं है यह कोई कहते हैं। वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है क्योंकि अवयवी या समुदाय अवयवों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है उसको नहीं मानने से घटपटादि पदार्थों में जो एकत्व का व्यवहार होता है वह किसी तरह भी नहीं हो सकता है क्योंकि अवयव अनेक हैं एक नहीं हैं अतः विवेकी पुरुष को राग और द्वेष तथा क्रोध और मान एवं माया और लोभ का अस्तित्व अवश्य मानना चाहिये यह इन गाथाओं का आशय है ॥२०-२१ २२॥



णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्रं २३) ॥

छाया —नास्ति चतुरन्तः संसारो नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति चतुरन्तः संसार एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(चउरन्ते ससारे णत्थि एव सन्न ण णिवेसए) चार गति वाला ससार नहीं है ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिये (चउरंते संसारे अत्थि एव सन्न निवेसए) किन्तु चार गति वाला संसार है यही विचार रखना चाहिये ॥ २३ ॥

णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्रं २४) ॥

छाया—नास्ति देवो वा देवी वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
आस्ति देवो वा देवी वा एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(देवे वा देवी वा णत्थि एव सन्न न निवेसए) देवता और देवी नहीं है ऐसा विचार नहीं रखना चाहिये (अत्थि देवे वा देवी वा एवं सन्न निवेसए) किन्तु देवता और ,देवी हैं यही बात सत्य माननी चाहिये ॥ २४ ॥

भावार्थ—यह ससार चार गति वाला है इसलिये नारक गति, तिर्य्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतिया इसकी मानी गई हैं। परन्तु कोई कहते हैं कि—इस जगत् की एक ही गति है। यह जगत् कर्म-वन्धनरूप है तथा सब जीवों को एक मात्र दुःख देने वाला है इसलिये यह एक ही प्रकार का है। तथा कोई कहते हैं कि—इस जगत् मे मनुष्य और तिर्य्यञ्च दो ही पाये जाते हैं देवता और नारकि नहीं पाये जाते हैं इसलिये इस ससार की दो ही गति हैं और इन दो गतियों मे ही सुख दुःख की उत्कृष्टता पाई जाती है अत ससार की दो ही गति माननी चाहिये चार नहीं। यदि पर्य्यायनय का आश्रय लेवें तो भी यह संसार अनेक विध है चतुर्विध नहीं है इस संसार को चतुर्विध मानना भूल है यह किसी का मत है इस मत को निराकरण करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं कि—ससार चार गति वाला नहीं है ऐसा नहीं मानना चाहिये

भावार्थ—क्योंकि तिर्य्यञ्च और मनुष्य तो प्रत्यक्ष हैं और देवता तथा नारकि भी अनुमान से सिद्ध होते हैं इसलिये संसार चार गति वाला है यही बात माननी चाहिये। वह अनुमान यह है—इस जगत् में पाप और पुण्य का मध्यम फल भोगने वाले तिर्य्यञ्च और मनुष्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं इससे सिद्ध होता है कि—पाप और पुण्य के उत्कृष्ट फल भोगने वाले भी कोई अवश्य हैं। जो पाप के उत्कृष्ट फल भोगने वाले हैं वे नारकि हैं और जो पुण्य के उत्कृष्ट फल भोगने वाले हैं वे देवता हैं। तथा प्रत्यक्ष ही ज्योतिर्गण देखे जाते हैं और उनके विमानों की भी उपलब्धि होती है इससे स्पष्ट है कि उन विमानों का कोई अधिष्ठाता भी अवश्य है। तथा ग्रह के द्वारा पीड़ित किया जाना और वरदान आदि प्राप्त करना भी देवताओं के अस्तित्व में प्रमाण है अतः देवता और नारकि को न मान कर तिर्य्यञ्च और मनुष्यरूप दो ही गति मानना अयुक्त है। एवं पर्याय नय के आश्रय से जगत् को अनेक प्रकार का मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि—नरक की सात भूमियों में रहने वाले नारकि जीव सबके सब एक ही नरकगति वाले हैं एवं तिर्य्यञ्च और पृथिवी आदि स्थावर, तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय प्राणी जो ६२ लाख योनि वाले हैं वे सभी एक ही प्रकार के हैं क्योंकि उनका सामान्य धर्म तिर्य्यञ्चपना एक ही है। तथा कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपक और संमूर्च्छनजरूप भेदों को छोड़ देने से समस्त मनुष्य भी एक ही प्रकार के हैं एवं भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक भेद से भिन्न भिन्न होते हुए भी देवता केवल देवरूप से ही ग्रहण किये जाते हैं इसलिये वे भी एक हैं इस प्रकार सामान्य और विशेष का आश्रय लेकर जो जगत् को चार प्रकार का कहा गया है उसे ही सत्य मानना चाहिये तथा संसार विचित्र है इसलिये वह एक प्रकार का नहीं है और नारकि आदि समस्त जीव अपनी अपनी जाति का उल्लङ्घन नहीं करते हैं इसलिये संसार अनेक प्रकार का भी नहीं है। संसार है इसलिए मुक्ति भी है क्योंकि समस्त पदार्थों का प्रतिपक्ष अवश्य होता है॥ २३-२४॥

णत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि सिद्धि असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्रं २५) ॥

छाया—नास्ति सिद्धिरसिद्धि र्वा नैवं संज्ञां निवेशयेत्
अस्ति सिद्धिरसिद्धिर्वा एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(सिद्धि असिद्धि वा णत्थि एवं सन्न ण णिवेसए) सिद्धि और असिद्धि नहीं हैं यह ज्ञान नहीं रखना चाहिये (सिद्धि असिद्धि वा अत्थि एवं सन्न णिवेसए) किन्तु सिद्धि और असिद्धि हैं यही निश्चय करना चाहिये ॥ २५ ॥

णत्थि सिद्धी नियं ठाणं, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि सिद्धि नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्रं २६) ॥

छाया—नास्ति सिद्धि र्निजं स्थानं नैवं संज्ञां निवेशयेत्
अस्ति सिद्धि र्निजं स्थानम् एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(सिद्धि णियं ठाणं णत्थि) सिद्धि जीव का अपना स्थान नहीं है ऐसा नहीं मानना चाहिये (सिद्धि णिय ठाणं अत्थि एव सन्न णिवेसए) किन्तु सिद्धि जीवका निजस्थान है यही सिद्धान्त मानना चाहिये ॥ २६ ॥

भावार्थ—समस्त कर्मों का क्षय हो जाना सिद्धि है और इससे विपरीत असिद्धि है। वह असिद्धि संसाररूप है और उसका अस्तित्व पूर्वगाथा मे सिद्ध किया है। वह असिद्धि सत्य है इसलिये उससे विपरीत सिद्धि भी सत्य है क्योंकि सभी पदार्थों का प्रतिपक्ष अवश्य होता है। सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र, मोक्ष के मार्ग कहे गये हैं इसलिये इनके आराधन करने से समस्त कर्मों का क्षय होकर जीव को सिद्धि की प्राप्ति होती है। पीड़ा और उपशम के द्वारा कर्मों का देश से क्षय होना प्रत्यक्ष देखा जाता है इससे सिद्ध होता है कि—समस्त कर्मों का क्षय भी किसी जीव का अवश्य होता है। अतएव विद्वानों ने कहा है कि—"दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषाऽस्त्यतिशायिनी, क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः" अर्थात् मल के नाश करने वाले कारणों के संयोग से जैसे मनुष्य के बाहर भीतर दोनों ही तर्फ के मलों का अत्यन्त क्षय हो जाता है इसी तरह किसी पुरुष के दोष और आवरणों का भी अत्यन्त क्षय होता है।

भावार्थ—यह ऐसा पुरुष समस्त कर्मों के क्षय होने से सिद्धि को प्राप्त करता है और उसी को सर्वविषयक ज्ञान होकर सर्वज्ञता प्राप्त होती है। कोई कोई सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते हैं वे कहते हैं कि—मनुष्य सब से अधिक ज्ञाता हो सकता है परन्तु सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। जो मनुष्य दस हाथ ऊंचा आकाश में कूद सकता है वह अभ्यास करते करते इससे अधिक कूद सकता है परन्तु दस बीस योजन तक वह लाख अभ्यास करने पर भी नहीं कूद सकता है इसी तरह शास्त्र आदि के अभ्यास करने से मनुष्य महान् बुद्धिमान् हो सकता है लेकिन वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता है परन्तु बुद्धिमानों को यह नहीं मानना चाहिए क्योंकि शास्त्र आदि के अभ्यास करने से बुद्धि की वृद्धि प्रत्यक्ष देखी जाती है इससे सिद्ध होता है कि—बुद्धि की वृद्धि यदि इसी प्रकार होती चली जाय और उसमें किसी प्रकार का अन्तराय न पड़े तो वह निरन्तर बढ़ती हुई अवश्य अपनी अन्तिम मर्यादा तक पहुँच सकती है वह मर्य्यादा सर्वज्ञता ही है क्योंकि इससे पहले बुद्धि की वृद्धि की समाप्ति नहीं है। पूर्वपक्षी ने सर्वज्ञता के विरोध में जो कूदने वाले पुरुष का दृष्टान्त दिया है वह ठीक नहीं है क्योंकि कूदने वाला कूद कर आकाश में जहांतक जाता है उस मर्य्यादा को यदि वह बराबर उल्लंघन करता चला जाय तो वह क्यों नहीं दस बीस योजन तक कूद सकता है ? परन्तु वह उस मर्य्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता है इसलिये वह दस बीस योजन तक नहीं कूद सकता है। यदि बुद्धि की वृद्धि करने वाला भी इसी तरह वृद्धि की पूर्व मर्य्यादा का उल्लंघन न करने पावे तो वह भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है इसमें कोई सन्देह नहीं है परन्तु जो पूर्व पूर्व मर्य्यादाओं को उल्लंघन करता हुआ आगे आगे चलता जा रहा है उसको सर्वज्ञता प्राप्त न करने में कोई कारण नहीं है। वस्तुतः इस जीव में स्वाभाविक ही सर्वज्ञता स्थित है यह आवरण से ढकी हुई है उस आवरण के सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर सर्वज्ञता को कौन रोक सकता है ? वह अपने आप हो जाती है। वह सर्वज्ञ पुरुष सिद्धि को या मुक्ति को प्राप्त करता है इस लिये सिद्धि या मुक्ति अवश्य है यही विवेकी पुरुष को मानना चाहिये परन्तु सिद्धि का अभाव नहीं। कोई कहते हैं कि—यह जगत् अञ्जन से भरी हुई घटी के समान जीवों से संयुक्त है इसलिये हिंसा से बच जाना इसमें सम्भव नहीं है कहा है कि "जले जीवाः स्थले जीवाः आकाशे जीवमालिनि। जीवमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः"। अर्थात्

भावार्थ—जल में जीव हैं, स्थल में जीव हैं, आकाश में जीव हैं इस प्रकार जीवों से परिपूर्ण इस लोक मे साधु अहिंसक कैसे हो सकता है ? अत' हिंसा के न रुकने से किसी की भी मुक्ति होना सम्भव नहीं है। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि—जो साधु जीव /हिंसा से बचने के लिये सदा प्रयत्न करता रहता है और समस्त आश्रवद्वारों को रोक कर पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पालन करता हुआ ४२ दोषों को टाल कर निरवद्य आहार ग्रहण करता है एवं निरन्तर ईर्य्यापथ का परिशोधन करता हुआ अपनी प्रवृत्ति करता है उसका भाव शुद्ध है ऐसे पुरुष के द्वारा यदि कदाचित् द्रव्यत. किसी प्राणी की विराधना भी हो जाय तो भावशुद्धि के कारण कर्मबन्ध नहीं होता है क्योंकि—यह साधु सर्वथा दोप रहित है अत' ऐसे पुरुषों को समस्त कर्मों का क्षय होकर सिद्धि की प्राप्ति होती है इसमे कोई सन्देह नहीं है इसलिए सिद्धि की प्राप्ति को असम्भव मानना मिथ्या है।

इस प्रकार समस्त कर्मों के क्षय हो जाने पर जीव जिस स्थान को प्राप्त करता है वह उसका निज स्थान है। वह स्थान एक योजन के एक कोश का छट्ठा भाग है तथा वह चतुर्दश रज्जुस्वरूप इस लोक के अग्र भाग में स्थित है। वह स्थान नहीं है ऐसा विवेकी पुरुष को नहीं मानना चाहिये क्योंकि जिनके समस्त कर्म क्षय हो गये हैं ऐसे पुरुषों का भी कोई स्थान होना ही चाहिये। वे मुक्त पुरुष आकाश की तरह सर्वव्यापक हैं यह नहीं माना जा सकता है क्योंकि—आकाश लोक और अलोक दोनों ही में व्यापक माना जाता है परन्तु मुक्त पुरुष को ऐसा नहीं मान सकते क्योंकि अलोक में आकाश के सिवाय अन्य वस्तु का रहना सम्भव नहीं है। एव वह मुक्तात्मा लोकमात्र व्यापक है यह भी नहीं हो सकता है क्योंकि मुक्ति होने से पूर्व उसमें समस्त लोकव्यापकता नहीं पाई जाती है किन्तु नियत देश काल आदि के साथ ही उसका सम्बन्ध पाया जाता है तथा वह नियत सुख दु'ख का ही अनुभव करने वाला देखा जाता है। अत' मुक्ति होने के पश्चात् भी उसकी व्यापकता नहीं मानी जा सकती है क्योंकि मुक्ति होने के पश्चात् वह व्यापक हो जाता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है अत उस मुक्तात्मा का जो निजस्थान है वह लोकाग्र है यही विवेकी पुरुष को मानना चाहिये। कहा है कि—"कर्मविप्रमुक्तस्य ऊर्ध्वगति" अर्थात् कर्मबन्धन से छुटे हुए जीव की ऊर्ध्वगति होती है वह ऊर्ध्वगति लोकाग्र ही है।

भावार्थ—जैसे तुम्बा एरण्ड का फल और धनुष से छूटा हुआ बाण और धूम पूर्व प्रयोग से गति करते हैं इसी तरह सिद्ध पुरुष भी पूर्व प्रयोग से ही गति करते हैं किन्तु उस समय वे कोई व्यापार नहीं करते हैं ॥२५-२६॥



णत्थि साहू असाहू वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र २७) ॥

छाया—नास्ति साधुरसाधुर्वा नैवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २७ ॥
आस्ति साधु रसाधुर्वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ।

अन्वयार्थ—(साहू असाहू वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए) साधु और असाधु नहीं हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये (साहू असाहू वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु साधु और असाधु हैं यही बात माननी चाहिये । ॥ २७ ॥

णत्थि कल्लाण पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि कल्लाण पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ (सूत्र २८) ॥

छाया—नास्ति कल्याणः पापो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत्
अस्ति कल्याणः पापोवा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(कल्लाणे पावे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए) कल्याणवान् तथा पापी नहीं हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये (कल्लाणे पावे अत्थि एवं सन्नं निवेसए) किन्तु कल्याणवान् और पापी हैं यही बात माननी चाहिये ॥ २८ ॥

भावार्थ—किसी का सिद्धान्त है कि—ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप जो तीन रत्न हैं उनका पूर्णरूप से पालन करना सम्भव नहीं है और इनका पूर्णरूप से पालन किये बिना साधु नहीं होता है इसलिये इस जगत् में कोई साधु नहीं है और साधु नहीं होने से असाधु भी नहीं है क्योंकि ये दोनों ही सम्बन्धी शब्द हैं यानी साधु होने पर साधु की अपेक्षा से असाधु होता है और असाधु होने पर उसकी अपेक्षा से साधु होता है इसलिये साधु और असाधु नहीं हैं यह कई लोग कहते हैं । परन्तु

भवार्थ—विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि—जो पुरुष सदा उपयोग रखने वाला राग द्वेष रहित सत्संयमी और शास्त्रोक्त रीति से शुद्ध आहार लेने वाला सम्यग्दृष्टि है वह साधु अवश्य है उसके द्वारा यदि कदाचित् अनेषणीय आहार भी भूल से ले लिया जाय तो वह तीनों उक्त रत्नों का अपूर्ण आराधक नहीं है किन्तु पूर्ण आराधक है क्योंकि उसकी उपयोग बुद्धि शुद्ध है। तथा पूर्व गाथा में जिन समस्त कर्मों का क्षय स्वरूप मुक्ति की सिद्धि की गई है वह भी साधु को ही होती है इससे भी साधु के अस्तित्व की सिद्धि होती है और साधु का आस्तित्व अवश्य है इसलिये साधु के प्रतिपक्षी असाधु का भी अस्तित्व है यही विवेकी पुरुष को मानना चाहिये।

कोई कहते हैं कि -"यह तो भक्ष्य है और यह अभक्ष्य है तथा यह गम्य है और यह अगम्य है एवं यह अप्रासुक तथा अनेषणीय है और यह प्रासुक तथा एषणीय है, इत्यादि विषम भाव रखना राग द्वेष है इसलिये ऐसा विषम भाव रखने वाले पुरुषों में सामायक (समता) का अभाव है"। परन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि—भक्ष्याभक्ष्य आदि का विचार करना मोक्ष का प्रधान अङ्ग है राग द्वेष नहीं है। राग से तो भक्ष्या भक्ष्य का विचार नष्ट हो जाता है चाहे स्वादिष्ट वस्तु कैसी ही हो रागी पुरुष की उसमें ग्रहण बुद्धि हो जाती है इसलिये भक्ष्याभक्ष्य का विवेक राग के अभाव का कार्य्य है राग का नहीं है। वस्तुत कोई उपकार करे या अपकार करे परन्तु उसके ऊपर समान भाव रखना सामायक है परन्तु भक्ष्याभक्ष्य का विवेक न रखना सामायक नहीं है। अत भक्ष्याभक्ष्य के विवेक को राग द्वेप मानना भूल है ॥२७॥

बौद्ध कहते हैं कि—"सभी पदार्थ अशुचि और आत्मरहित हैं इसलिये जगत् में कल्याण नाम का कोई पदार्थ नहीं है और कल्याण नामक पदार्थ न होने से कोई पुरुष कल्याणवान् भी नहीं है" तथा आत्माद्वैतवादी के मत मे सभी पदार्थ पुरुषस्वरूप हैं इसलिये पुण्य या पाप कोई वस्तु नहीं है, परन्तु विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु कल्याण और पाप दोनों ही हैं यही मानना चाहिये। बौद्धों ने जो समस्त पदार्थों को अशुचि कहा है वह ठीक नहीं है क्योंकि सभी पदार्थ अशुचि होने पर बौद्धों के उपास्यदेव भी अशुचि सिद्ध होंगे परन्तु ऐसा वे नहीं मान सकते इसलिये सब पदार्थ अशुचि नहीं हैं यही मानना चाहिये। एवं सभी पदार्थ को निरात्मक बताना भी ठीक नहीं है

भावार्थ—क्योंकि—सभी पदार्थ स्वद्रव्य, स्वकाल, स्वक्षेत्र, और स्वभाव की अपेक्षा से सत् और परद्रव्य परकाल परक्षेत्र और परद्रव्य की अपेक्षा से असत् हैं यही सर्वानुभवसिद्ध निर्दुष्ट सिद्धान्त है निरात्मवाद नहीं।

तथा आत्माद्वैतवाद भी मिथ्या है इसलिये पाप का अभाव भी नहीं है। आत्माद्वैतवाद में जगत् की विचित्रता हो नहीं सकती है यह पहले कई बार कहा जा चुका है अतः एक मात्र पुरुष को ही सब कुछ मान कर पाप आदि को न मानना मिथ्या है। वस्तुतः कथंचित् पाप और कथंचित् कल्याण दोनों ही हैं यही मानना चाहिये। चार प्रकार के घनघाती कर्मों का क्षय किये हुए केवली में साता और असाता दोनों का उदय होता है तथा नारकीय जीवों में भी पञ्चेन्द्रियत्व और ज्ञान आदि का सद्भाव है अतः वे भी एकान्त पापी नहीं हैं अतः कथंचित् कल्याण और कथञ्चित् पाप भी अवश्य है यही युक्तियुक्त सिद्धान्त मानना चाहिये ॥२८॥



कल्लाणे पावए वावि, ववहारो ण विज्जइ।
जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥ (सूत्र २९) ॥

छाया—कल्याणः पापको वापि, व्यवहारो न विद्यते।
यद् वैरं तन्न जानन्ति। श्रमणा बालपण्डिताः ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(कल्लाणे पावए वावि ववहारो ण विज्जइ) यह पुरुष एकान्त कल्याणवान् है और यह एकान्त पापी है ऐसा व्यवहार जगत् में नहीं होता है (बाल पंडिया समणा जं वेरं तं न जाणंति) तथापि मूर्ख होकर भी अपने को पण्डित मानने वाले शाक्य आदि, एकान्त पक्ष के आश्रय से उत्पन्न होने वाला जो कर्मबन्ध है उसे नहीं जानते हैं ॥ २९ ॥

असेसं अक्खयं वावि, सव्वदुक्खेति वा पुणो।
वज्झा पाणा न वज्झत्ति, इति वायं न नीसरे ॥ (सूत्र ३०) ॥

छाया—अशेषमक्षयं वाऽपि सर्वं दुःखमिति वा पुनः।
वध्याः प्राणाः न वध्या इति, इति वाचं न निःसृजेत् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(असेसं अक्खय वावि) जगत् के समस्त पदार्थ एकान्त नित्य हैं अथवा एकान्त अनित्य हैं ऐसा नहीं कहना चाहिये। (पुणो सव्व दुक्खेति) तथा समस्त जगत् एकान्त रूप से दु ख रूप है यह भी नहीं कहना चाहिये। (पाणा वज्झा अवज्झा इति वाय न नीसरे) तथा अपराधी प्राणी वध्य है या अवध्य है यह वचन साधु न कहे ॥ ३० ॥

दीसंति समियायारा, भिक्खुणो साहुजीविणो ।
एए मिच्छोवजीवंति, इति दिट्ठिं न धारए ॥ (सूत्रं ३१) ॥

छाया—दृश्यन्ते समिताचाराः, भिक्षवः साधुजीविनः ।
एते मिथ्योपजीवन्ति, इति दृष्टिं न धारयेत् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(साहुजीविणो समियायारा भिक्खुणो दीसंति) साधुताके साथ जीने वाले साधु देखे जाते हैं (एए मिच्छोवजीवति) इसलिये "ये साधु लोग कपट से जीविका करते हैं" (इति दिट्ठिं न धारए) ऐसी दृष्टि नहीं रखनी चाहिये।

भावार्थ—इस जगत् मे कोई पुरुष एकान्त रूप से कल्याण का ही भाजन हो और कोई एकान्त रूप से पापी हो, ऐसा नहीं है क्योंकि—कोई भी वस्तु एकान्त नहीं है किन्तु सर्वत्र अनेकान्त का सद्भाव है ऐसी दशा मे सभी पदार्थ कथंचित् कल्याणवान् और कथञ्चित् पापयुक्त हैं यही बात सत्य माननी चाहिये। एकान्त पक्ष के आश्रय लेने से कर्मबन्ध होता है परन्तु इस बात को अज्ञानी अन्यतीर्थी नहीं जानते हैं इसलिये वे अहिंसा धर्म और अनेकान्त पक्ष का आश्रय नहीं लेते हैं ॥२९॥

साङ्ख्य मतवाले जगत् के समस्त पदार्थों को एकान्त नित्य कहते हैं परन्तु विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि जगत् के सभी पदार्थ प्रतिक्षण अन्यथाभाव को प्राप्त होते रहते हैं। कोई भी वस्तु सदा एक ही अवस्था मे नहीं रहती है। काटने पर फिर नवीन उत्पन्न हुए केश और नख में जैसे तुल्यता को लेकर "यह वही केश नख है यह प्रत्यभिज्ञान (पहिचान) होता है इसी तरह समस्त पदार्थों में तुल्यता को लेकर यह वही वस्तु हैं" यह प्रत्यभिज्ञान होता है इसलिये इस प्रत्यभिज्ञान को देखकर वस्तु मे अन्यथाभाव न मानना और उन्हें एकान्त नित्य कहना मिथ्या है। इसी तरह जगत् के समस्त पदार्थों को बौद्धों की तरह एकान्त क्षणिक भी नहीं कहना चाहिये

भावार्थ—"स्वयूथिक या परतीर्थी को दान देने से लाभ होता है या नहीं होता है" ऐसा एकान्तरूप से न कहे क्योंकि—दान के निषेध करने से अन्तराय होना सम्भव है और दान लेने वाले को दुःख भी उत्पन्न होता है तथा उन्हें दान देने का एकान्त रूप से अनुमोदन भी नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से अधिकरण दोष उत्पन्न होना सम्भव है अतः साधु पूर्वोक्त प्रकार से एकान्त वचन न कहे किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग की जिस तरह उन्नति हो वैसा वचन कहे। आशय यह है कि कोई पुरुष साधु से दान देने के सम्बन्ध में प्रश्न करे तो साधु, दान का विधि निषेध न करता हुआ निरवद्य भाषा ही बोले। इस प्रकार इस अध्ययन में कहे हुए वाक् संयम को भली-भाँति पालन करता हुआ साधु मोक्षपर्य्यन्त संयम का अनुष्ठान करे।

यह पाँचवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।



॥ ओ३म् ॥

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का

षष्ठ अध्ययन



पञ्चम अध्ययन मे कहा है कि उत्तम पुरुष को अनाचार का त्याग और आचार का सेवन करना चाहिये इसलिये इस छठे अध्ययन में अनाचार का त्याग और आचार का सेवन करने वाले आर्द्रक मुनि का उदाहरण देकर यह बताया जाता है कि अनाचार का त्याग और आचार का सेवन मनुष्य के द्वारा किया जा सकता है यह असम्भव नहीं किन्तु सम्भव है।



भावार्थ—क्योंकि—बौद्ध, पूर्व पदार्थ का एकान्त विनाश और उत्तर पदार्थ की निर्हेतुक उत्पत्ति कहते हैं वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है यह पहले कहा जा चुका है। एवं यह समस्त जगत् दुःखात्मक है यह भी विवेकी पुरुष को नहीं कहना चाहिये क्योंकि—सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर जीव को असीम आनन्द की प्राप्ति होती है यह शास्त्र कहता है। अतएव विद्वानों ने कहा है कि—"तणसंथार निसण्णोवि मुणिवरो, भट्ठरागमयमोहो, जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि"। अर्थात् राग, मोह और मद से रहित मुनि तृण की शय्या पर बैठा हुआ भी जिस अनुपम आनन्द को प्राप्त करता है उसको चक्रवर्ती भी कहाँ से प्राप्त कर सकता है? अतः समस्त जगत् एकान्त रूप से दुःखात्मक है यह विद्वान् को नहीं कहना चाहिये। एवं जो प्राणी चोर और पारदारिक आदि महान् अपराधी हैं उनको साधु यह न कहे कि "ये प्राणी वध करने योग्य हैं अथवा ये वध करने योग्य नहीं हैं" इसी तरह दूसरे प्राणियों को मारने में सदा तत्पर रहने वाले सिंह, व्याघ्र, और बिलाव आदि प्राणियों को भी देखकर साधु यह न कहे कि—"ये प्राणी वध करने योग्य हैं अथवा ये वध करने योग्य नहीं हैं" किन्तु साधु समस्त प्राणियों के ऊपर समभाव रखता हुआ मध्य स्थवृत्ति धारण करे। अतएव तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि "मैत्रीप्रमोद कारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु"। अर्थात् साधु समस्त प्राणियों में मैत्रीभाव तथा अधिक गुण वाले पुरुषों पर हर्ष, एवं दुःखी पर करुणा और अविनीत प्राणियों पर मध्यस्थता रखे। इसी तरह दूसरे वाक्संयमों के विषय में भी जानना चाहिये ॥३०॥

शास्त्रोक्त रीति से आत्मसंयम करने वाले अथवा शास्त्रीय आचार का पालन करने वाले भिक्षामात्रजीवी उत्तमरीति से जीने वाले साधु पुरुष इस जगत् में देखे जाते हैं। वे पुरुष किसी को दुःख नहीं देते हैं किन्तु समाधीत इन्द्रियविजयी वचन के पक्के, परिमित जल पीने वाले, और एक युग पर्य्यन्त दृष्टि रखकर चलने वाले हैं। ऐसे पुरुषों को देखकर यह नहीं कहना चाहिये कि—"ये सराग होकर भी वीतराग के समान आचरण करते हैं अतः ये कपटी हैं" इत्यादि। जो पुरुष सर्वज्ञ नहीं है वह ऐसा निश्चय करने में समर्थ नहीं हो सकता है कि—"अमुक पुरुष सराग है और अमुक वीतराग है तथा अमुक कपटी है और अमुक सच्चा साधु

भावार्थ—है इत्यादि"। अत. शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि—वह पुरुष चाहे स्वतीर्थी हो या परतीर्थी हो, उसके विषय मे उक्त वाक्य साधु को नहीं कहना चाहिये। अतएव विद्वानों ने कहा है कि—"यावत् परगुण परदोषकीर्त्तने व्यापृतं मनो भवति, तावद्वरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मन कर्तुम्"। अर्थात् यह मन जबतक दूसरे के गुण और दोष के विवेचन मे प्रवृत्त रहता है तब तक यदि इसे शुद्ध ध्यान मे लगाया जाय तो क्या अच्छा हो ? ॥३१॥



दक्खिणाए पडिलंभो,अत्थि वा णत्थि वा पुणो ।
णवियागरेज्ज मेहावी, संतिमग्गं च वूहए ॥ (सूत्रं ३२) ॥

छाया—दक्षिणायाः प्रतिलम्भः अस्ति वा नास्ति वा पुनः ।
न व्यागृणीयान्मेधावी, शान्तिमार्गञ्च वर्धयेत् ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(दक्खिणाए पडिलंभो अत्थि वा पुणो णत्थि वा मेहावी ण वियागरेज्ज) दान की प्राप्ति अमुक से होती है वा अमुक से नहीं होती है यह बुद्धिमान् साधु न कहे (संति मग्ग च वूहए) किन्तु जिससे मोक्षमार्ग की वृद्धि होती है ऐसा वचन कहे ॥३२॥

इच्चेएहिं ठाणेहिं, जिणदिट्ठेहिं संजए ।
धारयंते उ अप्पाणं,आमोक्खाए परिवएज्जासि ॥ (सूत्रं ३३) ॥
॥त्तिबेमि इति बीयसुयक्खंधस्स अणायारणाम पंचममज्झयणं समत्तं॥

छाया—इत्येतैः स्थानै जिनदृष्टैःसंयतः, धारयंस्त्वात्मानम् ।
आमोक्षाय परिव्रजेदिति ब्रवीमि ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(इच्चेएहिं जिनदिट्ठेहिं ठाणेहिं संजए अप्पाण धारयते उ आमोक्खाए परिव्वएज्जा) इस अध्ययन में कहे हुए इन जिनोक्त स्थानों के द्वारा अपने को सयम में स्थापित करता हुआ साधु मोक्ष के लिये प्रयत्न करे ॥ ३३ ॥

भावार्थ—मर्य्यादा मे स्थित साधु, "अमुक गृहस्थ के यहां दान की प्राप्ति होती है अथवा नहीं होती है" यह नहीं कहे। अथवा मर्य्यादा में स्थित पुरुष

भावार्थ—"स्वयूथिक या परतीर्थी को दान देने से लाभ होता है या नहीं होता है" ऐसा एकान्तरूप से न कहे क्योंकि—दान के निषेध करने से अन्तराय होना सम्भव है और दान लेने वाले को दुःख भी उत्पन्न होता है तथा उन्हें दान देने का एकान्त रूप से अनुमोदन भी नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से अधिकरण दोष उत्पन्न होना सम्भव है अतः साधु पूर्वोक्त प्रकार से एकान्त वचन न कहे किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग की जिस तरह उन्नति हो वैसा वचन कहे। आशय यह है कि कोई पुरुष साधु से दान देने के सम्बन्ध में प्रश्न करे तो साधु, दान का विधि निषेध न करता हुआ निरवद्य भाषा ही बोले। इस प्रकार इस अध्ययन में कहे हुए वाक् संयम को भली-भांति पालन करता हुआ साधु मोक्षपर्य्यन्त संयम का अनुष्ठान करे।

यह पांचवां अध्ययन समाप्त हुआ।



॥ ओ३म् ॥

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का

षष्ठ अध्ययन



पञ्चम अध्ययन मे कहा है कि उत्तम पुरुष को अनाचार का त्याग और आचार का सेवन करना चाहिये इसलिये इस छठे अध्ययन में अनाचार का त्याग और आचार का सेवन करने वाले आद्रक मुनि का उदाहरण देकर यह बताया जाता है कि अनाचार का त्याग और आचार का सेवन मनुष्य के द्वारा किया जा सकता है यह असम्भव नहीं किन्तु सम्भव है ।



भावार्थ—"स्वयूथिक या परतीर्थी को दान देने से लाभ होता है या नहीं होता है" ऐसा एकान्तरूप से न कहे क्योंकि—दान के निषेध करने से अन्तराय होना सम्भव है और दान लेने वाले को दुःख भी उत्पन्न होता है तथा उन्हें दान देने का एकान्त रूप से अनुमोदन भी नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से अधिकरण दोष उत्पन्न होना सम्भव है अतः साधु पूर्वोक्त प्रकार से एकान्त वचन न कहे किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग की जिस तरह उन्नति हो वैसा वचन कहे। आशय यह है कि कोई पुरुष साधु से दान देने के सम्बन्ध में प्रश्न करे तो साधु, दान का विधि निषेध न करता हुआ निरवद्य भाषा ही बोले। इस प्रकार इस अध्ययन में कहे हुए वाक्संयम को भली-भांति पालन करता हुआ साधु मोक्षपर्य्यन्त संयम का अनुष्ठान करे।

यह पाँचवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।



भावार्थ—उनके पास आया और कहने लगा कि हे आर्द्रक ! पहले मेरी बात सुन लो पीछे जो इच्छा हो वह करना। मैं तुम्हारे महावीर स्वामी का पहला वृत्तान्त बताता हूँ उसे सुनो। यह महावीर स्वामी पहले जनरहित एकान्त स्थान मे विचरते हुए कठिन तपस्या करने मे प्रवृत्त रहते थे परन्तु इस समय वे तपस्या के क्लेश से पीडित होकर उसे त्याग कर देवता आदि प्राणियों से भरी सभा मे जाकर धर्म का उपदेश करते हैं। उन्हें अब एकान्त अच्छा नहीं लगता है अत वे अब अनेक शिष्यों को अपने साथ रखते हुए तुम्हारे जैसे भोले जीवों को मोहित करने के लिये विस्तार के साथ धर्म की व्याख्या करते हैं। अपने पहले आचरण को छोड़कर महावीर स्वामी ने जो यह दूसरा आचरण स्वीकार किया है निश्चय यह एक प्रकार की जीविका उन्होंने स्थापित की है क्योंकि अकेले विचरने वाले मनुष्य का लोग तिरस्कार किया करते हैं अत जन समूह का महान् आडम्बर रचकर वे अब विचरते हैं। कहा है कि "छत्रं, छात्र, पात्रं, वस्त्रं यष्टिश्च चर्चयति भिक्षु। वेषेण परिकरेण च कियताऽपि विना न भिक्षाऽपि"। अर्थात् भिक्षु जो अपने पास छत्र, छात्र, पात्र वस्त्र और दण्ड रखता है सो अपनी जीविका का साधन करने के लिये ही रखता है क्योंकि वेष और आडम्बर के बिना जगत् मे भिक्षा भी नहीं मिलती है। इसलिये महावीर स्वामी ने भी जीविका के लिये ही इस मार्ग को स्वीकार किया है। महावीर स्वामी स्थिर चित्त नहीं किन्तु चञ्चल स्वभाववाले हैं। वे पहले किसी शून्य वाटिका अथवा किसी एकान्त स्थान में रहते हुए अन्त प्रान्त आहार से अपना निर्वाह करते थे परन्तु अब वे सोचते हैं कि रेती के कवल के समान स्वादवर्जित यह कार्य्य जीवन भर करना ठीक नहीं हैं इसलिये वे अब महान् आडम्बर के साथ विचरते हैं। हे आर्द्रक ! इनके पहले आचार के साथ आजकल के आचार का मेल नहीं है किन्तु धूप और छाया के समान एकान्त विरोध है क्योंकि—कहा तो अकेले विचरना और कहा महान् जनसमुदाय के साथ फिरना ? यदि इस प्रकार आडम्बर के साथ विचरना ही धर्म का अङ्ग है तो पहले महावीर स्वामी अकेले क्यों विचरते थे ? और यदि अकेले विचरना ही अच्छा है तो इस समय जो वे इतने जन समुदाय मे जाकर धर्मोपदेश करते हैं यह क्यों ? वस्तुत ये चञ्चल हैं और इनकी चर्य्या समान नहीं है किन्तु बदलती रहती है, इस कारण ये दाम्भिक हैं धार्मिक नहीं हैं इसलिये इनके पास तुम्हारा जाना ठीक नहीं है। इस

पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह, मेगंतयारी समणे पुरासी ।
से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे, आइक्खतिण्हिं पुढो वित्थरेणं ॥

छाया—पुराकृतमार्द्र ! इदं शृणु, एकान्तचारी श्रमणः पुराऽऽसीत् ।
समिक्षूनुपनीयानेकान् आख्यातीदानीं पृथक् विस्तरेण ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(अद्द ! पुराकडं इमं सुणेह) गोशालक कहता है कि—हे आर्द्रक ! महावीर स्वामी का यह पहला वृत्तान्त सुनो (एगंतयारी समणे पुरा आसी) महावीर स्वामी पहले अकेला विचरने वाले तथा तपस्वी थे (इण्हिं से अणेगे भिक्खुणो उवणेत्ता पुढो वित्थरेण आइक्खति) परन्तु इस समय वे अनेक भिक्षुओं को अपने साथ रखकर अलग अलग विस्तार के साथ धर्म का उपदेश करते हैं ॥ १ ॥

साऽऽजीविया पट्ठविताऽथिरेणं, सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे ।
आइक्खमाणो बहुजन्नमत्थं, न संधयाती अवरेण पुव्वं ॥ २ ॥

छाया—सा आजीविका प्रस्थापिताऽस्थिरेण, सभागतो गणशः भिक्षुमध्ये ।
आचक्षाणो बहुजन्यमर्थं न सन्दधात्यपरेण पूर्वम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अथिरेण सा आजीविया पट्ठविता) उस चञ्चल चित्तवाले महावीर स्वामी ने यह जीविका स्थापित की है। (सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे बहुजन्नमत्थं आइक्खमाणो अवरेण पुव्वं न संधयाती) वे जो सभा में जाकर अनेक भिक्षुओं के मध्य में बहुत लोगों के हित के लिये धर्म का उपदेश करते हैं यह इनका इस समय का व्यवहार इनके पहले व्यवहार से मिलता नहीं है ॥ २ ॥

एगंतमेव अदुवा वि इण्हिं, दोऽवण्णमन्नं न समेंति जम्हा ।

छाया—एकान्तमेवमथवाऽपीदानीं, द्वावप्यन्योऽन्यं न समितौ यस्मात् ।

अन्वयार्थ—(एवं एगंतं अदुवावि इण्हिं) (दोऽवण्णमन्नं जम्हा न समेति) इस प्रकार या तो महावीर स्वामी का पहला व्यवहार एकान्त वास ही अच्छा हो सकता है अथवा इस समय का अनेक लोगों के साथ रहना ही अच्छा हो सकता है ? परन्तु दोनों अच्छे नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है मेल नहीं है।

भावार्थ—प्रत्येकबुद्ध राजकुमार आर्द्रक जब भगवान् महावीर स्वामी के निकट जा रहे थे उस समय गोशालक उनकी इस इच्छा को बदलने के लिये

भावार्थ—उनके पास आया और कहने लगा कि हे आर्द्रक ! पहले मेरी बात सुन लो पीछे जो इच्छा हो वह करना। मैं तुम्हारे महावीर स्वामी का पहला वृत्तान्त बताता हूँ उसे सुनो। यह महावीर स्वामी पहले जनरहित एकान्त स्थान मे विचरते हुए कठिन तपस्या करने मे प्रवृत्त रहते थे परन्तु इस समय वे तपस्या के क्लेश से पीडित होकर उसे त्याग कर देवता आदि प्राणियों से भरी सभा मे जाकर धर्म का उपदेश करते हैं। इन्हे अब एकान्त अच्छा नहीं लगता है अत वे अब अनेक शिष्यों को अपने साथ रखते हुए तुम्हारे जैसे भोले जीवों को मोहित करने के लिये विस्तार के साथ धर्म की व्याख्या करते हैं। अपने पहले आचरण को छोड़कर महावीर स्वामी ने जो यह दूसरा आचरण स्वीकार किया है निश्चय यह एक प्रकार की जीविका उन्होंने स्थापित की है क्योंकि अकेले विचरने वाले मनुष्य का लोग तिरस्कार किया करते हैं अत. जन समूह का महान् आडम्बर रचकर वे अब विचरते हैं। कहा है कि "छत्रं, छात्रं, पात्रं, वस्त्रं यष्टिञ्च चर्चयति भिक्षु । वेषेण परिकरेण च कियताऽपि विना न भिक्षाऽपि"। अर्थात् भिक्षु जो अपने पास छत्र, छात्र, पात्र वस्त्र और दण्ड रखता है सो अपनी जीविका का साधन करने के लिये ही रखता है क्योंकि वेष और आडम्बर के विना जगत् मे भिक्षा भी नहीं मिलती है। इसलिये महावीर स्वामी ने भी जीविका के लिये ही इस मार्ग को स्वीकार किया है। महावीर स्वामी स्थिर चित्त नहीं किन्तु चञ्चल स्वभाववाले हैं। वे पहले किसी शून्य वाटिका अथवा किसी एकान्त स्थान मे रहते हुए अन्त प्रान्त आहार से अपना निर्वाह करते थे परन्तु अव वे सोचते हैं कि रेती के कवल के समान स्वादवर्जित यह कार्य्य जीवन भर करना ठीक नहीं है इसलिये वे अब महान् आडम्बर के साथ विचरते हैं। हे आर्द्रक ! इनके पहले आचार के साथ आजकल के आचार का मेल नहीं है किन्तु धूप और छाया के समान एकान्त विरोध है क्योंकि—कहा तो अकेले विचरना और कहा महान् जनसमुदाय के साथ फिरना ? यदि इस प्रकार आडम्बर के साथ विचरना ही धर्म का अङ्ग है तो पहले महावीर स्वामी अकेले क्यों विचरते थे ? और यदि अकेले विचरना ही अच्छा है तो इस समय जो वे इतने जन समुदाय मे जाकर धर्मोपदेश करते हैं यह क्यों ? वस्तुत ये चञ्चल है और इनकी चर्य्या समान नहीं है किन्तु वदलती रहती है, इस कारण ये दाम्भिक हैं धार्मिक नहीं हैं इसलिये इनके पास तुम्हारा आना ठीक नहीं है। इस

भावार्थ—प्रकार गोशालक के द्वारा कहे हुए आर्द्रकजी गोशालक को आगे की गाथा के द्वारा उत्तर देते हैं ।

पुव्विं च इण्हिं च अणागतं वा, एगंतमेवं पडिसंधयाति ॥३॥

छाया—पूर्वञ्चेदानीञ्चानागतञ्च, एकान्तमेवं प्रतिसन्दधाति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(पुव्विं च इण्हिं च अणागतं च एगंतमेवं पडिसंधयाति) पहले, अब, तथा भविष्य में सदा सर्वदा भगवान् महावीर स्वामी एकान्त का ही अनुभव करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—गोशालक के आक्षेप का समाधान करते हुए आर्द्रकजी कहते हैं कि— भगवान् महावीर स्वामी पहले अब और भविष्य में सदा एकान्त का ही अनुभव करते हैं इसलिये उन्हें चञ्चल कहना तथा उनकी पहली चर्या के साथ आधुनिक चर्या की भिन्नता बताना तुम्हारा अज्ञान है । यद्यपि इस समय भगवान् महान जनसमूह में आकर धर्म का उपदेश करते हैं तथापि उनका किसी के साथ न तो राग है और न द्वेष है किन्तु सब के प्रति उनका भाव समान है । इसलिये महान् जनसमूह में स्थित होने पर भी वे पहले के समान एकान्त का ही अनुभव करते हैं अतः उनकी पूर्व अवस्था और आधुनिक अवस्था में वस्तुतः कोई फर्क नहीं है । तथा पहले भगवान् महावीर स्वामी अपने चतुर्विध घाती कर्मों का क्षय करने के लिये मौन रहते थे और एकान्त का सेवन करते थे परन्तु अब, उन कर्मों का नाश करके शेष चतुर्विध अघाती कर्मों का क्षपण करने के लिये एवं उच्चगोत्र शुभ आयु और शुभ नाम आदि प्रकृतियों का क्षय करने के लिये महाजनों की सभा में वे धर्म का उपदेश करते हैं । अतः उनको चञ्चल बताना अज्ञान है यह गोशालक से आर्द्रकजी ने कहा ।

समिच्च लोगं तसथावराणं, खेमंकरे समणे माहणे वा ।
आइक्खमाणोवि सहस्समज्झे, एगंतयं सारयती तहच्चे ॥४॥

छाया—समेत्य लोकं त्रसस्थावराणां, क्षेमङ्करः श्रमणो माहनो वा ।
आचक्षाणोऽपि सहस्रमध्ये एकान्तकं सारयति तथार्चः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(समगे माहणे वा लोग समिच्च) बारह प्रकार की तपस्या से अपने शरीर को तपाये हुये तथा "प्राणियों को मत मारो" ऐसा कहने वाले भगवान् महावीर स्वामी केवल ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण चराचर जगत् को जानकर (तसथावराण खेमंकरे) त्रस और स्थावर प्राणियों के कल्याण के लिये (सहस्समज्झे आइक्खमाणोवि) हजारों जीवों के मध्य में धर्म का कथन करते हुए भी (एगंतगं सारयति) एकान्त का ही अनुभव करते हैं (तहच्चे) क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति उसी तरह की बनी रहती है ॥ ४ ॥

धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसो, खंतस्स दंतस्स जितिंदियस्स ।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥५॥

छाया—धर्मं कथयतस्तु नास्ति दोषः, क्षान्तस्य दान्तस्य जितेन्द्रियस्य
भाषायाः दोषस्य विवर्जकस्य, गुणश्च भाषायाः निषेवकस्य ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ (धम्म कहतस्स उ दोसो णत्थि) धर्म का उपदेश करते हुए भगवान् को दोष नहीं होता (खंतस्स दतस्स जितिंदियस्स) क्योंकि—भगवान् समस्त परिषहों को सहन करने वाले, मन को वश में किये हुए और इन्द्रियों के विजयी हैं (भासाय दोसेय विवज्जगस्स भासाय णिसेवगस्स गुणे य) अत भाषा के दोषों को वर्जित करने वाले भगवान् के द्वारा भाषा का सेवन किया जाना गुण ही है दोष नहीं है ॥५॥

महव्वए पंच अणुव्वए य, तहेव पंचासवसंवरे य ।
विरतिं इहस्सामणियंमि पन्ने, लवावसक्की समणेत्तिबेमि ॥६॥

छाया—महाव्रतान् पञ्चानुव्रतांश्च, तथैव पञ्चाश्रवसंवरांश्च ।
विरतिमिह श्रामण्ये पूर्णे, लवाशङ्की श्रमण इति ब्रवीमि ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(लवावसंकी समणे) कर्म से दूर रहने वाले तपस्वी भगवान् महावीर स्वामी (महव्वए पंच अणुव्वए य तहेव पचासवसवरेय पन्ने इह सामणियम्मि विरति त्तिबेमि) श्रमणों के लिये पाचमहाव्रत और श्रावकों के लिये पाच अनुव्रत तथा पाच आश्रव और सवर का उपदेश करते है एव पूर्ण साधुपने मे वे विरति की शिक्षा देते है यह मैं कहता हूँ ॥६॥

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामी की पहली चर्य्या दूसरी थी और अब दूसरी है क्योंकि वे पहले अकेले रहते थे और अब वे अनेक मनुष्यों के साथ रहते हैं अत वे दाम्भिक हैं सच्चे साधु नहीं हैं यह जो गोशालक ने

भावार्थ—आक्षेप किया है इसका समाधान देते हुए आर्द्रकजी कहते हैं कि—भगवान महावीर स्वामी सच्चे साधु हैं दाम्भिक नहीं हैं पहले उनको केवल ज्ञान प्राप्त नहीं था इसलिये वे उसकी प्राप्ति के लिये मौन रहते थे और एकान्तवास करते थे। उस समय उनके लिये यही उचित था क्योंकि उस समय उनको सर्वज्ञता प्राप्त न होने से धर्मोपदेश करना ठीक नहीं था क्योंकि वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक जानकर ही धर्मोपदेश देना उचित है अन्यथा नहीं। परन्तु अब भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है और उसके प्रभाव से उन्होंने समस्त चराचर जगत् को अच्छी तरह जान लिया है। प्राणियों के अधःपतन का मार्ग क्या है और उनके कल्याण का साधन क्या है, यह भगवान ने केवलज्ञान द्वारा जान लिया है और भगवान् दयालु हैं इसलिये जिस तरह प्राणियों का हित हो वैसा उपदेश करना भगवान् का कर्तव्य है अतः अब वे जगत् की भलाई के लिये धर्मोपदेश करते हैं। भगवान धर्मोपदेश देकर किसी तरह का स्वार्थ साधन करना नहीं चाहते क्योंकि—उनका अब कोई स्वार्थ शेष नहीं है। जब तक केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है तभी तक जीव अपूर्णकाम और स्वार्थ साधन के प्रपञ्च में लगा रहता है परन्तु केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर उसका किसी भी प्राणी के अधीन स्वार्थ शेष नहीं रहता है अतः भगवान के ऊपर स्वार्थ का आरोप करना भी मिथ्या है। स्वार्थ के लिये जो अपनी अवस्थाओं का परिवर्तन करता है वही दाम्भिक है परन्तु स्वार्थ रहित पुरुष लोकोपकार के लिये जो उत्तम अनुष्ठान करता है वह दम्भ नहीं है। भगवान महावीर स्वामी स्वार्थ रहित ममता रहित और राग द्वेष रहित हैं वे केवल प्राणियों के कल्याण के लिये धर्म का उपदेश करते हैं इसलिये वे महात्मा महापुरुष और परम दयालु हैं दाम्भिक नहीं हैं। जिस पुरुष को भाषा के दोषों का ज्ञान नहीं है उसका भाषण भी दोष का कारण होता है अतः धर्मोपदेश करने वाले को भाषा के दोषों का ज्ञान और उनका त्याग आवश्यक है। जो पुरुष भाषा के दोषों को जान कर उनका त्याग करता हुआ भाषण करता है उसका भाषण करना दोष जनक नहीं होता किन्तु धर्म की वृद्धि आदि अनेक गुणों का कारण होता है इसलिये भगवान महावीर स्वामी का धर्मोपदेश के लिये भाषण करना गुण है दोष नहीं है क्योंकि वे भाषा के दोषों को त्यागकर भाषण करने वाले और प्राणियों को पवित्र मार्ग का प्रदर्शन

भावार्थ—कराने वाले हैं। धर्मोपदेश करते समय यद्यपि भगवान् को अनेक प्राणियों के मध्य मे स्थित होना पड़ता है तथापि इससे उनकी कोई क्षति नहीं होती है। वे पहले जिस तरह एकान्त का अनुभव करते थे उसी तरह इस समय भी एकान्त का ही अनुभव करते हैं क्योंकि उनके हृदय मे किसी के प्रति राग या द्वेप नहीं हैं इसलिये हजारों प्राणियों के मध्य मे रहते हुए भी वे भाव से अकेले ही हैं। लोगों के मध्य मे रहने से भगवान के शुद्ध भाव मे कोई अन्तर नहीं होता जैसे एकान्त स्थान में उनके शुक्ल ध्यान की स्थिति रहती है उसी तरह हजारों मनुष्यों के मध्य मे भी वह अविचल बना रहता है। ध्यान में अन्तर होने के कारण राग द्वेप हैं इसलिये रागद्वेपरहित पुरुप के ध्यान मे अन्तर होने का कोई कारण नहीं है। किसी विद्वान् ने कहा है कि—"राग द्वेषौ विनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि। अथ नो निर्जितावेतौ किमरण्ये करिष्यसि"। अर्थात् यदि तुमने रागद्वेष जीत लिये हैं तो जङ्गल में रह कर क्या करोगे ? और यदि राग द्वेष को जीता नहीं है तो भी जगल मे रह कर क्या करोगे ?। आशय यह है कि—राग द्वेप ही मनुष्य के ध्यान मे अन्तर के कारण हैं वे जिसमे नहीं हैं वह महात्मा चाहे अकेला रहे या हजारों मनुष्यों मे घेरा हुआ रहे उसकी स्थिति मे जरा भी अन्तर नहीं पडता है। अत लोगों के मध्य में रहना भगवान के लिये कोई दोप की बात नहीं है।

जो पुरुष समस्त सावद्य कर्मों के त्यागी साधु हैं उनको मोक्ष प्राप्ति के लिये भगवान् पाच महाव्रतों के पालन का उपदेश करते हैं और जो देश से सावद्य कर्मों का त्याग करने वाले श्रावक हैं उनके लिये भगवान् पाँच अनुव्रतों का उपदेश करते हैं। भगवान् पाँच आश्रवों का और सत्तरह प्रकार के सयम का भी उपदेश करते है। संवरयुक्त पुरुप को विरति प्राप्त होती है इसलिये भगवान् विरति का भी उपदेश करते हैं। विरति से निर्जरा और निर्जरा से मोक्ष होता है इसलिये भगवान् निर्जरा और मोक्ष का भी उपदेश करते हैं। भगवान कर्मों से दूर रहने वाले परमतपस्वी हैं अत उनके ऊपर पाप कर्म करने का आरोप करना मिथ्या है ॥ ४-५-६ ॥



सीओदग सेवउ बीयकाय, आहायकम्म तह इत्थियाओ।
एगतचारिस्सिह अम्ह धम्मे, तवस्सिणो णाभिसमेति पाव ॥७॥

छाया—शीतोदकं सेवतु बीजकायम्, आधाकर्म तथा स्त्रियः।
एकान्तचारिणस्त्वस्मद्धर्मे तपस्विनो नाभिसमेति पापम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(सीओदग बीयकायं आहाय कम्मं तह इत्थियाओ) कच्चा जल बीजकाय, आधाकर्म तथा स्त्रियों का (सेवउ) भले ही वह सेवन करता हो (इह अम्ह धम्मे एगंतचारिस्स तवस्सिणो पावं णाभिसमेति) परन्तु जो अकेला विचरने वाला पुरुष है उसको हमारे धर्म में पाप नहीं लगता है ॥ ७ ॥

सीतोदग वा तह बीयकाय, आहायकम्म तह इत्थियाओ।
एयाइ जाण पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवंति ॥८॥

छाया—शीतोदकं वा तथा बीजकायम्, आधाकर्म तथा स्त्रियः।
एतानि जानीहि प्रतिसेवमाना अगारिणोऽश्रमणाः भवन्ति ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(सीओदग बीयकायं आहायकम्मं तह इत्थियाओ एयाइं पडिसेवमाणा अगारिणो अस्समणा भवंति) कच्चा जल, बीजकाय आधाकर्म और स्त्री इनको सेवन करने वाले गृहस्थ हैं श्रमण नहीं है ॥ ८ ॥

सिया य बीओदगइत्थियाओ, पडिसेवमाणा समणा भवंतु।
अगारिणोऽवि समणा भवंतु, सेवंति उ तेऽवि तहप्पगारं ॥६॥

छाया—स्याच्च बीजोदकस्त्रियः प्रतिसेवमाना श्रमणाः भवन्तु।
अगारिणोऽपि श्रमणाः भवन्तु सेवन्ते तु तेऽपि तथाप्रकारम् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(सियाय बीओदगइत्थियाओ पडिसेवमाणा समणा भवंतु) यदि बीजकाय कच्चा जल आधाकर्म एवं स्त्रियों को सेवन करने वाले पुरुष भी श्रमण हों (अगारिणो वि समणा भवंतु तेवि उ तहप्पगारं सेवंति) तो गृहस्थ भी श्रमण क्यों न माने जायेंगे? क्योंकि वे भी पूर्वोक्त विषयों का सेवन करते हैं ॥ ९ ॥

जे यावि बीओदगभोति भिक्खू, भिक्खं विहं जायति जीवियट्ठी।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय, कायोवगा णंतकरा भवंति ॥१०॥

छाया—ये चाऽपि बीजोदकभोजिनो भिक्षवः भिक्षाविधिं यान्ति जीवितार्थिनः।
ते ज्ञातिसंयोगमपि प्रहाय कायोपगाः नान्तकराः भवन्ति ॥ १० ॥

अन्वयार्थ--(जेयावि भिक्खू बीओदगभोति जीवियट्ठी भिक्खं विह जायति) जो पुरुष भिक्षु होकर भी सचित्त बीजकाय कच्चा जल और आधा कर्म आदि का सेवन करते हैं और जीवन रक्षा के लिये भिक्षावृत्ति करते हैं (ते णातिसजोगमविप्पहाय) वे अपने ज्ञातिसंसर्ग को छोड कर भी (कायोवगा) अपने शरीर के ही पोषक हैं (णंतकरा भवंति) वे कर्मों का नाश करने वाले नहीं हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—गोशालक अपने धर्म का तत्त्व समझाने के लिये आर्द्रकुमार से कहता है कि—हे आर्द्रकुमार! तुमने अपने धर्म की बात तो कही अब मेरे धर्म के नियमों को सुनो। मेरे धर्म का सिद्धान्त यह है कि जो पुरुष अकेला विचरने वाला और तपस्वी है वह चाहे कच्चा जल बीजकाय आधा कर्म और स्त्रियों का सेवन भले ही करे परन्तु उसको किसी प्रकार का पाप नहीं होता है ॥ ७ ॥

गोशालक के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए आर्द्रकजी कहते हैं कि हे गोशालक! तुम्हारा यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि बीजकाय कच्चा जल आधाकर्म और स्त्रियों का सेवन तो गृहस्थगण भी करते हैं परन्तु वे श्रमण नहीं हैं क्योंकि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह इन पांच वस्तुओं को सेवन करना श्रमण पुरुष का लक्षण है बीजकाय और स्त्री आदि का सेवन करना नहीं, इनके सेवन से तो श्रमणपने से ही जीव पतित हो जाता है अत. तुम्हारा सिद्धान्त अयुक्त है। यदि अकेले रहने मात्र से किसी प्रकार का दोष न लगे और वह साधु माना जाय तो परदेश आदि जाते समय अथवा बहुत से ऐसे अवसरों में गृहस्थ भी अकेले रहते हैं और धन न मिलने पर वे भी क्षुधा और पिपासा के कष्टों को सहन करते हैं तथापि वे गृहस्थ ही माने जाते हैं श्रमण नहीं माने जाते। अत जो पुरुष अपने परिवार आदि के संसर्ग को छोड़ कर प्रव्रज्या लेकर भिक्षु हो गया है वह यदि कच्चा जल, बीजकाय और आधा कर्म तथा स्त्री का सेवन करे तो उसे दाम्भिक समझना चाहिये। वह जीविका के लिये भिक्षावृत्ति को अङ्गीकार करता

भावार्थ—है कर्मों का अन्त करने के लिये नहीं । अतः जो पुरुष छः काय के जीवों का आरम्भ करते हैं वे चाहे द्रव्य से ब्रह्मचारी भी हों परन्तु वे संसार को पार करने में समर्थ साधु नहीं हैं अतः तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या है ॥ ८-९ १० ॥



इमं वयं तु तुमं पाउकुव्वं, पावाइणो गरिहसि सव्व एव ।
पावाइणो पुढो किट्टयंता, सयं सयं दिट्ठि करेंति पाउ ॥११॥

छाया—इमां वाचन्तु त्वं प्रादुष्कुर्वन् प्रावादिनः गर्हसे सर्वानेव ।
प्रावादिनः पृथक् कीर्त्तयन्तः स्वकां स्वकां दृष्टिं कुर्वन्ति प्रादुः ॥११॥

अन्वयार्थ—(इमं वयं तु पाउकुव्वं तुमं सव्व एव पावाइणो गरिहसि) गोशालक कहता है कि हे आर्द्रकुमार ? तुम इस वचन को कहते हुए सम्पूर्ण प्रावादुकों की निन्दा करते हो (पावाइणो पुढो किट्टयंता सयं सयं दिट्ठि पाउ करेंति) प्रावादुक गण अलग अलग अपने सिद्धान्तों को बताते हुए अपने दर्शन को श्रेष्ठ कहते हैं ॥११॥

ते अन्नमन्नस्स उ गरहमाणा, अक्खंति भो समणा माहणा य ।
सतो य अत्थी असतो य णत्थी, गरहामो दिट्ठिं ण गरहामो किंचि १२

छाया—ते अन्योऽन्यस्य तु गर्हमाणा आख्यान्ति भो श्रमणाः माहनाश्च ।
स्वतश्चास्तिअस्वतश्च नास्ति गर्हामो दृष्टिं न गर्हामः किञ्चित् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(ते समणा माहणा य अन्नमन्नस्स उ गरहमाणा अक्खंति) आर्द्रकमुनि कहते हैं कि—वे श्रमण और ब्राह्मण परस्पर एक दूसरे की निन्दा करते हुए अपने-अपने दर्शन की प्रशंसा करते हैं (सतो य अत्थि असतो य नत्थि दिट्ठिं गरहामो ण किंचि) वे अपने दर्शन में कही हुई क्रिया के अनुष्ठान से पुण्य होना और परदर्शनोक्त क्रिया के अनुष्ठान से पुण्य न होना बतलाते हैं अतः मैं उनकी इस एकान्त दृष्टि की निन्दा करता हूं और कुछ नहीं ॥१२॥

ण किंचि रूवेणऽभिधारयामो सदिट्ठिमग्गं तु करेमु पाउं ।
मग्गे इमे किट्टिए आरिएहिं अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू ॥१३॥

छाया—न कञ्चन रूपेणाभिधारयामः स्वदृष्टिमार्गञ्च कुर्मः प्रादुः ।
मार्गोऽयं कीर्तित आर्य्यैरनुत्तरः सत्पुरुषैरञ्जु ॥१३॥

अन्वयार्थ—(किंचि रूवेण ण अभिधारयामो) हम किसी के रूप और वेष आदि की निन्दा नही करते है। (सदिट्ठिमग्गं तु पाऊ करेमु) किन्तु अपने दर्शन के मार्ग का प्रकाश करते है (इमे मग्गे अणुत्तरे आरिएहिं सप्पुरिसेहि अंजू किट्टिए) यह मार्ग सर्वोत्तम है और आर्य्य सत्पुरुषों के द्वारा निर्दोष कहा गया है ॥१३॥

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
भूयाहिसंकाभिदुगुंछमाणा, णो गरहती वुसिमं किंचि लोए ॥१४॥

छाया—ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः ।
भूताभिशंकाभिजुगुप्समानः नो गर्हते संयमवान् किञ्चिल्लोके ॥१४॥

अन्वयार्थ—(उड्ढ अहेय तिरिय दिसासु तसा य जे थावरा जे य पाणा) ऊपर नीचे और तिरछे दिशाओं मे रहने वाले जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं (भूयाहिसंकाभिदुगुंछमाणा वुसिमं लोए न किंचि गरहती) उन प्राणियों की हिंसा से घृणा रखने वाले सयमी पुरुष इस लोक मे किसी की भी निन्दा नही करते है ॥१४॥

भावार्थ—गोशालक आर्द्रकुमार से कहता है कि—हे आर्द्रकुमार ! तुम शीत जल, बीज काय और आधा कर्म आदि के उपयोग करने से कर्म का वन्ध बताकर दूसरे समस्त दार्शनिको की निन्दा कर रहे हो क्योंकि समस्त दूसरे दार्शनिक शीत जल बीजकाय और आधा कर्म का उपभोग करते हुए ससार से पार होने का प्रयत्न करते हैं तथा वे अपने-अपने दर्शनो को जगत् मे प्रकट करते हुए उन दर्शनो में विधान किए हुए आचरण से मुक्ति की प्राप्ति वतलाते हैं परन्तु यदि शीत जल बीजकाय और आधाकर्म के सेवन से कर्मवन्ध माना जाय तब तो इन दार्शनिको का प्रयत्न निरर्थक ही है यह मुक्ति के साधन के बदले में वन्धन का ही साधक होगा इसलिये तुम सव दर्शनों की निन्दा कर रहे हो यह गोशालक आर्द्रकुमार से कहता है। इस गोशालक के आक्षेप का समाधान करते हुए आर्द्रकुमार कहते हैं कि—हे गोशालक ! हम किसी की निन्दा नहीं करते हैं किन्तु वस्तुस्वरूप का कथन करते हैं। देखो, सभी दार्शनिक अपने-अपने दर्शन की प्रशसा और परदर्शन की निन्दा किया करते हैं तथा

भावार्थ—उनका अनुष्ठान भी परस्पर विरुद्ध देखा जाता है। तो भी वे अपने पक्ष का समर्थन और परपक्ष को दूषित करते हैं। तथा सभी अपने आगम में किये हुए विधान से मुक्तिलाभ और परदर्शन में किये हुए विधान से मुक्ति का निषेध करते हैं। यह बात सत्य है मिथ्या नहीं है परन्तु मैं इस नीति का आश्रय लेकर किसी की निन्दा नहीं करता किन्तु मध्यस्थ भाव को धारण करके वस्तु के सच्चे स्वरूप को बतला रहा हूँ। सभी अन्य दार्शनिक एकान्त दृष्टि को लेकर अपने पक्ष का समर्थन और परमत का निषेध करते हैं। परन्तु उनकी यह एकान्त दृष्टि ठीक नहीं है क्योंकि एकान्त दृष्टि से वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता है। वस्तु स्वरूप को जानने के लिये अनेकान्त दृष्टि ही उपयोगिनी है अतः उसका आश्रय लेकर मैं वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बता रहा हूँ ऐसा करना किसी की निन्दा करना नहीं है अपितु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करना है अतएव विद्वानों ने कहा है कि—"नेत्रैर्निरीक्ष्य बिलकण्टककीटसर्पान् सम्यक् पथा व्रजति तान् परिहृत्य सर्वान् कुज्ञानकुश्रुतिकुमार्गकुदृष्टिदोषान् सम्यग् विचारयत कोऽत्र परापवादः।" अर्थात् नेत्रवान् पुरुष नेत्रों के द्वारा बिल, कण्टक, कीट, और सर्पों को देख कर तथा उनको वर्जित करके उत्तम मार्ग से चलता है इसी तरह विवेकी पुरुष कुज्ञान कुश्रुति और कुमार्ग और कुदृष्टि को अच्छी तरह विचार कर सन्मार्ग का आश्रय लेते हैं अतः ऐसा करना किसी की निन्दा करना नहीं है। वस्तुतः जो पुरुष पदार्थ को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य एवं सामान्यस्वरूप तथा विशेष स्वरूप ही मानने वाले एकान्तवादी अन्यदर्शनी हैं वे ही दूसरे की निन्दा करते हैं परन्तु जो अनेकान्तवादी अनेकान्त पक्ष को मानने वाले हैं वे किसी की भी निन्दा नहीं करते हैं क्योंकि वे पदार्थों को कथञ्चित् सत् और कथञ्चित् असत् तथा कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य एवं कथञ्चित् सामान्यरूप और कथञ्चित् विशेषरूप स्वीकार करके उन सबों का समन्वय करते हैं। ऐसा किये बिना वस्तुस्वरूप का ज्ञान जगत् को हो नहीं सकता है इसलिये राग द्वेष रहित होकर हम एकान्त दृष्टि को दूषित करते हुए अनेकान्तवाद का समर्थन करते हैं हम किसी श्रमण या ब्राह्मण के निन्दित अङ्ग अथवा वेष को बता कर उनकी निन्दा नहीं करते हैं किन्तु उन्होंने अपने दर्शन में जो कहा है वह प्रकट कर देते हैं। ऐसा करना उनकी निन्दा नहीं है। एवं परमत को बताकर अपने मत की विशेषता बताना भी कोई दोष नहीं है

भावार्थ—अत परदार्शनिकों की निन्दा का आक्षेप तुम्हारा ठीक नहीं है। आर्द्रकजी कहते हैं कि—हे गोशालक! सर्वज्ञ आर्य्य पुरुषों के द्वारा कहा हुआ जो मार्ग सबसे उत्तम तथा वस्तु के सच्चे स्वरूप को प्रकट करने वाला सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप है वही मनुष्यों के कल्याण का कारण है उस धर्म के पालन करने वाले सयमी पुरुष ऊपर नीचे तथा तिरछे दिशाओं में रहने वाले प्राणियों के दुःख के भय से किसी की निन्दा नहीं करते हैं। वे जिन कार्य्यों से प्राणियों का उपमर्द सम्भव है उन सावद्य अनुष्ठानों का आचरण कदापि नहीं करते हैं। वे राग द्वेष रहित पुरुष जगत् के उपकारार्थ जो वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं वह किसी की भी निन्दा नहीं है। यदि ऐसा करना भी निन्दा हो तब तो आग गर्म होती है और पानी ठण्ढा होता है यह कहना भी निन्दा मानना चाहिये अतः वस्तु के सच्चे स्वरूप को बताना निन्दा नहीं है ॥ ११-१२-१३-१४ ॥



आगंतगारे आरामगारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं।
दक्खा हु संती बहवे मणुस्सा, ऊणातिरित्ता य लवालवा य ॥१५॥

छाया—आगन्त्रगारे आरामागारे श्रमणस्तु भीतो नोपैति वासम्।
दक्षा हि सन्ति वहवो मनुष्याः, ऊनातिरिक्ताश्च लपालपाश्च ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(समणे उ भीते आगंतगारे आरामगारे वास न उवेति) गोशालक आर्द्रकजी से कहता है कि—तुम्हारे श्रमण महावीर स्वामी बड़े डरपोक हैं इसीलिये वे जहां बहुत से आगन्तुक लोग उतरते हैं ऐसे गृहों में तथा आराम गृहों में निवास नहीं करते हैं (बहवे मणुस्सा ऊणातिरित्ता लवालवा य दक्खा संति) वे सोचते हैं कि—उक्त स्थानों में बहुत से मनुष्य कोई न्यून कोई अधिक कोई वक्ता तथा कोई मौनी निवास करते हैं ॥ १५ ॥

मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता, सुत्तेहि अत्थेहि य णिच्छयन्ना।
पुच्छिंसु मा णे अणगार अन्ने, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥१६

छाया—मेधाविनः शिक्षितबुद्धिमन्तः, सूत्रेष्वर्थेषु च निश्चयज्ञाः।
मा प्राक्षुरनगारा अन्य इति शङ्कमाणो नोपैति तत्र ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता सुत्तेहिं अत्थेहिं य णिच्छयण्णा अण्णे अणगारा मा णो पुच्छिंसु इति संकमाणो तत्थ ण उवेति) एवं कोई बुद्धिमान् कोई शिक्षा पाए हुए कोई मेधावी तथा कोई सूत्र और अर्थों को पूर्णरूप से निश्चय किए हुए वहाँ निवास करते हैं अतः ऐसे दूसरे साधु मेरे से कुछ प्रश्न न पूछ बैठें ऐसी आशंका करके वहाँ महावीर स्वामी नहीं जाते हैं ॥ १६ ॥

णो कामकिच्चा ण य बालकिच्चा, रायाभिओगेण कुओ भएण।
वियागरेज्ज पसिण नवावि, सकामकिच्चेणिह आरियाण ॥१७॥

छाया—न कामकृत्यो न च बालकृत्यो, राजाभियोगेन कुतो भयेन ।
व्यागृणीयात् प्रश्नं नवापि, स्वकामकृत्येनेहार्य्याणाम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(णो कामकिच्चा ण य बालकिच्चा) आर्द्रकमुनि गोशालक से कहते हैं कि—भगवान् महावीर स्वामी बिना प्रयोजन के कोई कार्य्य नहीं करते हैं तथा वे बालक की तरह बिना विचारे भी कोई क्रिया नहीं करते हैं। (रायाभिओगेण कुओ भएणं) वे राजभय से भी धर्मोपदेश नहीं करते हैं फिर दूसरे भय की तो बात ही क्या है ? (पसिणं वियागरेज्जा नवावि) भगवान् प्रश्न का उत्तर देते हैं और नहीं भी देते हैं। (सकामकिच्चेणिह आरियाणं) वे इस जगत् में आर्य्य लोगों के लिये तथा अपने तीर्थङ्कर नाम कर्म के क्षय के लिये धर्मोपदेश करते हैं ॥ १७ ॥

गंता च तत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समियासुपन्ने ।
अणारिया दंसणओ परित्ता, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥१८॥सू.

छाया—गत्वा च तत्राऽथवाऽगत्वा, व्यागृणीयात् समतयाऽऽशुप्रज्ञः ।
अनार्य्याः दर्शनतः परीता इति शङ्कमानो नोपैति तत्र ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(आसुपन्ने तत्थ गंता अदुवा अगंता समियासुपन्ने वियागरेज्जा) सर्वज्ञ भगवान् महावीर स्वामी सुनने वालों के पास जाकर अथवा न जाकर समान भाव से धर्म का उपदेश करते हैं। (अणारिया दंसणओ परित्ता इति संकमाणे तत्थ ण उवेति) परन्तु अनार्य्य लोग दर्शन से भ्रष्ट होते हैं इस आशङ्का से भगवान् उनके पास नहीं जाते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—आर्द्रकमुनि के पूर्वोक्त वचनों से तिरस्कार को प्राप्त गोशालक फिर दूसरी रीति से भगवान् महावीर स्वामी पर आक्षेप करता हुआ कहता है कि—

भावार्थ—हे आर्द्रक तुम्हारे महावीर स्वामी सच्चे साधु नहीं हैं किन्तु राग द्वेष और भय से युक्त होने के कारण दाम्भिक हैं। जहां बहुत से आये गये लोग उतरते हैं उस स्थान मे तथा बगीचे आदि में बने हुए स्थानों मे वे नहीं उतरते हैं वे समझते हैं कि—"इन स्थानो मे बहुत से बड़े-बड़े धर्म के ज्ञाता विद्वान् अन्यतीर्थी उतरते हैं। वे बड़े तार्किक और शास्त्र के ज्ञाता वक्ता, जाति आदि मे श्रेष्ठ एवं योगसिद्धि तथा औषधसिद्धि आदि के ज्ञाता होते हैं। वे अन्यतीर्थी बड़े मेधावी और आचार्य्य के पास रहकर शिक्षा पाये हुए होते हैं। वे सूत्र और अर्थ के धुरन्धर विद्वान् और बुद्धिमान् होते हैं अत वे यदि मेरे से कुछ पूछ बैठें तो मैं उनका उत्तर नहीं दे सकूंगा अत. वहा जाना ही ठीक नहीं है"। यह सोच कर तुम्हारे महावीर स्वामी अन्यतीर्थियों के डर से उक्त स्थानो मे नहीं उतरते हैं। इस प्रकार अन्यतीर्थियों से डरने वाले महावीर स्वामी डरपोक हैं तथा सबमे उनकी समान दृष्टि नहीं है इसलिये वे राग और द्वेष से भी युक्त हैं। यदि यह बात न होती तो वे अनार्य्य देश मे जाकर अनार्य्यों को धर्म का उपदेश क्यों नहीं करते ? तथा आर्य्य देश में भी सर्वत्र न जाकर कतिपय स्थानो मे ही क्यों जाते? अत वे समान दृष्टि वाले नहीं किन्तु विषम दृष्टि होने के कारण राग द्वेष से युक्त हैं अत राग द्वेष और भययुक्त होने के कारण वे सच्चे साधु नहीं अपितु दाम्भिक हैं।

इस प्रकार गोशालक के द्वारा किये हुए आक्षेपों का समाधान करते हुए आर्द्रकजी कहते हैं कि—हे गोशालक ! भगवान महावीर स्वामी भयशील तथा विषमदृष्टि नहीं हैं किन्तु भगवान विना प्रयोजन कोई कार्य्य नहीं करते हैं एवं भगवान बिना विचारे भी कार्य्य करना नहीं चाहते हैं। भगवान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं वे सदा दूसरे प्राणियों के हित में तत्पर रहते हैं इसलिये जिससे दूसरे का उपकार होता दीखता है वही कार्य्य वे करते हैं भगवान जब देखते हैं कि मेरे उपदेश से यहां कोई फल होने वाला नहीं है तब वे वहा उपदेश नहीं करते हैं। प्रश्नकर्त्ता का उपकार देखकर भगवान उसके प्रश्न का उत्तर देते हैं अन्यथा नहीं देते हैं। भगवान स्वतंत्र हैं वे अपने तीर्थङ्कर नाम कर्म का क्षपण तथा आर्य्य पुरुषों के उपकार के लिये धर्मोपदेश करते हैं। वे उपकार होता देख कर भव्यजीवों के पास जाकर भी धर्म का उपदेश करते हैं अन्यथा वहा रहकर भी उपदेश नहीं करते हैं। चाहे चक्रवर्ती हो या

भावार्थ—दरिद्र हो सबको समान भाव से भगवान धर्म का उपदेश करते हैं इसलिये उनमें राग द्वेष का गन्ध भी नहीं है। अनार्य्य देश में भगवान नहीं जाते हैं इसका कारण अनार्य्य देश से उनका द्वेष नहीं है किन्तु अनार्य्य पुरुष क्षेत्र भाषा और कर्म से हीन हैं तथा वे दर्शन से भी भ्रष्ट हैं अतः कितना ही प्रयत्न करने पर भी उनका उपकार सम्भव नहीं है अत वहां जाना व्यर्थ जानकर भगवान् अनार्य्य देश में नहीं जाते हैं। आर्य देश में भी राग के कारण भगवान नहीं भ्रमण करते हैं किन्तु भव्य जीवों का उपकार के लिये तथा अपने तीर्थंकर नामकर्म का क्षपण करने के लिए भ्रमण करते हैं अत भगवान में राग द्वेष की कल्पना करना मिथ्या है।

भगवान अन्य तीर्थियों से डरकर आगन्तुकों के स्थान पर नहीं जाते हैं यह कथन भी मिथ्या है क्योंकि भगवान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं उनसे कुछ भी छिपा नहीं है फिर वे मर्मों के उघार से डरें यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है। एक अन्यतीर्थी तो क्या सभी अन्य तीर्थी मिल कर भी भगवान के सामने अपना मुख भी नहीं उठा सकते हैं अत उनसे भगवान को भय करने की कल्पना मिथ्या है। भगवान जहां कुछ उपकार होना नहीं देखते हैं वहां नहीं जाते हैं यही बात सत्य जानो ॥१८॥

पण्णं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेति संगं।
तऊवमे समणे नायपुत्ते, इच्चेव मे होति मती वियक्का ॥१९॥

छाया—पण्यं यथा वणिगुदयार्थी, आयस्य हेतोः प्रकरोति सङ्गम्।
तदुपमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः, इत्येव मे भवति मतिर्वितर्कः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(जहा उदयट्ठी वणिए पण्णं आयस्स हेउं संगं पगरेति) जैसे लाभार्थी वणिक क्रय विक्रय के योग्य वस्तु को लेकर लाभ के निमित्त महाजनों से संग करता है (तऊवमे समणे नायपुत्ते) वही उपमा श्रमण ज्ञातपुत्र की है (इति मे मती वियक्का होति) यह मेरी बुद्धि या विचार है ॥ १९ ॥

भावार्थ—गोशालक कहता है कि—हे आर्द्रकुमार ! जैसे कोई वैश्य कपूर अगर, कस्तुरी तथा अम्बर आदि बचने योग्य वस्तुओं को लेकर लाभ के लिये

भावार्थ—दूसरे देश में जाता है और वहां अपने लाभ के लिये महाजनों का संग करता है इसी तरह तुम्हारे ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी का भी व्यवहार है। वे अपने स्वार्थ साधन के लिये ही जन समूह मे जाकर धर्मोपदेश आदि करते हैं यह मेरा निश्चय है अत. तुम मेरी बात सत्य जानो ॥१९॥



नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमइं ताइ य साह एवं ।
एतोवया बंभवतित्ति वुत्ता, तस्सोदयट्ठी समणेत्तिबेमि ॥२०॥

छाया—नवं न कुर्याद् विधूनयति पुराणं, त्यक्त्वाऽमतिं त्रायी स आह एवम्।
एतावता ब्रह्मवत मित्युक्तं तस्योदयार्थी श्रमण इति ब्रवीमि ॥२०॥

अन्वयार्थ—(नव न कुज्जा) भगवान् महावीर स्वामी नवीन कर्म नहीं करते हैं (पुराणं विहुणे) किन्तु वे पुराने कर्मों का क्षपण करते हैं। (स एवमाह अमतिं चिच्चा तायी) क्योंकि वे स्वयं यह कहते हैं कि—प्राणी कुमति को छोड़ कर ही मोक्ष को प्राप्त करता है (एतोवया बंभवतित्ति वुत्ता) इस प्रकार मोक्ष का व्रत कहा गया है (तस्सोदयट्ठी समणेत्ति बेमि) उसी मोक्ष के उदय की इच्छा वाले भगवान हैं। यह मैं कहता हूँ ॥२०॥

भावार्थ—गोशालक का पूर्वोक्त वाक्य सुन कर आर्द्रकजी कहते हैं कि—हे गोशालक ! तुमने जो महावीर स्वामी के लिये लाभार्थी वैश्य का दृष्टान्त दिया है वह सम्पूर्ण तुल्यता को लेकर दिया है अथवा देश तुल्यता को लेकर दिया है ? यदि देश तुल्यता को लेकर दिया है तब तो इससे मेरी कोई क्षति नहीं है क्योंकि भगवान भी जहा उपकार देखते हैं वहां उपदेश करते हैं और जहा लाभ नहीं देखते हैं वहा उपदेश नहीं करते हैं इसलिये लाभार्थी वैश्य का दृष्टान्त उनमें देश से ठीक सङ्गत होता है परन्तु यदि सम्पूर्ण तुल्यता को लेकर तुमने वैश्य का दृष्टान्त दिया है तो वह भगवान में कदापि सङ्गत नहीं होता है क्योंकि भगवान सर्वज्ञ होने के कारण सावद्य अनुष्ठानों से सर्वथा रहित होकर नवीन कर्म नहीं करते हैं तथा भव को प्राप्त कराने वाले पुरातन कर्म जो बंधे हुए हैं उनका वे क्षपण करते हैं। कुबुद्धि

भावार्थ—को छोड़ कर भगवान सबकी रक्षा करने वाले हैं। जो पुरुष कुबुद्धि का त्यागी है वह सभी की रक्षा करने वाला है। भगवान ने स्वयं कहा है कि—कुमति को छोड़ने वाला पुरुष ही मोक्ष को प्राप्त करता है अतः भगवान मोक्ष मत का अनुष्ठान करने वाले और मोक्ष के साधक हैं यह मेरा मत है ॥२०॥



समारभंते वणिया भूयगामं, परिग्गहं चेव ममायमाणा।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय, आयस्स हेउं पगरंति संगं ॥२१॥

छाया—समारभन्ते वणिजः भूतग्रामं, परिग्रहञ्चैव ममी कुर्वन्ति।
ते ज्ञातिसंयोगमविप्रहाय आयस्य हेतोः प्रकुर्वन्ति सङ्गम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(वणिया भूयगामं समारभंते) बनिये तो प्राणियों का आरम्भ करते हैं। (परिग्गहं चेव ममायमाणा) तथा वे परिग्रह पर भी ममता रखते हैं (ते णातिसंजोगमविप्पहाय आयस्स हेउं संगं पगरंति) एवं वे ज्ञाति के सम्बन्ध को न छोड़ कर लाभ के निमित्त दूसरों से संग करते हैं ॥२१॥

भावार्थ—आर्द्रकमुनि कहते हैं कि हे गोशालक! मैं बनियों का आचरण बतलाता हूँ उसे सुनो। बनिये सावद्य क्रिया के अनुष्ठान द्वारा प्राणिसमूह का उपमर्द करते हैं। वे माल को इधर उधर गाड़ी ऊँट बैल तथा दूसरे साधनों के द्वारा भेजते हैं जिससे अनेक प्राणियों का विनाश होता है तथा वे द्विपद चतुष्पद और धन धान्य आदि सम्पत्ति को रख कर उन पर अपना ममत्व रखते हैं एवं वे अपने ज्ञाति वर्ग से सम्बन्ध न छोड़ते हुए लाभ के निमित्त दूसरों से संसर्ग करते हैं परन्तु भगवान् वीर प्रभु ऐसे नहीं हैं। वे छः काय के जीवों की रक्षा करने वाले परिग्रह रहित स्वजनों के त्यागी और ममतारहित विहारी हैं वे धर्म की वृद्धि के लिये उपदेश करते हैं अतः भगवान् के साथ बनिये का सर्व सादृश्य मानना ठीक नहीं है ॥२१॥



वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणट्ठा वणिया वयंति ।
वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना, अणारिया पेमरसेसु गिद्धा ॥२२॥

छाया—वित्तैषिणो मैथुनसंप्रगाढाः, ते भोजनार्थं वणिजो व्रजन्ति ।
वयन्तु कामेष्वध्युपपन्ना अनार्य्याः प्रेमरसेषु गृद्धाः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(वणिया वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा) वनिये धन के अन्वेषी और मैथुन में अत्यन्त आसक्त रहने वाले होते हैं (ते भोयणट्ठा वयंति) वे भोजन की प्राप्ति के लिये इधर उधर जाते रहते हैं (वयंतु कामेसु अज्झोववन्ना पेमरसेसु गिद्धा अणारिया) अतः हम लोग तो वनियों को काम में आसक्त प्रेम रस में फँसे हुए और अनार्य्य कहते हैं ॥२२॥

भावार्थ—आर्द्रकजी कहते है कि—हे गोशालक ! वनिये धनके अन्वेषी स्त्री सुख में आसक्त एवं आहार प्राप्ति के लिये इधर उधर जाते हैं इसलिये हम लोग वनियों को कामासक्त अनार्य्य कर्म करने वाले और सुख में फंसे हुए कहते हैं परन्तु भगवान् महावीर प्रभु ऐसे नहीं हैं इसलिये वनियों के साथ उनकी तुल्यता बताना मिथ्या है ॥२२॥



आरंभगं चेव परिग्गहं च, अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा ।
तेसिं च से उदए जं वयासी, चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥२३॥

छाया—आरम्भञ्चैव परिग्रहञ्चा व्युत्सृज्य निश्रिता आत्मदण्डाः ।
तेषां च स उदयो यमवादी श्चतुरन्तानन्ताय दुःखाय नेह ॥२३॥

अन्वयार्थ—(आरंभगं चेव परिग्गहं च अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा) वनियें आरम्भ और परिग्रह को नहीं छोड़ते हैं किन्तु वे उनमें अत्यन्त बद्ध रहते हैं तथा वे आत्मा को दण्ड देने वाले हैं । (तेसिं च से उदए जं वयासी) उनका वह उदय, जिसे तू उदय बतला रहा है (चउरंतणंताय दुहाय णेह) वह वस्तुतः उदय नहीं है किन्तु वह चतुर्गतिक संसार को प्राप्त कराने वाला और दुःख का कारण है एवं वह उदय कभी नहीं भी होता है ॥२३॥

भावार्थ—आर्द्रकजी गोशालक से कहते हैं कि—वनिये सावद्य अनुष्ठान के त्यागी नहीं होते हैं तथा वे परिग्रह का भी त्याग नहीं करते हैं । वे क्रय

भावार्थ—वणिग्जन क्रय विक्रय और पाचन आदि सावद्य कार्यों को करते हैं और धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण और द्विपद चतुष्पद आदि पदार्थों में अधिक ममत्व रखते हैं। वे असत् आचरण में प्रवृत्त रहते हुए अपनी आत्मा को अधोगति में गिराकर उसे दण्ड देते हैं। वे जिस लाभ के निमित्त इन कार्यों को करते हैं उसको यद्यपि तू भी लाभ मान रहा है परन्तु वह विचार करने पर लाभ नहीं है क्योंकि उसके कारण जीव को चतुर्गतिक संसार में अनन्त काल तक भ्रमण करना पड़ता है अतः विचार करने पर वह महान् हानि है। जिस धन के उपार्जन के लिये वनिये नाना प्रकार के सावद्य कार्य करते हैं वह धन भी सबको नहीं होता है किन्तु किसी को उसकी प्राप्ति होती है और किसी को उद्योग करने पर भी नहीं होती है ॥२३॥



णेगत णच्चतिव ओदए सो, वयति ते दो विगुणोदयमि।
से उदए सातिमणतपत्ते, तमुदय साहयइ ताइ णाई ॥२४॥

छाया—नैकान्त आत्यन्तिक उदय स, वदन्ति ते द्वौ विगुणोदयौ।
तस्योदय सादिरनन्तप्राप्त तमुदयं साधयति तायी ज्ञानी ॥२४॥

अन्वयार्थ—(से उदए णेगंत णच्चंतिव ओदए) सावद्य अनुष्ठान करने से वनिये का जो उदय होता है वह एकान्त तथा आत्यन्तिक नहीं है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। (ते दो विगुणोदयंमि) जो उदय एकान्त तथा आत्यन्तिक नहीं है उसमें कोई गुण नहीं है (से उदए सातिमणंतपत्ते) परन्तु भगवान् जिस उदय को प्राप्त हैं वह सादि और अनन्त है। (तमुदयं साहयति ताती णाती) वे दूसरे को भी इसी उदय की प्राप्ति के लिये उपदेश करते हैं। भगवान् त्राण करने वाले और सर्वज्ञ हैं ॥२४॥

भावार्थ—आर्द्रकमी कहते हैं कि—हे गोशालक! उद्योग धन्धा आदि के द्वारा वनिये को लाभ कभी होता है और कभी नहीं होता है तथा कभी लाभ के स्थान में भारी हानि भी हो जाती है इसलिये विद्वान लोग कहते हैं कि—वनिये के लाभ में कोई गुण नहीं है। परन्तु भगवान ने धर्मोपदेश के द्वारा जो निर्जरा रूप लाभ प्राप्त किया है तथा दिव्य ज्ञान की प्राप्ति की है वही यथार्थ लाभ है। यह लाभ सादि और अनन्त है। ऐसे उदय को स्वयं प्राप्त कर भगवान दूसरे प्राणियों को भी उसकी प्राप्ति कराने

भावार्थ—के लिये धर्म का उपदेश करते हैं। भगवान ज्ञातकुल में उत्पन्न और समस्त पदार्थों के ज्ञाता हैं तथा वे भव्यजीवों को संसार सागर से पार करने वाले हैं अतः भगवान को वनिये के समान कहना मिथ्या है ॥२४॥



अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी, धम्मे ठियं कम्मविवेगहेउं।
तमायदंडेहिं समायरंता, अबोहीए ते पडिरूवमेयं ॥२५॥

छाया—अहिंसकं सर्वप्रजानुकम्पिनं, धर्मे स्थितं कर्मविवेकहेतुम्।
तमात्मदण्डैः समाचरन्तः, अबोधेस्ते प्रतिरूपमेतत् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी) भगवान् प्राणियों की हिंसा से रहित हैं तथा वे समस्त प्राणियों पर कृपा करने वाले हैं (धम्मेट्ठिय कम्मविवेगहेउं) वे धर्म में सदा स्थित और कर्म के विवेक के कारण हैं। (तमायदंडेहि समायरंता) ऐसे उस भगवान् को तुम्हारे जैसे आत्मा को दण्ड देने वाले पुरुष ही वनिये के सदृश कहते हैं (एयते अबोहिए पडिरूव) यह कार्य्य तुम्हारे अज्ञान के अनुरूप ही है ॥२५॥

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामी देवताओं का समवसरण, कमल, तथा देवच्छन्दक सिंहासन आदि का उपभोग करते हैं इसलिये आधाकर्मी स्थान का उपभोग करने वाले साधु की तरह भगवान् भी अनुमोदन रूप कर्मों से उपलिप्त क्यों नहीं हो सकते हैं ? इस गोशालक की आशंका की निवृत्ति के लिये आर्द्रकजी कहते हैं कि हे गोशालक ! यद्यपि भगवान् महावीर स्वामी देवताओं द्वारा किये हुए समवसरण आदि का उपभोग करते हैं तथापि उनको कर्मबन्ध नहीं होता है क्योंकि भगवान् प्राणियों की हिंसा न करते हुए उनका उपभोग करते हैं तथा समवसरण आदि के लिये उनकी स्वल्प भी इच्छा नहीं होती किन्तु तृण, मणि, मुक्ता सुवर्ण और पत्थर को समान दृष्टि से देखते हुए वे उनका उपभोग करते हैं। देवगण भी प्रवचन की उन्नति और भव्यजीवों को धर्म मे प्रवृत्त करने के लिये एव अपने हित के लिये समवसरण करते हैं अत भगवान का इसमे स्वल्प भी आग्रह नहीं होने से उनको कर्म बन्ध नहीं होता है। भगवान समस्त प्राणियो पर अनुकम्पा करने वाले और सच्चे धर्म मे स्थित हैं। ऐसे भगवान को वनिये के तुल्य वही बतला सकता है जो सावद्य

भावार्थ—अनुष्ठान द्वारा अपने आत्मा को शुद्ध रखनेवाला अज्ञानी है अतः हे गोशालक ! यह कार्य्य तुम्हारे अज्ञान के अनुरूप ही है । हे गोशालक ! प्रथम तो तुम स्वयं कुमार्ग में प्रवृत्ति कर रहा है और उस पर भी जगत्पूज्य और सब अतिशयों के धारी भगवान की बनिये से तुलना करता है यह तुम्हारा महान अज्ञान का ही परिणाम है ॥ २५ ॥



पिन्नागपिंडीमवि विद्ध सूले, केइ पएज्जा पुरिसे इमेत्ति ।
अलाउयं वावि कुमारएत्ति, स लिप्पती पाणिवहेण अम्हं ॥२६॥

छाया—पिण्याकपिण्डीमपि विद्ध्वा शूले कोऽपि पचेत्पुरुषोऽयमिति ।
अलाबुकं वापि कुमार इति, स लिप्यते प्राणिवधेनास्माकम् ॥२६॥

अन्वयार्थ—(कोई पिन्नागपिंडीमवि इमे पुरिसे इति सूले विद्ध न पएज्जा) कोई पुरुष खली के पिण्ड को भी यदि "यह पुरुष है" यह मान कर शूल में वेध कर पकावे (अलाउयं वा कुमार एत्ति) अथवा तुम्बे को बालक मान कर पकावे (स अम्हं पाणिवहेण लिप्पती) तो वह हमारे मत में प्राणी के वध करने के पातक भागी होता है ॥२६॥

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से गोशालक को परास्त करके भगवान के पास जाते हुए आर्द्रकमुनि को मार्ग में शाक्य मतवाले भिक्षुओं से भेंट हुई । वे आर्द्र कुमार से कहने लगे कि—हे आर्द्रकुमार ! तुमने बनिये के दृष्टान्त को दूषित करके बाह्य अनुष्ठान को दूषित किया है यह अच्छा किया है क्योंकि बाह्य अनुष्ठान तुच्छ है आभ्यन्तरिक अनुष्ठान ही संसार और मोक्ष का साधन है यही हमारे धर्म का सिद्धान्त है । इस विषय को इस प्रकार समझना चाहिये—जैसे कोई मनुष्य उपद्रव आदि से पीड़ित होकर परदेश में चला गया और वह दैववश म्लेच्छों के देश में जा पहुँचा । वहाँ मनुष्यों को पका कर खाने वाले म्लेच्छ निवास करते थे अतः उनके भय से वह पुरुष खली के पिण्ड के ऊपर अपने वस्त्रों को डाल कर कहीं छिप गया । म्लेच्छ उसे ढूंढ रहे थे उन्होंने उसके वस्त्र से ढके हुए खली के पिण्ड को देखकर उसे मनुष्य समझा और शूल में वेधकर उस पिण्ड को पकाया तथा वस्त्र से ढके हुए किसी तुम्बे को बालक समझ कर उसे भी पकाया इस प्रकार मनुष्य बुद्धि से खली

भावार्थ—के पिण्ड और बालक बुद्धि से तुम्बे को पकाने वाले उन म्लेच्छों को मनुष्यवध का पाप लगा क्योंकि आन्तरिक भाव के अनुसार ही पाप पुण्य होता है। यद्यपि उन म्लेच्छों के द्वारा मनुष्य का वध नहीं हुआ तथापि उनके चित्त के दूषित होने से उन्हे मनुष्य वध का ही पाप हुआ यह हमारा सिद्धान्त है। अतः द्रव्य से प्राणी का घात न करने पर भी चित्त के दूपित होने से जीव को प्राणी के घात का पाप लगता है यह जानना चाहिये।



अहवावि विद्धूण मिलक्खु सूले, पिन्नागबुद्धीइ नरं पएज्जा।
कुमारगं वावि अलाबुयंति, न लिप्पइ पाणिवहेण अम्हं ॥२७॥

छाया—अथवापि विद्ध्वा म्लेच्छः शूले पिण्याकबुद्धया नरं पचेत्।
कुमारकं वापि, अलाबुकमिति न लिप्यते प्राणिवधेनाऽस्माकम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(अहवावि मिलक्खू पिन्नागबुद्धीइ नरं सूले विद्धूण पएज्जा) अथवा वह म्लेच्छ पुरुप यदि मनुष्य को खली समझकर उसे शूल में वेधकर पकावे (अलाबुयंति कुमारगंवा) अथवा तुम्बा समझ कर बालक को पकावे तो (अम्ह पाणिवहेण न लिप्पइ) तो वह प्राणी के घात के पाप का भागी नहीं होता है यह हमारा मत है।

भावार्थ—शाक्य भिक्षु कहते हैं कि—हे आर्द्रकुमार! म्लेच्छ पुरुष यदि मनुष्य को खल्ली मानकर तथा बालक को तुम्बा मान कर पकावें तो उन्हें प्राणी के वध का पाप नहीं होता है यह हमारा सिद्धांत है ॥२७॥



पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा, सूलंमि केई पए जायतेए।
पिन्नायपिंडं सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कप्पति पारणाए ॥२८॥ सू०

छाया—पुरुषं विध्वा कुमारं वा, शूले कोऽपि पचेत् जाततेजसि।
पिण्याकपिण्डी सती मामारुह्य बुद्धानां तत् कल्पते पारणायै ॥२८॥

अन्वयार्थ—(केइ पुरिस कुमारगवा पिन्नागपिंड सूलमि विद्धूण जायतेए आरुहेत्ता पए) कोई पुरुप मनुष्य को अथवा बच्चे को खली का पिण्ड मानकर उसे शूल में वेध कर आग

अन्वयार्थ—में पकावे (सुचि तं बुद्धाणं पारणाए कप्पति) तो वह पवित्र है वह बुद्ध के पारणा के योग्य है ॥२८॥

भावार्थ—शाक्य भिक्षु कहते हैं कि—कोई पुरुष मनुष्य को अथवा बालक को खल्ली का पिण्ड मान कर उन्हें शूल में वेध कर यदि आग में पकावे तो उसे प्राणी के वध का पाप नहीं लगता है और वह आहार पवित्र तथा बुद्धों के पारणा के योग्य है । जो कार्य्य भूल से हो जाता है तथा जो मनके संकल्प के बिना किया जाता है वह बन्धन का कारण नहीं है ॥२८॥



सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए भिक्खुयाणं ।
ते पुन्नखंधं सुमहं जिणित्ता, भवंति आरोप्प महंतसत्ता ॥२९॥

छाया—स्नातकानान्तु द्वे सहस्रे, यो भोजयेन्नित्यं भिक्षूणाम् ।
ते पुण्यस्कन्धं सुमहज्जनित्वा भवन्त्यारोप्याः महासत्त्वाः ॥२९॥

अन्वयार्थ—(जे दुवे सहस्से सिणायगाणं भिक्खुयाणं णियए भोयए) जो पुरुष दो हजार स्नातक भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन कराता है (ते सुमहं पुन्नखंधं जणित्ता महंतसत्ता आरोप्प भवंति) वह महान् पुण्य उपार्जन करके महापराक्रमी आरोप्य नामक देवता होता है ॥२९॥

भावार्थ—शाक्य मतवाले भिक्षु आर्द्रकुमार मुनि से कहते हैं कि—हे आर्द्रकुमार जो पुरुष प्रति दिन दो हजार शाक्य भिक्षुओं को अपने यहाँ भोजन कराता है वह महान पुण्यपुञ्ज को उपार्जन करके आरोप्य नामक सर्वोत्तम देवता होता है ॥२९॥



अजोगरूवं इह संजयाणं, पावं तु पाणाण पसज्झ काउं।
अबोहिए दोण्हवि तं असाहु, वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥३०॥

छाया—अयोग्यरूपमिह संयतानां, पापन्तु प्राणानां प्रसह्य कृत्वा।
अबोध्यै द्वयोरपि तदसाधु वदन्ति ये चाऽपि प्रतिशृण्वन्ति ॥३०॥

अन्वयार्थ—(इह संजयाण अजोगरूव) आर्द्रकजी कहते हैं कि यह शाक्य मत संयमी पुरुषों के योग्य नहीं है (पाणाण पसज्झ काउं) प्राणियों का घात करके पाप का अभाव कहना (दोण्हवि अबोहिए त असाहू) दोनों के लिये अज्ञानवर्धक और बुरा है (जे वयंति जे यावि पडिसुणति) जो ऐसा कहते हैं और जो सुनते हैं ॥३०॥

भावार्थ—शाक्य मुनियों का सिद्धान्त सुनकर आर्द्रकजी कहते हैं कि—हे शाक्य-भिक्षुओं ! आपका यह पूर्वोक्त सिद्धान्त संयमी पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं है। जो पुरुष पांच सुमति और तीन गुप्तियों को पालन करता हुआ सम्यग् ज्ञान के साथ क्रिया करता है और अहिंसा व्रत का आचरण करता है उसी की भावशुद्धि होती है परन्तु जो पुरुष अज्ञानी है और मोह मे पड कर खल्ली और पुरुष के भेद को भी नहीं जानता है उसकी भावशुद्धि कभी नहीं हो सकती है। मनुष्य को खल्ली मान कर उसे शूल मे वेध कर पकाना और उसे खल्ली समझ कर मांस भक्षण करना अत्यन्त पाप है ऐसे कार्य्यों मे पाप का अभाव बताने वाले और उसे सुन कर वैसा ही मानने वाले दोनों ही पुरुष अज्ञानी और पाप की वृद्धि करने वाले हैं ऐसे पुरुषों का भाव कभी शुद्ध नहीं होता है। यदि ऐसे पुरुषों का भाव शुद्ध माना जाय तब तो जो लोग रोग आदि से पीड़ित प्राणी को विष आदि का प्रयोग करके मार डालने का उपदेश करते हैं उनके भाव को भी शुद्ध क्यों न मानना चाहिये ? परन्तु बौद्ध गण उसके भाव को शुद्ध नहीं मानते हैं। तथा एकमात्र भाव की शुद्धि ही यदि कल्याण का साधन है तब फिर बौद्ध लोग शिर का मुण्डन और भिक्षावृत्ति क्रियाओं का आचरण क्यो करते हैं अत. भावशुद्धि के साथ बाह्य क्रिया की पवित्रताभी आवश्यक है। जो लोग मनुष्य को खल्ली समझ कर उसको आग मे पकाते हैं वे तो घोर पापी तथा प्रत्यक्ष ही अपने आत्मा को धोखा देने वाले हैं इसलिये उनका भाव भी दूषित है अत॰ पूर्वोक्त बौद्धों की मान्यता ठीक नहीं है ॥३०॥

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, विन्नाय लिंगं तसथावराणं।
भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणे, वदे करेज्जा व कुओ विहऽत्थी ? ॥२१॥

छाया—ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यक्षु दिशासु विज्ञाय लिङ्गं त्रसस्थावराणाम्।
भूताभिशङ्कया जुगुप्समानः वदेत्कुर्य्याद्वा कुतोऽप्यस्ति ॥२१॥

अन्वयार्थ—(उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु तसथावराणं लिंगं विन्नाय) ऊपर नीचे और तिरछे दिशाओं में त्रस और स्थावर प्राणियों के सद्भाव के चिन्ह को जानकर (भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणे वदे करेज्जा कुओ विहऽत्थि) जीव हिंसा की आशङ्का से विवेकी पुरुष हिंसा से घृणा रखता हुआ विचार कर भाषण करे और कार्य भी विचार कर ही करे तो उसे दोष किस प्रकार हो सकता है ? ॥२१॥

भावार्थ—आर्द्रकुमार मुनि बौद्धों के पक्ष को दूषित करके अब अपना पक्ष बतलाते हैं ऊपर नीचे और तिरछे सर्वत्र जो त्रस और स्थावर प्राणी निवास करते हैं वे अपनी-अपनी जाति के अनुसार चलना, कम्पन और अंकुर उत्पन्न करना आदि क्रियायें करते हैं तथा छेदन करने पर स्थावर प्राणी मुरझा जाते हैं इत्यादि बातें इनके जीव होने के चिन्ह हैं अतः विवेकी पुरुष इन चिन्हों को देखकर इन प्राणियों की रक्षा के लिये निरवद्य भाषा बोलते हैं और निरवद्य कार्य्य का ही अनुष्ठान करते हैं। ऐसे पुरुषों को किसी प्रकार का पाप नहीं लगता है अतः इन पुरुषों का जो धर्म है वही सच्चा और दोष रहित है इसलिये ऐसे धर्म के वक्ता और श्रोता दोनों ही उत्तम हैं यह जानो ॥२१॥



पुरिसेत्ति विन्नत्ति न एवमत्थि, अणारिए से पुरिसे तहा हु।
को संभवो ? पिन्नगपिंडियाए, वायावि एसा बुइया असच्चा ॥२२॥

छाया—पुरुष इति विज्ञप्ति नैवमस्ति अनार्य्यः स पुरुष स्तथा हि।
कः सम्भवः पिण्याकपिण्ड्यां वागप्येषोक्ताऽसत्या ॥२२॥

अन्वयार्थ—(पुरिसेत्ति विन्नत्ति न एवमत्थि तहाहु से पुरिसे अणारिए) खली के पिण्ड में पुरुष बुद्धि मूर्ख को भी नहीं होती है अतः जो पुरुष खली के पिण्ड में पुरुष बुद्धि अथवा पुरुष में खली के पिण्ड की बुद्धि करता है वह अनार्य्य है। (पिन्नग

अन्वयार्थ—पिंडियाए को सभवो) खलपिण्डी मे पुरुष बुद्धि होना सम्भव नहीं है (एसा वायावि वुइया असच्चा) अतः ऐसा वाक्य कहना भी मिथ्या है ॥३२॥

भावार्थ—आर्द्रकजी कहते हैं कि—हे बौद्ध भिक्षुओ ! खलपिण्ड मे पुरुष बुद्धि होना अत्यन्त मूर्ख को भी सम्भव नहीं है । पशु आदि भी पुरुष और खल्ली को एक नहीं मानते हैं अत जो अज्ञानी, पुरुष को खल्ली समझ कर उसको आग मे पका कर खाता है और दूसरे को भी ऐसा करने का उपदेश करता है वह निश्चय ही अनार्य्य है । खल्ली के पिण्ड मे पुरुष बुद्धि होना सम्भव नहीं है अत. जो पुरुष मनुष्य को खल्ली का पिण्ड बताता है वह बिलकुल मिथ्या भाषण करता है अत तुम्हारा धर्म आर्य्य पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥३२॥



वायाभियोगेण जमावहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरिज्जा ।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं, णो दिक्खिए बूय सुरालमेयं ॥३३॥

छाया—वागभियोगेन यदावहेन्नो तादृशीं वाचमुदाहरेत् ।
अस्थानमेतद्वचनं गुणानां, नो दीक्षितः ब्रूयादुदारमेतत् ॥३३॥

अन्वयार्थ—(वायाभियोगेण जमावहेज्जा णो तारिसं वाय मुदाहरिज्जा) जिस वचन के बोलने से जीव को पाप लगता है वह वचन विवेकी जीव को कदापि न बोलना चाहिये । (एय वयण गुणाण अट्ठाण) तुम्हारा पूर्वोक्त वचन गुणों का स्थान नहीं है । (एय उराल दिक्खिए णो बुयं) अत दीक्षा धारण किया हुआ पुरुष ऐसा निःसार वचन नहीं कहता है ॥३३॥

भावार्थ—सावद्य भाषा के बोलने से भी पाप लगता है इसलिए भाषा के गुण और दोष को जानने वाले विवेकी पुरुष कर्म बन्ध को उत्पन्न करने वाली भाषा नहीं बोलते हैं । तथा वस्तुतत्त्व को जान कर सत्य अर्थ का उपदेश करने वाले प्रव्रजित पुरुष "खल्ली पुरुष है तथा पुरुष खल्ली है एव बालक तुम्बा है और तुम्बा बालक है" इत्यादि निर्युक्तिक और मिथ्या वचन कभी नहीं कहते हैं ॥३३॥



लद्धे अट्ठे अहो एव तुब्भे, जीवाणुभागे सुविचिंतिए य ।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे, उल्लोइए पाणितले ठिए वा ॥२४॥

छाया—लब्धोऽर्थ अहो एव युष्माभिः जीवानुभागः सुविचिन्तितश्च ।
पूर्व समुद्रमपरञ्च स्पृष्टमवलोकितः पाणितले स्थित इव ॥२४॥

अन्वयार्थ—(अहो तुब्भे एव लद्धे अट्ठे) अहो ! बौद्धों ! तुमने ही पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया है (जीवाणुभागे सुविचिंतिए एव) तथा तुमने ही जीवों के कर्म-फल का विचार किया है (पुव्वं समुद्द अवरंच पुट्ठे) एवं तुम्हारा ही यश पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक फैला है । (पाणितले ठिए वा उल्लोइए) तथा तुमने ही हाथ में रखी हुई वस्तु के समान इस जगत् को देख लिया है ॥ २४ ॥

भावार्थ—मुनि आर्द्रकुमार बौद्ध भिक्षुओं को परास्त करके उनका हास्य करते हुए कहते हैं कि—हे बौद्धों ! तुमने ही पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया है एवं जीवों के शुभाशुभ कर्मों के फल को भी तुमने ही समझा है एवं ऐसे विज्ञान से तुम्हारा यश ही समस्त जगत् में व्याप्त है तथा तुमने ही अपने विज्ञान बल से हाथ में रखे हुए पदार्थ की तरह समस्त पदार्थों को जान लिया है। धन्यवाद है आपके इस विचित्र विज्ञान को जो पुरुष और पिण्याक तथा तुम्बा और बालक में भेद न मानने से पाप न होना और भेद मानने से पाप होना बतलाता है ॥ २४ ॥



जीवाणुभागं सुविचिंतयंता, आहारिया अन्नविहीय सोहिं ।
न वियागरे छन्नपओपजीवि, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥२५॥

छाया—जीवानुभागं सुविचिन्त्य, आहारयन्त्यन्नविधेः शुद्धिम् ।
न व्यागृणीयाच्छन्नपदोपजीवी, एषोऽनुधर्म इह संयतानाम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(जीवाणुभागं सुविचिंतयंता) जैन शासन को मानने वाले पुरुष जीवों की पीड़ा को अच्छी तरह सोच कर (अन्नविहीय सोहिं आहारिया) शुद्ध अन्न को स्वीकार करते हैं (छन्नपओपजीवी न वियागरे) तथा कपट से जीविका करने वाले बन कर मायामय वचन नहीं बोलते हैं । (इह संजयाणं एसो अणुधम्मो) इस जैन शासन में संयमी पुरुषों का यही धर्म है ॥ २५ ॥

भावार्थ—आर्द्रकजी बौद्ध मत का खण्डन करके अपने मत का महत्व प्रकट करते हुए कहते हैं कि हे बौद्धों ! जैनेन्द्र के शासन को मानने वाले बुद्धिमान पुरुष प्राणियों की पीड़ा को विचार कर शुद्ध भिक्षान्न का ही ग्रहण करते हैं वे बेयालीस दोषों को टाल कर भिक्षा ग्रहण करके जीवों के उपमर्द से सर्वथा पृथक् रहने का प्रयत्न करते हैं। जैसे बौद्ध गण भिक्षापात्र में आये हुए मांस को भी बुरा नहीं मानते हैं वैसा आर्हत साधु नहीं करते तथा जो पुरुष कपट से जीविका करने वाला और कपट से बोलने वाला है वह साधु बनने योग्य नहीं यह जैनों की मन्यता है अत जैन धर्म ही पवित्र और आदरणीय है बौद्ध धर्म नहीं। बौद्ध गण कहते हैं कि अन्न भी मांस के सदृश है क्योंकि वह भी प्राणी का अंग है। परन्तु यह बौद्धों का कथन ठीक नहीं है क्योंकि प्राणी का अंग होने पर भी लोक में कोई वस्तु मांस और कोई अमास मानी जाती है जैसे दूध और रक्त दोनों ही गौ के विकार हैं तथापि लोक मे ये दोनों अलग-अलग माने जाते हैं और दूध भक्ष्य तथा रक्त अभक्ष्य माना जाता है एव अपनी पत्नी तथा माता दोनो ही स्त्री जाति की होने पर भी लोक मे भार्य्या गम्य और माता अगम्य मानी जाती है इसी तरह प्राणी के अंग होने पर भी अन्न दूसरा और मांस दूसरा माना जाता है इसलिए अन्न के तुल्य मांस को भक्ष्य बताना मिथ्या है ॥३५॥



सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए नियए भिक्खुयाणं।
असंजए लोहियपाणि से ऊ, णियच्छति गरिहमिहेव लोए ॥३६॥

छाया—स्नातकानान्तु द्वे सहस्रे यो भोजयेन्नित्यं भिक्षुकानाम् ।
असंयतो लोहितपाणिः स तु निगच्छति गर्हामिहैव लोके ॥३६॥

अन्वयार्थ—(जे सिणायगाण भिक्खुयाण दुवे सहस्से णियए भोयए) जो पुरुष दो हजार स्नातक भिक्षुकों को प्रतिदिन भोजन कराता है (से उ असजए लोहियपाणि इहेव लोए गरिह नियच्छति) वह असंयमी तथा रुधिर से लाल हाथ वाला पुरुष इसी लोक में निन्दा को प्राप्त करता है ॥३६॥

भावार्थ—आर्द्रकुमारजी कहते हैं कि—जो पुरुष बोधिसत्व के तुल्य दो हजार भिक्षुकों को प्रतिदिन भोजन कराता है वह असयमी तथा रुधिर से भींगा

भावार्थ—दुष्ट हाथ वाला पुरुष इस लोक में साधु पुरुषों के निन्दा का पात्र होता है और परलोक में अनार्य पुरुषों की गति को प्राप्त करता है अतः तुमने जो दो हजार स्नातक भिक्षुओं को प्रति दिन भोजन कराने से उत्तम गति की प्राप्ति कही है वह सर्वथा मिथ्या है ॥२६॥



थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता ।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥२७॥

छाया—स्थूलमुरभ्रमिह मारयित्वोद्दिष्टभक्तञ्च प्रकल्प्य ।
तं लवणतैलाभ्यामुपस्कृत्य सपिप्पलीकं प्रकुर्वन्ति मांसम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(इह थूलं उरब्भं मारियाणं उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता) इस बौद्धमत को मानने वाले पुरुष मोटे भेड़े को मारकर उसे बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के लिए बनाकर (तं लोण तेल्लेण उवक्खडेत्ता) उसे लवण और तेल के साथ पकाकर (स पिप्पलीयं मंसं पगरंति) पिप्पली आदि से उस मांस को बघारते हैं ॥२७॥

भावार्थ—आर्द्रकुमार मुनि अब बौद्ध भिक्षुओं के आहार की रीति बताते हुए कहते हैं कि—बौद्ध धर्म को मानने वाले पुरुष बौद्ध भिक्षुओं के भोजनार्थ मोटे शरीर वाले भेड़े को मारते हैं और उसके मांस को निकालकर वे लवण तथा तेल में उसे पकाते हैं फिर पिप्पली आदि द्रव्यों से उसे बघार कर तैयार करते हैं । वह मांस बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के योग्य समझा जाता है । यही इन भिक्षुओं की आहार की रीति है ॥ २७ ॥



तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं, णो उवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥२८॥

छाया—तं भुञ्जमानाः पिशितं प्रभूतं नोपलिप्यामो वयं रजसा ।
इत्येव माहु रनार्य्यधर्माणः, अनार्य्याः बालाः रसेषु गृद्धाः ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(अणज्जधम्मा अणारिया बाला रसेसु गिद्धा इच्चेवमाहंसु) अनार्यों का कार्य करने वाले अनार्य अज्ञानी रसलम्पट वे बौद्धभिक्षु यह कहते हैं कि (पभूतं पिसितं

अन्वयार्थ—भुञ्जमाणा वय रएण णो उवलिंपामो) बहुत मांस खाते हुए भी हम लोग पाप से लिप्त नहीं होते हैं ॥३८॥

भावार्थ—पूर्वगाथा में जिसका वर्णन किया गया है ऐसे मांस को खाने वाले, अनार्य्यों का कार्य्य करने वाले ये बौद्ध भिक्षु कहते हैं कि—हम लोग खूब मास का भक्षण करते हुए भी पाप के भागी नहीं होते हैं भला इससे बढकर दूसरा अज्ञान क्या हो सकता है ? अत ये लोग अज्ञानी अनार्य्य और रस के लम्पट हैं त्यागी नहीं हैं अत· ऐसे लोगों को भोजन कराने से मनुष्य को किस प्रकार शुभ फल प्राप्त होगा ? यह बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये ॥ ३८ ॥



जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करेंती, वायावि एसा बुइया उ मिच्छा ॥३९॥

छाया—ये चाऽपि भुञ्जते तथा प्रकारं सेवन्ति ते पापमजानानाः ।
मनो नैतत्कुशलाः कुर्वन्ति वागप्येषोक्ता तु मिथ्या ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(जे यावि तहप्पगार भुजति) जो लोग पूर्व गाथा में कहे हुए उस प्रकार के मास का भक्षण करते हैं (ते अजाणमाणा पाव सेवति) वे अज्ञानी जन पाप का सेवन करते हैं। (कुसला एयं मण ण करेंति) अत· जो पुरुष कुशल है वे उक्त प्रकार के मांस को खाने की इच्छा भी नहीं करते हैं (एसा वायावि मिच्छा वुइआ) तथा माँस भक्षण में दोष न होने का कथन भी मिथ्या है ॥३९॥

भावार्थ—आर्द्र कुमार मुनि कहते हैं कि—पूर्व गाथा में जिस मांस का वर्णन किया गया है उसे खाने वाले पुरुष अनार्य्य हैं उन्हें पाप और पुण्य का ज्ञान सर्वथा नहीं है। एक तो मास हिंसा के विना प्राप्त नहीं होता तथा वह स्वभाव से ही अपवित्र है एवं वह रौद्र ध्यान का हेतु है, तथा वह रक्त आदि दूषित पदार्थों से पूर्ण और अनेक कीड़ों का स्थान है। वह दुर्गन्ध से भरा हुआ और शुक्र तथा शोणित से उत्पन्न तथा सज्जनों से निन्दित है। ऐसे मास को जो खाता है वह पुरुष राक्षस के समान है और नरकगामी है अत· विचार करने पर मालूम होता है कि—मास खाने

भावार्थ—ऐसा हाथ वाला पुरुष इस लोक में साधु पुरुषों के निन्दा का पात्र होता है और परलोक में अनार्य पुरुषों की गति को प्राप्त करता है अतः तुमने जो दो हजार स्नातक भिक्षुओं को प्रति दिन भोजन कराने से उत्तम गति की प्राप्ति कही है वह सर्वथा मिथ्या है ॥३६॥



थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता ।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥३७॥

छाया—स्थूलमुरभ्रमिह मारयित्वोद्दिष्टभक्तञ्च प्रकल्प्य ।
तं लवणतैलाभ्यामुपस्कृत्य सपिप्पलीकं प्रकुर्वन्ति मांसम् ॥३७॥

अन्वयार्थ—(इह थूलं उरब्भं मारियाणं उद्दिट्ठभत्तंच पगप्पएत्ता) इस बौद्धमत को मानने वाले पुरुष मोटे भेड़े को मारकर उसे बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के लिए बनाकर (तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता) उसे लवण और तेल के साथ पकाकर (सपिप्पलीयं मंसं पगरंति) पिप्पली आदि से उस मांस को बघारते हैं ॥३७॥

भावार्थ—आर्द्रकुमार मुनि अब बौद्ध भिक्षुओं के आहार की रीति बताते हुए कहते हैं कि—बौद्ध धर्म को मानने वाले पुरुष बौद्ध भिक्षुओं के भोजनार्थ मोटे शरीर वाले भेड़े को मारते हैं और उसके मांस को निकालकर वे लवण तथा तेल में उसे पकाते हैं फिर पिप्पली आदि द्रव्यों से उसे बघार कर तैयार करते हैं। वह मांस बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के योग्य समझा जाता है। यही इन भिक्षुओं की आहार की रीति है ॥ ३७ ॥



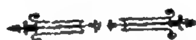
तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं, णो उवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥३८॥

छाया—तं भुञ्जानाः पिशितं प्रभूतं नोपलिप्यामो वयं रजसा ।
इत्येवमाहुरनार्य्यधर्माणः, अनार्य्या बालाः रसेषु गृद्धाः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(अणज्जधम्मा अणारिया बाला रसेसु गिद्धा इच्चेवमाहंसु) अनार्यों का कार्य्य करने वाले अनार्य अज्ञानी रसलम्पट वे बौद्धभिक्षु यह कहते हैं कि (पभूतं पिसितं

अन्वयार्थ—भुञ्जमाणा वय रएण णो उवलिपामो) बहुत मांस खाते हुए भी हम लोग पाप से लिप्त नहीं होते है ॥३८॥

भावार्थ—पूर्वगाथा में जिसका वर्णन किया गया है ऐसे मांस को खाने वाले, अनार्य्यों का कार्य्य करने वाले ये बौद्ध भिक्षु कहते हैं कि—हम लोग खूब मास का भक्षण करते हुए भी पाप के भागी नहीं होते हैं भला इससे बढकर दूसरा अज्ञान क्या हो सकता है ? अत ये लोग अज्ञानी अनार्य्य और रस के लम्पट हैं त्यागी नहीं हैं अत' ऐसे लोगों को भोजन कराने से मनुष्य को किस प्रकार शुभ फल प्राप्त होगा ? यह बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये ॥ ३८ ॥



जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करेंती, वायावि एसा बुइया उ मिच्छा ॥३९॥

छाया—ये चाऽपि भुञ्जते तथा प्रकारं सेवन्ति ते पापमजानानाः ।
मनो नैतत्कुशलाः कुर्वन्ति वागप्येपोक्ता तु मिथ्या ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(जे यावि तहप्पगार भुजंति) जो लोग पूर्व गाथा में कहे हुए उस प्रकार के मास का भक्षण करते है (ते अजाणमाणा पाव सेवति) वे अज्ञानी जन पाप का सेवन करते हैं। (कुसला एयं मण ण करेंति) अत जो पुरुष कुशल है वे उक्त प्रकार के मांस को खाने की इच्छा भी नहीं करते हैं (एसा वायावि मिच्छा बुइआ) तथा माँस भक्षण में दोष न होने का कथन भी मिथ्या है ॥३९॥

भावार्थ—आर्द्र कुमार मुनि कहते हैं कि—पूर्व गाथा में जिस मांस का वर्णन किया गया है उसे खाने वाले पुरुष अनार्य्य हैं उन्हें पाप और पुण्य का ज्ञान सर्वथा नहीं है। एक तो मास हिंसा के विना प्राप्त नहीं होता तथा वह स्वभाव से ही अपवित्र है एव वह रौद्र ध्यान का हेतु है, तथा वह रक्त आदि दूषित पदार्थों से पूर्ण और अनेक कीडों का स्थान है। वह दुर्गन्ध से भरा हुआ और शुक्र तथा शोणित से उत्पन्न तथा सज्जनों से निन्दित है। ऐसे मास को जो खाता है वह पुरुष राक्षस के समान है और नरकगामी है अत विचार करने पर मालुम होता है कि—मांस खाने

भावार्थ—वाला पुरुष अपने आत्मा को नरक में डालने के कारण आत्मद्रोही है आत्मा का कल्याण करने वाला नहीं है।

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि—"जिसके मांस को जो इस भव में खाता है वह भी उसके मांस को पर भव में खायगा" इस भाव को लेकर मांस का 'मांस' यह नाम रखा गया है। 'मां' यानी मुझको 'स' अर्थात् वह प्राणी परभव में खायगा, जिसके मांस को मैंने इसभव में खाया है, यह मांस शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है अतः मांस खानेवाला पुरुष मोक्ष मार्ग का आराधक नहीं है। जो पुरुष कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक रखते हैं जो ज्ञानी और महात्मा हैं वे मांस खाने की इच्छा भी नहीं करते हैं तथा इसके अनुमोदन को भी पाप समझते हैं। अतः बौद्धों का यह आचरण अच्छा नहीं है ॥ ३९ ॥



सव्वेसिं जीवाण दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥४०॥

छाया—सर्वेषां भूतानां दयार्थाय सावद्यदोषं परिवर्जयन्तः ।
तच्छङ्किन ऋषयो ज्ञातपुत्रीयाः, उद्दिष्टभक्तं परिवर्जयन्ति ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—(सव्वेसिं जीवाणं दयट्ठयाए) सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने के लिये (सावज्ज दोसं परिवज्जयंता) सावद्य दोष को वर्जित करने वाले (तस्संकिणो इसिणो नाय पुत्ता) तथा उस सावद्य की आशङ्का करने वाले, महावीर स्वामी के शिष्य ऋषिगण (उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति) उद्दिष्ट भक्त को वर्जित करते हैं ॥४०॥

भावार्थ—जो पुरुष मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं उनको मांस भक्षण तो करना ही नहीं चाहिये इसके सिवाय उद्दिष्टभक्त भी उन्हें त्याग करना चाहिये। क्योंकि छःकाय के जीवों का आरम्भ करके आहार तैयार किया जाता है वह आहार यदि साधु के लिये बनाया गया हो तो साधु को छःकाय के जीवों के आरम्भ का अनुमोदक बनना पड़ता है इसलिये साधु वैसे आहार को भी नहीं लेते हैं। भगवान महावीर स्वामी के शिष्य ऋषिगण सर्व सावद्य कर्मों को वर्जित करने वाले होते हैं अतः जिस आहार में उन्हें स्वल्प भी दोष की आशंका हो जाती है उसे वे ग्रहण नहीं करते हैं ॥ ४० ॥

भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा, सव्वेसि पाणाण निहाय दंडं ।
तम्हा ण भुंजंति तहप्पगारं, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥४१॥

छाया—भूताभिशङ्कया जुगुप्समाना, सर्वेषां प्राणानां निधाय दण्डम् ।
तस्मान्न भुञ्जते तथाप्रकारम् एषोऽनुधर्म इह संयतानाम् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा) प्राणियों के उपमर्द की आशङ्का से सावद्य अनुष्ठान को वर्जित करने वाले साधु पुरुष (सव्वेसिं पाणाणं दंड निहाय) सब प्राणियों को दण्ड देना त्यागकर (तहप्पगारं ण भुजंति) उस प्रकार के आहार को यानी दोष युक्त आहार को नहीं भोगते हैं । (इह संजयाण एसो अणुधम्मो) इस जैन शासन में संयमी पुरुषों का यही धर्म है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञोक्त धर्म को पालन करने वाले उत्तम पुरुष प्राणियों के उपमर्द की आशंका से सावद्य कार्य नहीं करते हैं । वे किसी भी प्राणी को दण्ड नहीं देते हैं इसलिए वे अशुद्ध आहार का ग्रहण नहीं करते हैं । पहले तीर्थंकर ने इस धर्म का आचरण किया उसके पश्चात् उनके शिष्यगण इस धर्म का आचरण करने लगे इसलिये इस धर्म को अनुधर्म कहते हैं अथवा यह धर्म शिरीष के फूल के समान अत्यन्त कोमल है क्योंकि थोड़ा भी अतिचार होजाने पर यह नष्ट हो जाता है इसलिये इसे, अणुधर्म कहते हैं यह धर्म ही उत्तम पुरुषों का धर्म है और यही मोक्ष प्राप्ति का सच्चा साधन है ॥ ४१ ॥



निग्गंथधम्मंमि इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा ।
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए, अच्चत्थतं (ओ) पाउणती सिलोगं॥४२॥

छाया—निर्ग्रन्थधर्मे इमं समाधिमस्मिन् सुस्थायानिहश्चरेत् ।
बुद्धो मुनिः शीलगुणोपेतः अत्यर्थतया प्राप्नोति श्लोकम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(निग्गंथ धम्मंमि इमं समाहिं अस्सिं सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा) इस निग्रन्थ धर्म में स्थित पुरुष पूर्वोक्त समाधि को प्राप्त करके तथा इसमें भली भाति रह कर माया रहित होकर संयम का अनुष्ठान करे । (बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए अच्चत्थओ

अन्वयार्थ—सिलोगं पाउणति) इस धर्म के आचरण के प्रभाव से पदार्थों के ज्ञान की प्राप्त त्रिकालवेदी तथा शील और गुणों से युक्त पुरुष अत्यन्त प्रशंसा का पात्र होता है ॥ ४२ ॥

भावार्थ—यह निर्ग्रन्थ धर्म किसी प्रकार के कपट से युक्त नहीं है किन्तु सम्पूर्ण कपटों से रहित है इसलिये यह 'निर्ग्रन्थ धर्म' कहलाता है "निर्गतः ग्रन्थे भ्यः कपटेभ्य इति निर्ग्रन्थः" अर्थात् जो धर्म ग्रन्थ यानी कपट से रहित है उसे निर्ग्रन्थ धर्म कहते हैं। यह धर्म श्रुत और चरित्र रूप है अथवा उत्तम पुरुषों से आचरण किया जाने वाला सर्वज्ञोक्त जो क्षान्ति आदि धर्म है वह निर्ग्रन्थ धर्म है। उस निर्ग्रन्थ धर्म में स्थित पुरुष पूर्वोक्त समाधि को प्राप्त करके अशुद्ध आहार का त्याग करे तथा सम्पूर्ण परीषहों को सहन करता हुआ वह शुद्ध संयम का अनुष्ठान करे। इस प्रकार इस धर्म के आचरण के प्रभाव से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ क्रोधादि रहित त्रिकाल दर्शी मूल गुण और उत्तर गुण से सम्पन्न साधु सम्पूर्ण द्वन्द्वों से रहित हो जाता है और वह दोनों लोक में प्रशंसा का पात्र होता है। ऐसे मुनिवरों के विषय में विद्वानों ने कहा है कि— "राजानं तृणतुल्यमेव मनुते शक्रेऽपि नैवादरो, वित्तोपार्जनरक्षण व्ययकृता प्राप्नोति नो वेदना। संसारान्तर्वर्त्यपीह लभते सं मुक्त वन्निर्भयः, सन्तोषात् पुरुषोऽमृतत्वमचिरात् यायात् सुरेन्द्रार्चितः।" सर्वज्ञोक्त धर्म में स्थित सन्तोषी साधु राजा महाराजा आदि को तृण के तुल्य मानता है तथा वह इन्द्र में भी आदर नहीं रखता है। वह सन्तोषी पुरुष धन के अर्जन रक्षण और व्यय के दुःखों को नहीं प्राप्त करता है। वह संसार में रहता हुआ भी मुक्त पुरुष के समान निर्भय होकर विच रता है तथा सन्तोष के कारण वह इन्द्रादि देवों का भी पूजनीय होकर शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥



सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए माहणाणं।
से पुन्नखंधे सुमहऽज्जणित्ता, भवति देवा इति वेयवाओ ॥४३॥

छाया—स्नातकानान्तु द्वे सहस्रे यो भोजयेन्नित्यं ब्राह्मणानाम्।
ते पुण्यस्कन्धं सुमहज्जनित्वा भवन्ति देवा इति वेदवादः ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(जे दुवे सहस्से सिणायगाणं माहणाणं नियए भोयए) ब्राह्मण लोग आर्द्रकजी से कहते हैं कि—जो पुरुष दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराता है (ते सुमह पुण्णखध जणित्ता देवा भवति इति वेयवाओ) वह भारी पुण्य पुन्ज को उपार्जन करके देवता होता है यह वेद का कथन है ॥ ४३ ॥

भावार्थ—बौद्ध मत वालों को परास्त किए हुए आर्द्रकजी को देखकर ब्राह्मणगण उनके पास आये और कहने लगे कि—हे आर्द्रक ! तुमने गोशालक और बौद्ध मत का तिरस्कार किया है यह बहुत अच्छी बात है क्योंकि—ये दोनों ही मत वेद बाह्य हैं तथा यहआर्हत मत भी वेदबाह्य ही है अत तुम इसे भी छोड़ दो । तू क्षत्रियों मे प्रधान है इस लिए सब वर्णों मे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सेवा करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है शूद्रों की सेवा करना नहीं । तू यज्ञ याग आदि का अनुष्ठान करो और ब्राह्मणों की सेवा करो । ब्राह्मण सेवा का माहात्म्य हम तुम से कहते हैं उसे सुनो । वेद में लिखा है कि—छ प्रकार के कर्मों को करने वाले वेदपाठी शौचाचारपरायण सदा स्नान करने वाले ब्रह्मचारी दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को जो मनुष्य प्रतिदिन भोजन कराता है वह महान् पुण्य पुञ्ज को उपार्जन करके स्वर्गलोक में देवता होता है ॥ ४३ ॥

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए कुलालयाणं ।
से गच्छति लोलुवसंपगाढे, तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥४४॥

छाया—स्नातकानान्तु द्वे सहस्रे यो भोजयेन्नित्यं कुलालयानाम् ।
स गच्छति लोलुपसंप्रगाढे तिव्राभितापी नरकाभिसेवी ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(कुलालयाण सिणायगाण दुवे सहस्से जे णियए भोयए) क्षत्रिय आदि कुलों मे भोजन के लिए घूमने वाले दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को जो प्रतिदिन भोजन कराता है (से लोलुवसपगाढे तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी गच्छति) वह पुरुष मास लोभी पक्षियों से पूर्ण नरक में जाता है और वह वहा भयङ्कर ताप को भोगता हुआ निवास करता है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—आर्द्रकजी ब्राह्मणों के वाक्य को सुनकर उनके मत को दूषित करते हुए कहते हैं कि—हे ब्राह्मणों ! जो मनुष्य दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को

भावार्थ—प्रतिदिन भोजन कराता है वह कुपात्र को दान देने वाला है क्योंकि बिल्ली जैसे मांस की प्राप्ति के लिये घर-घर घूमती फिरती है इसी तरह जो ब्राह्मण मांस की प्राप्ति के लिए क्षत्रिय आदि के कुलों में घूमता है वह दूसरे की कमाई खाने वाला निन्दनीय जीविका करता है वह ब्राह्मण कुपात्र है वह शील रहित है इसलिए ऐसे ब्राह्मणों को भोजन कराना कुपात्र दान देना है, अतः ऐसे ब्राह्मणों को भोजन कराने वाला पुरुष मांसाहारी पक्षियों से पूर्ण तथा भयंकर वेदना से युक्त नरक में जाता है ॥४४॥



दयावरं धम्म दुगुंछमाणा, वहावहं धम्म पसंसमाणा ।
एगंपि जे भोययती असीलं, णिवो णिसं जाति कुओ सुरेहिं ॥४५॥

छाया—दयावरं धर्मं जुगुप्सन् वधावहं धर्मं प्रशंसन् ।
एकमप्यशीलं यो भोजयति नृपः निशां याति कुतः सुरेषु ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(दयावरं धम्मं दुगुंछमाणा वहावहं धम्मं पसंसमाणा जे णिवो) दयाप्रधान धर्म की निन्दा और हिंसा प्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला जो राजा (एगंपि असीलं भोययती) एक भी शील रहित ब्राह्मण को भोजन कराता है (णिसं जाति सुरेहिं कुओ) वह अन्धकार युक्त नरक में जाता है फिर देवता होने की तो बात ही क्या है ॥ ४५ ॥

भावार्थ—दयाप्रधान धर्म की निन्दा और हिंसामय धर्म की प्रशंसा करने वाला जो मूर्ख राजा एक भी व्रतरहित अशील ब्राह्मण को छः काय के जीवों का उपमर्द करके भोजन कराता है वह भयंकर अन्धकार युक्त नरक में जाता है। वह मूर्ख व्यर्थ ही अपने को धर्मात्मा मानता है। वह पुरुष अधम देवता भी नहीं होता है फिर उत्तम देवता होने की तो बात ही क्या है ?। ऐसे एक भी अशील ब्राह्मण को भोजन कराने से जबकि नरक होता है तब फिर दो हजार को भोजन कराने से तो कहना ही क्या है ?। ब्राह्मणों को जाति का भारी अभिमान होता है परन्तु जाति कर्मवश जीव को प्राप्त होती है वह नित्य नहीं है इसलिये बुद्धिमान पुरुष अपनी जाति का मद नहीं करते हैं। कोई कहते हैं कि ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण की भुजा से क्षत्रिय की उरु से वैश्य की और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है"

भावार्थ—परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर वर्णों का परस्पर भेद नहीं हो सकता है। जैसे वृक्ष की मूल शाखा तथा अग्र भाग मे उत्पन्न फल समान होते हैं इसी तरह एक ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण चारो वर्ण भी समान होने चाहिये परन्तु ब्राह्मण लोग चारों वर्णों को समान नहीं मानते हैं। तथा ब्रह्म के मुख आदि अङ्गों से चारों वर्णों की उत्पत्ति आज कल क्यों नहीं होती ? अत यह कल्पना युक्ति रहित होने के कारण अप्रमाण है। एवं जाति अनित्य है यह ब्राह्मण धर्म का भी सिद्धान्त है जैसे कि—"शृगालो वै एष जायते य सपुरीषो दह्यते" "सद्य पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च त्र्यहेन शूद्रीभवति ब्राह्मण. क्षीरविक्रयी" अर्थात् जिसके शरीर में विष्ठा लगा रहता है वह मृत व्यक्ति विष्ठा सहित जलाये जाने पर शृगाल योनि को प्राप्त करता है। तथा जो ब्राह्मण मांस चमड़ा और नमक वेचता है वह शीघ्र ही पतित हो जाता है एवं दूध वेचने वाला ब्राह्मण तो तीन ही दिन मे शूद्र हो जाता है। इत्यादि वाक्यों मे जाति का नाश होना ब्राह्मण धर्म मे भी कहा है एव परलोक मे तो जाति भ्रंश हो ही जाता है। जैसे कि "कायिकै. कर्मणां दोषै याति स्थावरता नर। वाचिकै पक्षिमृगतां मानसै रन्त्यजातिताम्"। अर्थात् जो जीव शरीर से पाप करता है वह स्थावर योनि को प्राप्त करता है और जो वाणी से पाप करता है वह पक्षी तथा मृग आदि होता है एवं जो मानसिक पाप करता है वह चाण्डाल जाति मे जन्म लेता है। अत जाति अनित्य है यह निश्चित है फिर जो मनुष्य इस अनित्य जाति को पाकर मद करता है उससे बढकर मूर्ख कौन है? इसके सिवाय ब्राह्मणगण पशु हिंसा को धर्म का अङ्ग मानते हैं यह भी ब्राह्मणत्व के अनुकूल कार्य्य नहीं है। अत हिंसा के समर्थक मांस भोजी ब्राह्मणों को भोजन कराने से नरक की प्राप्ति होती है यह आर्द्रकुमार का आशय है ॥ ४५॥

दुहओवि धम्मंमि समुट्ठियामो, अस्सिं सुट्ठिच्चा तह एसकालं।
आयारसीले बुइएह नाणी, ण संपरायंमि विसेसमत्थि ॥४६॥

छाया—द्विधाऽपि धर्मे समुत्थिताः, अस्मिन् सुस्थिता स्तथैष्यत्काले।
आचारशील उक्त इह ज्ञानी न सम्पराये विशेषोऽस्ति ॥४६॥

अन्वयार्थ—(दुहओवि धम्मंमि समुट्ठिया) एक दण्डी लोग आर्द्रकमुनि से कहते हैं कि—हम और तुम दोनों ही धर्म में प्रवृत्त हैं (अस्सिं सुट्ठिया तह एस काले) हम दोनों भूत वर्तमान और भविष्य तीनों काल में धर्म में स्थित हैं। (आयारसीले वुत्ते पुरिस) हमारे दोनों के मत में आचारशील पुरुष ज्ञानी कहा गया है। (संसारंमि न विसेसमत्थि) तथा हमारे और तुम्हारे मत में संसार के स्वरूप में भी कोई भेद नहीं है ॥ ४६ ॥

भावार्थ—आर्द्रकुमार मुनि जब ब्राह्मणों को पूर्वोक्त प्रकार से परास्त करके आगे जाने के लिये तैयार हुए तब उनके पास एकदण्डी लोग आये और वे कहने लगे कि हे आर्द्रकुमार! सब प्रकार के आरम्भों को करने वाले मांसाहारी विषय भोग में रत गृहस्थ ब्राह्मणों को परास्त करके तुमने अच्छा किया है अब तुम हमारा सिद्धान्त सुनो और उसे हृदय में धारण करो। सत्त्व रज और तम इन तीन गुणों की साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं उस प्रकृति से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है और महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है उस अहंकार से सोलह गण उत्पन्न होते हैं उन सोलह गणों में पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। ये सब मिलकर चौबीस पदार्थ हैं और पचीसवाँ पुरुष है वह चेतन स्वरूप है। इस प्रकार उक्त २५ तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है यही हमारा सिद्धान्त है। इस हमारे सिद्धान्त के साथ आर्हत सिद्धान्त का बहुत भेद नहीं है किन्तु अधिकांश में तुल्यता है। आप लोग जीव पुण्य पाप, बन्ध और मोक्ष को स्वीकार करते हैं और हम भी इनका अस्तित्व मानते हैं एवं हम लोग जिन अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को यम कह कर स्वीकार करते हैं आप लोग उन्हें ही पञ्च महाव्रत कहते हैं। इसी तरह इन्द्रिय और मन को नियम में रखना हमारा और आपका दोनों का सिद्धान्त है अतः हमारे दोनों के मतों की बहुत समता है। वस्तुतः हम और आप ये दो ही सच्चे धर्म में स्थित हैं तथा भूत वर्तमान और भविष्य तीनों ही काल में अपनी प्रतिज्ञा को पालने वाले हैं। एवं हम दोनों के यहाँ आचार प्रधान शील उत्तम माना गया है जो शील यम नियमादि रूप है। तथा हम दोनों के ही शास्त्रों में श्रुत ज्ञान या केवलज्ञान को मोक्ष का कारण माना है। एवं संसार का स्वरूप जैसा आपके शास्त्र में माना जाता है वैसा ही हमारे शास्त्र में भी माना गया है। हमारा शास्त्र कहता है कि—अत्यन्त असत् वस्तु उत्पन्न नहीं होती है किन्तु कारण में कथंचित् स्थित ही उत्पन्न होती

भावार्थ—है और आप भी यही मानते हैं तथा द्रव्य रूप से संसार को आप नित्य मानते हैं और हम भी उसे नित्य कहते हैं। यद्यपि आप संसार की उत्पत्ति और नाश भी मानते हैं तथापि आपके साथ हमारा अधिक भेद नहीं है क्योंकि हम भी ससार का आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं ॥ ४६ ॥

अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं, सणातणं अक्खयमव्वयं च ।
सव्वेसु भूतेसुवि सव्वतो से, चंदो व ताराहिं समत्तरूवे ॥४७॥

छाया—अव्यक्तरूपं पुरुषं महान्तं सनातनमक्षयमव्ययं च ।
सर्वेषु भूतेष्वपि सर्वतोऽसौ चन्द्र इव तारासु समस्तरूपः ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(पुरिस अव्वत्तरूप महत सणातणं अव्वय अक्खय) यह पुरुष यानी जीवात्मा अव्यक्त है यानी यह इन्द्रिय और मन का विषय नहीं है। तथा यह सर्वलोक व्यापक और सनातन यानी नित्य है। यह क्षय और नाश से रहित है। (से सव्वेसु भूतेसुवि सव्वतो ताराहि चंदो व समत्तरूवे) यह जीवात्मा सब भूतों में सम्पूर्ण रूप से रहता है जैसे चन्द्रमा सम्पूर्ण ताराओं के साथ सम्पूर्णरूप से सम्बन्ध करता है ॥ ४७ ॥

भावार्थ—एक दण्डी लोग आर्हत मत से अपने मत की तुल्यता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि—शरीर को पुर कहते हैं और उस शरीर में जो निवास करता है उसे पुरुष कहते हैं वह जीवात्मा है उसे जैसे आर्हत लोग स्वीकार करते हैं उसी तरह हम लोग भी स्वीकार करते हैं। वह जीवात्मा इन्द्रिय और मन से जानने योग्य न होने से अव्यक्त है। वह स्वत कर, चरण, शिर और ग्रीवा आदि अवयवों से युक्त नहीं है। वह सर्व लोकव्यापी और नित्य है। यद्यपि उसकी नाना योनिओं मे गति होती है तथापि उसके चैतन्य रूप का कभी भी विनाश नहीं होता है अत वह नित्य है। उसके प्रदेशों को कोई खण्डित नहीं कर सकता है इसलिये वह अक्षय है। अनन्त काल व्यतीत होने पर भी उसके एक अंश का भी नाश नहीं होता है इसलिये वह अव्यय है। जैसे चन्द्रमा अश्विनी आदि नक्षत्रों के साथ पूर्ण रूप से सम्बन्ध करता है इसी तरह यह आत्मा शरीर रूप से परिणत सब भूतों के साथ पूर्णरूप से सम्बन्ध

करता है किन्तु एक अंश से नहीं क्योंकि वह निरंश है। इस प्रकार आत्मा के ये सब विशेषण हमारे दर्शन में ही पूर्णरूप से कहे गये हैं आर्हत दर्शन में नहीं यह हमारे धर्म की आर्हत दर्शन से विशेषता है अतः हे आर्द्र कुमार ! तुमको हमारे धर्म में ही आना चाहिये आर्हत धर्म में नहीं यह एकदण्डियों ने आर्द्रकमी से कहा ॥ ४७ ॥



एवं ण मिज्जंति ण संसरंती, ण माहणा खत्तिय वेस पेसा।
कीडा य पक्खी य सरीसिवा य, नरा य सव्वे तह देवलोगा ॥४८॥

छाया—एवं न मीयन्ते न संसरन्ति न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यप्रेष्याः।
कीटाश्च पक्षिणश्च सरीसृपाश्च नराश्च सर्वे तथा देवलोकाः ॥४८॥

अन्वयार्थ—(एवं ण मिज्जंति) मुनि आर्द्रकुमारजी कहते हैं कि हे एकदण्डियो ! तुम्हारे सिद्धान्तानुसार सुख्य तथा दुर्गत आदि भेद नहीं हो सकते हैं (ण संसरंति) तथा जीव का अपने कर्म से प्रेरित होकर नाना गतियों में जाना भी सिद्ध नहीं हो सकता है। (ण माहणा खत्तियवेसपेसा) एवं ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र भेद भी नहीं सिद्ध हो सकता है (कीडाय पक्खीय सरीसिवाय) एवं कीट पक्षी और सरीसृप इत्यादि गतियां भी सिद्ध न होंगी। (नरा य सव्वे तह देवलोगा) एवं मनुष्य तथा देवता आदि गतियों के भेद भी सिद्ध न होंगे ॥ ४८ ॥

भावार्थ—आर्द्रकुमार मुनि एक दण्डियों के वाक्य को सुन कर उसका समाधान देते हुए कहते हैं कि—आप के साथ हमारे मत की एकता नहीं है। आप एकान्तवादी और हम अनेकान्तवादी हैं। आप आत्मा को सर्व व्यापक मानते हैं और हम उसे शरीर मात्र व्यापी मानते हैं। इस प्रकार जैसे आत्मा के विषय में हमारा और आपका एक मत नहीं है इसी तरह संसार के स्वरूप के विषय में हमारा और आपका एक मत नहीं है आप कहते हैं कि—सभी पदार्थ प्रकृति से सर्वथा अभिन्न हैं और हम कहते हैं कि कारण में कार्य्य द्रव्यरूप से रहता है परन्तु पर्य्यायरूप से नहीं रहता है। यह हमारा और आपका महान भेद है। आपके मत में कार्य्य कारण में सर्वात्मरूप से विद्यमान है परन्तु हमारे मत में सर्वात्मरूपसे नहीं है। एवं

भावार्थ—हमारे मत में सभी सत् पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त माने गये हैं परन्तु आप ऐसा नहीं मानते हैं। आप लोग समस्त सत् पदार्थों को ध्रौव्य युक्त ही मानते हैं। यद्यपि आपने पदार्थों का आविर्भाव और तिरोभाव भी माना है तथापि वे आविर्भाव और तिरोभाव उत्पत्ति और नाश के विना हो नहीं सकते हैं अत' आपके साथ हमारा ऐहिक और पारलौकिक किसी भी पदार्थ के विषय में मतैक्य नहीं है। आप लोग आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं परन्तु यह मान्यता युक्ति से सिद्ध नहीं होती है क्योंकि चैतन्य रूप आत्मा का गुण सर्वत्र नहीं पाया जाता है वह शरीर मे ही पाया जाता है इसलिये आत्मा को सर्वव्यापी न मान कर उसे शरीरमात्रव्यापी ही मानना उचित है। जो वस्तु आकाश की तरह सर्व व्यापक है उसकी गति होना संभव नहीं है परन्तु यह आत्मा कर्म से प्रेरित होकर नाना गतियों में जाता है यह आप भी मानते हैं फिर यह सर्व व्यापक कैसे हो सकता है ? आप आत्मा में किसी प्रकार का विकार होना नहीं मानते हैं उसे सदा एक रूप एक रस वतलाते हैं ऐसी दशा में भिन्न-भिन्न गतियों में उसका परिवर्तन होना किस प्रकार सभव है ? इस जगत में कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई धनवान, कोई निर्धन, कोई वालक, कोई युवा और कोई वृद्ध इत्यादि रूप से नाना भेद वाले देखे जाते हैं। वे भेद आत्मा को कुटस्थ नित्य मानने पर तथा एक ही आत्मा मानने पर वन नहीं सकते हैं अत' आत्मा को सर्वव्यापी कुटस्थ तथा एक ही मानना सर्वथा मिथ्या है। वस्तुत प्रत्येक प्राणी अलग-अलग सुख-दु'ख भोगते हैं अत आत्मा भिन्न-भिन्न है और आत्मा का गुण चैतन्य शरीर मे ही पाया जाता है अन्यत्र नहीं इसलिये वह शरीर मात्र व्यापी है तथा कारण में कार्य्य द्रव्यरूप से रहता है और पर्य्याय रूप से नहीं रहता है। आत्मा नाना गतियों मे जाता है इसलिये वह परिणामी है कुटस्थ नित्य नहीं है इत्यादि आर्हत सिद्धान्त ही युक्तियुक्त और मानने के योग्य है साङ्ख्य और आत्माऽद्वैतवाद नहीं यह आर्द्रकुमार मुनि का आशय है ॥ ४८ ॥



लोयं अयाणित्तिह केवलेणं, कहंति जे धम्ममजाणमाणा ।
णासंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसार घोरंमि अणोरपारे ॥४९॥

छाया—लोक मज्ञात्वेह केवलेन, कथयन्ति ये धर्ममजानानाः ।
नाशयन्त्यात्मानं परञ्च नष्टाः संसारघोरेऽपारे ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(इह लोगं केवलेण अजाणित्ता) इस लोक को केवल ज्ञान के द्वारा न जान कर (जे अजाणमाणा धम्मं कहंति) जो अज्ञानी धर्म का उपदेश करते हैं (ते णट्ठा अप्पाणं परं च अणोरपारे संसार घोरंमि णासंति) वे स्वयं नष्ट जीव अपने को तथा दूसरे को भी अपार तथा भयंकर संसार में नाश करते हैं ॥ ४९ ॥

भावार्थ—मुनि आर्द्रकुमारजी कहते हैं कि—जो पुरुष केवल ज्ञानी नहीं है वह वस्तु के सत्य स्वरूप को नहीं जान सकता है क्योंकि वस्तु के सत्यस्वरूप का ज्ञान केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है । अतः केवल ज्ञानी तीर्थङ्करों ने जो उपदेश किया है वही मनुष्यों के कल्याण का मार्ग है दूसरे सब अनर्थ हैं । अतः जिसने केवल ज्ञान को प्राप्त नहीं किया है और केवल ज्ञानी के द्वारा कहे हुए पदार्थों पर श्रद्धा भी नहीं रखता है वह पुरुष धर्मोपदेश करने के योग्य नहीं है । ऐसे मनुष्य जो उपदेश करते हैं उससे जगत् के जीवों की भारी हानि होती है क्योंकि उनके विपरीत उपदेश से मनुष्य विपरीत आचरण करके संसार सागर में सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं । अतः ऐसे मूर्ख जीव स्वयं तो नष्ट हैं ही साथ ही अन्य जीवों का भी नाश करते हैं ॥४९॥



लोयं विजाणंतिह केवलेणं, पुन्नेण नाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहंति जे उ, तारंति अप्पाण परं च तिण्णा ॥५०॥

छाया—लोकं विजानन्तीह केवलेन पूर्णेन ज्ञानेन समाधियुक्ताः ।
धर्मं समस्तं कथयन्ति येतु तारयन्त्यात्मानं परञ्च तीर्णाः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(जेउ समाहिजुत्ता इह पुन्नेण केवलेण नाणेण लोयं विजाणंति) परन्तु समाधियुक्त जो पुरुष पूर्ण केवल ज्ञान के द्वारा इस लोकको ठीक ठीक जानते हैं (समत्त धम्म कहति) और सच्चे धर्मका उपदेश करते हैं (तिन्ना अप्पाण परंच तारति) वे पापसे पार हुए पुरुप अपने को और दूसरे को भी ससार सागर से पार करते हैं ॥ ५० ॥

भावार्थ—मुनि आर्द्रकुमारजी इस गाथा के द्वारा यह बतलाते हैं कि जो पुरुप केवल ज्ञानी है वही वस्तु के सच्चे स्वरूप को जानता है अत वह पुरुप ही जगत् के हित के लिये सच्चे धर्म का उपदेश देकर अपने को तथा दूसरों को भी ससार सागर से पार करता है। परन्तु जो पुरुष केवली नहीं है वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता न होने के कारण मन माने तौर से आचरण करता हुआ स्वय भी बिगड़ता है और बुरा उपदेश देकर दूसरे प्राणी को भी खराव करता है। जैसे सच्चे मार्ग को जानने वाला पुरुष ही घोर जंगल से अपने को पार करता है और उपदेश देकर दूसरों को भी पार करता है परन्तु जो मार्ग का ज्ञाता नहीं है और मार्ग जानने वाले के उपदेश को भी नहीं मानता है वह उस घोर जगल में भटकता फिरता है। अत कल्याणार्थी मनुष्य को केवल ज्ञानी तीर्थङ्करों के बताये हुए मार्ग से ही चलना चाहिये ॥ ५० ॥



जे गरहियं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहडं तं तु समं मईए, अहाउसो विप्परियासमेव ॥५१॥

छाया—ये गर्हितं स्थानमिहावसन्ति, ये चाऽपि लोके चरणोपेताः ।
उदाहृतं तत्तु समं स्वमत्या, अथायुष्मन् विपर्यासमेव ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(इह लोगे जे गरहिय ठाण आवसंति जे यापि चरणोववेया त तु मइए सम उदाहडं) मुनि आर्द्रकुमारजी कहते हैं कि इस लोक में जो पुरुष निन्दनीय आचरण करते हैं और जो पुरुष उत्तम आचरण का पालन करते हैं उन दोनों के अनुष्ठानों को असर्वज्ञ जीव अपनी इच्छा से समान बतलाते हैं। (अह आउसो विप्परिया-

लोयं अयाणित्तिह केवलेणं, कहंति जे धम्ममजाणमाणा ।
णासंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसार घोरंमि अणोरपारे ॥४९॥

छाया—लोकमज्ञात्वेह केवलेन, कथयन्ति ये धर्ममजानानाः ।
नाशयन्त्यात्मानं परञ्च नष्टाः संसारघोरेऽपारे ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(इह लोगं केवलेण अजाणित्ता) इस लोक को केवल ज्ञान के द्वारा न जान कर (जे अजाणमाणा धम्मं कहंति) जो अज्ञानी धर्म का उपदेश करते हैं (ते णट्ठा अप्पाणं परं च अणोरपारे संसार घोरंमि णासंति) वे स्वयं नष्ट जीव अपने को तथा दूसरे को भी अपार तथा भयङ्कर संसार में नाश करते हैं ॥ ४९ ॥

भावार्थ—मुनि आर्द्रकुमारजी कहते हैं कि—जो पुरुष केवल ज्ञानी नहीं है वह वस्तु के सत्य स्वरूप को नहीं जान सकता है क्योंकि वस्तु के सत्यस्वरूप का ज्ञान केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है। अतः केवल ज्ञानी तीर्थङ्करों ने जो उपदेश किया है वही मनुष्यों के कल्याण का मार्ग है दूसरे सब अनर्थ हैं। अतः जिसने केवल ज्ञान को प्राप्त नहीं किया है और केवल ज्ञानी के द्वारा कहे हुए पदार्थों पर श्रद्धा भी नहीं रखता है वह पुरुष धर्मोपदेश करने के योग्य नहीं है। ऐसे मनुष्य जो उपदेश करते हैं उससे जगत् के जीवों की भारी हानि होती है क्योंकि उनके विपरीत उपदेश से मनुष्य विपरीत आचरण करके संसार सागर में सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं। अतः ऐसे मूर्ख जीव स्वयं तो नष्ट हैं ही साथ ही अन्य जीवों का भी नाश करते हैं ॥४९॥

लोयं विजाणंतिह केवलेणं, पुन्नेण नाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहंति जे उ, तारंति अप्पाण परं च तिण्णा ॥५०॥

छाया—लोकं विजानन्तीह केवलेन पूर्णेन ज्ञानेन समाधियुक्ताः ।
धर्मं समस्तं कथयन्ति ये तु तारयन्त्यात्मानं परञ्च तीर्णाः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(जेउ समाहिजुत्ता इह पुन्नेण केवलेण नाणेण लोयं विजाणंति) परन्तु समाधियुक्त जो पुरुष पूर्ण केवल ज्ञान के द्वारा इस लोकको ठीक ठीक जानते है (समत्त धम्म कहंति) और सच्चे धर्मका उपदेश करते हैं (तिन्ना अप्पाण परच तारति) वे पापसे पार हुए पुरुष अपने को और दूसरे को भी ससार सागर से पार करते हैं ॥ ५० ॥

भावार्थ—मुनि आर्द्रकुमारजी इस गाथा के द्वारा यह वतलाते हैं कि जो पुरुष केवल ज्ञानी है वही वस्तु के सच्चे स्वरूप को जानता है अत वह पुरुष ही जगत् के हित के लिये सच्चे धर्म का उपदेश देकर अपने को तथा दूसरों को भी संसार सागर से पार करता है। परन्तु जो पुरुष केवली नहीं है वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता न होने के कारण मन माने तौर से आचरण करता हुआ स्वय भी विगड़ता है और बुरा उपदेश देकर दूसरे प्राणी को भी खराव करता है। जैसे सच्चे मार्ग को जानने वाला पुरुष ही घोर जंगल से अपने को पार करता है और उपदेश देकर दूसरों को भी पार करता है परन्तु जो मार्ग का ज्ञाता नहीं है और मार्ग जानने वाले के उपदेश को भी नहीं मानता है वह उस घोर जंगल मे भटकता फिरता है। अत कल्याणार्थी मनुष्य को केवल ज्ञानी तीर्थ-ङ्करों के वताये हुए मार्ग से ही चलना चाहिये ॥ ५० ॥



जे गरहियं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहडं तं तु समं मईए, अहाउसो विप्परियासमेव ॥५१॥

छाया—ये गर्हितं स्थानमिहावसन्ति, ये चाऽपि लोके चरणोपेताः ।
उदाहृतं तत्तु समं स्वमत्या, अथायुष्मन् विपर्य्यासमेव ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(इह लोगे जे गरहिय ठाण आवसति जे यावि चरणोववेया त तु मइए सम उदाहड) मुनि आर्द्रकुमारजी कहते हैं कि इस लोक में जो पुरुष निन्दनीय आचरण करते हैं और जो पुरुष उत्तम आचरण का पालन करते है उन दोनों के अनुष्ठानों को असर्वज्ञ जीव अपनी इच्छा से समान वतलाते हैं। (अह आउसो विप्परिया

अन्वयार्थ—एमेव) अथवा हे आयुष्मन् ! वे शुभ अनुष्ठान करनेवालों को अशुभ आचरण करने वाले और अशुभ अनुष्ठान करने वालों को शुभ आचरण करने वाले इस प्रकार विपरीत प्ररूपणा करते हैं ॥ ५१ ॥

भावार्थ—जो पुरुष अशुभ कर्म के उदय से अज्ञानी पुरुषों द्वारा आचरण किये हुए बुरे मार्ग का आश्रय लेकर असत् आचरण करते हैं तथा जो सर्वलोक मार्ग का आश्रय लेकर उत्तम चारित्र का आचरण करते हैं इन दोनों के आचरण यद्यपि समान नहीं हैं किन्तु पहले का अशुभ और पिछले का शुभ होने के कारण भिन्न-भिन्न हैं तथापि अज्ञानी जीव इन दोनों को समान ही बतलाते हैं। तथा कोई अज्ञानी तो पूर्वोक्त असत्य अनुष्ठान वाले के आचरण को शुभ बतलाते हैं, वस्तुतः यह उनकी अपनी बुद्धि की कल्पना मात्र है वस्तु स्थिति नहीं है ॥ ५१ ॥



संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु ।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्तिं पकप्पयामो ॥५२॥

छाया—संवत्सरेणापि चैकैकं बाणेन मारयित्वा महागजन्तु ।
शेषाणां जीवानां दयार्थाय वर्षं वयं वृत्तिं कल्पयामः ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ—(वयं सेसाणं जीवाणं दयट्ठयाए) हस्तितापस कहते हैं कि—हम लोग शेष जीवों की दया के लिये (संवच्छरेणावि बाणेण एगमेगं महागयं तु मारेउ) वर्षभर में बाण के द्वारा एक बड़े हाथी को मार कर (वासं वित्तिं कप्पयामो) वर्षभर उसके मांस से अपना निर्वाह करते हैं ॥ ५२ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से एकदण्डियों को परास्त करके जब आर्द्रकुमारजी भगवान् महावीर स्वामी के पास जाने लगे तो हस्तितापसों ने आकर उन्हें घेर लिया और वे कहने लगे कि हे आर्द्र कुमार ! बुद्धिमान् मनुष्यों को सदा अल्पत्व और बहुत्व का विचार करना चाहिये। ये जो कन्द मूल फल आदि को खाकर अपना निर्वाह करने वाले तापस हैं वे बहुत

भावार्थ—से स्थावर प्राणियों को तथा उनके आश्रित अनेक जङ्गम प्राणियों का नाश करते हैं। गुलर आदि फलों में बहुत से जङ्गम प्राणी निवास करते हैं। इसलिये गुलर आदि फलों को खाने वाले तापस उन अनेक जङ्गम जीवो का विनाश करते हैं। तथा जो लोग भिक्षा से अपनी जीविका चलाते हैं वे भी भिक्षा के लिये इधर उधर जाते आते समय अनेक कीडी आदि प्राणियों का मर्द्दन करते हैं तथा भिक्षा की कामना से उनका चित्त भी दूषित हो जाता है अत हम लोग वर्षभर में एक महान् हाथी को मार कर उसके माँस से वर्ष भर अपना निर्वाह करते हैं और शेष जीवों की रक्षा करते है। अत' हमारे धर्म के आचरण करने से अनेक प्राणियों की रक्षा और एक प्राणी का विनाश होता है इसलिये यही धर्म सबसे श्रेष्ठ है आप भी इसे स्वीकार करें॥ ५२ ॥



संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता अणियत्तदोसा ।
सेसाण जीवाण वहेण लग्गा, सिया य थोवं गिहिणोऽवि तम्हा॥५३॥

छाया—संवत्सरेणापिचैकैकं प्राणं घ्नन्तोऽनिवृत्तदोषा ः ।
शेषाणां जीवानां वधेन लग्नाः स्यात् स्तोकं गृहिणोऽपि तस्मात्॥५३॥

अन्वयार्थ—(सवच्छरेणविय एगमेग पाण हणता अणियत्तदोसा) वर्षभर में एक एक प्राणी को मारने वाले पुरुष भी दोष रहित नही हैं। (सेसाण जीवाण वहेण लग्गा गिहिणोवि तम्हा थोव सियाय) क्योंकि शेष जीवों के घात में प्रवृत्ति न करने वाले गृहस्थ भी दोष वर्जित क्यों न माने जावेंगे ॥ ५३ ॥

भावार्थ—मुनि आर्द्रकुमार हस्तितापसों से कहते हैं कि—एक वर्ष में एक प्राणी को मारने वाला पुरुष भी हिंसा के दोष से रहित नहीं है। उस पर भी हाथी जैसे पचेंद्रिय महाकाय प्राणी को मारने वाले तो सुतरा दोष रहित नहीं हैं। जो पुरुष साधु हैं वे सूर्य्य की किरणों से प्रकाशित मार्ग मे युगमात्र दृष्टि रख कर चलते हैं। वे ईर्य्यासमिति से युक्त होकर वेयालीस दोषों को वर्जित करके आहार ग्रहण करते हैं। वे लाभ

भावार्थ—और अलाभ में समान वृत्ति रखते हैं अत: उनके द्वारा कीड़ी आदि प्राणियों का घात नहीं होता है तथा आशंसा का दोष भी नहीं लगता है। आप लोग अल्प जीवों के घात से पाप होना नहीं मानते हैं परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि गृहस्थ भी क्षेत्र और काल से दूरवर्ती प्राणियों का घात नहीं करते हैं ऐसी दशा में अल्प प्राणियों के घातक होने से गृहस्थ को भी आप दोष रहित क्यों नहीं मानते ? अत जैसे गृहस्थ दोष वर्जित नहीं हैं उसी तरह आप भी नहीं हैं ॥५३॥



संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता समणव्वएसु ।
आयाहिए से पुरिसे अणज्जे, ण तारिसे केवलिणो भवंति ॥५४॥

छाया—संवत्सरेणाऽप्येकैकं प्राणं घ्नन् श्रमणव्रतेषु ।
आख्यातः स पुरुषोऽनार्य्यः न तादृशाः केवलिनो भवन्ति ॥५४॥

अन्वयार्थ—(समणव्वएसु संवच्छरेणावि एगमेगंपाणं हणंता) जो पुरुष श्रमणों के व्रत में स्थित होकर वर्षभर में भी एक एक प्राणी को मारता है (से पुरिसे अणारिए आहिए) वह अनार्य्य कहा गया है (तारिसा केवलिणो न भवंति ऐसे पुरुष को केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—मुनि आर्द्रकुमारजी हस्तितापसों से कहते हैं कि—जो पुरुष श्रमणों के व्रत में स्थित हो कर भी प्रति वर्ष एक एक प्राणी का घात करते हैं और दूसरों को इस कार्य्य का उपदेश करते हैं वे अपने और दूसरे का अहित करने वाले अज्ञानी हैं। वर्ष भर में एक प्राणी के घात करने से एक प्राणी का ही घात नहीं होता किन्तु उस प्राणी के माँस आदि में रहने वाले अनेक प्राणियों का तथा उसके माँस को पकाने में अनेक स्थावर और जङ्गम प्राणियों का भी घात होता है इसलिये वे जो वर्ष भर में एक प्राणी के घात की बात कहते हैं यह भी वास्तव में मिथ्या है। वे अहिंसा के उपासक नहीं हैं। अहिंसा की उपासना तो एक मात्र माधुकरी वृत्ति से ही होती है परन्तु यह मूर्खों के समझ में नहीं आता है। ऐसे

भावार्थ—हिंसामय कार्य्य करने वाले मिथ्याचारी जीवों को ज्ञान की प्राप्ति कभी नहीं होती है अत मनुष्य को इन दूषित मार्गों का आश्रय कदापि नहीं लेना चाहिये । इस प्रकार हस्तितापसों को परास्त करके आर्द्र कुमार मुनि भगवान् महावीर स्वामी के पास आये ॥ ५४ ॥



बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई ।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा ॥५५॥
त्तिबेमि, इति अद्दइज्जणाम छट्ठमज्झयणं समत्तं ॥

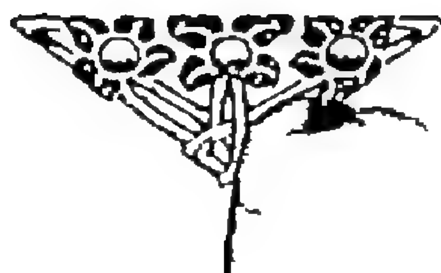
छाया—बुद्धस्याज्ञयेमं समाधि मस्मिन् सुस्थाय त्रिविधेन त्रायी ।
तरीतुं समुद्रमिव महाभवौघमादानं धर्ममुदाहरेद् इतिब्रवीमि ॥५५॥

अन्वयार्थ—(बुद्धस्स आणाए इम समाहि) तत्त्वदर्शी भगवान की आज्ञा से इस शान्तिमय धर्म को अङ्गीकार करके (अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी) और इस धर्म में अच्छी तरह स्थित होकर तीनों करणों से मिथ्यात्व की निन्दा करता हुआ पुरुष अपनी तथा दूसरे की रक्षा करता है । (महाभवोघ समुद्द तरिउ आयाणव धम्म मुदाहरेजा) महादुस्तर समुद्र की तरह ससार को पार करने के लिये विवेकी पुरुषों को सम्यग् दर्शन ज्ञान और चरित्र रूप धर्म का वर्णन और ग्रहण करना चाहिये ॥ ५५ ॥

भावार्थ—जो पुरुष केवल ज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी की आज्ञा से इस उत्तम धर्म को स्वीकार करके मन, वचन और काय से इसका भली भाति पालन करता है तथा समस्त मिथ्या दर्शनों की तीनों करणों से निन्दा करता है वह पुरुष इस घोर संसार से अपनी और दूसरे की भी रक्षा करता है तथा वही केवल ज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी होता है इस ससार को पार करने का एक मात्र उपाय सम्यग् दर्शन ज्ञान और चरित्र ही है इसलिये जो पुरुष इनको धारण करने वाला है वही सच्चा साधु है । वह पुरुष अपने सम्यग्दर्शन के प्रभाव से परतीर्थियों की तप समृद्धि को देख कर जैन दर्शन से भ्रष्ट नहीं होता है और सम्यग् ज्ञान

भावार्थ—के प्रभाव से वह परवादियों को परास्त करके उन्हें पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का उपदेश करता है तथा सम्यक् चरित्र के प्रभाव से वह समस्त जीवों का हितैषी होकर अपने आस्रव द्वारों को रोक देता है वह अपनी विशिष्ट तपस्या के प्रभाव से अपने अनेक जन्म के कर्मों को नष्ट कर देता है अतः ऐसे उत्तम धर्म को ही विद्वान् पुरुष स्वयं ग्रहण करते हैं और दूसरों को भी इसे ग्रहण करने की शिक्षा देते हैं ॥ ५५ ॥

॥ छठा अध्ययन समाप्त हुआ ॥



॥ ओ३म् ॥

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का

सप्तम अध्ययन



छट्ठे अध्ययन के पश्चात् सप्तम अध्ययन आरम्भ किया जाता है। पूर्व के अध्ययनों मे प्रायः साधुओं के आचार का सविस्तर वर्णन किया है परन्तु श्रावकों के आचार नहीं बताये गये हैं। अत श्रावकों का आचार बताने के लिये इस सप्तम अध्ययन का आरम्भ है। इस सप्तम अध्ययन का "नालन्दीयाध्ययन" नाम है। राजगृह से बाहर एक नालन्दा नामका स्थान है उसमे जो घटना हुई है उसे नालन्दीय कहते हैं। उस स्थान का नाम नालन्दा होने से ज्ञात होता है कि वह स्थान याचकों के समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाला है क्योंकि नालन्दा शब्द का यही अर्थ व्युत्पत्ति से निकलता है जैसे कि "न अल ददातीति नालन्दा" यह नालन्दा शब्द की व्युत्पत्ति है इसमे नकार और अल शब्द दोनों ही निषेधार्थक हैं और दान अर्थ में दो धातु है इसलिये दो निषेध प्रकृत अर्थ की दृढता के सूचक होने से जो याचकों को अवश्य दान देता है वह नालन्दा कहलाता है। यही नालन्दा शब्द का अर्थ है।



तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था, रिद्धित्थिमितसमिद्धे वण्णओ जाव पडिरूवे, तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बाहिरिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए, एत्थ णं नालंदानामं बाहिरिया होत्था, अणेगभवणसयसन्निविट्ठा जाव पडिरूवा ॥ (सूत्र० ६८) ॥

छाया— तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगरमासीत्, ऋद्धिस्तिमितसमृद्धं वर्णकं यावत्प्रतिरूपम्। तस्य राजगृहस्य नगरस्य बहिः उत्तरपूर्वस्यां नालन्दा नाम बाहिरिका आसीत्, अनेकभवनशतसन्निविष्टा यावत् प्रतिरूपा ॥६८॥

अन्वयार्थ—(तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था) उस काल में और उस समय में राजगृह नामक नगर था (रिद्धित्थिमितसमिद्धे वण्णओ जाव पडिरूवे) वह ऋद्धि से परिपूर्ण और बड़ा ही सुन्दर था। (तस्सणं रायगिहस्स णयरस्स बाहिरिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थणं नालंदानामं बाहिरिया होत्था) उस राजगृह नगर के बाहर ईशान कोण में नालन्दा नामक एक छोटा ग्राम था। (अणेगभवणसयसन्निविट्ठा जाव पडिरूवा) वह ग्राम अनेक भवनों से सुशोभित और बड़ा ही मनोहर था ॥६८॥

भावार्थ—इस सूत्र में राजगृह नगर का वर्णन जैसा किया है वैसा वह इस समय नहीं पाया जाता है किन्तु किसी समय वह वैसा अवश्य था इसी अर्थ को बताने के लिये मूल में "तेणं कालेणं तेणं समएणं" कहा है अर्थात् जिस समय राजगृह नगर इस सूत्र में कहे हुए विशेषणों से युक्त था उस काल और उस समय के अनुसार ही यहाँ वर्णन किया जाता है इसलिये अब वैसा न होने पर भी इस वर्णन को मिथ्या नहीं जानना चाहिये यह आशय है। किस काल में वह राजगृह नगर वैसा था ? यह तो गौतम स्वामी के समय से ही निश्चित हो जाता है। इसलिये जिस समय भगवान महावीर स्वामी और गौतम स्वामी वर्तमान थे उस समय राजगृह नगर बहुत विस्तृत और अनेक गगनचुम्बी भवनों से सुशोभित तथा धन धान्य आदि से परिपूर्ण था उस नगर के बाहर उत्तर और पूर्व दिशा में नालन्दा नामक एक छोटा ग्राम था वह ग्राम भी बड़ा ही मनोहर और अनेक उत्तमोत्तम भवनों से सुशोभित था ॥६८॥

तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेवे नामं गाहावई होत्था, अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिण्णविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजायरूवरजते आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाने बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था ॥ से णं लेवे नामं गाहावई समणो-

छाया—तस्याञ्च नालन्दायां बाह्यायां लेपोनाम गाथापतिरासीत् । आढ्यो दीप्तो वित्तो विस्तीर्णविपुलभवनशयनासनयानवाहनाकीर्णो, बहुधनबहुजातरूपरजतः, आयोगसम्प्रयोगसम्प्रयुक्तः, विक्षिप्त प्रचुरभक्तपानो बहुदासीदासगोमहिषगवेलकप्रभूतः बहुजनस्य अपरिभूतश्चाप्यासीत् । स लेपोनाम गाथापतिः श्रमणोपासकश्चा-

अन्वयार्थ—(तत्थणं बाहिरियाए नालंदाए लेवे नाम गाहावई होत्था) उस राजगृह से बाहर जो नालंदा ग्राम था वहा लेप नामक एक गृहस्थ निवास करता था। (अड्ढे दित्ते वित्ते) वह बड़ा ही धनवान् तेजस्वी और जगत् में प्रसिद्ध था। (विच्छिण्णविपुल भवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे) वह बड़े-बड़े अनेकों मकान, शयन, आसन, यान और वाहनों से परिपूर्ण था। (बहुधणबहुजायरूपरजते) वह बहुत धन बहुत सुवर्ण और बहुत चाँदी वाला था। (आओगपओगसंपउत्ते) वह धन उपार्जन के उपायों को जानने वाला और उनके प्रयोग मे बडा ही कुशल था। (विच्छड्डियपउरभत्तपाणे) उसके यहा बहुत भात पानी लोगों को दिया जाता था। (बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था) वह बहुत दासी दस, गाय, भैंस, और भेडों का स्वामी था। तथा वह बहुत लोगों से भी पराभव पाने के योग्य न था (से ण लेवे नाम गाहावई समणोवासए यावि

भावार्थ—पहले जिसका वर्णन किया गया है उस नालंदा ग्राम में एक बड़ा धनवान् लेप नामक गृहस्थ निवास करता था। वह श्रमणों की उपासना करने वाला श्रावक था। वह जीव और अजीव तत्त्व को भली-भांति जानने वाला सम्यग् ज्ञानी था। अंत वह अकेला भी समस्त देवता और असुरों से भी धर्म से विचलित किया जाने योग्य नहीं था। आर्हत प्रवचन मे उसकी जरा भी शका न थी। उसका यह दृढ विश्वास था कि—वही सत्य और शंका रहित है जो तीर्थङ्करों द्वारा उपदेश किया गया है। तथा अन्य दर्शन के प्रति उसका बिलकुल अनुराग नहीं था।

वासए यावि होत्था, अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ, निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगहियट्ठे अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो! निग्गंथे पावयणे अयं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, उस्सियफलिहे अप्पावयदुवारे चियत्तंतेउरप्पवेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ

छाया—प्यासीत् अभिगतजीवाजीवः यावत् विहरति। निर्ग्रन्थे प्रवचने निःशङ्कितः निष्काङ्क्षितः निर्विचिकित्सः लब्धार्थः गृहीतार्थ अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्त इद मायुष्मन् नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनमयमर्थ अयं परमार्थ शेषोऽनर्थ उच्छ्रितस्फटिकः अप्रावृतद्वारः अत्यक्तान्तःपुरप्रवेशः चतुर्दश्यष्टमीपूर्णिमासु प्रतिपूर्णं पौषधं सम्यगनुपालयन्

अन्वयार्थ—(होत्था) वह लेप नामक गाथापति श्रमणोपासक भी था (अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ) वह जीव और अजीव तत्त्व को जानने वाला था। (निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे) वह निर्ग्रन्थ प्रवचन में शङ्कारहित तथा अन्य दर्शन की इच्छा से रहित तथा गुणवान् पुरुषों की निन्दा से रहित था। (लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगहियट्ठे अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्ते) वह वस्तु स्वरूप को जानने वाला तथा मोक्ष मार्ग को स्वीकार किया हुआ एवं विद्वानों से पूछ कर विशेषरूप से पदार्थों का निश्चय किया हुआ तथा प्रश्नोत्तर के द्वारा पदार्थों को अच्छी तरह समझा हुआ था। उसका हृदय सम्यक्त्व से वासित था तथा उसकी हड्डी और मज्जाओं में भी धर्म का अनुराग था। (अयमाउसो निग्गंथे पावयणे अयं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे) उससे धर्म के सम्बन्ध में जब कोई कुछ प्रश्न करता तो वह यह कहता था कि—हे आयुष्मन्! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है और यही परमार्थ है शेष सब दर्शन अनर्थ हैं। (उस्सियफलिहे अप्पावयदुवारे चियत्तंतेउरप्पवेसे) उसका निर्मल यश जगत् में फैला हुआ था

भावार्थ—उसकी हड्डी और मज्जाओं में निर्ग्रन्थ प्रवचन का अनुराग भरा हुआ था। यदि उससे कोई धर्म के विषय में प्रश्न करता तो वह यही उत्तर दिया करता था कि—यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य प्रवचन है और यही मनुष्य को कल्याण का मार्ग बताने वाला है शेष सब अनर्थ हैं। इस प्रकार निर्मल श्रावक व्रत के पालन करने से उसका निर्मल यश जगत् में सर्वत्र फैला हुआ था और अन्य तीर्थी उसके घर पर आकर याद

पुण्णमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे समणे निग्गंथे तहाविहेणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे बहूहिं सीलव्वयगुणविरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे एवं च णं विहरइ ॥ (सूत्र० ६६) ॥

छाया—श्रमणान् निग्रन्थान् तथाविधेनैषणीयेन अशनपानखाद्यस्वाद्येन प्रतिलाभयन्, बहुभिः शीलव्रतगुणविरमणप्रत्याख्यानपौषधोपवासै रात्मानं भावयन् एवं च विहरति ॥६९॥

अन्वयार्थ—तथा गृह का द्वार खुला रहता था तथा राजाओं के अन्त पुर मे भी उसका प्रवेश वन्द नहीं था (चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्न पोसह सम्मं अणुपालेमाणे) वह चतुर्दशी अष्टमी तथा पूर्णिमा आदि तिथिओं मे परिपूर्ण पौषधव्रत का पालन किया करता था। (समणे निग्गथे तहाविहेण एसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभेमाणे) वह श्रमण निग्रथों को शुद्ध और एषणीय अशन पान खाद्य और स्वाद्य का दान करता हुआ (बहुहिं शीलव्वयगुणविरमणपच्चक्खाण पोसहोववासेहिं अप्पाण भावेमाणे एव च ण विहरइ) तथा बहुत शीलव्रत गुण विरमण प्रत्याख्यान पौषध और उपवास के द्वारा अपने को निर्मल करता हुआ विचरता था ॥६९॥

भावार्थ—कितना ही प्रयत्न करें परन्तु उसका एक मामूली दास भी सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट नहीं किया जा सकता था इस कारण उसके घर का द्वार खुला रहता था अन्यतीर्थियों के भय से वन्द नहीं किया जाता था। जहाँ अन्यजनों का प्रवेश सर्वथा वर्जित है ऐसे राजाओं के अन्त पुरों में भी उसका प्रवेश वन्द नहीं था क्योंकि श्रावक के सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न होने के कारण वह परम विश्वास पात्र था। उसके प्रति किसी प्रकार की शका किसी को नहीं होती थी। वह चतुर्दशी अष्टमी पूर्णिमा एव दूसरी शास्त्रोक्त कल्याणकारिणी तिथियों मे आहार शरीरसत्कार और अब्रह्मचर्य्य का त्याग करता हुआ परिपूर्ण देश चारित्र का पालन करता था। वह श्रमण निग्रन्थों को प्रासुक और एषणीय आहार आदि देता हुआ तथा पौषध और उपवास आदि के द्वारा अपने को पवित्र करता हुआ धर्माचरण करता था ॥ ६९ ॥



तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स नालंदाए बाहिरियाए उत्तर पुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सेसदविया नाम उदगसाला होत्था, अणेगखंभसयसन्निविट्ठा पासादीया जाव पडिरूवा, तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए, एत्थ णं हत्थिजामे नाम वणसंडे होत्था, किण्हे वण्णओ वणसंडस्स ॥ (सूत्र० ७०) ॥

छाया—तस्य लेपस्य गाथापतेर्नालन्दायाः बाह्यायाः उत्तरपूर्वस्यां दिशि भागे शेषद्रव्या नामोदकशाला आसीत् । अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टा प्रासादिका यावत् प्रतिरूपा । तस्याः शेषद्रव्यायाः उदकशालायाः उत्तरपूर्वस्यां दिशि हस्तियामनामा वनखण्ड आसीत् । कृष्णो वर्णकः वनखण्डस्य ॥ ७० ॥

अन्वयार्थ—(तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स णालंदाए बाहिरियाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थणं सेसदविया णामं उदगसाला होत्था) उस लेप नामक गाथापति की नालन्दा के बाहर उत्तर पूर्व दिशा में शेष द्रव्या नामक उदकशाला थी (अणेगखंभसयसण्णिविट्ठा पासादीया जाव पडिरूवा) वह उदकशाला अनेक प्रकार के सैकड़ों खम्भों से युक्त थी तथा वह बड़ी मनोहर और चित्त को प्रसन्न करने वाली बड़ी सुन्दर थी (तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थणं हत्थिजामे नामं वणसंडे होत्था) उस उदकशाला के उत्तर पूर्व दिशा में हस्तियाम नाम का एक वनखण्ड था (किण्हे वण्णओ वणसंडस्स) वह वनखण्ड कृष्ण वर्ण वाला था तथा शेष वर्णन उववाई सूत्र में लिखे हुए वनखण्ड के वर्णन के समान ही जानना चाहिये ॥ ७० ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ ७० ॥

तस्सिं च णं गिहपदेसंमि भगवं गोयमे विहरइ, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे नियंठे मेयज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो ! गोयमा अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च आउसो ! अहासुयं अहादरिसियं मे वियागरेहि सवायं, भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी अवियाइ आउसो सोच्चा निसम्म जाणि

छाया—तस्मिंश्च गृहप्रदेशे भगवान् गोतमो विहरति भगवाँश्चाध आरामे। अथ उदकः पेढालपुत्रः भगवत्पार्श्वापत्यीयः निर्ग्रन्थः मेदार्य्यो गोत्रेण यत्र भगवान् गोतमस्तत्रोपागच्छति, उपगम्य भगवन्तं गोतममेवमवादीत्, आयुष्मन् गोतम ! अस्ति खलु मे कोऽपि प्रदेशः प्रष्टव्यः तञ्चायुष्मन् यथाश्रुतं यथादर्शन मे व्यागृणीहि सवादं भगवान् गोतम उदकं पेढालपुत्र मेवमवादीत्, अपिचेदायुष्मन्

अन्वयार्थ—(तस्सिं च गिहपदेसमि भगव गोयमे विहरइ) उस वनखण्ड के गृहप्रदेश में भगवान् गोतम स्वामी विचरते थे (भगव च ण अहे आरामसि) भगवान् गोतम स्वामी नीचे बगीचे में विराजमान थे। (अहे ण उदए पेढालपुत्ते भगव पसावच्चिज्जे नियठे गोत्तेणं मेयज्जे जेणेव भगव गोयमे तेणेव उपागच्छइ) इसी अवसर में उदक पेढालपुत्र जो भगवान् पार्श्व स्वामी के शिष्य का सन्तान था और मेदार्य्य गोत्र वाला निग्रन्थ था, भगवान् गोतम स्वामी के पास आया। (उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं एव वयासी आउसतो गोयमा अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे) आकर उसने भगवान् गोतम स्वामी से ऐसा कहा कि—हे आयुष्मन् गोतम ! हमें आपसे कोई प्रश्न पूछना है (त च आउसो अहासुइयं अहादरिसिय मे वियागरेहि) हे आयुष्मन् ! उसे आपने जैसा सुना है और जैसा निश्चय किया है वैसा मेरे से वाद के सहित कहें (भगव गोयमे उदय पेढालपुत्त एव वयासी) भगवान् गोतम स्वामी ने उदक पेढालपुत्र से इस प्रकार कहा (अवियाइ आउसो सोच्चा णिसम्म जाणिस्सामो) हे आयुष्मन् ! आपके प्रश्न को सुन कर और समझ कर यदि मैं जान सकूंगा तो उत्तर दूंगा (सवाय उदए पेढालपुत्ते भगव गोयमं एवं वयासी)

स्सामो सवाय उदये पेढालपुत्ते भगव गोयम एव वयासी ॥ (सूत्र० ७१) ॥

छाया—श्रुत्वा निशम्य सस्याम समादुदकः पेढालपुत्रो भगवन्त गोतममेवमवादीत् ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थ—वाद के सहित उदक पेढालपुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा कि ॥ ७१ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ ७१ ॥

आउसो ! गोयमा अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेंति—णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय

छाया—आयुष्मन् गौतम ! सन्ति कुमारपुत्रा नाम श्रमणा निर्ग्रन्था युष्माकं प्रवचनं प्रवदन्तः गाथापतिं श्रमणोपासकमुपसन्नमेवं प्रत्याख्यापयन्ति नान्यत्राभियोगेन गाथापतिचोरग्रहणविमोक्षणेन

अन्वयार्थ—(आउसो गोयमा ! अत्थि कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा) हे आयुष्मन् गौतम! कुमार पुत्र नामक एक श्रमण निर्ग्रन्थ हैं जो तुम्हारे प्रवचन की प्ररूपणा करते हैं (समणोवासगं गाहावइं उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेंति) वे निर्ग्रन्थ उनके निकट नियम ग्रहण के लिये आये हुए श्रमणोपासक गाथापति को इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते हैं कि—(अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए णण्णत्थ तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं) राजा आदि के अभियोग को छोड़कर

भावार्थ—उदक पेढालपुत्र गौतम स्वामी से कहता है कि—हे भगवन् ! आपके अनुयायी कुमारपुत्र नामक श्रमण निर्ग्रन्थ, श्रावकों को जिस पद्धति से प्रत्याख्यान कराते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि उस पद्धति से प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो सकता किन्तु भङ्ग होता है। जैसे कि—उनके पास जब

दंडं, एवं राहं पच्चक्खंताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ, एवं राहं पच्चक्खावेमाणाणं दुपच्चक्खावियव्वं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सयं पतिएणं, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसावि

छाया—त्रसेषु प्राणेषु निधाय दण्डमेवं प्रत्याख्यायतां दुष्प्रत्याख्यानं भवति एवं प्रत्याख्यापयतां दुष्प्रत्याख्यापयितव्यं भवति, एवं प्रत्याख्यापयन्तो ऽतिचरन्ति स्वां प्रतिज्ञाम् । कस्य हेतोः ? संसारिणः खलु प्राणाः स्थावरा अपि प्राणाः त्रसत्वाय प्रत्यायान्ति त्रसा अपि

अन्वयार्थ—(गाथापतिचोरग्रहणविमोक्षणन्यायसे) त्रस प्राणियों को दण्ड देने का प्रत्याख्यान है । (एवं एह पच्चक्खंताण दुप्पच्चक्खाणं भवइ) परन्तु जो लोग इस रीति से प्रत्याख्यान स्वीकार करते हैं उनका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है (एव एह पच्चक्खावेमाणाण दुप्पच्चक्खाइयव्व भवति) तथा इस रीति से जो प्रत्याख्यान कराते हैं वे दुष्प्रत्याख्यान कराते हैं (एव पर पच्चक्खावेमाणा ते सय पतिण्णं अतियरंति) क्योंकि इस प्रकार से दूसरे को प्रत्याख्यान कराने वाले पुरुष अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करते हैं (कस्सण हेउं ?) कारण क्या है ? (ससारिया खलु पाणा) कारण यह है कि प्राणी परिवर्तनशील हैं (थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायाति) इसलिये

भावार्थ—कोई श्रद्धालु गृहस्थ प्रत्याख्यान करने की इच्छा प्रकट करता है तब वे इस प्रकार प्रत्याख्यान उसे कराते हैं कि—"राजा आदि के अभियोग को छोड़कर (गाथापतिचोरग्रहणविमोक्षणन्याय से) त्रस प्राणी को दण्ड देने का त्याग है" परन्तु इस रीति से प्रत्याख्यान कराने पर प्रतिज्ञा नहीं पाली जा सकती है क्योंकि—प्राणी परिवर्तनशील हैं वे सदा एक शरीर में ही नहीं रहते किन्तु भिन्न भिन्न कर्मों के उदय से भिन्न भिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं अतएव कभी तो त्रस प्राणी त्रस शरीर को त्याग कर स्थावर शरीर मे आ जाते हैं और कभी स्थावर प्राणी स्थावर शरीर को त्याग कर त्रस शरीर में आ जाते हैं ऐसी दशा मे जिसने यह प्रतिज्ञा की है कि "मैं त्रस प्राणी का घात न करूंगा" वह पुरुष स्थावर शरीर मे गये हुए उस त्रस प्राणी को ही अपने घात के योग्य मानता है और आवश्यकतानुसार उसका घात भी कर डालता है फिर उसकी त्रस प्राणी को दण्ड न देने की प्रतिज्ञा कैसे अभग रह

पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं ॥ (सूत्र० ७२)॥

छाया—प्राणाः स्थावरत्वाय प्रत्यायान्ति स्थावरकायात् विप्रमुच्यमानाः त्रसकाये पूत्पद्यन्ते त्रसकायात् विप्रमुच्यमानाः स्थावरकायेषु उत्पद्यन्ते तेषाञ्च स्थावरकायेषूत्पन्नानां स्थानमेतद् घात्यम् ॥७२॥

अन्वयार्थ—स्थावर प्राणी भी त्रस रूप में कभी आ जाते हैं (तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति) और त्रस प्राणी भी स्थावर के रूप में उत्पन्न होते हैं (थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति) वे स्थावरकाय को छोड़कर त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं और त्रसकाय को छोड़ कर स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं (तेसिं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं) वे त्रस प्राणी जब स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं तब वे उन त्रसकाय को दण्ड न देने की प्रतिज्ञा किए हुए पुरुषों के घात करने के योग्य होते हैं ॥७२॥

भावार्थ—सकती है। जैसे किसी पुरुष ने प्रतिज्ञा की है कि "मैं नागरिक पुरुष या पशु को नहीं मारूंगा" वह पुरुष यदि नगर से बाहर गये हुए उस नागरिक पुरुष का घात करे तो वह अपनी प्रतिज्ञा को अवश्य नष्ट करता है इसी तरह जो पुरुष त्रस शरीर को छोड़ कर स्थावर काय में में आये हुए त्रस प्राणी को मारता है वह त्रस प्राणी को न मारने की प्रतिज्ञा का उल्लंघन करता है। जो त्रस प्राणी स्थावर काय में आते हैं उनमें कोई ऐसा चिन्ह नहीं होता जिससे उनकी पहिचान हो सके ऐसी दशा में जिसको दण्ड न देने की प्रतिज्ञा की गई थी उसी को दण्ड दिया जाता है इसलिये त्रस प्राणी को न मारने का जो प्रत्याख्यान करना है वह दुष्प्रत्याख्यान करना है और उक्त रीति से प्रत्याख्यान कराना भी दुष्प्रत्याख्यान कराना है ॥ ७१ ॥

———०✿०———

एवं एहं पच्चक्खंताणं सुपच्चक्खायं भवइ, एवं एहं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सयं पइएणं, णएणत्थ अभिओगेणं गाहावइचोरग्गह-

छाया—एवं खलु प्रत्याख्यायतां सुप्रत्याख्यातं भवति एवं खलु प्रत्याख्यापयतां सुप्रत्याख्यापितं भवति, एवं ते परं प्रत्याख्यापयन्तः नातिचरन्ति स्वीयां प्रतिज्ञां नान्यत्राभियोगेन गाथापतिचोरग्रहण

अन्वयार्थ—(एव एह पच्चक्खंताण सुपच्चक्खायं भवइ) परन्तु जो लोग इस प्रकार प्रत्याख्यान करते हैं उनका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है (एव एह पच्चक्खावेमाणाण सुपच्चक्खाविय भवइ) तथा इस प्रकार जो प्रत्याख्यान कराते हैं उनका प्रत्याख्यान कराना सुप्रत्याख्यान कराना होता है। (एवं ते पर पच्चक्खावेमाणा नातियरंति सय पइण्णं) और इस प्रकार जो दूसरे को प्रत्याख्यान कराते हैं वे अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं करते है। (णणत्थ अभिओगेण गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं दण्ड निहाय) वह प्रत्याख्यान का प्रकार यह है—राजा के अभियोग को छोड़ कर तथा गाथापति चोर के ग्रहण किये जाने पर उनके मोचन के समान वर्तमान काल में त्रस रूप से परिणत प्राणी को दण्ड देने का त्याग है। गाथापतिचोरग्रहणविमोचन न्याय का आशय यह है—किसी राजा ने अपने नगर में यह आज्ञा दी कि "आज रात्रि के समय नगर से बाहर कौमुदी महोत्सव मनाया जावेगा इसलिए समस्त नगरवासी नगर को छोड़ कर सायकाल में नगर से बाहर आ जायँ। जो इस आज्ञा को न मान कर आज की रात्रि में इस नगर में ही रह जायगा उसको वध का दण्ड दिया जायगा।" इस आज्ञा को सुन कर सभी नगर वासी सूर्यास्त के पूर्व ही नगर के बाहर चले गये परन्तु एक वैश्य के पाच

भावार्थ—उदक पेढालपुत्र गौतम स्वामी से कहता है कि जो लोग त्रस प्राणी को मारने का त्याग करते हैं और जो कराते हैं उन दोनों की त्याग-पद्धति अच्छी नहीं है यह पूर्व पाठ मे बता दिया गया है अत मैं जो प्रत्याख्यान की पद्धति बताता हूँ उसके अनुसार प्रत्याख्यान करना निर्दोष है। वह पद्धति यह है—त्रसपद के आगे 'भूत' पद को जोड़ कर प्रत्याख्यान करने से अर्थात् मुझको त्रसभूत प्राणी को मारने का त्याग है ऐसे शब्द प्रयोग के साथ त्याग करने से त्याग का आशय यह होता है कि—जो प्राणी वर्तमान काल में त्रसरूप से उत्पन्न हैं उनको दण्ड देने का त्याग है परन्तु जो वर्तमान काल मे त्रस नही हैं किन्तु आगे जाकर

णविमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहाय दंड, एवमेव सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पच्चक्खा-

छाया—विमोक्षणतः त्रसभूतेषु प्राणेषु निधाय दण्डम् एवमेव सति भाषा याः पराक्रमे विद्यमाने ये ते क्रोधाद्वा लोभाद्वा परं प्रत्याख्या-

अन्वयार्थ—पुत्र अपने कार्यों की धुन में समय से बाहर जाना भूल गये। सूर्यास्त हो जाने पर नगर के सभी फाटक बाहर से बन्द कर दिये गये इस कारण पीछे वापस आने पर भी वे नगर से बाहर न जा सके। प्रभात काल में राजपुरुषों द्वारा वे पकड़े गये और राजा ने उन्हें वध करने की आज्ञा दी इस दुःखद समाचार को सुन कर उनके पिता के मन में बड़ा ही क्षोभ हुआ और वह वृद्ध वैश्य राजा से अपने पुत्रों को मुक्त करने के लिये बहुत कुछ अनुनय विनय करने लगा परन्तु राजा ने उसकी एक न सुनी। तब उस वैश्य ने कहा कि हे राजन्! यदि आप छओं ही पुत्रों को नहीं छोड़ना चाहते हैं तो पांच को ही छोड़ दीजिये इस पर भी राजा राजी नहीं हुआ तब उसने तीन को छोड़ने की और इसके पश्चात् दो को छोड़ने की प्रार्थना की परन्तु राजा जब दो को भी छोड़ने पर राजी नहीं हुआ तब उसने एक पुत्र को छोड़ने की प्रार्थना की। तब उस राजा ने उसकी यह प्रार्थना सुनी और उसके एक पुत्र को उसके कुल की रक्षा के लिये छोड़ दिया। यही इस न्याय का स्वरूप है परन्तु यहां भाव यह बताना है कि जैसे वह वृद्ध वैश्य अपने पांचों ही पुत्रों को राजदण्ड से मुक्त कराना चाहता था परन्तु जब उसका वह मनोरथ पूरा न हो सका तब उसने एक को ही छुड़ा कर अपना सन्तोष किया इसी तरह साधु सभी प्राणियों के दण्ड का त्याग कराना चाहता है उसकी यह इच्छा नहीं है कि

भावार्थ—त्रसरूप में उत्पन्न होने वाले हैं अथवा जो भूतकाल में त्रस थे उनको मारने का त्याग नहीं है ऐसी दशा में स्थावर पर्याय में आये हुए प्राणी को दण्ड देने पर भी प्रतिज्ञा भंग नहीं हो सकती है। अतः आप लोग प्रत्याख्यान वाक्य में केवल त्रस पद का प्रयोग न करके यदि भूत पद के साथ उसका प्रयोग करें अर्थात् त्रसभूत प्राणी को मारने का त्याग है ऐसा वाक्य कहें तो प्रतिज्ञा भङ्ग का दोष नहीं आ सकता है। जैसे कोई पुरुष दूध के भक्षण का त्याग लेकर यदि दधि का भक्षण करता है तो उसका व्रत नष्ट नहीं होता है क्योंकि दधि में दूध होने पर भी वर्तमान में वह दूध नहीं है इसी तरह त्रस पद के आगे भूत पद जोड़ देने से भाषा में ऐसी शक्ति आ जाती है जिससे स्थावर प्राणी के

वेंति अयंपि णो उवएसे णो णेआउए भवइ, अवियाइं आउसो! गोयमा! तुब्भंपि एवं रोयइ ?॥ (सूत्र० ७३)॥

छाया—पयन्ति (तेषां मृषावादो भवति) अयमपि न उपदेशो नैयायिको भवति ? अपि चायुष्मन् गोतम तुभ्यमपि एवं रोचते ॥७३॥

अन्वयार्थ—कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणी का घात करें परन्तु जब वह पुरुष सब प्राणियें का घात करना नहीं छोड़ना चाहता है तब साधु उसे जितना बन सके उतना हीं त्याग करने का अनुरोध करता है इसलिए त्रस प्राणी को मारने का त्याग कराने वाला साधु स्थावर प्राणी के घात का समर्थक नहीं होता है यह बात दिखाने के लिए यहां गाथापति चोर का दृष्टान्त दिया गया है। (एवमेव सइ भासाए परक्कमे जे ते कोहा वा लोहा वापरं पच्चक्खावेंति) इस प्रकार त्रस पद के बाद भूत पद रख देने से भाषा में जब कि ऐसी शक्ति आ जाती है कि उस मनुष्य का प्रत्याख्यान नष्ट नहीं होता तब जो लोग क्रोध या लोभ के वश होकर दूसरे को त्रस के आगे भूत पद को न जोड़ कर प्रत्याख्यान कराते हैं वे अपनी प्रतिज्ञा को भंग करते हैं यह मेरा विचार है। (अयमवि णो उवदेसे णो णेयाउए भवइ) हे गौतम! क्या हमारा यह उपदेश न्याय सङ्गत नहीं है ? (अवियाइं आउसो गोयमा तुब्भवि एवं रोयइ ?) तथा हे आयुष्मन् गोतम! यह हमारा कथन क्या आपको भी अच्छा लगता है ?॥७३॥

भावार्थ—पर्य्याय में आये हुवे प्राणी के घात से व्रतभंग नहीं होता है। अत उक्त भाषा में दोष निवारण की शक्ति होते हुए भी जो लोग क्रोध या लोभ के वशीभूत हो कर प्रत्याख्यान के वाक्य में त्रस पद के उत्तर भूत पद का प्रयोग न कर के प्रत्याख्यान कराते हैं वे दोष का सेवन करते हैं। हे गोतम! क्या प्रत्याख्यान वाक्य में त्रस पद के उत्तर भूत पद को लगाना न्याय संगत नहीं है ? क्या यह पद्धति आपको भी पसन्द है ? मेरी तो धारणा यह है कि इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से स्थावर रूप से उत्पन्न त्रसों के घात होने पर भी प्रतिज्ञा भंग नहीं होती है अन्यथा प्रतिज्ञा भंग होने में कोई सन्देह नहीं है॥ ७३॥

णाविसोमस्सणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहाय दंड, एवमेव सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पच्चक्खा-

छाया—विमोक्षणत त्रसभूतेषु प्राणेषु निधाय दण्डम् एवमेव सति भाषा या पराक्रमे विद्यमाने ये ते क्रोधाद्वा लोभाद्वा परं प्रत्याख्या-

अन्वयार्थ—पुत्र अपने कर्मों की धुन में नगर से बाहर जाना भूल गये। सूर्यास्त हो जाने पर नगर के सभी फाटक बाहर से बन्द कर दिये गये इस कारण पीछे याद आने पर भी वे शहर से बाहर न जा सके। प्रभात काल में राजपुरुषों द्वारा वे पकड़े गये और राजा ने उन्हें वध करने की आज्ञा दी इस प्रकार समाचार को सुन कर उनके पिता के मन में बड़ा ही खेद हुआ और वह वृद्ध वैश्य राजा से अपने पुत्रों को मुक्त करने के लिये बहुत कुछ अनुनय विनय करने लगा परन्तु राजा ने उसकी एक न सुनी। तब उस वैश्य ने कहा कि हे राजन्! यदि आप मेरे पाँच ही पुत्रों को नहीं छोड़ना चाहते हैं तो चार को ही छोड़ दीजिये उस पर भी राजा राजी नहीं हुआ तब उसने तीन को छोड़ने की और इसके पश्चात् दो को छोड़ने की प्रार्थना की परन्तु राजा जब दो को भी छोड़ने पर राजी नहीं हुआ तब उसने एक पुत्र को छोड़ने की प्रार्थना की। तब राजा ने उसकी वह प्रार्थना सुनी और उसके एक पुत्र को उसके कुल की रक्षा के लिये छोड़ दिया। यही दृष्टान्त का स्वरूप है परन्तु यहाँ यह बताया है कि जैसे वह वृद्ध वैश्य अपने पाँचों ही पुत्रों को राजदण्ड से मुक्त कराना चाहता था परन्तु जब उसका वह मनोरथ पूरा न हो सका तब उसने एक को ही छुड़ा कर अपना सन्तोष किया इसी तरह साधु सभी प्राणियों के दण्ड का त्याग कराना चाहता है उसकी यह इच्छा नहीं है कि

भावार्थ—त्रसरूप में उत्पन्न होने वाले हैं अथवा जो भूतकाल में त्रस थे उनको मारने का त्याग नहीं है ऐसी दशा में स्थावर पर्याय में आये हुए प्राणी को दण्ड देने पर भी प्रतिज्ञा भंग नहीं हो सकती है। अतः आप लोग प्रत्याख्यान वाक्य में केवल त्रस पद का प्रयोग न करके यदि भूत पद के साथ उसका प्रयोग करें अर्थात् त्रसभूत प्राणी को मारने का त्याग है ऐसा वाक्य कहें तो प्रतिज्ञा भङ्ग का दोष नहीं आ सकता है। जैसे कोई पुरुष घृत के भक्षण का त्याग लेकर यदि दधि का भक्षण करता है तो उसका व्रत नष्ट नहीं होता है क्योंकि दधि में घृत होने पर भी वर्तमान में वह घृत नहीं है इसी तरह त्रस पद के उत्तर भूत पद जोड़ देने से भाषा में ऐसी शक्ति आ जाती है जिससे स्थावर प्राणी के

अब्भाइक्खंति खलु ते समणे समणोवासए वा, जेहिंवि अन्नेहिं जीवेहिं पाणेहिं भूएहिं सत्तेहिं संजमयंति ताणवि ते अब्भाइक्खंति, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति

छाया—श्रमणान् वा श्रमणोपासकान् वा। येष्वपि अन्येषु जीवेषु प्राणेषु भूतेषु सत्त्वेषु संयमयन्ति तानपि ते अभ्याख्यान्ति। कस्य हेतोः ? सांसारिकाः खलु प्राणिनः त्रसा अपि प्राणाः स्थावरत्वाय प्रत्या-

अन्वयार्थ—वाले नहीं हैं। (ते अणुतावियं भासं भासंति) वे ताप को उत्पन्न करने वाली भाषा का भाषण करते हैं। (ते समणे समणोवासए वा अब्भाइक्खंति) वे लोग श्रमण और श्रमणोपासकों को व्यर्थ कलङ्क देते हैं। (जेहिंवि अन्नेहिं जीवेहिं पाणेहिं भूएहिं सत्तेहिं संजमयंति ते ताणवि अब्भाइक्खंति) तथा जो लोग प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के विषय में संयम ग्रहण करते हैं उन पर भी वे कलङ्क लगाते हैं। (कस्सणं हेउं ?) कारण क्या है ? (संसारिया खलु पाणा) सब प्राणी परिवर्तनशील हैं (तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चा

भावार्थ—न किया जाय तो उसके प्रयोग का यहां कोई फल नहीं है क्योंकि—उस दशा में भूत शब्द उसी अर्थ का बोधक होगा जिसका त्रस पद बोधक है जैसे कि— "शीतीभूतमुदकम्" इस वाक्य में शीत पद के उत्तर आया हुआ भूत शब्द शीत शब्द के अर्थ को ही बताता है उससे भिन्न अर्थ को नहीं। यदि वर्तमान अर्थ में भूत शब्द का प्रयोग यहां माना जाय तो भी कुछ फल नहीं है क्योंकि जो जीव वर्तमान काल में त्रस के शरीर में आया है वह सदा इसी शरीर मे रह नहीं सकता है किन्तु वह स्थावरनाम कर्म के उदय से स्थावरकाय मे भी जायगा और वह स्थावरकाय में जाकर उस प्रत्याख्यानी पुरुष के द्वारा घात करने योग्य होगा फिर उसकी प्रतिज्ञा किस प्रकार अभङ्ग रह सकेगी ?। एवं जिसने किसी खास जाति या किसी खास व्यक्ति को न मारने की प्रतिज्ञा की है जैसे कि—मैं ब्राह्मण को न मारूंगा, मैं शूकर को न मारूंगा"। वह व्यक्ति यदि ब्राह्मण शरीर और शूकर शरीर को त्याग कर अन्य जाति के शरीर मे आये हुए उन प्राणियों का घात करता है तो तुम्हारे सिद्धांत

सवायं भगवं गोयमे ! उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—आउसंतो ! उदगा नो खलु अम्हे एयं रोयइ, जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति णो खलु ते समणा वा णिग्गंथा वा भासं भासंति, अणुतावियं खलु ते भासं भासंति,

छाया—सवादं भगवान् गौतम उदकं पेढालपुत्रमेवमवादीत् । आयुष्मन् श्रमण ! न खलु अस्मभ्यम् एवं रोचते । ये ते श्रमणा माहना वा एवमाख्यान्ति यावत् प्ररूपयन्ति नो खलु ते श्रमणा वा माहना वा भाषां भाषन्ते तेऽनुतापिनीं भाषां भाषन्ते । अभ्याख्यान्ति ते

अन्वयार्थ—(भगवं गोयमे सवायं उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी) भगवान् गौतम स्वामी ने उदक पेढाल पुत्र से वाद के सहित इस प्रकार कहा कि—(आउसंतो उदगा ! नो खलु अम्हे एवं रोयइ) हे आयुष्मन् उदक इस प्रकार प्रत्याख्यान करना हमें पसन्द नहीं लगता है । (जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति ते समणा वा णिग्गंथा वा णो खलु भासं भासंति) जो श्रमण या माहन तुम्हारे कथे अनुसार प्ररूपणा करते हैं वे श्रमण और निर्ग्रन्थ यथार्थ भाषा का भाषण करते

भावार्थ—उदक पेढाल पुत्र के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से पूछे हुए श्री गौतम स्वामी ने वाद के सहित उससे कहा कि—हे उदक ! तुम जो प्रत्याख्यान की रीति बतला रहे हो वह मुझको पसंद नहीं है । तुम प्रत्याख्यान के वाक्य में त्रस पद के पश्चात् भूत पद का प्रयोग निरर्थक करते हो क्योंकि जिसको त्रस कहते हैं उसी को त्रसभूत भी कहते हैं इसलिये त्रस पद से जो अर्थ प्रतीत होता है वही अर्थ भूत शब्द के प्रयोग से भी प्रतीत होता है फिर भूत शब्द के जोड़ने का क्या प्रयोजन है ? । भूत शब्द के प्रयोग करने से तो उल्टे अनर्थ भी सम्भव है क्योंकि भूत शब्द उपमा अर्थ में भी आता है, जैसे कि—"देवलोकभूतं नगरमिदम्" अर्थात् यह नगर देवलोक के तुल्य है । इस प्रकार भूत शब्द का अर्थ उपमा होने से त्रसभूत पद का त्रस के सदृश अर्थ भी हो सकता है और ऐसा अर्थ होने पर त्रस के सदृश प्राणी के वध का त्याग रूप अर्थ प्रतीत होगा त्रस प्राणी का त्याग नहीं परन्तु यह इष्ट नहीं है अतः त्रस पद के उत्तर भूत शब्द का प्रयोग करके जो अर्थ इष्ट नहीं उसके होने का संशय उत्पन्न करना ठीक नहीं है । यदि भूत शब्द का उपमा अर्थ

सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—कयरे खलु ते आउसंतो गोयमा ! तुब्भे वयह तसा पाणा तसा आउ अन्नहा ?, सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—आउसंतो उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसा ते वयं

छाया—सवादमुदकः पेढालपुत्रो भगवन्तं गोतममेवमवादीत् । कतरे खलु ते (यान्) आयुष्मन्, गोतम यूयं वदथ त्रसाः प्राणा त्रसा उतान्यथा ? सवादं भगवान् गोतमः उदकं पेढालपुत्रमेवमवादीत्, आयुष्मन्, उदक ! यान् यूयं वदथ त्रसभूताः प्राणास्त्रसा स्तान् वयं वदामस्त्रसाः प्राणा इति । यान् वयं वदामस्त्रसाः प्राणा इति तान् यूयं वदथ त्रसभूता प्राणा इति । एते द्वे स्थाने

अन्वयार्थ—(उदए पेढालपुत्ते सवायं भगव गोयम एवं वयासी) उदक पेढाल पुत्र ने वाद के साथ भगवान् गोतम स्वामी से इस प्रकार कहा कि—(आउसंतो गोयमा कयरे खलु ते तुब्भे तसा पाणा तसा वयह आउ अन्नहा ?) हे आयुष्मन् गोतम ! वे प्राणी कौन हैं ? जिन्हें तुम त्रस कहते हो ! तुम त्रस प्राणी को ही त्रस कहते हो या किसी दूसरे को ? (भगव गोयमे सवाय उदय पेढालपुत्त एव वयासी) भगवान् गोतम ने वाद के सहित उदक पेढाल पुत्र से कहा कि (आउसतो उदया ! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसा ते वय वयामो तसा पाणा) हे आयुष्मन् उदक ! जिन प्राणियों को तुम लोग त्रसभूत त्रस कहते हो उन्हीं को हम त्रस प्राणी कहते हैं । (जे वय वयामो तसा पाणा ते तुब्भे वयह तसभूता पाणा) और हम जिन्हें त्रस प्राणी कहते हैं उन्हीं को तुम त्रसभूत कहते हो (एए दुवे ठाणे तुल्ला एगट्ठा)

भावार्थ—उदक पेढाल पुत्र ने भगवान् गोतम स्वामी से पूछा कि—हे भगवन् गोतम ! आप किन प्राणियों को त्रस कहते हैं ? भगवान् गोतम ने वाद के सहित उदक से कहा कि जिन्हें तुम त्रसभूत कहते हो उन्हीं को हम त्रस कहते हैं । इन दोनों शब्दों के अर्थ में कोई भेद नहीं है ये दोनों शब्द एकार्थक हैं । जो प्राणी वर्तमान काल में त्रस हैं उन्हीं का वाचक जैसे त्रसभूत पद है उसी तरह त्रस पद भी है तथा जो प्राणी भूत काल में त्रस थे और जो भविष्य मे त्रस होने वाले हैं उनका वाचक जैसे त्रसभूत पद नहीं है उसी तरह त्रस पद भी नहीं है ऐसी दशा में तुम लोग त्रसभूत शब्द का प्रयोग करना ठीक समझते हो

तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति थावर कायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं ॥ (सूत्र० ७४)॥

छाया—यान्ति स्थावरा अपि त्रसत्वाय प्रत्यायान्ति त्रसकायतो विमुच्यमानाः स्थावर कायेषूत्पद्यन्ते स्थावरकायतो विमुच्यमानाः त्रस कायेषूत्पद्यन्ते तेषाञ्च त्रसकायेषूत्पन्नानां स्थानमेतदघात्यम् ॥७४॥

अन्वयार्थ—यंति) त्रस प्राणी भी स्थावरपन को प्राप्त करते हैं और स्थावर प्राणी भी त्रस भाव को प्राप्त करते हैं। (तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति थावर कायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति) वे त्रसकाय को त्याग कर स्थावर काय में उत्पन्न होते हैं। और स्थावर काय को त्याग कर त्रस काय में उत्पन्न होते हैं (तेसिंचणं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं) जब वे त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं तब वे प्रत्याख्यानी पुरुषों के द्वारा हनन करने योग्य नहीं होते ॥७४॥

भावार्थ—के अनुसार उसकी प्रतिज्ञा का भंग क्यों नहीं माना जावेगा ? अतः जो लोग त्रस पद के उत्तर भूत शब्द का प्रयोग करके प्रत्याख्यान कराते हैं वे निरर्थक भूत शब्द का प्रयोग करके पुनरुक्ति दोष का सेवन करते हैं तथा उनसे जब कोई यह बात समझाता है तब वे उसके ऊपर नाराज होते हैं और उनके हृदय में ताप उत्पन्न होता है इसलिये वे निश्चय क और अनुतापिनी भाषा बोलने वाले हैं जो श्रमण निर्ग्रन्थों के बोलने योग्य नहीं है। तथा जो श्रमण निर्ग्रन्थ प्रत्याख्यान वाक्य में भूत शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं उनके ऊपर वे व्यर्थ दोषारोपण का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले श्रावकों के ऊपर भी वे मिथ्या कलंक चढ़ाते हैं अतः वे लोग वस्तुतः साधु कहलाने योग्य नहीं हैं ॥ ७४ ॥



सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—कयरे खलु ते आउसंतो गोयमा ! तुब्भे वयह तसा पाणा तसा आउ अन्नहा ?, सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—आउसंतो उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसा ते वयं

छाया—सवादमुदकः पेढालपुत्रो भगवन्तं गोतममेवमवादीत् । कतरे खलु ते (यान्) आयुष्मन्, गोतम यूयं वदथ त्रसाः प्राणा त्रसा उतान्यथा ? सवादं भगवान् गोतमः उदकं पेढालपुत्रमेवमवादीत्, आयुष्मन्, उदक ! यान् यूयं वदथ त्रसभूताः प्राणास्त्रसा स्तान् वयं वदामस्त्रसाः प्राणा इति । यान् वयं वदामस्त्रसाः प्राणा इति तान् यूयं वदथ त्रसभूता प्राणा इति । एते द्वे स्थाने

अन्वयार्थ—(उदए पेढालपुत्ते सवाय भगव गोयम एवं वयासी) उदक पेढाल पुत्र ने वाद के साथ भगवान् गोतम स्वामी से इस प्रकार कहा कि—(आउसंतो गोयमा कयरे खलु ते तुब्भे तसा पाणा तसा वयह आउ अन्नहा ?) हे आयुष्मन् गोतम ! वे प्राणी कौन हैं ? जिन्हें तुम त्रस कहते हो ! तुम त्रस प्राणी को ही त्रस कहते हो या किसी दूसरे को ? (भगव गोयमे सवायं उदय पेढालपुत्त एव वयासी) भगवान् गोतम ने वाद के सहित उदक पेढाल पुत्र से कहा कि (आउसंतो उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसा ते वय वयामो तसा पाणा) हे आयुष्मन् उदक ! जिन प्राणियों को तुम लोग त्रसभूत त्रस कहते हो उन्हीं को हम त्रस प्राणी कहते हैं। (जे वय वयामो तसा पाणा ते तुब्भे वयह तसभूता पाणा) और हम जिन्हें त्रस प्राणी कहते हैं उन्हीं को तुम त्रसभूत कहते हो (एए दुवे ठाणे तुल्ला एगट्ठा)

भावार्थ—उदक पेढाल पुत्र ने भगवान् गोतम स्वामी से पूछा कि—हे भगवन् गोतम ! आप किन प्राणियों को त्रस कहते हैं ? भगवान् गोतम ने वाद के सहित उदक से कहा कि जिन्हें तुम त्रसभूत कहते हो उन्हीं को हम त्रस कहते हैं। इन दोनों शब्दों के अर्थ में कोई भेद नहीं है ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। जो प्राणी वर्तमान काल में त्रस हैं उन्हीं का वाचक जैसे त्रसभूत पद है उसी तरह त्रस पद भी है तथा जो प्राणी भूत काल में त्रस थे और जो भविष्य में त्रस होने वाले हैं उनका वाचक जैसे त्रसभूत पद नहीं है उसी तरह त्रस पद भी नहीं है ऐसी दशा में तुम लोग त्रसभूत शब्द का प्रयोग करना ठीक समझते हो

वयामो तसा पाणा, जे वयं वयामो तसा पाणा ते तुब्भे वयह तसभूया पाणा, एए संति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्ठा, किमाउसो! इमे भे सुप्पणीयतराए भवइ तसभूया पाणा तसा, इमे भे दुप्पणीयतराए भवइ—तसा पाणा तसा, ततो एगमाउसो । पडिक्कोसह एक्कं अभिणंदह, अयंपि भेदो से णो णेआउए भवइ ॥

छाया—तुल्ये एकार्थे । किमायुष्मन् अयं युष्माकं सुप्रणीततरो भवति त्रसभूताः प्राणाः त्रसाः अयं युष्माकं दुष्प्रणीततरो भवति त्रसाः प्राणाः त्रसाः ततः एकमाक्रोशथ एकमभिनन्दथ अयमप्यायुष्मन् भेदः नैयायिको भवति ? भगवांश्च पुनराह—विद्यन्ते केचन

अन्वयार्थ—ये दोनों ही शब्द समान हैं और एकार्थक हैं। (किमाउसो ! इमे भे तसभूया पाणा तसा सुप्पणीयतराए भवति तसा पाणा तसा इमे भे दुप्पणीयतराए भवति) ऐसी दशा में क्या कारण है कि त्रसभूत त्रस अथवा आप शुद्ध समझते हैं और त्रस प्राणी अथवा आप अशुद्ध मानते हैं ? (ततो आउसो एक्कं पडिक्कोसह एक्कं अभिणंदह) और क्यों आप एक की निन्दा और दूसरे की प्रशंसा करते हैं ? (अयमवि भेदो से णो णेआउए भवइ) अतः आपका यह पूर्वोक्त भेद न्याय

भावार्थ—और त्रस का प्रयोग करना ठीक नहीं समझते इसका क्या कारण है ? तथा ये दोनों ही शब्द जब कि समान अर्थ के बोधक हैं तब क्या कारण है तुम एक की प्रशंसा और दूसरे की निन्दा करते हो ? अतः तुम्हारा यह भेद न्याय संगत नहीं है ।

यह सुन कर भगवान् गौतम स्वामी ने कहा कि—हे उदक ! साधु समस्त प्राणियों की हिंसा से स्वयं निवृत्त होकर यही चाहता है कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणी का घात न करे परन्तु उसके निकट कितने ऐसे लोग भी आते हैं जो समस्त प्राणियों के घात को छोड़ना नहीं चाहते हैं वे कहते हैं कि हे साधो ! मैं समस्त प्राणियों की हिंसा को त्याग कर साधुपन पालन करने के लिये अभी समर्थ नहीं हूँ किन्तु क्रमशः प्राणियों की हिंसा का त्याग करना चाहता हूँ इसलिये गृहस्थ अवस्था में रहते हुए जितना त्याग मेरे से हो सकता है उतना ही त्याग करना चाहता हूँ । यह सुनकर साधु विचार करता है कि यह

भगवं च णं उदाहु—संतेगइआ मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ–णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, सावयं एहं अणुपुव्वेणं गुत्तस्स लिसिस्सामो, ते एवं संखवेंति ते एवं संखं ठवयंति ते एवं संखं ठवयंति नन्नत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए

छाया—मनुष्यास्तैश्चेदमुक्तपूर्वं भवति—न खलु वयं शक्नुमो मुण्डाः भूत्वा अगारादनगारिकतां प्रतिपत्तुं तद् वयं आनुपूर्व्या गोत्र मुपश्लेषयिष्यामः । एवं ते संख्यापयन्ति एवं ते सख्यां स्थापयन्ति

अन्वयार्थ—सङ्गत नहीं हो सकता है। (भगवंचणं उदाहु) फिर भगवान गोतम स्वामी ने उदक पेढाल पुत्र से कहा कि—(सतेगतिया मणुस्सा भवति तेंसि च ण एवं वुत्त पुव्वं भवइ (हे उदक ! इस जगत में ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो साधु के निकट आकर उनसे यह कहते हैं कि—(वयं मुंडा भवित्ता आगाराओ अणागारियं पव्व इत्तए णो खलु सचाएमो) हम मुण्ड होने में अर्थात् समस्त प्राणियों को न मारने की प्रतिज्ञा करके घर बार छोड कर साधु दीक्षा ग्रहण में अभी समर्थ नहीं हैं (सावय एह आणुपुव्वेण गुत्तस्स लिस्सामो) किन्तु हम क्रमशः साधुपन को स्वीकार करेंगे अर्थात् पहले स्थूल प्राणियों की हिंसा को छोड़ेंगे उसके पश्चात् सर्व सावद्य का त्याग करेंगे (ते एव सठवेंति ते एव संख ठवयंति) वे अपने मन में ऐसा ही निश्चय करते हैं और ऐसा ही विचार करते हैं। (नन्नत्थ अभिओगेण गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहि पाणेहि दंड निहाय) इसके पश्चात् वे

भावार्थ—सभी प्राणियो की हिंसा से निवृत्त होना यदि नहीं चाहता है तो जितने से निवृत्त हो उतना ही सही इसलिये वह उसको त्रस प्राणियों के न मारने की प्रतिज्ञा कराता है और इस प्रकार त्रस प्राणियो के घात से निवृत्ति की प्रतिज्ञा करना भी उस पुरुष के लिये अच्छा ही होता है क्योंकि जहा सब का घात वह करता था वहां कुछ तो छोड़ता ही है। इस प्रकार उस पुरुष को त्याग कराने वाले साधु को शेष प्राणियों के मारने का अनुमोदन नहीं होता है क्योंकि—वह तो सभी के घात का त्याग कराना चाहता है परन्तु जब वह पुरुष ऐसा करने के लिये

तसेहिं पाणेहिं निहाय दंडं, तंपि तेसिं कुसलमेव भवइ ॥ (सू० ७५) ॥

छाया—नान्यत्राभियोगेन गाथापतिचोरग्रहणविमोक्षणतया त्रसेषु प्राणेषु निधाय दण्डं तदपि तेषां कुशलमेव भवति ॥७५ ॥

अन्वयार्थ—राजा आदि के अभियोग आदि कारणों को छोड़ कर त्रस प्राणी के घात न करने की प्रतिज्ञा करते हैं और साधुजन यह जान कर कि सब सावद्यों को नहीं छोड़ता है तो जितना छोड़े उतना ही अच्छा है ऐसे त्रस प्राणियों का घात न करने की प्रतिज्ञा कराते हैं (तंपि तेसिं कुसलमेव भवइ) इतना त्याग भी उसके लिए अच्छा ही होता है ॥ ७५ ॥

भावार्थ—तैयार नहीं है तो जितने को वह छोड़े उतने तो बचेंगे यह आशय साधु का होता है अतः उसको शेष प्राणियों के घात का अनुमोदन नहीं लगता है ॥७५॥



तसावि वुच्चंति तसा तससंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ, तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, तसका

छाया—त्रसा अप्युच्यन्ते त्रसास्त्रससम्भारकृतेन कर्मणा नाम चाभ्युपगतं भवति । त्रसायुष्कञ्च परिक्षीणं भवति त्रसकायस्थितिकास्ते तदा-

अन्वयार्थ—(तसावि तससम्भारकडेण कम्मुणा तसा वुच्चंति) त्रस जीव भी त्रस नाम कर्म के फल का अनुभव करने के कारण त्रस कहे जाते हैं (णामं च णं अब्भुवगयं भवइ) और वे उक्त कर्म का फल भोग करने के कारण ही त्रस नाम को धारण करते हैं (तस

भावार्थ—उदक पेढाल पुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से यह प्रश्न किया था कि— जो श्रावक त्रस प्राणी के घात का त्याग करके भी स्थावर काय में उत्पन्न हुए उसी प्राणी को मारता है उसका व्रतभङ्ग क्यों नहीं हो सकता है ? जो मनुष्य नागरिक को न मारने की प्रतिज्ञा करके नगर से बाहर गये हुए उस नागरिक पुरुष की हत्या करता है तो उसकी प्रतिज्ञा जैसे भङ्ग हो जाती है उसी तरह त्रस काय को न मारने की प्रतिज्ञा किया हुआ

यट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउयं विप्पजहित्ता थावरत्ताए पच्चायंति । थावरावि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ, थावराउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, थावरकायट्ठिइया ते तओ आउयं

छाया—युष्कं विप्रजहति । ते तदायुष्कं विप्रहाय स्थावरत्वाय प्रत्यायान्ति स्थावरा अप्युच्यन्ते स्थावराः स्थावरसम्भारकृतेन कर्मणा नाम चाभ्युपगतं भवति स्थावरायुष्कञ्च परिक्षीणं भवति स्थावरकाय स्थितिश्च ते तदायुष्कं विप्रजहति, तदायुष्कं विप्रहाय भूयः पार-

अन्वयार्थ—उयंचणं पलिक्खीणं भवति तसकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति) जब उनकी त्रस की आयु क्षीण हो जाती है और त्रसकाय में उनकी स्थिति का हेतुरूप कर्म भी क्षीण हो जाता है । तब वे उस आयु को छोड़ देते हैं । (ते तओ आउय विप्पजहित्ता थावरत्ताय पच्चायंति) और उसे छोड़ कर वे स्थावर भाव को प्राप्त करते हैं (थावरावि थावरसंभारकडेण कम्मुणा थावरत्ताय पच्चायंति) स्थावर प्राणी भी स्थावर नाम कर्म के फल का अनुभव करते हुए स्थावर कहलाते हैं (णाम च णं अब्भुवगाय भवइ) और इसी कारण वे स्थावर नाम को भी धारण करते हैं । (थावराउयच णं पलिक्खीणं भवति थावरकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति)

भावार्थ—श्रावक यदि स्थावर काय में गये हुए उस त्रस प्राणी का घात करता है तो उसकी प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाती है यह क्यों न माना जावे ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् गोतम स्वामी कहते हैं कि—हे उदक ! जीवगण अपने कर्मों का फल भोगने के लिये जब त्रस पर्य्याय में आते हैं तब उनकी त्रस संज्ञा होती है और वे जब अपने कर्मों का फल भोगने के लिये स्थावर पर्य्याय मे जाते हैं तब उनकी स्थावर संज्ञा होती है इस प्रकार जीव कभी त्रस पर्य्याय को त्याग कर स्थावर पर्य्याय को प्राप्त करते हैं और कभी स्थावर पर्य्याय को त्याग कर त्रस पर्य्याय को प्राप्त करते हैं अत जो श्रावक त्रस प्राणी को मारने का त्याग करता है वह त्रस पर्य्याय मे आये हुए जीव को ही मारने का त्याग करता है परन्तु स्थावर पर्य्याय के घात का त्याग नहीं करता है इसलिये स्थावर पर्य्याय के घात से उसके व्रत का भङ्ग किस तरह हो सकता है ? क्योंकि स्थावर पर्य्याय के घात का

तसेहिं पाणेहिं निहाय दंड, तंपि तेसिं कुसलमेव भवइ ॥ (सू० ७५) ॥

छाया—नान्यत्राभियोगेन गाथापतिचोरग्रहणविमोक्षणतया त्रसेषु प्राणेषु निधाय दण्डं तदपि तेषां कुशलमेव भवति ॥७५ ॥

अन्वयार्थ—राजा आदि के अभियोग आदि कारणों को छोड़ कर त्रस प्राणी को घात न करने की प्रतिज्ञा करते हैं और साधुजन यह जान कर कि सब प्राणियों को नहीं छोड़ता है तो जितना छोड़े उतना ही अच्छा है उसे त्रस प्राणियों का घात न करने की प्रतिज्ञा कराते हैं (तंपि तेसिं कुसलमेव भवइ) इतना त्याग भी उसके लिये अच्छा ही होता है ॥ ७५ ॥

भावार्थ—तैयार नहीं है तो जितने को वह छोड़े उतने तो बचेंगे यह आशय साधु का होता है अतः उसको शेष प्राणियों के घात का अनुमोदन नहीं लगता है ॥७५॥



तसावि वुच्चंति तसा तसस भारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ, तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, तसकाय

छाया—त्रसा अप्युच्यन्ते त्रसास्त्रससम्भारकृतेन कर्मणा नाम चाभ्युपगतं भवति । त्रसायुष्कञ्च परिक्षीणं भवति त्रसकायस्थितिकं ते तदा-

अन्वयार्थ—(तसावि तससम्भारकडेणं कम्मुणा तसा वुच्चंति) त्रस जीव भी त्रस नाम कर्म के फल का अनुभव करने के कारण त्रस कहे जाते हैं (णामं च णं अब्भुवगयं भवइ) और वे उक्त कर्म का फल भ भ करने के कारण ही त्रस नाम को धारण करते हैं (तसा

भावार्थ—उदक पेढालपुत्र ने भगवान् गोतम स्वामी से यह प्रश्न किया था कि—जो श्रावक त्रस प्राणी के घात का त्याग करके भी स्थावर काय में उत्पन्न हुए उसी प्राणी को मारता है उसका व्रतभङ्ग क्यों नहीं हो सकता है ? जो मनुष्य नागरिक को न मारने की प्रतिज्ञा करके नगर से बाहर गये हुए उस नागरिक पुरुष की हत्या करता है तो उसकी प्रतिज्ञा जैसे भङ्ग हो जाती है उसी तरह त्रस काय को न मारने की प्रतिज्ञा किया हुआ

सवायं उदए पेढालपुत्ते भयवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो गोयमा ! णत्थि णं से केइ परियाए जएणं समणोवासगस्स एगपाणातिवायविरएवि दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा, थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा

छाया—सवादमुदकः पेढलपुत्रो भगवन्तं गोतममेवमवादीत्—आयुष्मन् गोतम नास्ति स कोऽपि पर्य्यायः यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एक प्राणातिपातविरतेरपि दण्डः निक्षिप्तः । कस्य हेतोः ? सांसारिकाः खलु प्राणाः स्थावरा अपि प्राणाः त्रसत्वाय प्रत्यायान्ति त्रसा अपि प्राणाः स्थावरत्वाय प्रत्यायान्ति स्थावरकायतो विमुच्य

अन्वयार्थ—(उदए पेढालपुत्ते सवायं भगवं गोयमं एवं वयासी) उदक पेढालपुत्र ने वाद के सहित भगवान् गोतम स्वामी से कहा कि—(आउसंतो गोयमा णत्थिणं केइ परियाए जएणं समणोवासगस्स एगपाणातिवायविरएवि दंडे निक्खित्ते) हे आयुष्मन् गोतम ! कोई भी वह पर्य्याय नहीं है जिसको न मारकर श्रावक अपने एक प्राणी को न मारने के त्याग को भी सफल कर सके (कस्सणं हेउं ?) कारण क्या है ? (संसारिया खलुपाणा) प्राणिवर्ग परिवर्तन शील हैं (थावराविपाणा तसत्ताए पच्चायंति तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति) इसलिये कभी स्थावर प्राणी त्रस हो जाते हैं और कभी त्रस प्राणी स्थावर हो जाते हैं (थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे

भावार्थ—उदक पेढालपुत्र भगवान् गोतम स्वामी से अपने प्रश्न को दूसरे प्रकार से पूछता है वह कहता है कि—हे आयुष्मन् गोतम ! ऐसा एक भी पर्य्याय नहीं है जिसके घात का त्याग श्रावक कर सकता है क्योंकि प्राणी परिवर्तनशील हैं वे सदा एक ही काय में नहीं रहते हैं वे कभी त्रस और कभी स्थावर इस प्रकार बदलते रहते हैं अतः जब सब के सब त्रस प्राणी त्रस पर्य्याय को छोड़ कर स्थावर काय में उत्पन्न हो जाते हैं उस समय एक भी त्रस प्राणी नहीं रहता है जिसके घात के त्याग को श्रावक पालन कर सके किन्तु उस समय श्रावक का व्रत निर्विषय हो जाता है। जैसे किसी ने यह व्रत ग्रहण किया कि—मैं नगरवासी मनुष्य को नहीं मारूंगा" परन्तु दैवयोग से नगर का उजाड़ हो गया और सब के सब

विप्पजहंति तओ आउयं विप्पजहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया ॥ (सूत्र ७६) ॥

छाया—लौकिकत्वेन प्रत्यायान्ति, ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते ते महाकायास्ते चिरस्थितिकाः ॥७६॥

अन्वयार्थ—जब उनकी स्थावर की आयु क्षीण हो जाती है और स्थावरकाय में उनकी स्थिति का काल समाप्त हो जाता है तब वे उस आयु को छोड़ देते हैं। (तओ आउयं विप्पजहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायंति) और उस आयु को छोड़ कर वे फिर त्रसभाव को प्राप्त करते हैं) (ते पाणावि वुच्चंति ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते चिरट्ठिइया) वे प्राणी भी कहलाते हैं त्रस भी कहलाते हैं वे महान् काय वाले और चिरकाल तक स्थिति वाले भी होते हैं ॥७६॥

भावार्थ—त्याग उसने नहीं किया है। तुमने जो नागरिक का दृष्टान्त देकर स्थावर पर्य्याय के घात से त्रस प्राणी के घात का त्याग करने वाले पुरुष की प्रतिज्ञा का भङ्ग होना कहा है यह अयुक्त है क्योंकि नगर निवासी पुरुष नगर से बाहर जाने पर भी नागरिक ही कहा जाता है क्योंकि उसकी पर्य्याय बदली है बदली नहीं है इसलिये उसका घात करने से नागरिक के घात का त्याग करने वाले का व्रत भङ्ग हो जाता है परन्तु वह नागरिक यदि नगर का रहना सर्वथा छोड़ कर ग्राम में रहने लग जाय तो वह ग्रामीण कहलाने लगता है और उसकी वह नागरिक रूपी पर्य्याय बदल जाती है ऐसी दशा में उसके घात से जैसे नागरिक को न मारने का व्रत धारण किये हुए पुरुष का व्रतभंग नहीं होता है उसी तरह त्रस पर्य्याय को त्याग कर जो प्राणी स्थावर पर्य्याय में चला गया है उसके घात से त्रस पर्य्याय के घात का त्याग किये हुए पुरुष की प्रतिज्ञा का भंग नहीं हो सकता है क्योंकि स्थावर पर्य्याय के घात का त्याग उसने नहीं किया है ॥ ७६ ॥

प्पवादेणं अत्थि णं से परियाए जे णं समणोवासगस्स सव्व-पाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते भवइ, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसका

छाया—स पर्य्यायः यस्मिन् यस्मिन् श्रमणोपासकस्य सर्वभूतेषु सर्वप्राणेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डः निक्षिप्तो भवति तत् कस्य हेतोः ? सांसारिका खलु प्राणाः त्रसा अपि प्राणाः स्थावरत्वाय प्रत्यायान्ति स्थावरा अपि प्राणाः त्रसत्वाय प्रत्यायान्ति। त्रसकायतो विप्रमुच्यमानाः सर्वे स्थावरकायेषूत्पद्यन्ते स्थावरकायतो विप्रमुच्यमानाः सर्वे त्रसकायेषूत्पद्यन्ते तेषाञ्च त्रसकायेषूत्पन्नानां

अन्वयार्थ—है। (अत्थिणं से परियाए जेण समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खरो भवइ) परन्तु तुम्हारे सिद्धान्तानुसार भी वह पर्याय अवश्य है जिसमें श्रमणोपासक सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के घात का त्याग कर सकता है (तं कस्स ण हेउ) इसका कारण क्या है ? (ससारिया खलु पाणा तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायति थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायति) प्राणिगण परिवर्तनशील हैं इस लिये स्थावर प्राणी भी त्रस होते हैं और त्रस प्राणी भी स्थावर होते हैं (तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायसि उववज्जति थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायसि उववज्जति) वे त्रस काय को छोड़ कर स्थावर काय में उत्पन्न होते हैं। और स्थावर को छोड़ कर त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं। (तेसिं चणं तसकायसि उववण्णाण ठाणमेयं अघत्तं) वे जब सब के सब त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं तब वह स्थान

भावार्थ—तो यह प्रश्न उठता ही नहीं है क्योंकि त्रस प्राणी सबके सब एक ही काल में स्थावर हो जाते हैं ऐसी हमारी मान्यता नहीं है तथा ऐसा न कभी हुआ और न है और न होगा लेकिन तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लें तो भी श्रावक का व्रत निर्विषय नहीं हो

सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं ॥

छाया—माना सर्वे त्रसकायेषूत्पद्यन्ते त्रसकायतो विप्रमुच्यमाना सर्वे स्थावरकायेषूत्पद्यन्ते तेषाञ्च स्थावरकायेषूत्पन्नानां स्थान मेतद् घात्यम् ।

अन्वयार्थ—थावरकायंसि उववज्जंति) वे सबके सब स्थावर काय को छोड़ कर त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं और त्रसकाय को छोड़ कर स्थावर काय में उत्पन्न होते हैं। (तेसिंचणं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं) वे सबके सब जब स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं। तब वे श्रावकों के घात के योग्य हो जाते हैं।

भावार्थ—नगरवासी नगर छोड़ कर वनवासी हो गये तो उस समय जैसे नगर वासी को न मारने की प्रतिज्ञा करने वाले उस पुरुष की प्रतिज्ञा निर्विषय हो जाती है इसी तरह त्रस को न मारने की प्रतिज्ञा करने वाले श्रावक की प्रतिज्ञा भी जब त्रस प्राणी सब के सब स्थावर हो जाते हैं उस समय निर्विषय हो जाती है इसका क्या समाधान ?

सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—णो खलु आउसो ! अस्माकं वत्तव्वएणं तुब्भं चेव अणु

छाया—सवाद् भगवान् गौतम उदकं पेढालपुत्रमेवमवादीत् न खलु आयुष्मन् उदक अस्माकं वक्तव्यतया युष्माकमेवानुप्रवादेन अस्ति

अन्वयार्थ—(सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी) भगवान् गौतम स्वामी ने वाद के सहित उदक पेढालपुत्र से इस प्रकार कहा कि—(णो खलु आउसो अस्माकं वत्तव्वएणं तुब्भं चेव अणुप्पवादेणं) हे आयुष्मन् उदक ! हमारे वक्तव्य के अनुसार यह प्रश्न नहीं उठता है किन्तु तुम्हारे वक्तव्य के अनुसार वह उठता

भावार्थ—इस उदक पेढालपुत्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् गौतम स्वामी कहते हैं कि—हे उदक पेढालपुत्र ! हमारी मान्यता के अनुसार

प्पवादेणं अत्थि णं से परियाए जे णं समणोवासगस्स सव्व-
पाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते भवइ,
कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा, तसावि पाणा थाव-
रत्ताए पच्चायंति, थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ
विप्पमुच्चमाणा सवे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ
विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसका

छाया—स पर्य्यायः यस्मिन् यस्मिन् श्रमणोपासकस्य सर्वभूतेषु सर्वप्राणेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डः निक्षिप्तो भवति तत् कस्य हेतोः ? सांसारिका खलु प्राणाः त्रसा अपि प्राणाः स्थावरत्वाय प्रत्यायान्ति स्थावरा अपि प्राणाः त्रसत्वाय प्रत्यायान्ति । त्रसकायतो विप्रमुच्यमानाः सर्वे स्थावरकायेषूत्पद्यन्ते स्थावरकायतो विप्रमुच्य-मानाः सर्वे त्रसकायेषूत्पद्यन्ते तेषाञ्च त्रसकायेषूत्पन्नानां

अन्वयार्थ—है। (अत्थिणं से परियाए जेण समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खत्ते भवइ) परन्तु तुम्हारे सिद्धान्तानुसार भी वह पर्याय अवश्य है जिसमें श्रमणोपासक सब प्राणी, भूत, जीव और सत्वों के घात का त्याग कर सकता है (तं कस्स ण हेउ) इसका कारण क्या है ? (ससारिया खलु पाणा तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायति थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायति) प्राणिगण परिवर्तनशील हैं इस लिये स्थावर प्राणी भी त्रस होते हैं और त्रस प्राणी भी स्थावर होते हैं (तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायसि उववज्जति थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायसि उववज्जति) वे त्रस काय को छोड कर स्थावर काय में उत्पन्न होते हैं। और स्थावर को छोड कर त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं। (तेसिं चणं तसकायसि उववण्णाण ठाणमेयं अघत्त) वे जब सब के सब त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं तब वह स्थान

भावार्थ—तो यह प्रश्न उठता ही नहीं है क्योंकि त्रस प्राणी सबके सब एक ही काल में स्थावर हो जाते हैं ऐसी हमारी मान्यता नहीं है तथा ऐसा न कभी हुआ और न है और न होगा लेकिन तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लें तो भी श्रावक का व्रत निर्विषय नहीं हो

यंसि उववन्नाए ठाणमेयं अघत्तं, ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया, ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ, से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जन्नं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपा-

छाया—स्थानमेतदघात्यम्। ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते ते महाकायास्ते चिरस्थितिकाः। ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति ते अल्पतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति। तस्य महतस्त्रसकायादुपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयमन्यो वा वदथ नास्ति स कोऽपि पर्यायः यस्मिन् तस्य श्रमणोपासकस्य एकप्रा-

अन्वयार्थ—श्रावकों के लिये व्रत के योग्य नहीं होता है। (ते पाणावि वुच्चंति ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते चिरट्ठिइया) वे प्राणी भी कहे जाते हैं और त्रस भी कहे जाते हैं वे महान् शरीर वाले और चिरकाल तक स्थित रहने वाले होते हैं। (ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ) वे प्राणी बहुत हैं जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सफल होता है। (ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ) तथा उस समय वे प्राणी होते ही नहीं जिनके लिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता है। (से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जण्णं तुब्भे वा अन्नो वा वयह णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाएवि दंडे णिक्खित्ते) इस प्रकार वह श्रावक महान् त्रसकाय के वध से उपशान्त तथा विरत होता है ऐसी दशा में तुम लोग या दूसरे लोग जो यह कहते हो कि ऐसा कोई भी पर्याय नहीं है जिसके लिये श्रमणो

भावार्थ—सकता है क्योंकि तुम्हारे सिद्धान्तानुसार सब के सब स्थावर प्राणी भी तो किसी समय त्रस हो जाते हैं उस समय श्रावकों के त्याग का विषय तो अत्यन्त बढ़ जाता है उस समय श्रावक का प्रत्याख्यान सर्व प्राणी

णाएवि दंडे णिक्खित्ते, अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ
॥ सूत्र ७७ ॥

छाया—तिपात विरतेरपि दण्डः निक्षिप्तो भवति अयमपि भेदः नो नैयायिको भवति ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—पासक का प्रत्याख्यान हो सके (अयमवि भेदे नो नेयाउए भवइ) सो यह आपका कथन न्याय सङ्गत नहीं है ॥ ७७ ॥

भावार्थ—विषयक हो जाता है अतः तुम लोग श्रावकों के व्रत को जो निर्विषय कहते हो यह न्यायसंगत नहीं है ॥ ७७ ॥



भवंग च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो ! नियंठा इह खलु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तेसिं च एवं वुत्त-पुव्वं भवइ—जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए,

छाया—भगवांश्च उदाह निग्रन्थाः खलु प्रष्टव्याः आयुष्मन्तो निग्रन्थाः इह खलु सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति तेषाञ्चैवमुक्तपूर्वं भवति ये इमे मुण्डाः भूत्वा अगारादनगारित्वं प्रव्रजन्ति एषाश्च आमरणान्तो दंडः

अन्वयार्थ—(भगवच ण उदाहु) भगवान् गोतम स्वामी कहते हैं कि—(नियंठा खलु पुच्छियव्वा) निग्रन्थों से यह बात पूछी जाती है। (आउसंतो नियंठा इह खलु सतेगइया मणुस्सा भवति) हे आयुष्मन् निग्रन्थों ! इस जगत् में कोई मनुष्य ऐसे होते है (तेंसिच ण एव वुत्तपुव्वं भवइ) जो इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं कि—(जे इमे मुडे भवित्ता आगाराओ अनगारियं पव्वइए) ये जो दीक्षा लेकर घर को

भावार्थ—भगवान् गोतम स्वामी ने उदक पेढाल पुत्र के स्थविरों से पूछा कि—हे स्थविरो ! जगत् मे कोई पुरुष ऐसे होते हैं जो साधु भाव को अंगीकार किये हुए पुरुषों को मरणपर्य्यन्त दण्ड न देने का व्रत ग्रहण करते हैं परन्तु गृहस्थो को मारने का त्याग वे नहीं करते हैं। वे पुरुष यदि साधुपन को छोड़कर गृहस्थ बने हुए भूतपूर्व श्रमण को मारते हैं तो

एएसिं च णं आमरणताए दंडे णिक्खित्ते, जे इमे अगारमावसंति एएसिं णं आमरणताए दंडे णो णिक्खित्ते, केई च णं समणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारमावसेज्जा ?, हंतावसेज्जा, तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भंगे भवइ ?, णो तिणट्ठे समट्ठे, एवं

छाया—निक्षिप्तः, ये इमे अगारमावसन्ति एतेषामामरणान्तो दण्डो नो निक्षिप्तः। केचिच्च श्रमणाः यावत् वर्षाणि चतुःपञ्चषट् दश वा अल्पतरं वा भूयस्तरं वा विहृत्य देशमगारमावसेयुः ?। हन्त ! वसेयुः। तस्य तं गृहस्थं घ्नतः तत्प्रत्याख्यानं भग्नं भवति ? नाय

अन्वयार्थ—त्याग कर अनगार हो गये हैं (एएसिं आमरणांतो दंडो णिक्खित्तो) इनको मरण पर्य्यन्त दण्ड देना मैं त्याग करता हूँ। (जे इमे अगारमावसंति एएसिं णं आमरणांताए दंडे णो णिक्खित्ते) परन्तु जो लोग गृह में निवास करते हैं यानी गृहस्थ हैं उनको मरण पर्य्यन्त दण्ड देने का त्याग मैं नहीं करता हूँ। (केई च णं समणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारमावसेज्जा ?) अब मैं पूछता हूँ कि उन श्रमणों में से कोई श्रमण चार, पाँच या छः अथवा दश वर्ष तक थोड़े या बहुत देशों में विचर कर क्या फिर गृहस्थ बन जाते हैं ? (हंता आवसेज्जा) निर्ग्रन्थ लोग कहते हैं कि हाँ, वे गृहस्थ बन जाते हैं (तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भंगे भवइ) भगवान् गौतम स्वामी पूछते हैं कि—उन गृहस्थों को मारने वाले उस प्रत्याख्यानधारी पुरुष का वह प्रत्याख्यान भंग हो जाता है क्या ? (णो इणट्ठे समट्ठे) निर्ग्रन्थ लोग कहते हैं कि नहीं अर्थात् साधुपना छोड़ कर फिर गृहवास को स्वीकार करने वाले भूतपूर्व श्रमणों को मारने से भी उस प्रत्याख्यानी का प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

भावार्थ—उनका प्रत्याख्यान भंग होता है या नहीं ?। गौतम स्वामी का यह प्रश्न सुनकर निर्ग्रन्थों ने कहा कि—नहीं उनका प्रत्याख्यान भंग नहीं हो सकता है क्योंकि उक्त पुरुषों ने साधु भाव में रहते हुए पुरुषों को ही न मारने का प्रत्याख्यान स्वीकार किया है परन्तु गृहस्थ भाव में रहने वालों को न मारने का प्रत्याख्यान नहीं किया है अतः गृहस्थ भाव में आये हुए भूतपूर्व श्रमणों को मारने से भी उनका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है। श्री गौतम स्वामी ने कहा कि—हे स्थविरो इसी तरह

मेव समणोवासगस्सवि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, तस्स णं तं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भंगे भवइ, से एवमायाणह ? णियंठा !, एवमायाणियव्वं ॥

छाया—मर्थः समर्थः एवमेव श्रमणोपासकस्यापि त्रसेषु प्राणेषु दण्डो निक्षिप्तः तस्य स्थावरकायं अतः तत् प्रत्याख्यानं नो भग्नं भवति तदेवं जानीत निग्रन्थाः एवं ज्ञातव्यम् ।

अन्वयार्थ—(एवमेव समणोवासगस्सवि तसेहिं पाणेहिं दण्डे निक्खित्ते थावरेहि पाणेहि दण्डे णो णिक्खित्ते थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भंगे भवइ) श्री गोतम स्वामी कहते हैं कि—इसी तरह श्रमणोपासक ने भी त्रस प्राणी को दण्ड देना त्याग किया है स्थावर प्राणी को दण्ड देना त्याग नहीं किया है इसलिए स्थावर काय के प्राणी को मारने से भी उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है। (नियठा एव मायाणह एवमायाणियव्व) हे निग्रन्थों ! इसी तरह समझो और इसी तरह ही समझना चाहिये।

भावार्थ—यह भी समझो कि—श्रमणोपासक ने त्रसभाव में आये हुए प्राणियों को मारने का त्याग किया है परन्तु स्थावरभाव में आये हुए को मारने का त्याग नहीं किया है अत' स्थावर भाव में आये हुए भूतपूर्व त्रस को मारने पर भी श्रावक का प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

भगवं च णं उदाहु नियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो नियंठा ! इह खलु गाहावइ वा गाहावइपुत्तो वा तहप्पगारेहिं

छाया—भगवांश्च उदाह निग्रन्थाः खलु प्रष्टव्याः आयुष्मन्तो निग्रन्थाः इह खलु गाथापतिर्वा गाथापतिपुत्रो वा तथाप्रकारेषु कुलेषु आगत्य-

अन्वयार्थ—(भगवच ण उदाहु नियठा खलु पुच्छियव्वा) भगवान् श्री गोतम स्वामी ने कहा कि—मैं स्थविरों से पूछता हूँ (आउसंतो नियठा ! इह खलु गाहावई वा गाहावइ

भावार्थ—भगवान् गोतम स्वामी इस पाठ के द्वारा निग्रन्थों को यह समझाते हैं कि—प्रत्याख्यान का सम्बन्ध प्रत्याख्यान करने वाले तथा प्रत्याख्यान

कुलेहिं आगम्म धम्म सवणवत्तिय उवसकमेज्जा ?, हंता उवसकमेज्जा, तेसिं च णं तहप्पगाराणं धम्मं आइक्खियव्वे ?, हंता आइक्खियव्वे, किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा—इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं,

छाया—धर्मश्रवणार्थमुपसंक्रमेयुः ? हन्त ! उपसंक्रमेयुः तेषाञ्च तथा प्रकाराणां धर्मः आख्यातव्यः ? हन्त आख्यातव्यः । किन्ते तथा प्रकारं धर्मं श्रुत्वा निशम्य एवं वदेयुः इदमेव निर्ग्रन्थं प्रवचनं सत्य मनुत्तरं कैवलिकं परिपूर्णं संशुद्धं नैयायिकं शल्यकर्तनं सिद्धिमार्गं मुक्तिमार्गं निर्याणमार्गं निर्वाणमार्गम् अवितथमसंदिग्धं सर्व दुःखप्रहाणमार्गम् अत्र स्थित्वा जीवाः सिद्ध्यन्ति बुध्यन्त

अन्वयार्थ—(उग्गा वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?) हे आयुष्मन् निर्ग्रन्थो ! इस लोक में गाथापति या गाथापति के पुत्र उस प्रकार के उत्तम कुल में जन्म लेकर धर्म सुनने के लिये क्या साधुओं के पास आ सकते हैं ? (हंता उवसंकमेज्जा) निर्ग्रन्थों ने कहा कि हाँ, आ सकते हैं । (तेसिं तहप्पगाराणं धम्मं आइक्खियव्वे) गौतम स्वामी ने कहा कि उन उत्तम कुल में उत्पन्न पुरुषों को क्या धर्म का उपदेश करना चाहिये (हंता आइक्खियव्वे) निर्ग्रन्थों ने कहा कि हाँ उन्हें धर्म का उपदेश करना चाहिये (किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खपहीणमग्गं) वे उस प्रकार के धर्म को सुन कर और समझ कर क्या इस प्रकार कह सकते हैं कि—यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है सर्वोत्तम है केवल ज्ञान को प्राप्त कराने वाला है परिपूर्ण है अच्छी तरह शुद्ध है न्याय युक्त है हृदय के शल्य को नाश करने वाला है सिद्धि का मार्ग है मुक्ति का रास्ता है निर्याण मार्ग है निर्वाण मार्ग है मिथ्यात्वरहित है सन्देहरहित है और समस्त

भावार्थ—जिसे आने वाला प्राणी के पर्याय के साथ होता है उनके द्रव्य रूप जीव के साथ नहीं होता है जैसे कोई पुरुष साधुओं के द्वारा धर्म को सुन कर वैराग्य युक्त हो, साधु के पास दीक्षा धारण करके सम्पूर्ण

एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसियामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामोत्ति वएज्जा ?, हंता वएज्जा, किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावित्तए ?, हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति

छाया—मुञ्चन्ति परिनिर्वान्ति सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति तदाज्ञया तथा गच्छामस्तथातिष्ठामस्तथानिषीदामस्तथा त्वचं वर्तयामस्तथा भुञ्जामहे तथा भाषामहे तथा अभ्युत्तिष्ठामस्तथा उत्थाय उत्तिष्ठाम इति प्राणानां भूतानां जीवानां सत्त्वानां संयमेन संयच्छाम इति वदेयुः ? हन्त वदेयुः। किन्ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते प्रव्राजयितुम् ? हन्त कल्प्यन्ते। किन्ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते मुण्डयितुं

अन्वयार्थ—दुःखों के नाश का मार्ग है ? (एत्थ ठिया जीवा सिज्झति बुज्झति मुच्चति परिणिव्वायति सव्वदुक्खाण अंत करेंति) और इस धर्म में स्थित होकर जीव सिद्ध होता है बोध को प्राप्त करता है निर्वाण को प्राप्त करता है और समस्त दुःखों का नाश करता है। (तमाणाए तहागच्छामो तहाचिट्ठामो तहा णिसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो) अतः हम इस धर्म की आज्ञा के अनुसार इसके द्वारा विधान की हुई रीति से ही चलेंगे स्थित होंगे बैठेंगे करवट बदलेंगे भोजन करेंगे बोलेंगे (तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाण भूयाण जीवाण सत्ताण संजमेणं सजमामोत्ति वएज्जा ?) और उसके विधान के अनुसार ही हम उठेंगे और उठ कर संपूर्ण प्राणी भूत, जीव और सत्त्वों की रक्षा के लिये संयम धारण करेंगे, इस प्रकार वे कह सकते हैं क्या ? (हंता वएज्जा) निग्रन्थों ने कहा कि—हां, वे ऐसा कह सकते हैं। (किं ते तहप्पगारा पव्वावित्तए कप्पति) क्या वे इस प्रकार के विचार वाले पुरुष दीक्षा देने योग्य हैं ? (हंता कप्पति) निग्रर्थों ने कहा कि हां वे योग्य हैं। (किंते तहप्पगारा मुंडावित्तए कप्पति)

प्राणियों के घात का त्याग करता है। वह पुरुष जब तक साधुपने की पर्य्याय में रहता है तब तक उसका उस प्रत्याख्यान के साथ सम्बन्ध रहता है। अतः वह यदि थोड़ा भी अपनी प्रतिज्ञा में दोष लगाता है तो उसके लिये उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है परन्तु जब वह गृहस्थ के

मुंडावित्तए ?, हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावित्तए ?, हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावित्तए ?, हंता कप्पंति, तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?, हंता णिक्खित्ते, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जेत्ता अगारं वएज्जा, हंता वएज्जा तस्स णं

छाया—हन्त कल्प्यन्ते ? किन्ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते उपस्थापयितुम् ? हन्त कल्प्यन्ते । तैश्च सर्वप्राणिषु यावत् सर्वसत्त्वेषु दण्डः निक्षिप्तः हन्त निक्षिप्तः । ते एतद्रूपेण विहारेण विहरन्तः यावत् वर्षाणि चतुः पञ्चानि षड्दशानि वा अल्पतरं वा भूयस्तरं वा देशं विहृत्य अगारं व्रजेयुः ? हन्त व्रजेयुः । तैश्च सर्वप्राणेषु यावत्सर्वसत्त्वे

अन्वयार्थ—क्या वे ऐसे विचार वाले पुरुष मुण्डित करने योग्य हैं ? (हंता कप्पंति) हाँ, योग्य हैं । (किंते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावित्तए) वे ऐसे विचार वाले पुरुष शिक्षा देने योग्य हैं ? (हंता कप्पंति) हाँ, योग्य हैं । (किंते तहप्पगारा उवट्ठावित्तए कप्पंति) क्या वे ऐसे विचार वाले पुरुष प्रव्रज्या में उपस्थित करने योग्य हैं ? (हंता कप्पंति) हाँ, योग्य हैं । (तेसिं च सव्वपाणेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते) क्या दीक्षा लेकर उन लोगों ने समस्त प्राणियों को दण्ड देना छोड़ दिया ? (हंता णिक्खित्ते) हाँ, छोड़ दिया । (सेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पयरोवा भुज्जयरोवा देसं दुइज्जेत्ता अगारं वएज्जा ?) क्या वे प्रव्रज्या की अवस्था में स्थित होकर चार पाँच या छ तथा दस वर्ष तक थोड़े या बहुत देशों में घूम कर फिर गृहस्थवास में जा सकते हैं ? (हंता वएज्जा) हाँ, जा सकते हैं (तस्सणं सव्वपाणेहिं जाव

भावार्थ—पर्याय में था उस समय उसका इस प्रत्याख्यान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था तथा वह किसी बुरे कर्म के उदय से जब साधुपने को छोड़ कर गृहस्थ हो जाता है उस समय भी इस प्रत्याख्यान के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है अतः साधुपने को धारण करके समस्त प्राणियों के घात का प्रत्याख्यान करने वाले इस पुरुष के बीच में जैसे साधुपना धारण करने के पहले और साधुपना छोड़ देने के पश्चात् कोई

जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहि जाव सत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स इयाणिं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ, परेणं असंजए आरेणं संजए, इयाणिं असंजए, असंजयस्स णं सव्वपाणेहि जाव सत्तेहिं दंडे णो

छाया—षु दण्डो निक्षिप्तः ? नायमर्थः समर्थः तस्य यः स जीवः येन परतः सर्वप्राणेषु यावत्सर्वसत्वेषु दण्डो नो निक्षिप्तः तस्य यः स जीवः येन आरात् सर्वप्राणेषु यावत् सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्तः, तस्य स जीवः येन इदानीं सर्वप्राणेषु यावत् सर्वसत्त्वेषु दण्डो न निक्षिप्तो, भवति परतोऽसंयतः आरात् संयतः इदानीमसंयतः असंयतस्य

अन्वयार्थ—सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते) वे गृहस्थ यत कर क्या सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण भूतों को दण्ड देना छोड देते हैं ? (णो इणट्ठे समट्ठे) निग्रर्थों ने कहा कि ऐसा नहीं होता अर्थात् वे फिर गृहस्थ होकर सम्पूर्ण प्राणियों को दण्ड देना नहीं छोडते किन्तु फिर दण्ड देना आरम्भ कर देते हैं। (से जे से जीवे जस्स परेण सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते) वह जीव वही है जिसने दीक्षा धारण करने के पूर्व यानी गृहस्थवास में सम्पूर्ण प्राणी और सत्वों को दण्ड देना त्याग नहीं किया था (से जे से जीवे जस्स आरेण सव्वपाणेहिं जाव्वसत्तेहिं दडे णिक्खित्ते) तथा वह जीव वही है जिसने दीक्षाधारण के पश्चात् सम्पूर्ण प्राणी और सत्वों को दण्ड देना त्याग किया था (से जे से जीवे जस्स इयाणिं सव्वपाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं दडे णो णिक्खित्ते भवइ) एवं वह जीव वही है जो इस समय गृहस्थभाव अङ्गीकार करके सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण सत्वों को दण्ड देने का त्यागी नहीं होता (आरेण सजए इयाणिं असजए) वह पहले तो असयमी था और पीछे संयमी हुआ और फिर इस समय असंयमी हो गया है। (असजयस्सण सव्वपाणेहिं जाव

भावार्थ—भेद नहीं रहता, जीव वही होता है परन्तु उसके पर्य्याय एक नहीं होते वे भिन्न-भिन्न होते हैं इसलिये साधुपने के पर्य्याय मे किये हुए प्रत्याख्यान के साथ जैसे गृहस्थ पर्य्याय का कोई सम्बन्ध नहीं होता है इसी तरह त्रस पर्य्याय को न मारने का किया हुआ प्रत्याख्यान त्रस पर्य्याय को छोड़कर स्थावर पर्य्याय में आये हुए प्राणी के साथ कुछ भी सम्बन्ध

णिक्खित्ते भवइ, से एवमायाणह ?, णियंठा !, से एवमायाणियव्वं ॥

छाया—सर्वप्राणेषु यावत् सर्वसत्त्वेषु दण्डो नो निक्षिप्तो भवति तदेवं जानीत निर्ग्रन्थाः तदेवं ज्ञातव्यम् ।

अन्वयार्थ—सव्वसत्तेहिं दंडे णोणिक्खित्ते भवइ (त्रसंयमी जीव सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण सत्त्वों को दण्ड देने का त्यागी नहीं होता है अतः वह पुरुष इस समय सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण सत्त्वों के दण्ड का त्यागी नहीं है। (एवमायाणह णियंठा एवमायाणियव्वं) हे निर्ग्रन्थो ! इसी तरह जानो और इसी तरह जानना चाहिये ।

भावार्थ—नहीं रखता है अतः त्रस के प्रत्याख्यानी पुरुष के द्वारा स्थावर पर्याय के घात से उसके व्रत का भंग बताना मिथ्या है ।

भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो ! नियंठा इह खलु परिव्वाइया वा परिव्वाइआओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?, हंता

छाया—भगवांश्च उवाह—निर्ग्रन्थाः खलु प्रष्टव्या आयुष्मन्तो निर्ग्रन्थाः ! इह खलु परिव्राजकाः वा परिव्राजिकाः वा अन्यतरेभ्यः तीर्थायतनेभ्यः आगत्य धर्मश्रवणप्रत्ययमुपसंक्रमेयुः ? हन्त उपसंक्रमेयुः ।

अन्वयार्थ—(भगवं च णं उदाहु) भगवान् श्रीगोतम स्वामी ने कहा कि—(णियंठा खलु पुच्छियव्वा) मैं निर्ग्रन्थों से पूछता हूँ (आउसंतो णियंठा !) हे आयुष्मान् निर्ग्रन्थ ! (इह खलु परिव्वाइया वा परिव्वाइआओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा) इस लोक में परिव्राजक अथवा परिव्राजिकायें किसी दूसरे तीर्थ के स्थान में रह कर धर्म सुनने के लिये क्या साधु के निकट आ सकती

भावार्थ—श्री गोतम स्वामी दूसरा दृष्टान्त देकर श्रमण निर्ग्रन्थों को यही बात समझा रहे हैं कि—प्रत्याख्यान का सम्बन्ध पर्याय के साथ होता है द्रव्य रूप जीव के साथ नहीं होता है। यह श्रावकों के लिये ही नहीं किन्तु साधुओं के लिये भी यही बात है। किसी अन्यतीर्थी परिव्राजक और परिव्राजिका के साथ सम्यग्दृष्टि साधु संभोग नहीं करते हैं परन्तु

उवसंकमेज्जा, किं तेसिं तहप्पगारेणं धम्मे आइक्खियव्वे !, हंता आइक्खियव्वे, तं चेव उवट्ठावित्तए जाव कप्पंत्ति ?, हंता कप्पंत्ति किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ! हंता कप्पंति, तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा तं चेव जाव अगारं वएज्जा ? हंता वएज्जा, ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुजित्तए! णो इणट्ठे समट्ठे

छाया--किन्तेषां तथाप्रकाराणां धर्म आख्यातव्यः हन्त आख्यातव्यः। ते चैवमुपस्थापयितुं यावत् कल्प्यन्ते ? हन्त कल्प्यन्ते। किन्ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते संभोजयितुं ? हन्त कल्प्यन्ते। ते एतद्रूपेण विहारेण विहरन्तः तथैव यावदगारं व्रजेयुः हन्त व्रजेयुः। ते च तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते संभोजयितुम् ? नामर्थः समर्थः ते ये ते जीवाः ये

अन्वयार्थ—हैं ? (हन्ता उवसंकमेजा) निग्रन्थों ने कहा हाँ, आ सकती हैं। (तेसिं तहप्पगाराण धम्मे कि आइक्खियव्वे) श्री गोतम स्वामी ने कहा कि उन वैसे व्यक्तियों को क्या धर्म सुनाना चाहिये ? (हता आइक्खियव्वे) निग्रन्थों ने कहा कि—हाँ, सुनना चाहिये (त चेव उवट्ठावित्तये जाव कप्पंति) भगवान ने कहा कि—धर्म सुनने के पश्चात् यदि उन्हें वैराग्य हो और वे साधु के निकट सम्यक् धर्म की दीक्षा लेना चाहें तो उन्हें क्या दीक्षा देनी चाहिये ? (हता कप्पति) निग्रथों ने कहा हा, देनी चाहिये (किं ते तहप्पगारा कप्पति संभुजित्तए) क्या वे दीक्षा धारण करने के पश्चात् साधु के समोग के योग्य हैं ? (हता कप्पति) हाँ, अवश्य योग्य हैं (ते णं एयारूपेणं विहारेण विहरमाणा तं चेव जाव अगार वसेज्जा) वे दीक्षा पालन करते हुए कुछ काल तक विहार करके क्या फिर गृहवास मे जा सकते हैं ? (हता वएज्जा) हा, जा सकते हैं (ते णं तहप्पगारा ससुजित्तए कप्पति) अब वे गृहवास को प्राप्त हो कर क्या साधु के संभोग के योग्य हो सकते हैं ?

भावार्थ—जब वे साधु से धर्म को सुन कर सम्यग् धर्म के अनुसार दीक्षा धारण करके साधु हो जाते हैं उनके साथ साधुसंभोग करते हैं और वेही जब असत् कर्म के उदय से फिर पहले के समान ही दीक्षा पालन त्याग कर गृहस्थ हो जाते हैं तब उनके साथ साधु समोग नहीं करते हैं। कारण यही है कि—दीक्षा छोड़ देने के पश्चात् उनकी पर्य्याय बदल जाती है परन्तु जीव तो उनका वही है जो दीक्षा लेने के पश्चात् था। परन्तु अब वह दीक्षा की पर्य्याय नहीं है इसलिए साध उनके

से जे से जीवे जे परेणं नो कप्पंति समुंजित्तए, से जे से जीवे आरेणं कप्पंति समुंजित्तए, से जे से जीवे जे इयाणिं णो कप्पंति समुंजित्तए, परेणं अस्समणे आरेणं समणे, इयाणिं अस्समणे, अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पंति समणाणं निग्गंथाणं समुंजित्तए, से एवमायाणह, णियंठा, से एवमायाणियव्वं ॥ सूत्र ॥ ७८ ॥

छाया—परतः नो कल्प्यन्ते संभोजयितुं ते ये ते जीवाः आरात् कल्प्यन्ते संभोजयितुम्, ते ये ते जीवा ये इदानीं नो कल्प्यन्ते संभोजयितुं परतो येऽश्रमणा आरात् श्रमणा इदानीमश्रमणाः। अश्रमणेन सार्धं नो कल्पते श्रमणानां निग्रन्थानां संभोक्तुं तदेवं जानीत तदेवं ज्ञातव्यम् ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ—(णो इणट्ठे समट्ठे) नहीं यह बात उचित नहीं है (से जे से जीवे परेणं णो कप्पंति समुंजित्तए) वह जीव जो पहले है जिसके साथ साधु को संभोग करना, दीक्षा धारण करने के पहले नहीं कल्पता है (से जे से जीवे आरेणं कप्पंति संमुंजित्तए) और दीक्षा लेने के पश्चात् संभोग करना कल्पता है (से जे से जीवे इयाणिं णो कप्पंति संमुंजित्तए) तथा इस समय जब कि उसने दीक्षा पालन करना छोड़ दिया है उसके साथ साधु का संभोग करना नहीं कल्पता है (परेणं अस्समणे आरेणं समणे इयाणिं अस्समणे) वह जीव पहले अश्रमण था पीछे श्रमण हो गया और इस समय अश्रमण है। (अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पंति समणाणं निग्गंथाणं संमुंजित्तए) अश्रमण के साथ श्रमण निर्ग्रन्थों का संभोग करना नहीं कल्पता है (सेएवमायाणह णियंठा एवमायाणियव्वं) हे निर्ग्रन्थों! इसी तरह जानो और ऐसा ही जानना चाहिये ॥ ७८ ॥

भावार्थ—साथ संभोग नहीं करता है। इसी तरह जिस पुरुष ने त्रस प्राणी के घात का त्याग किया है वह त्रस प्राणी जब त्रस काय को छोड़ कर स्थावर पर्याय में आ जाता है तब वह श्रावक के प्रत्याख्यान का विषय नहीं होता है इसलिये उसके घात से श्रावक के प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है यह जानना चाहिये ॥ ७८ ॥

भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो, थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो, एवं थूलगं मुसावायं थूलगं अदिन्नादाणं थूलगं मेहुणं थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो,

छाया—भगवांश्च उदाह—सन्त्येकतये श्रमणोपासकाः भवन्ति तैश्चैवमुक्तपूर्वं भवति—न खलु वयं शक्नुमः मुण्डाः भूत्वाऽगारादनगारित्वं प्रव्रजितुम्। वयं चतुर्दश्यष्टमीपूर्णिमासु प्रतिपूर्णं पौषधं सम्यक् पालयन्तो विहरिष्यामः। स्थूलं प्राणातिपातं प्रत्याख्यास्यामः एवं स्थूलं मृषावादं स्थूलमदत्तादानं स्थूलं मैथुनं स्थूलं परि-

अन्वयार्थ—(भगवं च णं उदाहु) भगवान् श्रीगोतम स्वामी ने कहा कि—(संतेगइया समणोवासगा भवंति) कोई श्रमणोपासक बड़े शान्त होते हैं, (तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति) और वे इस प्रकार कहते हैं—(वयं मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ण खलु संचाएमो) हम प्रव्रज्या धारण करके गृहवास को त्याग कर अनगार होने के लिये समर्थ नहीं हैं (वयं च णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो) अतः हम चतुर्दशी, अष्टमी, और पूर्णिमा के दिन परिपूर्ण पौषध व्रत का अच्छी तरह से पालन करते हुए विचरेंगे। (थूलगं पाणाइवायं थूलगं मुसावायं थूलगं अदिन्नादाणं थूलगं मेहुणं थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो) तथा हम स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्ता-

भावार्थ—भगवान् गोतम स्वामी दूसरी रीति से उदक के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि—हे उदक! यह संसार कभी भी त्रस प्राणी से खाली नहीं होता है क्योंकि बहुत प्रकार से संसार में त्रस जीवों की उत्पत्ति होती हैं उनमें से दिग्दर्शन के रूप में कुछ मैं बतलाता हूँ। इस संसार में बहुत से शान्त श्रावक होते हैं जो साधु के निकट आकर कहते हैं कि—हम गृहवास को त्याग कर प्रव्रज्या धारण करने के लिये समर्थ नहीं हैं अतः हम अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा आदि तिथियों में पूर्ण पौषध व्रत का आचरण करते हुए अपने को पवित्र करेंगे। तथा स्थूल प्राणा-

इच्छापरिमाणं करिस्सामो, दुविहं तिविहेणं, मा खलु ममट्ठाए किंचि करेह वा करावेह वा तत्थवि पच्चक्खाइस्सामो, ते णं अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेढियाओ पच्चारुहित्ता, ते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया—सम्म कालगतत्ति ?, वत्तव्वं सिया, ते पाणावि वुच्चंति ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्च

छाया—अहं प्रत्याख्यास्यामः । इच्छापरिमाणं करिष्यामो द्विविधं त्रिविधेन मा खलु मदर्थं किञ्चित् कुरुत वा कारयत वा तत्रापि प्रत्याख्यास्यामः । ते अभुक्त्वा अपीत्वा अस्नात्वा आसन्दीपीठिकातः पर्य्यारुह्य ते तथाकालगताः, किं वक्तव्यं स्यात्? सम्यक् कालगता इति । वक्तव्यं स्यात् । ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते ते महाकायास्ते चिरस्थितिकाः । ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य

अन्वयार्थ—हम, स्थूल मैथुन और स्थूल परिग्रह का त्याग करेंगे। (इच्छापरिमाणं करिस्सामो) हम अपनी इच्छा का परिमाण करेंगे अर्थात् सीमित करेंगे (दुविहं तिविहेण) हम दो करण और तीन योग से प्रत्याख्यान करेंगे। (मा खलु ममट्ठाए किंचिवि करेह वा करावेह वा) हमारे लिये कुछ मत करो और कुछ मत कराओ (तत्थवि पच्चक्खाइस्सामो) हम ऐसा भी प्रत्याख्यान करेंगे। (ते णं अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेढियाओ पच्चारुहित्ता ते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया सम्मं कालगतेत्ति वत्तव्वं सिया) वे श्रावक बिना खाये पीए और बिना स्नान किये आसन से उतर कर यदि मृत्यु को प्राप्त हो जायँ तो उनके मरण के विषय में क्या कहना होगा ? वे अच्छी रीति से काल को प्राप्त हुए यही कहना होगा। अर्थात् उनकी अच्छी गति हुई है यही कहना होगा। (ते पाणावि वुच्चंति ते तसावि वुच्चंति) वे प्राणी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं (ते महाकाया ते चिरट्ठिईया) वे महान् शरीर वाले और चिरकाल तक स्थिति वाले होते हैं (ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ) वे प्राणी बहुत

भावार्थ—विघात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान स्थूल मैथुन और स्थूल परिग्रह का भी त्याग करेंगे तथा पौषध व्रत के दिन दो करण और तीन योग से करने कराने और पकाने पकवाने से भी निवृत्ति करेंगे। इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वे श्रावक बिना खाये पीये और बिना स्नान आदि किये

क्खायं भवइ, ते अप्पयरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ, इति से महयाओ जएणं तुब्भे वयह तं चेव जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।

छाया—सुप्रत्याख्यानं भवति । ते अल्पतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यानं भवति । स महतः यथा भूयं वदथ तथैव यावद् अयमपि भेदः नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—हैं जिनमें श्रमणो पासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है (ते अप्पतरगा जेहिं समणोवासगस्स अप्पच्चक्खायं भवइ) वे ही प्राणी थोड़े हैं जिनके विषय में श्रमणो पासक का प्रत्याख्यान नहीं होता है । (इति से महओ जण्णं तुब्भे वयह त चेव जाव अयपि भेदे णो णेयाउए भवइ) अत वह श्रावक महान् त्रस कायकी हिंसा से निवृत्त है तो भी आप लोग जो उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय बतलाते हैं यह आपका मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है ।

भावार्थ—यदि आसन से उतर कर मृत्यु को प्राप्त हो जायँ तो उनकी गति उत्तम हुई यही कहना होगा । और इस प्रकार काल करने वाले प्राणी देवलोक में उत्पन्न होते हैं इसीलिये उन्होंने देवगति प्राप्त की है यही मानना होगा । और वे प्राणी त्रस हैं तथा महान् शरीर वाले और चिरकाल तक देवलोक में निवास करने वाले हैं उन प्राणियों का घात प्रत्याख्यानी श्रावक नहीं करता है इसलिये उसका प्रत्याख्यान सविषय है, निर्विषय नहीं है इसलिए श्रावकों के प्रत्याख्यान को त्रस के अभाव के कारण निर्विषय बताना मिथ्या है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ, णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता

छाया—भगवाँश्चोदाह—सन्त्येके श्रमणोपासकाः भवन्ति, तैश्चैवमुक्तपूर्वं भवति—न खलु वयं शक्नुमो मुण्डाः भूत्वा अगाराद् यावत्प्रव्रजि-

अन्वयार्थ—(भगवचण उदाहु) भगवान् श्री गोतमस्वामी ने कहा कि—(संतेगइया समणोवासगा तेसिं च णं एव वुत्तपुव्व भवति) इस जगत् में कोई ऐसे श्रमणोपासक

भावार्थ—श्री गोतम स्वामी उदक पेढाल पुत्र से कहते हैं कि—हे उदक ! संसार में ऐसे भी श्रावक होते हैं जो गृहस्थवास को त्यागकर दीक्षा ग्रहण

आगाराओ जाव पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठ
मुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए, वयं णं
अपच्छिममारणंतिय संलेहणाजूसणाजूसिया भत्तपाणं पडियाइ
क्खिया जाव कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणा
इवायं पच्चक्खाइस्सामो जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो
तिविहं तिविहेणं, मा खलु ममट्ठाए किंचिवि जाव आसदीपेढि

छाया—तुम् । न खलु वयं शक्नुमश्चतुर्दश्यष्टमीपूर्णिमासु यावदनुपालयन्तो विहर्तुम् । वयमपश्चिममरणान्तसंलेखनाजोषणाजुष्टा भक्तपानं प्रत्याख्याय यावत् कालमनवकाङ्क्षमाणाः विहरिष्यामः सर्वं प्राणातिपातं प्रत्याख्यास्यामः यावत् सर्वं परिग्रहं प्रत्याख्यास्यामः त्रिविधं त्रिविधेन माकिञ्चिन्ममार्थं यावद् आसन्दीपीठिकातः प्रत्या-

अन्वयार्थ—होते हैं वो इस प्रकार कहते हैं कि—(वयं मुंडा भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइत्तए न खलु संचाएमो) हम मुण्ड होकर गृहवास का त्याग करके प्रव्रजित होने के लिये समर्थ नहीं हैं (चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए न खलु संचाएमो) तथा चतुर्दशी अष्टमी और पूर्णिमा आदि तिथियों में पूर्ण पौषध व्रत का पालन करते हुए विचरने में भी हम समर्थ नहीं हैं । (वयं णं अपच्छिममारणंतियं संलेहणाजूसणाजूसिए भत्तपाणं पडियाइक्खिया जाव कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो) हम तो अन्त समय में मरण काल आने पर संलेखना का सेवन करके भात पानी को त्याग कर दीर्घ काल की इच्छा न रखते हुए विचरेंगे । (सव्वं पाणाइवायं जाव सव्वं परिग्गहं तिविहं तिविहेणं पच्चक्खाइस्सामो मा खलु ममट्ठाए किंचिवि जाव) उस समय हम तीनों करण और तीनों योगों से समस्त प्राणातिपात आदि और समस्त परिग्रहों का त्याग करेंगे और मेरे लिये कुछ करो मत और कराओ मत इस प्रकार हम प्रत्याख्यान करेंगे ।

भावार्थ—करने में तथा अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा आदि तिथियों में पूर्ण पौषध व्रत को पालन करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं कि हम मरण समय में संथारा और संलेखना को धारण करके उत्तम गुण युक्त होकर भात पानी का सर्वथा त्याग करेंगे तथा उस समय हम समस्त प्राणातिपात आदि आश्रवों को तीन करण और तीन योगों से त्याग करेंगे । ऐसी प्रतिज्ञा करने के पश्चात् वे श्रावक इसी रीति से जब

याओ पच्चोरुहित्ता एते तहा कालगया, किं वत्तव्वं सिया सम्मं कालगयत्ति ?, वत्तव्वं सिया, ते पाणावि वुच्चंति जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।

छाया—रुह्य एते कालगताः किं वक्तव्यं स्यात् ? सम्यक् कालगता इति वक्तव्यं स्यात् ते प्राणा अप्युच्यन्ते यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—(आसदीपेढियाओ पच्चारुहित्ता एते तहाकालगया किं वत्तव्वं सिया सम्म कालगया इति वत्तव्वं सिया) इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वे श्रावक अपने आसन से उतर कर जब काल को प्राप्त करते हैं तब उनके काल के विषय में क्या कहना होगा यही कहना होगा कि इन्होंने अच्छी रीति से काल की प्राप्ति की है (ते पाणा वि वुच्चन्ति जाव अयमवि भेदे से णो णेयाउए भवइ) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं और इनकी हिंसा से श्रावक निवृत्त है इसलिये श्रावक के व्रत को निर्विषय बताना न्याय सगत नहीं है ।

भावार्थ—मृत्यु को प्राप्त करते हैं तब उनकी गति के विषय में यही कहना होगा कि वे उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं । वे अवश्य किसी देवलोक मे उत्पन्न हुए हैं । वे श्रावक देवता होने के कारण यद्यपि किसी मनुष्य के द्वारा मारे जाने योग्य तो नहीं हैं तथापि वे त्रस तो कहलाते ही हैं अत जिसने त्रस जीवों के घात का त्याग किया है उसके त्याग के विषय तो वे देव होते ही हैं अत त्रस के अभाव के कारण श्रावक के प्रत्याख्यान को निराधार बताना न्याय सगत नहीं है यह श्री गोतम स्वामी का आशय है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—महइच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडियाणंदा

छाया—भगवांश्चोदाह—सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति तद्यथा महेच्छाः महारम्भाः महापरिग्रहाः अधार्मिकाः यावद् दुष्प्रत्यानन्दा यावत्स-

अन्वयार्थ—(भगव च णं उदाहु) भगवान-गोतम स्वामी कहते हैं कि – (सतेगइया मणुस्सा भवंति) इस ससार में कोई ऐसे मनुष्य होते हैं (महइच्छा महारमा महापरिग्गहा

भावार्थ—श्री गोतम स्वामी कहते हैं कि—इस जगत् मे बहुत से मनुष्य महा इच्छा वाले महारम्भी महापरिग्रही और अधार्मिक होते हैं । वे कितना

जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, तओ भुज्जो सगमादाए दुग्गइगामिणो भवंति ते पाणावि वुच्चंति ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते चिरट्ठि

छाया—सर्वेभ्यः परिग्रहेभ्योऽप्रतिविरताः यावज्जीवनम् । येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्तं दण्डः निक्षिप्तो भवति । ते ततः आयुः विप्रजहति ततो भूयः स्वकमादाय दुर्गतिगामिनो भवन्ति ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते ते महाकायास्ते चिरस्थितिका ते

अन्वयार्थ—(महेच्छा जाव दुप्पडियाणंदा) जो महान् इच्छा वाले महान् आरम्भ करने वाले, महान् परिग्रह रखने वाले अधार्मिक तथा बड़ी कठिनाई से प्रसन्न करने योग्य होते हैं। (जाव सव्वाओ परिग्गहाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया) वे जीवन भर सब प्रकार के परिग्रहों से निवृत्त नहीं होते हैं। (जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते) इन प्राणियों का वध श्रमणोपासक व्रतग्रहण के समय से मरण पर्य्यन्त त्याग करता है। (ते तओ आउगं विप्पजहंति तओ भुज्जो सगमादाए दुग्गइगामिणो भवंति) वे पूर्वोक्त पुरुष काल के समय अपनी आयु को छोड़ देते हैं और अपने पाप कर्म को अपने साथ लेकर दुर्गति को प्राप्त करते हैं। (ते पाणावि वुच्चंति तसावि वुच्चंति) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। (ते महाकाया ते चिरट्ठिइया) वे बड़े शरीर वाले और बहुत काल तक की स्थिति वाले होते हैं (ते बहुयरगा) और वे संख्या में बहुत हैं (आयाणसो) इन प्राणियों को श्रावक ने व्रत ग्रहण के समय से मरण तक न मारने की

भावार्थ—ही समझाने पर भी नहीं समझते। वे सावद्य कर्मों से जीवन भर निवृत्त नहीं होते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। प्रत्याख्यानी श्रावक व्रत ग्रहण के समय से लेकर मरणपर्यन्त इन प्राणियों के घात के त्यागी होते हैं। वे प्राणी काल के समय मृत्यु को प्राप्त करके अपने पाप कर्म के कारण नरक गति को प्राप्त करते हैं। वे उस नरक में चिरकाल तक निवास करते हैं इन प्राणियों को मारने का श्रावक ने त्याग किया है इसलिये श्रावक का प्रत्याख्यान सविषय है निर्विषय नहीं है अतः आप लोग त्रस प्राणी के अभाव के कारण जो

इया ते वहुयरगा आयाणसो, इति से महयाओ णं जणणं तुब्भे वदह तं चेव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

छाया—वहुतरकाः आदानशः इति स महतः येषु यूयं वदथ तच्चैव अयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

अन्वयार्थ—प्रतिज्ञा की है (से महयाओ) इसलिये वे श्रावक प्राणियों की महान् संख्या को दंड देने से विरत है (जण्णं तुब्भे वयह तंचेव अयपि भेदे से णो णेयाउए भवइ) अत आप लोग जो श्रावक के व्रत को निर्विषय वतला रहे हैं यह आपका मत न्याय संगत नहीं है।

भावार्थ—श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय वतला रहे हैं यह न्यायसंगत नहीं है।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो

छाया—भगवांश्चोदाह—सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति तद्यथा अनारम्भा अपरिग्रहाः धार्मिकाः धर्मानुज्ञाः यावत् सर्वेभ्यः परिग्रहेभ्यः परिविरताः यावज्जीवनं येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्तं

अन्वयार्थ—भगवच ण उदाहु) भगवान् गौतम स्वामी कहते हैं कि—(सतेगइया मणुस्सा भवति तजहा अणारभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया) इस जगत् में ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो आरम्भ नहीं करते हैं परिग्रह नहीं ग्रहण करते हैं धर्म का आचरण करते हैं और दूसरे को धर्म आचरण करने की अनुज्ञा देते हैं। (जाव सव्वाओ परिग्गहाओ जावज्जीवाए पडिविरता) वे सव प्रकार के प्राणातिपात से लेकर सब परिग्रहों से जीवन पर्य्यन्त निवृत्त रहते हैं। (समणोवासगस्स जेहिं आयाणसो आमरणाताए दडे निक्खित्ते) उन प्राणियों को दण्ड देने का

भावार्थ—भगवान् गोतम स्वामी कहते हैं कि—इस जगत् में वहुत से मनुष्य आरम्भ वर्जित परिग्रह रहित धर्मोचरणशील और धर्म के पक्षपाती होते हैं। वे मरण पर्य्यन्त सब प्रकार के परिग्रहों से निवृत्त रहते हुए काल के अवसर में मृत्यु को प्राप्त करके उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। वे

आमरणंताए दण्डे णिक्खित्ते ते तम्रो आउगं विप्पजहंति ते तओ भुज्जो सगमादाए सग्गइगामिणो भवंति, ते पाणावि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ ।

छाया—दण्डः निक्षिप्तः ते ततः आयुः विप्रजहति ते ततो भूयः स्वकमादाय सद्‌गतिगामिनो भवन्ति ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते यावन्नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—श्रावक व्रत ग्रहण के दिन से मरण पर्यन्त के लिये त्याग करता है। (ते तओ आउगं विप्पजहंति) वे पूर्वोक्त धार्मिक पुरुष काल आने पर अपनी आयु का त्याग करते हैं (भुज्जो सगमादाए सग्गइगामिणो भवंति) और वे फिर अपने पुण्य कर्म को साथ लेकर अच्छी गति में जाते हैं (ते पाणावि वुच्चंति तसावि वुच्चंति) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं (जाव णो णेयाउए भवइ) वे प्राणी चिरकाल तक स्वर्ग में निवास करते हैं जिन्हें श्रावक दण्ड नहीं देता है इस लिये त्रस के अभाव के कारण श्रावक के व्रत को निर्विषय बताना न्याय युक्त नहीं है ।

भावार्थ—प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं उन प्राणियों को श्रावक व्रत ग्रहण के दिन से लेकर मृत्युपर्य्यन्त दण्ड नहीं देता है इसलिये श्रावक का व्रत सविषय है निर्विषय नहीं है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव एग

छाया—भगवांश्चोदाह—सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति तद्यथा—अल्पेच्छा अल्पारम्भाः अल्पपरिग्रहाः धार्मिकाः धर्मानुगाः यावदेकतः परिग्रहाद्

अन्वयार्थ—(भगवं च णं उदाहु) भगवान् गौतम स्वामी ने कहा कि—(संतेगइया मणुस्सा भवंति) इस जगत् में कोई ऐसे भी मनुष्य होते हैं (अप्पिच्छा अप्पारंभा) जो अल्प इच्छावाले अल्प आरम्भ करनेवाले (अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया) अल्प परिग्रह रखनेवाले धार्मिक और धर्म की अनुज्ञा देनेवाले (जाव एगच्चाओ

ञ्चाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, ततो भुज्जो सगमादाए सग्गइगामिणो भवंति, ते पाणावि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ ॥

छाया—प्रतिविरताः येषु श्रमणोपासकस्य आदानतः आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्तः ते ततः आयुः विप्रजहति ततो भूयः स्वकमादाय स्वर्गतिगामिनो भवन्ति। ते प्राणा अप्युच्यन्ते त्रसा अपि यावन्नो नैयायिको भवति।

अन्वयार्थ—परिग्गहाओ अप्पडिविरया) वे किसी प्राणातिपातसे विरत और किसी से अविरत एवं परिग्रह पर्य्यन्त सभी आश्रवों में किसी से विरत और किसी से अविरत होते हैं। (जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणाताए दंडे निक्खित्ते) उन्हें व्रत ग्रहण के दिन से लेकर मरण पर्य्यन्त दण्ड देने का श्रावक त्याग करता है। (ते तओ आउय विप्पजहंति) वे अपनी उस आयु का त्याग करते हैं (ततो भुज्जो सगमादाए सग्गइगामिणो भवति) और अपने पुण्य कर्म को लेकर अच्छी गति को प्राप्त करते हैं (ते पाणावि वुच्चति जाव णो णेयाउए भवइ) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रसभी कहलाते हैं अत श्रावक के व्रत को निर्विषय बताना न्यायसङ्गत नहीं है।

भावार्थ—स्पष्ट है।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुई रहस्सिया, जेहिं

छाया—भगवांश्चोदाह—सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति तद्यथा आरण्यकाः आवसथकाः ग्रामनिमन्त्रिकाः क्वचिद्राहसिकाः येषु श्रमणोपासकस्य

अन्वयार्थ—(भगवं च ण उदाहु) भगवान् गोतम स्वामी ने कहा कि (संतेगतिया मणुस्सा भवति) इस जगत् में ऐसे भी मनुष्य होते हैं (तंजहा—आरण्णिया आवसहिया गामणिमंतिया कण्हुइ रहस्सिया) जो जगंल में निवास करते हैं, झोपड़ी

भावार्थ—भगवान् गोतम स्वामी कहते हैं कि—इस जगत् मे कोई मनुष्य वन में निवास करते हैं और कन्द मूलफल आदि खाकर अपना जीवन व्यतीत

समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दण्डे णिक्खित्ते भवइ, णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया पाणभूयजीवसत्तेहिं, अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति—अहं ण हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, जाव कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किव्विसियाइं

छाया—आदानशः आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तो भवति नो बहुसंयताः नो बहुप्रतिविरताः, प्राणिभूतजीवसत्त्वेभ्य आत्मना सत्यानि मृषा एवं विप्रतिवेदयन्ति अहं न हन्तव्योऽन्ये हन्तव्याः यावत् कालमासे

अन्वयार्थ—बनाकर रहते हैं तथा ग्राम में आकर निमन्त्रण भोजन करते हैं कोई किसी गुप्त विषय को जानने वाले होते हैं (णो हि समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दण्डे णिक्खित्ते भवति) उनसे श्रमणोपासक अच्छा है क्योंकि वह केवल मरण पर्य्यन्त दण्ड देने का त्याग करता है। (ते णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया) वे संयमी नहीं हैं वे सर्व सावद्य कर्मों से निवृत्त नहीं हैं। (ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति) वे अपने मनसे कल्पना करके सत्य झूठी बात लोगों को इस प्रकार कहा करते हैं (अहं ण हतव्वो अन्ने हंतव्वा) मुझको नहीं मारना चाहिये दूसरे को मारना चाहिये (जाव कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किव्विसियाइं उववत्तारो भवंति) वे काल आने पर मृत्यु को

भावार्थ—करते हैं और कोई झोंपड़ी बना कर निवास करते हैं तथा कोई ग्राम में निमन्त्रण खाकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। ये लोग अपने को मोक्ष का आराधक बतलाते हैं परन्तु ये मोक्ष के आराधक नहीं हैं ये अहिंसा का पालन करने वाले नहीं हैं। इन्हें जीव और अजीव का विवेक भी नहीं है। ये लोग कुछ सच्ची और कुछ झूठी बातों का उपदेश लोगों को दिया करते हैं। ये कहते हैं कि—"हम तो अवध्य हैं परन्तु दूसरे प्राणी अवध्य नहीं हैं हमें आज्ञा न देनी चाहिये परन्तु दूसरे प्राणियों को आज्ञा देनी चाहिये हमें दास आदि बनाकर नहीं रखना चाहिये परन्तु दूसरों को रखना चाहिये इत्यादि"। इस प्रकार उपदेश देने वाले ये लोग स्त्री भोग तथा सांसारिक दूसरे विषयों में भी अत्यन्त आसक्त रहते हैं। ये लोग अपनी आयुभर सांसारिक विषय भोगों को भोगकर मृत्यु को प्राप्त करके अपनी अज्ञान तपस्या के प्रभाव से अधम देवयोनि में उत्पन्न होते हैं। अथवा प्राणियों के घात का उपदेश देने के कारण ये लोग मिथ्यान्धकारयुक्त अति दुस्तर नरकों में जाते हैं। ये

जाव उववत्तारो भवंति, तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमुयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति ते पाणावि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ ।

छाया—कालं कृत्वा उपपत्तारो भवन्ति । ततो विप्रमुच्यमानाः भूयः एल मूकत्वाय तमोरूपत्वाय प्रत्यायान्ति । ते प्राणा अप्युच्यन्ते त्रसा अप्युच्यन्ते यावन्नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—प्राप्त करके असुर संज्ञक किल्विषी देवता होते हैं (तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूलत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायति) वे वहा से मुक्त होकर फिर बकरे की तरह गूँगा और तामसी होते हैं (ते पाणावि वुच्चति) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं (णो णेयाउए भवइ) इसलिये श्रावकों के व्रतको निर्विषय बताना न्यायसर्गत नहीं है ।

भावार्थ—लोग चाहे देवता हों या नारकी हों दोनों ही हालत में त्रसपने को नहीं छोड़ते हैं अत. श्रावक इनको न मार कर अपने व्रत को सफल करता है । यद्यपि इनको मारना द्रव्यरूप से सम्भव नहीं है तथापि भाव से इनको मारना सम्भव है अत श्रावक का व्रत निर्विषय नहीं है । ये लोग स्वर्ग तथा नरक के भोग को समाप्त करके फिर इस लोक मे अन्धे, बहरे और गूँगे होते हैं अथवा तिर्य्यञ्चों मे जन्म ग्रहण करते हैं दोनों ही अवस्थाओं मे ये त्रस ही कहलाते हैं इसलिये त्रस प्राणी को न मारने का व्रत जो श्रावक ने ग्रहण किया है उसके अनुसार ये श्रावकों के द्वारा अवध्य होते हैं अत· श्रावकों के व्रत को निर्विषय बताना मिथ्या है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा समाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ

छाया—भगवांश्चोदाह—सन्त्येकतये प्राणिनो दीर्घायुषः येषु श्रमणोपासकस्य अदानशः आमरणान्ताय दण्डः निक्षिप्तो भवति । ते

अन्वयार्थ—(भगवचण उदाहु) भगवान् श्री गोतम स्वामी ने कहा कि—(सतेगइया पाणा दीहाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणाताए दंडे निक्खित्ते भवइ) इस जगत में बहुत से प्राणी चिरकाल तक जीने वाले हैं जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्या-

ते पुव्वामेव कालं करेंति करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणावि वुच्चति ते तसावि वुच्चति ते महाकाया ते चिरट्ठिइया ते दीहाउया ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ जाव णो णेयाउए भवइ ।

छाया—पूर्वमेव कालं कुर्वन्ति कृत्वा पारलौकिकत्वाय प्रत्यायान्ति । ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते ते महाकायास्ते चिरस्थितिका ते दीर्घायुषः ते बहुतरका येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्या न भवति । यावन्नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है और वे व्रतग्रहण के दिन से लेकर मरणपर्यन्त उन्हें दण्ड नहीं देते हैं । (ते पुव्वामेव कालं करेंति करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति) वे प्राणी पहले ही काल को प्राप्त होकर परलोक में जाते हैं (ते पाणावि वुच्चंति तसावि वुच्चंति) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं (ते महाकाया ते चिरट्ठिइया दीहाउया ते बहुयरगा) वे महान् शरीर वाले तथा चिरकाल की स्थिति वाले और दीर्घ आयु वाले एवं बहुत संख्या वाले हैं (जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ) इसलिये श्रमणोपासक का व्रत उनकी अपेक्षा से सुप्रत्याख्यान होता है (जाव णो णेयाउए भवइ) अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना उचित नहीं है ।

भावार्थ—सुगम है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा समाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते

छाया—भगवांश्चोदाह सन्त्येकतये प्राणिनः समायुषः येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्ताय यावत् दण्डः निक्षिप्तो भवति । ते स्वय

अन्वयार्थ—(भगवं च णं उदाहु) भगवान् श्री गौतम स्वामी ने कहा कि—(संतेगइया समाउया पाणा संति जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ) कोई प्राणी समान आयु वाले होते हैं जिनको श्रमणोपासक व्रतग्रहण के दिन से

भवइ ते सयमेव कालं करेंति करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति ते पाणावि वुच्चंति तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते समाउया ते बहुयरगा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ जाव णो णेयाउए भवइ ।

छाया—मेव कालं कुर्वन्ति कृत्वा पारलौकिकत्वाय प्रत्यायान्ति ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते ते महाकायास्ते समायुषः ते वहुतरकाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति यावन्नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—लेकर मरण पर्य्यन्त दण्ड देना वर्जित करता है (ते सयमेव कालं करेंति करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति) वे प्राणी स्वयमेव काल को प्राप्त होते हैं और प्राप्त होकर परलोक में जाते हैं (ते पाणावि वुच्चति तसावि वुच्चति) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं (ते महाकाया ते समाउया ते बहुयरगा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खाय भवइ) वे महान् शरीर वाले और समान आयुवाले तथा वहुत संख्या वाले है अतः उनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सविषयक होता है। (जाव णो णेयाउए भवइ) अत. श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना उचित नहीं है ।

भावार्थ—सुगम है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा अप्पाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते

छाया—भगवांश्चोदाह सन्त्येकतये प्राणिनोऽल्पायुषो येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय यावद् दण्डः निक्षिप्तो भवति । ते पूर्वं

अन्वयार्थ—(भगवंचणं उदाहु) भगवान श्री गौतम स्वामी ने कहा कि—(एगइया अप्पाउया पाणा सति जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते भवति)

भावार्थ—इस जगत् में वहुत से त्रस प्राणी अल्प आयु वाले होते हैं वे जब तक जीते रहते हैं तब तक प्रत्याख्यानी श्रावक उन्हें नहीं मारता है और फिर वे मर कर जब त्रस योनि में उत्पन्न होते हैं उस समय भी श्रावक उन्हें नहीं मारता है इसलिये श्रावक का प्रत्याख्यान सविषयक है निर्विषयक नहीं है अत.

भवइ, ते पुव्वामेव कालं करेंति करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणावि वुच्चंति ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते अप्पाउया ते बहुयरगा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, जाव णो णेयाउए भवइ ।

छाया—मेव कालं कुर्वन्ति कृत्वा पारलौकिकत्वाय प्रत्यायान्ति ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते ते महाकायास्ते अल्पायुषस्ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति । यावन्नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—कोई अल्प आयु वाले प्राणी होते हैं जिनको श्रमणोपासक व्रत ग्रहण के दिन से लेकर मरण पर्य्यन्त दण्ड देने का त्याग करता है । (ते पुव्वामेव कालं करेंति करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति) वे पहिले ही काल को प्राप्त करके परलोक में जाते हैं । (ते पाणावि वुच्चंति ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते अप्पाउया ते बहुयरगा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ) वे प्राणी भी कहलाते हैं और वे त्रस भी कहलाते हैं वे महान् शरीरवाले तथा अल्प आयुवाले और वे बहुत हैं जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है । (जाव णो णेयाउए भवइ) अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याय संगत नहीं है ।

भावार्थ—त्रस के अभाव के कारण श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याय संगत नहीं है ।

भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता जाव

छाया—भगवांश्चोदाह सन्त्येकतये श्रमणोपासकाः भवन्ति तेषाञ्चैवमुक्तपूर्वं भवति न खलु वयं शक्नुमो मुण्डा भूत्वा यावत् प्रव्रजितु न खलु

अन्वयार्थ—(भगवं च णं उदाहु) भगवान् श्री गौतमस्वामी ने कहा कि—(संतेगइया समणोवासगा भवंति) कोई श्रमणोपासक होते हैं (तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ)

भावार्थ—श्री गौतम स्वामी अब दूसरे प्रकार से श्रावक के प्रत्याख्यान को सविषयक होना सिद्ध करते हैं । कोई श्रावक देशावकाशिक व्रत को स्वीकार

पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालित्तए, णो खलु वयं संचाएमो अपच्छिमं जाव विहरित्तए, वयं च णं सामाइयं देसावगासियं पुरत्था पाईणं वा पडिणं वा दाहिणं वा उदीणं वा एतावता जाव सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि, तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणो-

छाया—वयं शक्नुमश्चतुर्दश्यष्टमीपूर्णिमासु परिपूर्णं पौषधमनुपालयितुं, न खलु वयं शक्नुमोऽपश्चिमं यावद् विहर्तुं, वयञ्च सामायिकं देशावकाशिकं प्रातरेव प्राचीनं प्रतीचीनं दक्षिणस्यामुदीच्याम् एतावद् सर्वप्राणेषु यावत्सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्तः सर्वप्राणभूतजीव सत्त्वानां क्षेमङ्करोऽहमस्मि । तत्र आराद् ये त्रसाः प्राणाः येषु

अन्वयार्थ—वे इस प्रकार कहते हैं कि—(वयं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइत्तए न खलु सचाएमो) हम मुण्डित होकर दीक्षा पालन करने में समर्थ नहीं हैं । (वय चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णं पोसह अणुपालित्तए न सचाएमो) तथा चतुर्दशी अष्टमी और पूर्णिमा के दिन परिपूर्ण पौषध पालन करने के लिये भी समर्थ नहीं हैं । (वय अपच्छिम जाव विहरित्तए णो खलु सचाएमो) एव हम मरणकाल में सथारा ग्रहण करने में भी समर्थ नहीं हैं । (वय च ण समाइय देसावगासियं पुरत्था पाईणं वा पडीणं वा दाहिण वा उदीण वा एतावता जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते) अत हम सामायक, समय के प्रमाण से देशावकाशिक व्रत धारण करेंगे । इस प्रकार हम प्रतिदिन प्रात काल में पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशाओं में देश की मर्य्यादा स्वीकार करके उस मर्य्यादा से बाहर के प्राणियों को दण्ड देना छोड देंगे (अह सव्वपाणभूतजीवसत्तेहि खेमंकरे असि) हम सम्पूर्ण प्राणी भूत जीव और सत्त्वों का क्षेम करने वाले होंगे । (तत्थ आरेण जे

भावार्थ—करके धर्म का आचरण करते हैं । जिस श्रावक ने पहले सौ योजन की मर्य्यादा कायम करके दिग्व्रत ग्रहण किया है वह प्रतिदिन अपनी मर्य्यादा को घटाता हुआ जो योजन, गव्यूति (२ कोश) ग्राम और गृह की मर्य्यादा करता है उसे देशावकाशिक व्रत कहते हैं । इस व्रत को ग्रहण करने वाला श्रावक प्रतिदिन प्रात' काल मे इस प्रकार प्रत्याख्यान करता है कि—"मैं आज पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण

वासगस्स आयाणसो आमरणताए दंडे निक्खित्ते तओ आउयं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव तेसु पच्चायंति जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति। ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से० ॥ (सूत्रं ७९) ॥

छाया—श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तः तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र आराद् ये त्रसाः प्राणाः तेषु प्रत्यायान्ति येषु श्रमणोपासकस्य सु प्रत्याख्यानं भवति ते प्राणा अपि यावद् अयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति ॥७९॥

अन्वयार्थ—(तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणताए दंडे निक्खित्ते तओ आउयं विप्पजहंति विप्पजहित्ता आरेणं जे तसा पाणा तेसु पच्चायंति) व्रत ग्रहण के समय ग्रहण की हुई मर्य्यादा से बाहर रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं जिनको श्रावक ने व्रत ग्रहण के समय से लेकर मरणपर्य्यन्त दण्ड देना त्याग दिया है वे प्राणी अपनी आयु को छोड़ कर श्रावक द्वारा ग्रहणकी हुई मर्यादा के बाहर के देशों में जब त्रस रूप में उत्पन्न होते हैं (जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ) तब श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान उनमें सुप्रत्याख्यान होता है (ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं अतः श्रावकों के व्रत को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है ॥७९॥

भावार्थ—दिशाओं में इतने कोस या इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा"। इस प्रकार वह श्रावक प्रति दिन अपने गमनागमन की मर्य्यादा स्थापित करता है। उस श्रावक ने गमनागमन के लिये जितनी मर्य्यादा स्थापित की है उस मर्य्यादा से बाहर रहने वाले प्राणियों को दण्ड देना वह वर्जित करता है। वह श्रावक अपने मन में यह निश्चय करता है कि "मैं ग्रहण की हुई मर्यादा से बाहर रहने वाले प्राणियों को दण्ड देना वर्जित करता हूँ इसलिये मैं उन प्राणियों की रक्षा करने वाला हूँ"। वे प्राणी जब तक जीते रहते हैं तब तक श्रावक उनकी रक्षा करता है और वे मर कर फिर यदि उस मर्यादा से बाहर के प्रदेशों में ही उत्पन्न होते हैं तो श्रावक उन्हें दण्ड देना पुनः वर्जित करता है इसलिए श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याय संगत नहीं है ॥ ७९ ॥

तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जाव थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते ते पाणावि वुच्चंति ते तसा ते चिरट्ठिइया जाव अयंपि भेदे से० ॥

छाया—तत्र आराद् ये त्रसाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तस्ते तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र आराच्चैव यावत्स्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्यार्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तः, अनर्थाय दण्डो निक्षिप्तस्तेषु प्रत्यायान्ति। तेषु श्रमणोपासकस्यार्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तः अनर्थाय दण्डोनिक्षिप्तः। ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते ते चिरस्थितिकाः यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

अन्वयार्थ—(तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणांताए दण्डे निक्खित्ते) वहां समीपदेश में रहने वाले जो त्रस प्राणी है जिनको दण्ड देना श्रावक ने व्रत ग्रहण के दिन से लेकर मरणपर्यन्त छोड़ दिया है (ते तओ आउं विप्पजहति विप्पजहित्ता तत्थ आरेण जे थावरा पाणा जेहिं अणट्ठाए दण्डे समणोवासगस्स णिक्खित्ते अट्ठाए अणिक्खित्ते तेसु पच्चायति) वे उस त्रस आयु को छोड़ देते हैं और छोड़ कर वहां के समीप देश में जो स्थावर प्राणी हैं जिनको श्रावक ने अनर्थ दण्ड देना वर्जित किया है परन्तु अर्थ दण्ड देना वर्जित नहीं किया है उनमें उत्पन्न होते हैं (ते पाणावि वुच्चति ते तसावि ते चिरट्ठितीया जाव अयपि भेदे णो णेयाउए) वे प्राणी भी कहलाते हैं और वे त्रस भी कहलाते हैं वे चिर काल तक स्थित रहते हैं उन्हें श्रावक दण्ड नहीं देता है इस लिये श्रावक के व्रत को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

तत्थ जे आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए• तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसा थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अयाणसो आमरणंताए• तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खाय भवइ, ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से• ॥

छाया—तत्र ये आरात् त्रसाः प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तः ते तत आयुः विप्रजहति, विप्रहाय तत्र परेण ये त्रसा स्थावराश्च प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तस्तेषु प्रत्यायान्ति तेषु श्रमणोपास कस्य सुप्रत्याख्यानं भवति । ते प्राणा अपि यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—(तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दण्डे निक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसा थावरा य पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते तेसु पच्चायंति) जहाँ समीप देश में रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं जिनको श्रावक ने व्रत ग्रहण के दिन से लेकर मरणपर्य्यन्त दण्ड देना त्याग दिया है वे अपनी उस आयु को त्याग कर उस देश से दूरवर्ती देश में रहने वाले जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं जिनको दण्ड देना श्रावक ने व्रत ग्रहण के दिन से मरणपर्य्यन्त छोड़ दिया है उनमें उत्पन्न होते हैं (तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ) उन प्राणियों में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान चरितार्थ होता है (ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते उन्हें श्रावक दण्ड नहीं देता है अतः श्रावकों के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायपुक्त नहीं है।

तत्थ जे आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए

छाया—तत्र आरात् ये स्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय

अन्वयार्थ—(तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते) जहाँ समीप देश में जो स्थावर प्राणी हैं जिनको श्रमणोपासक ने प्रयोजनवश दण्ड देना वर्जित नहीं किया है परन्तु बिना प्रयोजन के

दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए निक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो० ॥

छाया—दण्डोऽनिक्षिप्तः अनर्थाय दण्डो निक्षिप्तः ते तदायुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र आराच्चैव ये त्रसाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमारणान्ताय दण्डो निक्षिप्तस्तेषुप्रत्यायान्ति तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति। ते प्राणा अपि यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

अन्वयार्थ—दण्ड देना वर्जित किया है (ते तओ आउं विप्पजहति विप्पजहित्ता तत्थ आरेण जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणताए दंडे निक्खित्ते तेसु पच्चायंति) वे उस आयु को त्याग कर वहां समीप देश में जो त्रस प्राणी हैं जिनको श्रमणोपासक ने व्रत ग्रहण के दिन से लेकर मरणपर्य्यन्त दण्ड देना वर्जित किया है उनमें आकर उत्पन्न होते हैं। (तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खाय भवति) उनमें श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है (ते पाणावि जाव अयमवि भेदे से णो०) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं अतः त्रस के अभाव के कारण श्रावकों के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याययुक्त नहीं है।

तत्थ जे ते आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा

छाया—तत्र ये ते आराद् ये स्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तोऽनर्थाय निक्षिप्तः ते तदायुः विप्रजहति विप्रहाय ते तत्र आराच्चैव ये स्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय

अन्वयार्थ—(तत्थ जेते आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते) वहां, वे जो समीपवर्ती स्थावर प्राणी हैं जिन्हें श्रावक ने प्रयोजन वश दण्ड देना तो नहीं छोड़ा है परन्तु बिना प्रयोजन दण्ड देना छोड़ दिया है (ते तओ आउं विप्पजहति विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेण चेव जे थावरा पाणा जेहिं

जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणट्ठाए ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो० ॥

छाया—दण्डोऽनिक्षिप्तोऽनर्थाय दण्डो निक्षिप्त स्तेषु प्रत्यायांति । तेषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तः अनर्थाय निक्षिप्तः । ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति) वे स्थावर प्राणी अपनी बस आयु को त्याग करके वहां जो समीपवर्ती स्थावर प्राणी हैं जिन्हें श्रावक ने प्रयोजन वश दण्ड देना तो नहीं छोड़ा है परन्तु बिना प्रयोजन दण्ड देना छोड़ दिया उनमें उत्पन्न होते हैं (तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणट्ठाए ते पाणावि जाव अयंपि भेदे णो णेयाए भवइ) उन्हें श्रमणोपासक प्रयोजनवश तो दण्ड देता है परन्तु बिना प्रयोजन नहीं देता है इसलिए श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याययुक्त नहीं है ।

तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तओ आउं विप्प जहंति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसथावरा पाणा जेहिं सम णोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति तेहिं

छाया—तत्र ये ते आरात् स्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दंडोऽनिक्षिप्तः अनर्थाय निक्षिप्त तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र परेण ये त्रसस्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दंडो निक्षिप्तः तेषु प्रत्यायांति तेषु श्रमणोपासकस्य

अन्वयार्थ—(तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा) वहां जो वे समीपवर्ती स्थावर प्राणी हैं (जेहिं समणो वासगस्स) जिनको श्रावक ने । (अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते) अर्थ दंड देना नहीं छोड़ा है किंतु (अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते) । अनर्थ दंड देना छोड़ दिया है (तओ आउं विप्पजहंति) वे उस शरीर की आयु को छोड़ देते हैं (विप्पजहित्ता) छोड़ कर (तत्थ परेणं जे तसथावरा) वहां से दूर देश में जो त्रस स्थावर प्राणी हैं (जेहिं समणोवासगस्स) जिनको श्रावक ने (आयाणसो आमरणंताए) व्रत ग्रहण के

समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥

छाया—सुप्रत्याख्यानं भवति । ते प्राणा अपि यावद् अयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—जिन से (दंडे णिक्खित्ते) मरण पर्य्यंत दण्ड देना वर्जित किया है (तेसु पच्चायंति) उनमें उत्पन्न होते हैं (जेहिं समणोवासगस्स) जिनमें श्रावक का (सुपच्चक्खायं भवइ) सुप्रत्याख्यान होता है (ते पाणावि जाव अयंपि भेदे) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं अतः श्रावक के व्रत को (से णो णेयाउए भवइ) निर्विषय कहना न्याय संगत नहीं है ।

तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्च-

छाया—तत्र ये ते परेण त्रसस्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तः ते तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र आराद् ये त्रसाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तः तेषु प्रत्यायान्ति तेषु श्रमणोपासकस्य

अन्वयार्थ—(तत्थ जे ते परेण तसथावरा पाणा) वहां जो त्रस और स्थावर प्राणी श्रावक के द्वारा ग्रहण किए हुए देश परिमाण से अन्य देश में उत्पन्न हैं (जेहिं आयाण सो) जिनको व्रतारम्भ से लेकर (समणो वासगस्स) श्रावक ने (आमरणताए दंडे निक्खित्ते) मरण पर्य्यंत दण्ड देना छोड दिया है (ते तओ आउ विप्पजहति) वे उस आयु को छोड़देते हैं (विप्पजहित्ता) और छोड़कर (तत्थ आरेण जे तसा पाणा) श्रावक के द्वारा ग्रहण किए हुए देश परिमाण में रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं (जेहिं समणो वासगस्स आयाणसो आमरणताए दंडे निक्खित्ते) जिनको श्रावक ने व्रतारम्भ से लेकर मरण पर्यन्त दण्ड देना छोड दिया है (तेसु पच्चायति) उनमें उत्पन्न होते हैं। (तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ) उनमें श्रावक का

क्खाय भवइ, ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥

छाया—सुमत्याख्यानं भवति ते प्राणा अपि यावत् अयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—सुप्रत्याख्यान होता है (ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ) वे प्राणी भी मरे जाते हैं और त्रस भी मरे जाते हैं इसलिये श्रावक के व्रत को निर्विषय बताना न्याय संगत नहीं है ।

तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति विप्प जहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति,

छाया—तत्र ये ते परेण त्रसस्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तः ते तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र आरात् ये स्थावराः प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डः अनिक्षिप्तः अनर्थाय निक्षिप्तः तेषु प्रत्यायान्ति, येषु श्रमणोपासकस्य

अन्वयार्थ—(तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए) वहाँ जो वे त्रस और स्थावर प्राणी श्रावक के द्वारा ग्रहण किए हुए देश परिमाण से अन्य देशों में हैं जिनको श्रावक ने व्रतारम्भ से लेकर मरणपर्यन्त दंड देना छोड़ दिया है (ते तओ आउं विप्पजहंति) वे उस आयु को छोड़ देते हैं (विप्प-जहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते) और छोड़कर वहाँ जो समीपवर्ती स्थावर प्राणी हैं जिनको श्रावक ने अर्थ दंड देना नहीं छोड़ा है किन्तु अनर्थ दंड देना छोड़ दिया है । (तेसु पच्चा-

जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते जाव ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो० ॥

छाया—अर्थाय अनिक्षिप्तः अनर्थाय निक्षिप्तः यावत् ते प्राणा अपि यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—यंति जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणिक्खित्ते अणट्ठाए निक्खित्ते) उनमें वे उत्पन्न होते हैं जिनको श्रावक अर्थ दण्ड देना नहीं छोडता है किन्तु अनर्थ दण्ड देना छोड देता है (ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं इसलिए श्रावक के व्रत को निर्विषय कहना न्याय सगत नहीं है ।

तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, जेहिं समणो-

छाया—तत्र ये ते परेण त्रसस्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दंडो निक्षिप्तः, ते तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय ते तत्र परेण चैव ये त्रसस्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दंडो निक्षिप्तस्तेषु प्रत्यायान्ति । येषु श्रमणो-

अन्वयार्थ—(तत्थ जे ते तसथावरा पाणा परेण जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणताए दण्डे णिक्खित्ते) उस समय जो त्रस और स्थावर प्राणी श्रावक के द्वारा ग्रहण किए हुए देश परिमाण से अन्य देशवर्ती हैं जिनको श्रावक ने व्रत ग्रहण से लेकर मरण पर्यन्त दण्ड देना छोड दिया है । (ते तओ आउ विप्पजहति विप्पजहित्ता ते तत्थ परेण चेव) वे उस आयु को छोड देते हैं, और छोडकर वे श्रावक के द्वारा ग्रहण किए हुए देश परिमाण से अन्य देशवर्ती (जे तसथावरापाणा जेहिं समणोवास्सगस्स आयाणसो आमरणाताए दण्डेणिक्खित्ते तेसु पचायति जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खाइय भवइ) जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं जिनको श्रावक ने व्रत ग्रहण से लेकर मरण पर्यन्त दण्ड देना छोड दिया है उनमें उत्पन्न होते हैं । जिनमें

सावगस्स सुपच्चक्खाय भवइ, ते पाणावि जाव अयपि भेदे से णो० ॥

छाया—श्रावकस्य सुप्रत्याख्यान भवति ते प्राणा अपि यावत् अयमपि भेद् स नो नैयायिको भवति ।

अन्वयार्थ—श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है । (ते पाणावि जाव) वे प्राणी भी त्रस कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं । (अयपि भेदे से णो णेयाउए भवइ) अतः श्रावक के व्रत को निर्विषय बताना न्याय संगत नहीं है ।

भगवं च णं उदाहु ण एतं भूयं ण एतं भव्वं ण एतं भविस्सति जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिहिंति थावरा पाणा भविस्सति, थावरा पाणावि वोच्छिज्जिहिंति तसा पाणा भविस्सति, अवोच्छिन्नेहिं तसथावरेहिं पाणेहिं जण्णं तुब्भे वा अन्नो वा एवं

छाया—भगवांश्च उदाह नैतद्भूतं नैतद् भाव्यं नैतद् भवति यत् त्रसाः प्राणा व्युच्छेत्स्यति स्थावरा भविष्यंति, स्थावरा अपि प्राणाः व्युच्छेत्स्यति त्रसाः प्राणाः भविष्यंति । अव्युच्छिन्नेषु त्रसस्थावरेषु

अन्वयार्थ—(भगवं च णं उदाहु) भगवान् गौतम स्वामी ने कहा कि—(ण एतं भूयं) ऐसा भूतकाल में यह नहीं हुआ । (ण एतं भव्वं) और अनागत अनन्तकाल में भी यह न होगा (ण एतं भवइ जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिस्संति थावरा पाणा भविस्संति) और वर्तमान में भी यह नहीं होता है जो त्रस प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जायँ और सबके सब स्थावर हो जायँ ? (थावरा पाणावि वोच्छिज्जिहिंति तसा पाणा भविस्संति) और स्थावर प्राणी भी सर्वथा उच्छिन्न हो जायँ और त्रस हो जायँ । (अवोच्छिन्नेहिं तसथावरेहिं) त्रस और स्थावर प्राणी के सर्वथा उच्छिन्न न होने पर (जण्णं तुब्भे अन्नो वा वयह) तुम लोग या दूसरे लोग

वदह-णत्थि णं से केइ परियाए जाव णो णेयाउए भवइ ॥ (सूत्रं ८०) ॥

छाया—प्राणेषु यद्यूयमन्योवा एवं वदथ "नास्ति स कोऽपि पर्य्यायः" यावन्नो नैयायिको भवति ॥८०॥

अन्वयार्थ—जो यह कहते हैं कि (णत्थि ण से केइ परियाए) वह "कोई पर्याय नहीं है जिसमे श्रावक का सुप्रत्याख्यान हो" इत्यादि (जाव णो णेयाउए भवइ) वह कथन न्याय संगत नहीं है ॥८०॥

भावार्थ—इस सूत्र के नो भागों की इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए। श्रावक ने जितने देश की मर्य्यादा ग्रहण की है उतने देश के अन्दर जो त्रस प्राणी निवास करते हैं वे जब मर कर उसी देश मे फिर त्रस योनि में उत्पन्न होते हैं। तब वे श्रावक के प्रत्याख्यान के विषय होते हैं अत. श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना ठीक नहीं हैं यह इस सूत्र के पहले भाग का आशय है। इस सूत्र के दूसरे भाग का तात्पर्य्य यह है कि—श्रावक ने जितने देश की मर्य्यादा ग्रहण की है उतने देश के अन्दर रहने वाले त्रस प्रणी त्रस शरीर को छोड़ कर उसी क्षेत्र मे जब स्थावर योनि मे जन्म ग्रहण करते हैं तब श्रावक उनको अनर्थ दंड देना वर्जित करता है इस प्रकार उसका प्रत्याख्यान सविपयक होता है निर्विपयक नहीं होता। तीसरे भाग का भाव यह है कि—श्रावक ने जितने देश की मर्य्यादा ग्रहण की है उसके अन्दर निवास करने वाले जो त्रस प्राणी हैं। वे जब उस मर्य्यादा से वाह्य देश मे त्रस और स्थावर योनि मे उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है।

इस सूत्र के चौथे भाग का भाव यह है कि—श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्य्यादा के अन्दर रहने वाले जो स्थावर प्राणी हैं वे मर कर उस मर्य्यादा के अन्दर जब त्रसयोनि मे उत्पन्न होते हैं तब उनमे श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है। इस सूत्र के पांचवे भाग का सार यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्य्यादा के अन्दर रहने वाले जो स्थावर प्राणी हैं वे मर कर जब उसी देश मे रहने वाले स्थावर जीवों मे उत्पन्न होते हैं तब उनको अनर्थ दण्ड देना श्रावक वर्जित करता है।

भावार्थ—इस सूत्र के छठे भाग का तात्पर्य्य यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्य्यादा से बाहर रहने वाले जो स्थावर प्राणी हैं वे जब उस मर्य्यादा के अन्दर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है।

इस सूत्र के सप्तम भाग का अभिप्राय यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्य्यादा से बाहर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणी जब उसी मर्य्यादा के अन्दर रहने वाले त्रस प्राणियों में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है।

इस सूत्र के आठवें भाग का भाव यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई देश मर्य्यादा से बाहर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणी जब उस मर्य्यादा के अन्दर रहने वाले स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं तब श्रावक उन्हें अनर्थ दंड देना वर्जित करता है।

इस सूत्र के नवम भाग का भाव यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्य्यादा से बाहर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणी जब मर्य्यादा से बाह्य देश में ही त्रस और स्थावर रूप में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है।

इसी प्रकार प्रथम भाग से लेकर नौ ही भाग की व्याख्या करनी चाहिए परन्तु जहाँ जहाँ त्रस प्राणियों का ग्रहण है वहां सर्वत्र व्रत ग्रहण के समय से लेकर मरण पर्य्यन्त उन प्राणियों को श्रावक दंड नहीं देता है यह तात्पर्य्य जानना चाहिए और जहाँ स्थावर का ग्रहण है वहाँ श्रावक के द्वारा उन्हें अनर्थ दंड वर्जित करना समझना चाहिए। शेष अक्षरों की योजना अपनी बुद्धि के अनुसार कर लेनी चाहिए। इस प्रकार बहुत दृष्टान्तों के द्वारा श्रावक के व्रत को सविषय होना सिद्ध करके अब भगवान गौतम स्वामी उदक के प्रश्न को ही अत्यन्त असङ्गत बतलाते हैं— भगवान् गौतम स्वामी 'उदक' से कहते हैं। कि हे उदक ! पहले व्यतीत हुए अनन्त काल में ऐसा कभी नहीं हुआ तथा अनागत अनन्त काल में ऐसा कभी नहीं होगा एवं वर्तमान काल में ऐसा नहीं हो सकता है कि सभी त्रस प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जायँ और सभी स्थावर शरीर में जन्म ग्रहण कर लें तथा ऐसा भी नहीं हुआ, न होगा और न है कि सभी स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जायँ

भावार्थ—और सभी त्रस योनि मे जन्म ग्रहण कर लें। यद्यपि कभी त्रस प्राणी स्थावर होते हैं और स्थावर प्राणी कभी त्रस होते हैं इस प्रकार इनका परस्पर संक्रमण होता अवश्य है परन्तु सब के सब त्रस स्थावर हो जायँ अथवा सभी स्थावर एक ही काल मे त्रस हो जाँय ऐसा कभी नहीं होता है। ऐसा त्रिकाल मे भी संभव नहीं है कि एक प्रत्याख्यान करने वाले श्रावक को छोड़ कर बाकी के नारक, द्वीन्द्रियादि, तिर्य्यञ्च तथा मनुष्य और देवताओं का सर्वथा अभाव हो जाय। उस दशा मे श्रावक का प्रत्याख्यान निर्विषय हो सकता है यदि प्रत्याख्यानी श्रावक की जीवन दशा मे ही सभी नारक आदि त्रस प्राणी उच्छिन्न हो जायं परन्तु पूर्वोक्त रीति से यह बात संभव नहीं है तथा स्थावर प्राणी अनन्त हैं अतः अनन्त होने के कारण असंख्येय त्रस प्राणियों मे उनकी उत्पत्ति भी संभव नहीं हैं यह बात अति प्रसिद्ध है। इस प्रकार जब कि त्रस और स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न नहीं होते तब आप अथवा दूसरे लोगों का यह कहना कि "इस जगत में ऐसा एक भी पर्य्याय नहीं है जिनमें श्रावक का एक त्रस के विषय मे भी दण्ड देना वर्जित किया जा सके "यह सर्वथा अयुक्त है॥ ८०॥



भगवं च णं उदाहु आउसंतो! उदगा जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासेइ मित्ति मन्नंति आगमित्ता णाणं आग-

छाया—भगवांश्च उदाह आयुष्मन् उदक यः खलु श्रमणं वा माहनं वा परिभाषते मैत्रीं मन्यमानः आगम्य ज्ञानम् आगम्य दर्शनम् आगम्य

अन्वयार्थ—(भगवं च णं उदाहु) भगवान् गोतम स्वामी ने कहा (आउसंतो उदगा) हे आयुष्मन् उदक! (जे खलु समणं वा माहणं वा) जो मनुष्य श्रमण या माहन की परिभासेइ) निन्दा करता है (से खलु मिति मन्नति) वह साधुओं के साथ

भावार्थ—भगवान् गोतम स्वामी कहते हैं कि हे आयुष्मन् उदक! जो पुरुष, साधुओं के साथ मैत्री रखता हुआ भी शास्त्रोक्त आचार पालन करने वाले श्रमण तथा उत्तम ब्रह्मचर्य्य से युक्त माहन की निन्दा करताहै तथा सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके कर्मों का विनाश करने के लिए प्रवृत्त है वह पुरुष लघुप्रकृति और पंडित न होता हुआ भी अपने को

मित्ता दंसणं आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ, जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासइ मित्तिं मन्नति आगमित्ता णाणं आगमित्ता दंसणं आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगविसुद्धीए चिट्ठइ, तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं

छाया—चारित्रम् पापानां कर्मणामकरणाय स खलु परलोकपरिमन्थाय तिष्ठति । य खलु श्रमणं वा माहनं वा न परिभाषते मैत्रीं मन्यमानः आगम्य ज्ञानम् आगम्य दर्शनम् आगम्य चारित्रं पापानां कर्मणामकरणाय स खलु परलोकविशुद्धया तिष्ठति ततेषं स उदक

अन्वयार्थ—मैत्री रखता हुआ भी । (णाणं दंसणं चरित्तं आगमित्ता) तथा ज्ञान दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके (पावाणं कम्माणं अकरणयाए परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठति) पाप कर्मों का विनाश करने के लिए प्रवृत्त होकर भी परलोक का विनाश करता है । (जे खलु समणं वा माहणं वा) जो पुरुष श्रमण या माहन की (णो परिभासेइ) निन्दा नहीं करता है (मित्तिं मन्नेति) किन्तु उनके साथ मैत्री रखता है तथा (णाणं दंसणं चरित्तं आगमित्ता पावाणं कम्माणं अकरणयाए) ज्ञान दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके पाप कर्मों का विनाश के लिए प्रवृत्त है (से खलु परलोगविसुद्धिए चिट्ठति) वह पुरुष निश्चय परलोक की विशुद्धि के लिए स्थित है । (तए णं से उदए पेढालपुत्ते) इसके पश्चात् उस उदक पेढाल पुत्र ने (भगवं गोयमं

भावार्थ—पंडित मानने वाला, सुगति स्वरूप परलोक तथा उसके कारण स्वरूप सत्संयम को अवश्य ही विनाश कर डालता है । परंतु जो पुरुष, महा-सत्त्वसम्पन्न और समुद्र के समान गंभीर है तथा श्रमण माहन की निन्दा न करता हुआ उनमें मैत्री रखता है एवं सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र को स्वीकार करके कर्मों का विनाश करने के लिए प्रवृत्त है वह पुरुष निश्चय ही पर लोक की विशुद्धि के लिए समर्थ होता है । इस प्रकार कह कर भगवान् गौतम स्वामी ने, पर निन्दा का त्याग और यथार्थ वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन के द्वारा अपनी उच्चता का परिहार किया है ।

इस प्रकार गौतम स्वामी के द्वारा यथावस्थित पदार्थ समझाया

अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूते तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए ॥

छाया—पेढालपुत्रः भगवन्तं गोतममनाद्रियमाणः यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतः तामेव दिशं प्रधारितवान् गमनाय ।

अन्वयार्थ—अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूते तामेव दिसिं गमणाए पहारेत्थ) भगवान् गोतम का आदर नहीं करता हुआ जिस दिशा से आया था । उसी दिशा में जाने के लिए निश्चय किया ।

भावार्थ—हुआ भी उदक पेढालपुत्र, भगवान् गोतम स्वामी को आदर नहीं देता हुआ जिस दिशा से आया था उसी दिशा में जाने के लिए तत्पर हुआ ।

भगवं च णं उदाहु आउसंतो उदगा ! जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहुमाए पडिले

छाया—भगवांश्च उदाह—आयुष्मन् उदक ! यः खलु तथाभूतस्य श्रमणस्य वा माहनस्य वा अन्तिके एकमपि आर्य्यं धार्मिकं सुवचनं श्रुत्वा निशम्य आत्मनश्चैव सूक्ष्मया प्रत्युपेक्ष्य अनुत्तरं योगक्षेमपदं लम्भितः

अन्वयार्थ—(भगवं च णं उदाहु आउसंतो उदगा) भगवान् गोतमस्वामी ने कहा कि हे आयुष्मन् उदक ! (जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म) जो पुरुष, तथाभूत श्रमण या माहन के निकट एक भी आर्य्य, धार्मिक सुवचन को सुनकर एवं समझ कर पश्चात् (अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तर जोगखेमपद लम्भिए समाणे सोवि तं आढाइ परिजाणेइ

भावार्थ—उदक का यह अभिप्राय जानकर भगवान् गोतम स्वामी ने कहा कि हे आयुष्मन् उदक ! जो पुरुष, तथाभूत श्रमण या माहन के निकट एक भी योगक्षेम पद को सुनता है वह उसका आदर सत्कार अवश्य करता है । जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसको प्राप्त करने के उपाय को 'योग' कहते हैं और जो प्राप्त है उसकी रक्षा के उपाय को 'क्षेम' कहते हैं जिसके द्वारा योग और क्षेम प्राप्त होते हैं उस अर्थ को बताने वाले पद को 'योगक्षेम पद' कहते हैं ऐसे योगक्षेमपद को उपदेश देने वाले का

छाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लभिए समाणे सोवि ताव तं आढाइ परिजाणेति वंदति नमंसति सक्कारेइ सम्माणेइ जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासति ॥

छाया—सोऽपि तावत् तमाद्रियते परिजानाति, वंदते नमस्करोति सत्करोति संमन्यते यावत् कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यं पर्युपास्ते।

अन्वयार्थ—वंदति नमंसति सक्कारेइ संमाणेइ कल्लाण मंगलं देवियं चेइयं पज्जुवासति) अपनी सूक्ष्म बुद्धि से यह विचार कर कि इन्होंने मुझको सर्वोत्तम कल्याण का मार्ग प्राप्त कराया है, उन्हें आदर देता है अपना उपकारी मानता है उन्हें वन्दना नमस्कार करता है सत्कार सम्मान करता है कल्याण मंगल स्वरूप और चैत्य की तरह उनकी उपासना करता है।

भावार्थ—उपकार मानना कृतज्ञों का परम कर्तव्य है इसलिए भगवान् गौतम स्वामी उदक को उपदेश करते हुए उक्त "योग क्षेम पद" का महत्त्व बतलाते हैं। भगवान् कहते हैं कि—यह योगक्षेम पद, आर्य अनुष्ठान के हेतु होने से आर्य है, यह धर्मानुष्ठान का कारण है इसलिए धार्मिक है यह सुगति का कारण है इसलिए सुवचन है। ऐसे योगक्षेम पद को सुनकर तथा समझ कर जो पुरुष अपनी सूक्ष्म बुद्धि से यह विचार करता है कि "इस श्रमण या माहन ने मुझको परम कल्याणमय योग क्षेम पद का उपदेश दिया है" वह, साधारण पुरुष होकर भी उस उपदेश दाता को आदर देता है, उसे अपना पूज्य समझता है तथा कल्याण मङ्गल और देवता की तरह उसकी उपासना करता है। यद्यपि वह पूजनीय पुरुष कुछ भी नहीं चाहता है तथापि कृतज्ञ पुरुष का यह कर्तव्य है कि उस परमोपकारी का यथाशक्ति आदर करे।

तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—

छाया—ततः स उदकः पेढालपुत्रः भगवन्तं गौतममेवमवादीत्। एतेषां

अन्वयार्थ—(तएणं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी) इसके पश्चात् उदक पेढाल पुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से कहा कि (भंते एएसिं पदाणं पुव्विं अणा-

भावार्थ—उदक पेढाल पुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से कहा कि हे भगवन्! पहले

एतेसिं णं भंते ! पदाणं पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुयाणं अविन्नायाणं अव्वोगडाणं अणिगूढाणं अविच्छिन्नाणं अणिसिट्ठाणं अणिवूढाणं अणुवहारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहियं णो पत्तियं णो रोइयं, एतेसिं णं भंते ! पदाणं एण्हिं जाणयाए सवणयाए बोहिए जाव उवहारणयाए एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेव से जहेयं तुब्भे वदह ॥

छाया—भदन्त ! पदानां पूर्वमज्ञानाद् अश्रवणतयाऽबोध्याऽनभिगमेन अदृष्टानामश्रुतानामस्मृतानामविज्ञातानामनिर्गूढानामविच्छिन्नानामनिसृष्टानामनिर्व्यूढानामनुपधारितानामेषोऽर्थो न श्रद्धितः न प्रतीतः न रोचितः एतेषां भदंत ! पदानामिदानीं ज्ञाततया श्रवणतया बोध्या यावदुपधारणतया एतमर्थं श्रद्धामि प्रत्येमि रोचयामि एवमेव तद्यथा यूयं वदथ ।

अन्वयार्थ—(णयाए असवणयाए अबोहिए) हे भदंत ! मैंने इन पदों को पहले कभी नहीं जाना है, न सुना है न समझा है (अनभिगमेण अदिट्ठाणं असुयाण अविन्नायाण अमुयाण) न इनको हृदयंगम किया है इसलिए ये पद मेरे, द्वारा अदृष्ट यानी नहीं देखे हुए तथा नहीं सुने हुए हैं ये पद मेरे द्वारा अविज्ञात अर्थात् नहीं जाने हुए और स्मरण नहीं किए हुए हैं। (अव्वोगडाण अणिगूढाण अविच्छिन्नाण अणिवूढाण अणुवहारियाण) मैंने गुरुमुख से इनको नहीं प्राप्त किया है। ये पद मेरे लिए प्रकट नहीं हैं ये पद, मेरे द्वारा संशय रहित ज्ञात नही हैं, इनका निर्वाह मैंने नहीं किया है, इनका मैंने अवधारण यानी हृदय में निश्चय नहीं किया है। (एयमट्ठ णो सद्दहियं णो पत्तियं णो रोइय) इसलिए इन पदों में मैंने श्रद्धान नहीं किया है, विश्वास नहीं किया है तथा रुचि नहीं की है। (भंते ! एतेसिं णं पदाण एण्हि जाणयाए सवणत्ताए बोहिए जाव उवहारणयाए) हे भदंत ! इन पदों को मैंने अभी जाना है अभी सुना है, अभी समझा है, यावत् अभी निश्चय किया है इसलिए (एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेव से जहेय तुब्भे वदह) इन पदों में अब श्रद्धान करता हूँ, विश्वास करता हूँ, रुचि करता हूँ यह बात वैसी ही है जैसा आप कहते हैं।

भावार्थ—मैंने इन पदों को नहीं जाना था इसलिए इनमें मेरी श्रद्धा न थी परन्तु अब आप से जानकर इनमे मैं श्रद्धा करता हूँ।

से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ त्तिबेमि ॥ (सूत्र ८१) ॥

इति नालंदइज्जं सत्तमं अज्झयणं समत्तं ॥ इति सूयगडांग बीयसुयक्खंधो समत्तो ॥ ग्रंथाग्रं० २१०० ॥

छाया—पेढालपुत्र श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके चतुर्यामाद्धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसंपद्य विहरतीति ब्रवीमि ॥८१॥

अन्वयार्थ—महव्वइयं धम्मं सपडिक्कमणं उवसंपज्जित्ता विहरइ त्ति बेमि) इसके पश्चात् उदक पेढाल पुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट चार याम वाले धर्म से पंच महाव्रत वाले धर्म को प्रतिक्रमण के साथ प्राप्त करके विचरता है यह मैं कहता हूं ॥८१॥

भावार्थ—सुगम है ॥८१॥

समाप्तमिदं नालन्दीयं सप्तममध्ययनम् ।



शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पुक्खरिणी	पुक्खरिणी	४	११
निप्पण	निपण्ण	८	६
अर्थ	अर्घ	१६	५
अयुस्मन्	आयुष्मन्	१६	१०
उक्कान	उक्कानि	१७	६
होता है	होता हैं	५५	२१
समाउया	दीहाउया	४२३	२१



से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ त्तिबेमि ॥ (सूत्र ८१) ॥

इति नालंदइज्जं सत्तमं अज्झयणं समत्तं ॥ इति सूयगडांग बीयसुयक्खंधो समत्तो ॥ ग्रंथाग्रं० २१०० ॥

छाया—पेढालपुत्रः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके चतुर्यामात्धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसंपद्य विहरतीति ब्रवीमि ॥८१॥

अन्वयार्थ—महव्वइयं धम्मं सपडिक्कमणं उवसंपज्जित्ता विहरइ त्ति बेमि) इसके पश्चात् उदक पेढाल पुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट चार याम वाले धर्म से पंच महाव्रत वाले धर्म को प्रतिक्रमण के साथ प्राप्त करके विचरता है यह मैं कहता हूं ॥८१॥

भावार्थ—सुगम है ॥८१॥

समाप्तमिदं नालन्दीयं सप्तममध्ययनम् ।



तए णं से भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करित्ता वंदइ नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उपसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, तए णं समणे भगवं महावीरे उदयं-एवं वयासी—अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेहि, तए णं

छाया—तदा भगवान् गोतम उदकं पेढालपुत्रं गृहीत्वा यत्र श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्र उपगच्छति । उपगत्य तदा स उदकः पेढाल पुत्रःश्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिःकृत्वः आदक्षिणं प्रदक्षिणां कृत्वा वन्दते नमस्यति,वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत् इच्छामि भदन्त ! तवान्तिके चतुर्यामाद्धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसंपद्य विहर्तुम् । तदा श्रमणो भगवान् महावीर उदकमेवमवादीत् यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धं कार्षीः तदा स उदकः

अन्वयार्थ—(तएणं से भगव गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ) इसके पश्चात् भगवान् गोतम स्वामी उदक पेढाल पुत्र को लेकर जहां श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहां गये (तएण से उदए पेढालपुत्ते समण भगवं महावीर तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेत्ता वंदति नमंसति वदित्ता नमसित्ता एव वयासी) इसके पश्चात् उदक पेढाल पुत्र ने श्रमण भगवान् महावीरस्वामी की तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, इसके पश्चात् वन्दना नमस्कार किया (भते ! तुब्भ अतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पच महव्वइयं सपतिक्कमण धम्मं उवसपज्जित्ता विहरित्तए इच्छामि) वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा कि हे भदन्त मैं तुम्हारे निकट चार याम वाले धर्म को छोड़कर पांच महाव्रत वाले धर्म को प्रतिक्रमण के साथ प्राप्त करके विचरना चाहता हू (तएण से समणे भगव महावीरे उदय एव वयासी अहासुह देवाणुप्पिया मा पडिवध करेह) इसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उदक से इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुमको सुख हो वैसा करो । प्रतिबंध न करो (तएणं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंच

तए णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी सद्दहाहि णं अज्जो ! पत्तियाहि णं अज्जो रोएहि णं अज्जो ! एवमेयं जहा णं अम्हे वयामो, तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी–इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥

छाया—तदा भगवान् गौतम उदकं पेढालपुत्रमेवमवादीत् श्रद्धत्स्व आर्य्य ! प्रतीहि आर्य्य ! रोचय आर्य्य ! एवमेतद्यथा वयं वदामः। तदा स उदकः पेढालपुत्रः भगवन्तं गौतममेवमवादीत्, इच्छामि भदन्त ! युष्माकमन्तिके चतुर्यामाद्धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसंपद्य विहर्तुम् ।

अन्वयार्थ—(तए णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी) इसके पश्चात् भगवान् गौतम स्वामी ने उदक पेढाल पुत्र से इस प्रकार कहा कि (जहा णं अम्हे वयामो सद्दहाहि अज्जो पत्तियाहि अज्जो रोएहि) हे आर्य्य ! जैसा हम कहते हैं वैसा श्रद्धान करो हे आर्य्य ! वैसा विश्वास करो हे आर्य्य ! वैसी ही रुचि करो (तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी) इसके पश्चात् उस उदक पेढाल पुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा कि (भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंच महव्वइयं सपडिक्कमणं उवसंपज्जित्ता विहरित्तए इच्छामि) हे भदन्त ! मैं आपके पास चार याम वाले धर्म को छोड़कर पंच महाव्रतयुक्त धर्म को प्रतिक्रमण के साथ स्वीकार करके विचरना चाहता हूँ ।

भावार्थ—इसके पश्चात् भगवान् गौतम स्वामी ने उदक पेढाल पुत्र से कहा कि हे आर्य ! तू इस विषय में श्रद्धान करो क्योंकि सर्वज्ञ का कथन अन्यथा नहीं है। यह सुनकर फिर उदक ने कहा कि हे भगवन् यह मुझको इष्ट है परन्तु इस चार याम वाले धर्म को छोड़ कर अब पाँच याम वाले धर्म को प्रतिक्रमण के साथ स्वीकार करके मैं विचरना चाहता हूँ ।

तए णं से भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करित्ता वंदइ नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उपसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, तए णं समणे भगवं महावीरे उदयं-एवं वयासी—अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेहि, तए णं

छाया—तदा भगवान् गोतम उदकं पेढालपुत्रं गृहीत्वा यत्र श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्र उपगच्छति। उपगत्य तदा स उदकः पेढाल पुत्रःश्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिःकृत्वः आदक्षिणं प्रदक्षिणां कृत्वा वन्दते नमस्यति,वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत् इच्छामि भदन्त ! तवान्तिके चतुर्यामाद्धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसंपद्य विहर्तुम्। तदा श्रमणो भगवान् महावीर उदकमेवमवादीत् यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धं कार्षीः तदा स उदकः

अन्वयार्थ—(तएणं से भगव गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ) इसके पश्चात् भगवान् गोतम स्वामी उदक पेढाल पुत्र को लेकर जहां श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहां गये (तएण से उदए पेढालपुत्ते समण भगवं महावीर तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेत्ता वदति नमसति वंदित्ता नमसित्ता एव वयासी) इसके पश्चात् उदक पेढाल पुत्र ने श्रमण भगवान् महावीरस्वामी की तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, इसके पश्चात् वन्दना नमस्कार किया (भंते ! तुब्भ अतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पच महव्वइयं सपतिक्कमण धम्म उवसंपज्जित्ता विहरित्तए इच्छामि) वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा कि हे भदन्त मैं तुम्हारे निकट चार याम वाले धर्म को छोड़कर पांच महाव्रत वाले धर्म को प्रतिक्रमण के साथ प्राप्त करके विचरना चाहता हूं (तएण से समणे भगव महावीरे उदयं एव वयासी अहासुह देवाणुप्पिया मा पडिबध करेह) इसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उदक से इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुमको सुख हो वैसा करो। प्रतिबंध न करो (तएण से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंच

से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउ ज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ त्तिबेमि ॥ (सूत्र ८१) ॥

इति नालंदइज्जं सत्तमं अज्झयणं समत्तं ॥ इति सूयगडांग बीयसुयक्खंधो समत्तो ॥ ग्रंथाग्र० २१०० ॥

छाया—पेढालपुत्र श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके चतुर्यामाद्धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसंपद्य विहरतीति ब्रवीमि ॥८१॥

अन्वयार्थ—महव्वइयं धम्मं सपडिक्कमणं उवसंपज्जित्ता विहरइ त्ति बेमि) इसके पश्चात् उदक पेढाल पुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट चार याम वाले धर्म से पंच महाव्रत वाले धर्म को प्रतिक्रमण के साथ प्राप्त करके विचरता है यह मैं कहता हूं ॥८१॥

भावार्थ—सुगम है ॥८१॥

समाप्तमिदं नालन्दीयं सप्तममध्ययनम् ।



शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पुक्खरिणी	पुक्खरिणीं	४	११
निप्पण.	निपण्ण'	८	६
अर्थ	अर्थ	१६	५
अयुस्मन्	आयुष्मन्	१६	१०
उक्कान	उक्कानि	१७	६
हीता है	होता हैं	५५	२१
समाउया	दीहाउया	४२३	२१

